॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला का षष्ठ पुष्प

राजस 'प्रमाण' अवान्तर प्रकरण

● सामग्री ●

चित्र सूची

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ३६ वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ३३वां अध्याय

राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण

'प्रथम अध्याय'

अरिष्टासुर का उद्धार और कंस का श्री अक्रूरजी को व्रज भेजना

कारिका— **गुणातीतस्वरूपेण तामसत्वाद् व्रजस्थिताः ।**
निरुद्धास्तत्त्वसङ्ख्यातैरध्यायैरिति वर्णितम् ॥१॥

कारिकार्थ—व्रजवासी तामस थे। इसलिए उनके गुणातीत स्वरूप से तत्व-संख्यति—अट्ठाईस अध्यायों में निरोध का वर्णन हो चुका (निरोध सिद्ध किया—यह वर्णन कर दिया)।

लेख—इस अध्याय से आगे का (भिन्न) प्रकरण प्रारम्भ होता है। इसलिए पहले प्रकरण की इसके साथ संगति प्रदर्शित करने के लिए—'गुणातीत'—इत्यादि कारिका से पूर्व प्रकरण (तामस) का अर्थ कहते हैं।

तामस भक्तों ने तत्वों का उल्लङ्घन कर दिया—यह बात कहनी चाहिए, इसलिए तामस प्रकरण पहले कहा है। फिर क्रम से तामस के बाद, राजस प्रकरण आता है। इससे दोनों की सङ्गति होती है। तामस प्रकरण के द्वारा तामस भाव को दूर करके, उन भक्तों को राजस भाव प्राप्त कराया। राजस प्रकरण से राजस भाव को निवृत करके सात्विक भाव प्राप्त करावेंगे और फिर उन सात्विक भक्तों के सात्विक भाव को भी दूर करके, उन्हें निर्गुण बनाकर ग्यारहवें स्कन्ध में मुक्ति प्राप्त करायेंगे। यह क्रम निबन्ध (भागवतार्थ-प्रकरण) में बतलाया है। इसलिए यहाँ हेतु और सङ्गति कही गई है। तामस भक्तों के द्वारा तत्वों का उल्लङ्घन कर देने के कारण ही वह प्रकरण (तत्वों की संख्या) अठ्ठाईस अध्यायों में वर्णित है।

वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध क्रम से गुणातीत तामस, राजस तथा सात्विक हैं। इनमें वासुदेव तामस भक्तों का, प्रद्युम्न राजसों का, अनिरूद्ध सात्विकों का और गुणातीत वासुदेव में स्वरूप से विराजमान भगवान् ने वासुदेव व्यूह को आगे करके तामसों का निरोध किया हैं—यह तात्पर्य है। यह अर्थ तामस-प्रमाण प्रकरण के उपोद्घात के आधार से निरोध शब्द की व्युत्पत्ति से होने वाले अर्थ के अनुसार इस निबन्ध में दशम स्कन्ध के प्रारम्भ में उस यौगिक, व्यूह कृत निरोध का वर्णन है। केवल पुरुषोत्तम का कार्य रूप निरोध तो—"निरोधोऽस्यानुशयनम्"—(२-१०-६) सङ्कर्षण का चरित्र ग्यारहवें स्कन्ध में कहा गया है। इस प्रकार दशवें तथा ग्यारहवें—इन दो-स्कन्धों में चार व्यूहों का चरित्र कहा है। यह स्थूल विचार से निर्णय है, सूक्ष्म विचार के अनुसार तो वहाँ वैसे-वैसे स्वय ही निर्णय कर लेना चाहिए ॥१॥

कारिका—**प्रद्युम्न रूपो भगवान् वसुदेवहिताय हि।**
रजोलीलां तथा चक्रे राजसानां निरोधकृत् ॥२॥
असम्बद्धाः पूर्वमुक्ताः सम्बद्धा राजसाश्च हि।
उभयेषां निरोधोतः सर्वान्ते फलितो भवेत् ॥३॥

कारिकार्थ—बिना सम्बन्ध वालों को पहले कह दिया है और राजस सम्बन्ध वाले हैं। इसलिए सब के अन्त में दोनों को निरोध फलदायक हो—इस उद्देश्य से राजसों का निरोध करने वाले प्रद्युम्न रूप भगवान् ने वसुदेवजी के हित के लिए उसी प्रकार तत्वों का उल्लङ्घन करा कर लीला की।

लेख—कारिका में 'असम्बद्धाः'—पद का अर्थ कुल तथा देह का सम्बन्ध रहित। क्योंकि व्रज में ऐसा सम्बन्ध करने वाले प्रद्युम्न व्यूह का अवतार तब तक नहीं हुआ था। 'सर्वान्ते'—सबके अंत में अर्थात् १०-८७-४८ श्लोक में 'व्रजपुरवनितानां'—(व्रज तथा पुर की वनिताओं के) इस शब्द से ऐसा अर्थ है। 'वसुदेवहिताय'—वसुदेवजी के हित के लिए प्रद्युम्न व्यूह को आगे करना योग्य ही है; क्योंकि कुल तथा देह का सम्बन्ध कराने वाला प्रद्युम्न व्यूह ही है। इस अर्थ को कारिका में स्थित 'हि' शब्द सूचित करता है। 'तथा' अर्थात् तत्वों को लांघ कर अर्थ है।

कारिका—तत्त्वसङ्ख्यैरथाध्यायैश्चतुर्धा पूर्ववद्धरिः ।
गुणैः स्वरूपतो लीलां क्रमादेव तथाकरोत् ॥४॥

कारिकार्थ—फिर भगवान् ने, पहले की तरह ही, तत्वों की संख्या के समान अठ्ठाईस अध्यायों में चार (प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल) प्रकार से गुणों (ऐश्वर्य-वीर्यादि छः) के तथा स्वरूप (सातवें स्वयं धर्मी) के अनुक्रम से प्रत्येक प्रकरण में सात सात अध्यायों से लीला की है ॥४॥

कारिका—बन्धूनां तु सुखं दत्त्वा वंशवृद्धिं चकार ह ।
एतावता निरुद्धास्ते खण्डद्वयमतोऽत्र हि ॥५॥

कारिकार्थ—बन्धुओं को सुख देकर वंश की वृद्धि की। इससे उनका निरोध हुआ। इसलिए प्रद्युम्न के चरित्र में दो विभाग होने से -आधा पूर्वार्द्ध में और आधा उत्तरार्द्ध में- हैं। (इस प्रकार) इसमें दो खण्ड हैं।

लेख—'खण्डद्वयमत्र'—का तात्पर्य यह है कि इस प्रद्युम्न के चरित्र में दो खण्ड विभाग हैं। उनमें आधा चरित्र पूर्वार्द्ध में और आधा उत्तरार्द्ध में वर्णित है।

कारिका—उद्यमो मानतां यातः सप्तभिः स निरूपितः ।
सप्तभिः सुखदानं च विवाहश्चापि सप्तभिः ॥६॥
त्रिविधोऽन्ये फलांशे हि प्रविशन्ति यथा सुताः ।
उषाहरणपर्यन्तमिदं प्रकरणं मतम् ॥७॥

कारिकार्थ—प्रमाण रूप (ज्ञान कराने वाले) उद्यम का सात अध्यायों में निरूपण है। सात अध्यायों से भगवान् सुख का दान करते हैं और फिर सात अध्यायों से तीन प्रकार के -रूक्मणिजी, सत्यभामाजी तथा जाम्बवतीजी- विवाह का वर्णन है। अन्य विवाहों का पुत्रों की तरह फल के अंश में समावेश है। यह प्रकरण (उषाहरण तक चलता है) उषाहरण तक माना है।

लेख—'न ह्येव मुद्यमान्ये'—इस प्रकार के उद्यम को कोई दूसरे नहीं कर सकते हैं। इसलिए इन राजसों का उद्यम -श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम है- यह ज्ञान कराने वाला है।

'सुखदानं'—सुख का दान करना-यह स्वरूप कार्य हैं। इसलिए उस (सुखदानं) का वर्णन राजस प्रमेय प्रकरण में है। 'त्रिविधः'—रूक्मणी, सत्यभामा, जाम्बवती का विवाह का वर्णन सात

अध्यायों से किया है। इनको भगवत प्राप्ति विवाह के द्वारा ही हुई। इसलिए साधन प्रकरण में विवाह –साधन– का वर्णन है।

'अन्ये फलांशे प्रविशन्ति'—अन्य विवाहों का फल भाग में प्रवेश –समावेश– है। इसलिए राजस फल प्रकरण में उनका वर्णन किया गया है। 'इति शेषः'—यह अध्याहार है। इनकी विशेषता यथा स्थान निरूपण की जाएगी।

कारिका—न कालनियमोऽन्यत्र सात्त्विके नापि च क्रमः।
क्रमः पूर्वत्र संसिद्धः सात्त्विका विरला यतः ॥८॥

कारिकार्थ—सात्विक में काल की मर्यादा नहीं होती है और पहले जैसा (छ धर्म, सातवें धर्मी) क्रम भी नहीं होता; क्योंकि सात्विक विरले ही होते हैं।

लेख—प्रसङ्गात्–इत्यादि– सात्विक प्रकरण इक्कीस अध्यायों में कहा गया है। इसका कारण प्रसङ्ग से जाना जाता है। सात्विकों को काल की मर्यादा नहीं है-यह सिद्ध करना है। काल (परमास) हेमन्त शिशिर को एक मानकर, ५ ऋतुएँ, ३ लोक और आदित्य, इक्कीस प्रकार का है। इसलिए सात्विक प्रकरण इक्कीस अध्यायों से कहा गया है-ऐसा अर्थ है।

'नापि च क्रमः'—सात्विक प्रकरण में छ धर्म और सातवें धर्मी-इस प्रकार प्रत्येक अवान्तर प्रकरण में होने का क्रम भी नहीं है। यहाँ तो छ धर्मों का निरूपण करने वाले छ छ अध्यायों को पहले कह कर अन्तिम तीन अध्यायों को धर्मी का निरूपण करने वाले कहे हैं; क्योंकि सात्विक तो विरले ही होते हैं। उनका उस प्रकरण में स्पष्ट रीति से वर्णन किया गया है।

कारिका—नारदो द्विविधो ह्यत्र प्रमाणे विनिरूप्यते।
कर्मज्ञानविभेदेन ह्यक्रूरो भक्तिबोधकः ॥९॥

कारिकार्थ—यहाँ "प्रमाण" उप प्रकरण में कर्म और ज्ञान के भेद से नारदजी–का दो प्रकार से वर्णन किया है और अक्रूरजी भक्ति का बोध कराने वाले हैं।

लेख—प्रथम (प्रमाण) प्रकरण के अध्यायों का विभाग करते हैं। पहले तेतीसवें अध्याय में कर्ममार्गीय नारद और दूसरे चौतीसवें अध्याय में ज्ञानमार्गीय नारद कहे गए हैं। विशेषणों के भेद से ऐसा भेद है। पहले तेतीसवें अध्याय में कंस को नारदजी से यह ज्ञान होता है, कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं। धनुर्याग के बहाने से भगवान् को मथुरा बुलाना चाहिए, ऐसा कंस को भान हुआ। इसलिए धनुर्याग का बोध कराने वाले नारदजी कर्ममार्गीय हैं –यह स्पष्ट समझ में आने जैसा है– यह अभिप्राय है। दूसरे –आगे के– चौतीसवें अध्याय में भगवान् की भावी (आगे की) लीलाओं का वर्णन करने वाले नारदजी ज्ञानमार्गीय हैं जो स्पष्ट ही है।

'अक्रूरो भक्ति बोधकः'—भक्ति का बोध कराने वाले अक्रूरजी हैं; क्योंकि भगवान् के अतिरिक्त

किसी ग्रन्थ में इस प्रकार से भक्ति नहीं करायी जाती है। इसलिए अक्रूरजी जिनकी भक्ति करते हैं; वे भगवान् हैं-ऐसा ज्ञान इस अध्याय के सुनने वालों को हो जाता है।

कारिका:—**प्रेमार्थबोधिका गोप्यो भगवद्बोधकश्च सः। कार्यं च ज्ञापयामास कंसः सम्भृतिबोधकः ॥१०॥**

कारिकार्थ:-प्रेमरूपी पदार्थ का बोध करानेवाली गोपियां हैं। उनके प्रेम से-श्रीकृष्ण भगवान् हैं'—यह ज्ञान होता है। अक्रूरजी भगवान् का बोध कराने वाले हैं; क्योंकि उनको की हुई स्तुति श्रीकृष्ण, भगवान् हैं—यह प्रकट करती है और उन्होंने अपना श्रीकृष्ण को गोकुल से मथुरा ले आना रूपकार्य तथा भगवान् का मथुरा देखना आदि कंस को बतला दिया। कंस अपनी मृत्यु की तैयारी करना, बतलाने वाला है। इस प्रकार नवीं, दशवीं कारिकाओं में इस राजस-'प्रमाण' उप प्रकरण के सात अध्यायों का विभाग किया है।

कारिका:—**एवं सप्तभिरध्यायैः प्रमाणमिह रूप्यते। तत्राद्यः कर्ममार्गस्य ततो भक्त्या विरुद्धचते ॥११॥**

कारिकार्थ:—इस प्रकार यहां सात अध्यायों में 'प्रमाण' उप प्रकरण का निरूपण किया गया है। उनमें पहला अध्याय कर्म मार्ग का है, जो भक्ति मार्ग के विपरीत है, क्योंकि कंस को यह ज्ञान होते हुए भी-कि श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं-वसुदेवजी व देवकी आदि-भक्तों को उसने दुःख दिया। अतः यह कार्य भक्ति विरुद्ध है—ऐसा अर्थ है।

कारिका:—**साधनं च फलं तस्य अयमत्र निरूप्यते। लौकिकारिष्टगमने कर्ममार्गः प्रवर्तते ॥१२॥**

कारिकार्थ:—भगवान् का ज्ञान, भगवान् के ज्ञान का साधन और ज्ञान का फल-इन तीनों का यहां निरूपण किया गया है। लौकिक अरिष्टासुर के आने से कर्म मार्ग की प्रवृत्ति होती है।

लेख:—भगवत्प्रमा अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान् हैं—ऐसा ज्ञान, ऐसे ज्ञान का साधन-अरिष्ट का व्रज में आना, मारा जाना आदि साधन है; क्योंकि इसके बाद में नारद जी ने आकर कंस को श्रीकृष्ण का साक्षात् भगवान् होना बतलाया है। तथा फल अर्थात् केशी और अक्रूरजी को व्रज में भेजना, मंत्रणा करना ये सब कंस के उद्यम उसको-श्रीकृष्ण, भगवान् हैं—ऐसे ज्ञान होने के फल हैं।

कारिका:—अतोरिष्टवधो हेतुः सर्ववस्त्वर्थबोधने । फलमुद्यम एवात्र कंसस्य व्यग्रभावतः ॥१३॥

कारिकार्थ:—इससे अरिष्ट का वध सारे वृत्तान्त के प्रयोजन को प्रकट बतलाने का कारण है और कंस की व्याकुलता के कारण उस (कंस) का उद्यम करना यहां फल है ।

लेख:—अतः-जो सोलहवें श्लोक से स्पष्ट समझ में आता है । सर्ववस्त्वर्थ बोधने—वसुदेवजी का जातमात्र, श्रीकृष्ण को गोकुल ले जाकर वहां रख आना आदि सारे कार्य का प्रयोजन कंस को मारना ही है—यह नारदजी ने कंस को बतला दिया ।

अरिष्टे निहते दैत्ये-इन सबका हेतु अरिष्ट का वध ही है । नारदजी के बोध से कंस को—श्रीकृष्ण को धनुर्याग के मिष से मथुरा बुलाने का ज्ञान हुआ । इसलिए नारदजी का यह ज्ञान देना कर्ममार्गीय है, ऐसा अभिप्राय है ।

कारिका:—सात्विकं तामसं चैव प्रेषयामास राजसः । अत्र वध्या राजसा हि प्रसङ्गादपरेपि च ॥१४॥

कारिकार्थ:—कंस ने सात्विक, राजस, और तामसों को व्रज में भेजा । उनमें राजस ही वध करने योग्य हैं; किन्तु प्रसंग से दूसरे भी वध्य हो जाते हैं ।

लेख:—इस प्रकरण में मुख्य रीति से राजसों का ही वध करना उचित है; किन्तु फिर भी प्रसङ्ग वश औरों का भी वध हुआ है । इसलिए-यहां राजस प्रकरण में तामस केशी का वध कैसे हुआ—ऐसी शङ्का नहीं रहती है ।

कारिका:—अर्यस्त्रिंशे ततोध्याये ह्यरिष्टवध उच्यते । नारदोक्तिस्तथा कंसमन्त्रणं च रजो महत् ॥१५॥

कारिकार्थ:—इस कारण से तेंतीसवें अध्याय में अरिष्ट के वध का वर्णन है । नारदजी के वचन तथा कंस की मंत्रणा भी अत्यन्त राजस हैं ।

लेख:—ततः-मुख्यतया राजसों का वध करना होने से तेंतीसवें अध्याय में अरिष्ट का वध वर्णित है ।

कारिका:—कलाभिः साधिकैराद्यः साधर्म्यां वचनं तथा । त्रयोविंशतिभिः शिष्टविद्याः प्राकृतिकास्तथा ॥१६॥

कारिकार्थः—साढे पन्द्रह श्लोकों से पहला, ढाई श्लोकों से वचन और तेबीस श्लोकों से उसी तरह प्रपञ्च की शेष विद्याओं का वर्णन किया है।

लेखः—श्लोक शब्द पुंलिङ्ग है। इसलिए श्लोक शब्द का विशेषण होने के कारण-'साधिकैः'-पुंलिङ्ग दिया है क्योंकि विशेषण के विभक्ति, लिंग तथा वचन विशेष्य के अनुसार ही है। इस प्रकार इस अध्याय में १५½+२½+२३=४१ श्लोक हैं। किन्तु नवें और सतरहवें श्लोकों में आधे-आधे श्लोकों की संख्या अधिक लगा देने के कारण एक श्लोक कम हो जाता है। अतः इस तेंतीसवें अध्याय में कुल चालिस श्लोक हैं।

॥ श्री शुक उवाच ॥

श्लोक—**अथ तर्ह्यागतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः ।**
महीं महाककुत्कायः कम्पयन् खुरविक्षताम् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं,—हे राजन, इसी अवसर में अरिष्ट नाम का एक असुर बैल के रूप से धरती को खुरों से खोदता और कंपाता हुआ व्रज में आकर उपस्थित हुआ। उसके पीठ के ऊपर कूबर-कांध-और (वह) बहुत ऊंचा और लम्बा चौड़ा था ॥१॥

सुबोधिनीः—पूर्वं च गोपिकादीनां निरोध उपपादितः, अधुनान्येषां निरोधं वक्तुं प्रक्रियान्तरमारभते अथेति, यदैव भगवता निरोधो जात इति ज्ञातवान् तर्ह्येव तदैवारिष्टः समागत इत्यर्थः, वृषो हि गोष्ठमायातीति नाश्चर्यं तथाप्ययमरिष्टो वृषभाकृतिरसुरः महीं कम्पयन् समागत इति राजसे सामर्थ्यविशेषो निरूपितः, महान् ककुत् कायश्च यस्य, अदृष्टद्वारा कम्पकत्वाभावायाह खुरविक्षतामिति, खुरैर्विक्षतं यथा भवति तथा वा ॥१॥

व्याख्यार्थ—प्रथम तामस प्रकरण में व्रज भक्त गोपीजन प्रभृति को निरोध सिद्धि का वर्णन करके अब इस राजस प्रकरण में भगवान् के द्वारा अन्य जीवों को निरोध सिद्धि का वर्णन करने के लिए राजस प्रकरण का प्रारम्भ-अथ-इत्यादि प्रथम श्लोक से करते हैं। अरिष्टासुर ने जब ही यह जाना, कि भगवान् ने व्रज भक्तों को निरोध सिद्ध कर दिया है, तब उसी समय वह व्रज में आ गया। बैल का व्रज में आना कोई आश्चर्य जनक नहीं होता, किन्तु यह तो बैल का रूपधारी अरिष्ट नाम का असुर पृथ्वी को कंपाता हुआ आया। इस कथन से राजसों में विशेष सामर्थ्य होती है, इसका निरूपण किया गया है। उसकी कांध बड़ी मोटी और देह बड़ी विशाल थी। यह पृथ्वी को अदृष्ट द्वारा-प्रभाव से-केवल कम्पित नहीं कर रहा था, किन्तु उसके विशाल खुरों से धरती को क्षत विक्षत करता खोदता हुआ भी वहां आया ॥१॥

श्लोक—**रम्भमाणः खरतरं पदा च विलिखन् महीम् ।**
उद्यम्य पुच्छं वप्राणि विषाणाग्रेण चोद्धरन् ॥२॥

श्लोकार्थ:—वह कानों को फोड़ देना जैसा कठोर शब्द करता हुआ पैरों से पृथ्वी को खोदता और पूंछ को उठाकर सींगों की नोंक से (अग्र भाग से) दीवारों और कंगारों को तोड़ रहा था ॥२॥

सुबोधिनी—सार्धश्लोकाभ्यामागमनं निरूप्यत इति तस्य चेष्टामाह **खरतरम्** अत्यन्तं निष्ठुरं यथा भवति तथा **रम्भमाणः** रम्भणं तज्जातीयमत्त-शब्दः। **पदा च** एकेन विशेषेण **महीं लिखन्** चिन्तासमये ह्येवं करोति पश्चात् **पुच्छमुद्यम्य** मध्ये पशुत्वात् पशुचेष्टां करोतीत्याह, **वप्राणि विषाणाग्रेण चोद्धरन्** इति, गोकुलनिकटे स्थिताः प्राकारा उभाभ्यां भेदने बलमत्यल्पं न निविष्टं भवतीति एकेनैव शूलवत् प्रविष्टेन उद्धरणं करोति, चकारात् परिवृत्त्या अपरेण द्वाभ्यां च क्वचित्, अंशतः पृथक्करणमुद्धरणम् ॥२॥

व्याख्यार्थः ढाई श्लोकों से उसका आना कहते हैं, जिनमें पहला श्लोक कह दिया। अब अगले डेढ श्लोक से उसकी चेष्टा का निरूपण करते हैं। उसकी चेष्टा को बतलाते हैं, कि वह अत्यन्त कठोर जैसा रांभने लगा (जैसे कि बैल मस्त होकर कर्ण कटु शब्द किया करते हैं) और किसी एक पांव से धरती को खोद रहा था। पशु प्रायः कुछ अगला काम सोचने लगते हैं, तब अपने खुर से भूमि को खोदा करते हैं, फिर पूंछ उठाकर (सींग की नोक से तीखे) शूल की तरह तीखी सींग की नोक से गोकुल के निकट की दीवारों को उखाड़ने लगा। वह बैल रूप से आया था इसलिए पशु जैसी चेष्टा करने लगा। दोनों सींगों से एक साथ दीवारों तथा किनारों को उखाड़ने में पूरी पूरी शक्ति का प्रयोग अत्यधिक नहीं हो पाता। इसलिए वह क्रम से, एक से, फिर दूसरे सींग से किनारों और दीवारों को तोड़ रहा था और कहीं दोनों ही सींगों से थोड़ा थोड़ा उखाड़ने का काम कर रहा था ॥२॥

श्लोकः—किञ्चित् किञ्चिच्छकृन् मुञ्चन् मूत्रयन् स्तब्धलोचनः।
यस्य निर्ह्रादितेनाङ्ग निष्ठुरेण गवां नृणाम् ॥३॥
पतन्त्यकालतो गर्भाः स्रवन्ति स्म भयेन वै।
निर्विशन्ति घना यस्य ककुद्यचलशङ्कया ॥४॥

श्लोकार्थ—बीच बीच में वह थोड़ा मल मूत्र त्याग करता जाता था। वह लाल लाल डरावनी आंखे फैलाकर गरज रहा था। महाराज, उसकी कठोर गर्जना को सुन कर गायें और ब्रज के गोपी ग्वाल अत्यन्त भयभीत हो गए। असमय में ही उनके गर्भ गिर गए और बहने लगे। उसकी कांध इतनी ऊंची थी कि बादल, पर्वत के धोखे से, उस पर ठहर जाते थे ॥३॥

सुबोधिनी—मत्तस्वभावमाह **किञ्चित् किञ्चिच्छकृन् मुञ्चन्** गोमयं त्यजन् गोमूत्रं च, **स्तब्धलोचनश्च** जातः, अनिवृत्तक्रोधत्वज्ञापनाय राजसत्वाद् विचारे प्रवृत्तः, न सहसा प्रविष्टः, भगवदिच्छया गोष्ठाधिष्ठातृदेवेन निरुद्धानामनुभावेन च न प्रविष्टः तस्य क्रियया यज् जातं तत् स्पष्टमेवेति रम्भणस्यैव कार्यमाह **यस्य निर्ह्रादितेनेति**, **निष्ठुरेण** अन्तः प्रविश्यापि मारयतीति

तेन गवां नृणां च अकालतोपि कालस्य निमित्तत्वाभावेपि गर्भाः पतन्ति स्रवन्ति च भयेन, तृतीये चतुर्थे स्रावः, पातः पञ्चमषष्ठयोर्मासयोः, तत्र हेतुर्भयं न तु तस्य नादः मन्त्रारिष्टवददृष्टद्वारा, तथा सति लौकिकोत्कर्षो न स्यादिति तस्य शरीराधिक्यमाह निविशन्तीति, यस्य ककुदि पर्वतबुद्धया मेघा उपविशन्ति, अनेन देहमत्त्वं व्याख्यातम् ।३-४॥

व्याख्यार्थः—वह थोड़ा थोड़ा मल मूत्र-गोमय, गोमूत्र-का त्यागकर अपने उन्मत्त स्वभाव को प्रकट कर रहा था । उसकी आंखें टिठक रही थीं, जिनसे ऐसा प्रकट हो रहा था मानों अत्यन्त क्रोधी वह रजोगुण के कारण किसी विचार-सोच-में पड़ रहा है, अर्थात् कुछ भी सोच रहा हो । इस कारण से और भगवान् की इच्छा तथा व्रज के अधिष्ठाता प्रभु के द्वारा निरोध प्राप्त व्रज भक्तों के माहात्म्य (प्रभाव) से भी वह गोष्ठ में एका एक घुस नहीं सका । उसके आकर खुरों से पृथ्वी खोदने सींगों से दीवारों और कंगारों को तोड़ने आदि से हुए उपद्रव तो स्पष्ट ही थे । इसलिए उनका वर्णन न करके उसके रांभने से होनेवाले उत्पात को बतलाते हैं, कि कानों के छिद्रों से हृदय में घुस कर भी मार देनेवाली उसकी कठोर गर्जना से भयभीत गायें और गोपियों के तीसरे चौथे मास के गर्भों का स्राव तथा पांचवे छठे महीनों के गर्भ गिर जाते थे । भय से ही उनके गर्भ स्राव और पात होने लगे थे, मंत्र जनित अदृष्ट के द्वारा होनेवाली किसी उपद्रव की तरह उसकी गर्जना गर्भ स्राव पात का कारण नहीं थी । यदि मंत्र जनित उपद्रव की तरह-मारण उच्चाटन के मंत्रों से होने वाले विघ्नों की तरह-गर्भपात गर्भस्राव को दैविक आपत्ति मान लें तो उसके लौकिक शरीर की ऊंचाई, लम्बाई, चौड़ाई तथा शक्ति का प्रभाव ही घट जाएगा । यहां तो उसकी ऊंचाई का वर्णन करते हैं कि बादल उसकी कांध पर पर्वत के धोखे से ठहरने लगते थे । इस कथन से उसके देह की विशालता की व्याख्या की गई है ॥३-४॥

श्लोकः—तं तीक्ष्णशृङ्गमुदीक्ष्य गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः ।
पशवो दुद्रुवुर्भीता राजन् सन्त्यज्य गोकुलम् ॥५॥

श्लोकार्थ—बड़े पैने सींग उठाए हुए उस असुर को व्रज में आते देख कर गोप और गोपीजन बहुत ही भयभीत हो उठे । सारे पशु भी रस्सियां तुड़ाकर व्रज से इधर उधर दौड़ने लगे ॥५॥

सुबोधिनीः—एवं तस्य शरीरक्रियाशब्दानामन्तःकरणस्य च क्रौर्यं निरूप्य ततो यज् जातं तदाह तं तीक्ष्णशृङ्गमिति, तीक्ष्णे शृङ्गे यस्य, ऊर्ध्वं दृष्ट्वा अत्युच्चैरिति उद्वीक्षणात् गोपा गोप्यः पशवश्च तत्रसुः, निरुद्धा इति कदाचिद् देहाभिमानाभावात् भयं न भविष्यतीत्याशङ्क्य निरूपितम्, पशुषु विशेषमाह, भीताः सन्तो दुद्रुवुरिति, सावधानार्थं सम्बोधनम्, गोकुलं सन्त्यज्येति पुनरागमनापेक्षा त्यक्तेति भावः ॥५॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार उस असुर के शरीर, कार्य, गर्जन और हृदय की क्रूरता का निरूपण करके इन सबके द्वारा उत्पन्न हुई स्थिति का वर्णन करते हैं । अपने दोनों तीखे सींगों को खूब ऊंचा उठाए उस असुर को देखकर गोप, गोपियों और पशु सब भय से व्याकुल हो उठे ।

भगवान् के द्वारा निरोध प्राप्त व्रजवासी जीव कदाचित् देहाभिमान के नष्ट हो जाने से भयभीत नहीं होंगे ? इस प्रकार की शंका करके उनका मूल में भयभीत होने का निरूपण किया गया है । वहां के पशुओं में भय के कारण उत्पन्न हुई विशेषता यह थी, कि वे (पशु) बन्धनों को तोड़कर गोकुल को छोड़कर इस प्रकार भाग पड़े मानों वे फिर गोकुल में लौट आने की अपेक्षा छोड़ चुके हों । सावधान रहने के लिए 'मूल' में राजा को-राजन्-कह कर सम्बोधित किया है ।।५।।

श्लोक—कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे गोविन्दं शरणं ययुः ।
भगवानपि तद्वीक्ष्य गोकुलं भयविह्वलम् ।।६।।

मा भैष्टेति गिराश्वास्य वृषासुरमुपाह्वयत् ।
गोपालैः पशुभिर्मन्द त्रासितैः किमसत्तम ।।७।।

श्लोकार्थः—गोकुल में रहने वाले लोग—"हे कृष्ण, हे महायोगेश्वर ! बैल का रूप रख कर आए हुए इस असुर से हमारी रक्षा करो—" यह कहते हुए गोविन्द भगवान् की शरण में आए । भगवान् कृष्ण चन्द्र ने सब गायों और गोप गोपियों को भय और व्याकुलता के मारे प्राणों की रक्षा के लिए इधर उधर दौड़ते हुए देखकर—अभयवाणी से—"मत डरो, मत डरो"—कह कर उनको आश्वासन दिया । फिर वृषभासुर को ललकार कर बोले—"अरे कायर, महा-दुष्ट, इन गोपों और पशुओं को वृथा क्यों डरा रहा है ।। ६–७ ।।

सुबोधिनी—तदा सर्वभयेषु भगवान् शरणमिति ज्ञात्वा ते सर्वे कृष्ण कृष्णेति शरणं गताः, स तस्य स्वाभाविको हृदि स्थितो धर्मः, यो महाभये मुखान् निःसरति, व्रजस्थानां पुनः कृष्ण एव निविष्ट इति कृष्ण कृष्णेत्येवाहुः, किञ्च गोविन्दो यः स्वेन्द्र इति न केवलं तेषां वचनं किन्तु भगवानपि तन्निरीक्ष्य वृषासुरमुपाह्वयदिति सम्बन्धः, भयेन विह्वलमिति, मा भैष्टेत्यादौ गोकुलमाश्वास्य मनसा तद्वधं प्रतिज्ञाय पश्चादुपाह्वयत् न तु समाधानार्थं, वृष इति दैत्यांशाः सर्व एव वध्याः यथा ब्रह्मणः पौत्रादयः तथा वृषादयोऽपि, देवांशानामेव वधे दोष इति धर्ममर्यादा तदाह वृषासुरमिति, असुरा वध्या एव रोगमलप्रायाः, राजसत्वादादौ वचनमाह गोपालैरिति, गोपालाः पशवश्चाल्पसत्वाः सजातीयास्तत्पालकाश्च, न हि महान् अल्पैः सह युध्यति सजातीयैर्वा अत एव विचाराभावान् मन्देति सम्बोधनम्, मारयितुं त्वयैव न शक्यते तथा सति शत्रुपक्षापकर्षोपि भवेत् केवलं त्रासितैः किं कार्यं, अत एव वृथैव मद्भयजनको मारणीय इति ज्ञापयितुं सम्बोधयति असत्तमेति, क्रियया दुष्टोसन् अन्तःकरणेनासत्तमः स्वरूपतोऽपि क्रूरस्तथा ।।६–७।।

व्याख्यार्थ—तब सारे भयों में भगवान् ही रक्षक हैं--यह जानकर, वे सब—हे कृष्ण, हे कृष्ण कहते हुए भगवान् की शरण में गए रक्षा करना, भगवान् के हृदय में रहने वाला सहज धर्म है, जो भक्तों पर अत्यन्त भय-उपस्थित होने-आने-पर भगवान् के मुखारविन्द से निकल पड़ता है । और फिर

इन व्रजवासियों के तो भगवान् कृष्ण ही सब प्रकार से रक्षक हैं। इसलिए वे सब-हे कृष्ण, हे कृष्ण-कह कर अपने स्वामी गोविन्द की शरण गए। व्रजवासियों के इस प्रकार कातर वचन सुन कर, स्वयं भी उस असुर को देख कर (मत डरो-कह कर) भय से व्याकुल हुए गोकुल को-डरो नहीं-ऐसा आश्वासन दिया और मन से उस वृषासुर के वध की प्रतिज्ञा करके फिर उसको ललकारा, भिड़त के लिए। यह तो बैल रूप में असुर था, दैत्यांश था। दैत्यांश ब्रह्माजी के पौत्र हिरण्यकशिपु आदि की तरह, सभी मार देने योग्य है। देवांशों को मारने में ही दोष है, दैत्यांशों का वध कर देने में कोई दोष धर्म मर्यादा के अनुसार नहीं होता। इसलिए दैत्यांश बैल को मार देने में कोई दोष नहीं है। जनता के रोग, मल रूप असुर तो मार डालने योग्य ही है।

यह राजस लीला है, इसलिए मार डालने से पूर्व भगवान् उससे बोले-गोपाल और पशु तेरी अपेक्षा निर्बल हैं। पशु तेरी जाति के हैं और गोपाल पशुओं का पालन करने वाले हैं। बलवान् निर्बलों के साथ तथा अपनी सी जाति वालों के साथ युद्ध नहीं किया करते हैं। तुझको इस प्रकार का विचार नहीं है। इस कारण तू मूढ है। तू इन्हें यदि मार भी सकेगा तो निर्बल शत्रु पक्ष को मारने से पातकी होगा। केवल इन्हें डराने से भी कोई फल नहीं है। प्रत्युत, सज्जन, प्राणियों को व्यर्थ ही भयभीत करने वाला मार देने योग्य होता है। इसीलिए मूल में-असत्तम-अत्यन्त दुष्ट-पद से सम्बोधित किया गया है। बुरे कर्म करने वाला-असत्-दुष्ट और अन्तः करण तथा स्वरूप से भी क्रूर कर्म करने वाला-असत्तम-अत्यन्त दुष्ट कहा जाता है ॥६-७॥

श्लोकः—बलदर्पहाहं दुष्टानां त्वद्विधानां दुरात्मनाम् ।

इत्यास्फोट्याच्युतोरिष्टं तलशब्देन कोपयन् ॥८॥

श्लोकार्थः—"तुझ सरीखे दुरात्मा दुष्टों के बल के घमंड को चूर्ण करने वाला मैं यहां खड़ा हूँ। इधर आ" यों कह कर श्रीकृष्ण ने ताल ठोककर उस असुर को और भी उत्तेजित और क्रोधित किया ॥८॥

सुबोधिनी—ननु दुष्टानां कार्यमेवमेवेति चेत् तत्राह **बलदर्पहाहमिति**, बलं तज्जनितं दर्पं च हन्तीति तथा, बहुलं छन्दसीति ब्रह्मभ्रूणवृत्रेष्वेवोपपदेषु न नियमः, अहमित्यात्मानं प्रदर्श्याह स्वपौरुषं ख्यापयन्निव दुष्टानामेवाहं सामान्यतो दर्पहा, तत्रापि त्वद्विधानामुद्वेजकानां दुरात्मनामित्यन्तःकरणदोषयुक्तानां क्रियया अन्तःकरणेन स्वरूपतश्च दुष्टा वध्या एवेति, एवमुक्त्वा **आस्फोट्य** बाहुस्फोटनं मल्लवत् कृत्वा आस्फोटनतलशब्देनैव तं **कोपयन्** हीनोसि त्वमिति ज्ञापनेन कोपं जनयन् अच्युतत्वात् स्वयं निर्भयः ॥८॥

व्याख्यार्थ—सत्पुरुषों और भगवद्भक्तों को भय तथा पीड़ा पहुँचाना ही, दुष्ट पुरुषों का कार्य ही होता है, जिसे वृषासुर कर रहा था तो इसके उत्तर में-बलदर्पहाह-श्लोक कहते हैं। भगवान् अपने पुरुषार्थ को प्रकट करते हुए बोले, कि मैं साधारणतया सभी दुष्टों के बल और बलवान् होने के गर्व को चूर्ण करने वाला हूँ। फिर तुझ जैसे लोकों को पीड़ा देने वाले, अन्तःकरण से, कर्म से और शरीर से भी दुष्टों को तो मैं नष्ट कर ही देता हूं। यों कह कर अच्युत-निर्भीक भगवान् ने मल्ल

की तरह भुजाओं को ठोक कर ताल की फटकार से, उसे नगण्य और हीन दिखा कर क्रोध दिलाया। (बलदर्पहा –यह 'क्विप्प्रत्ययान्त पद है, क्योंकि 'बहुलं छन्दसि'–सूत्र के अनुसार-ब्रह्मभ्रूणवृत्र शब्दों के उपपद होने पर ही क्विप् प्रत्यय लगने का नियम नहीं रहा) ॥८॥

श्लोकः—सख्युरंसे भुजाभोगं प्रसार्यावस्थितो हरिः।
सोऽप्येवं कोपितोऽरिष्टः खुरेणावनिमुल्लिखन्।
उद्यत्पुच्छभ्रमन्मेघः क्रुद्धः कृष्णमुपाद्रवत् ॥९॥

श्लोकार्थः—भगवान् अपने एक मित्र के कन्धे पर हाथ रखे हुए खड़े थे। भगवान् के द्वारा इस प्रकार उत्तेजित और कुपित किया गया वह वृषासुर भी खुरों से धरती को खोदता और पूंछ ऊंचो तान कर बादलों को चक्र सा घुमाता हुआ क्रोध से भगवान् की ओर बढा ॥९॥

सुबोधिनीः—अवगणनया लीलां कृतवानित्याह सख्युरंस इति, भुजाभोगं महान्तं भुजं **प्रसार्यावस्थितो** जातः, एवं करणे हेतुमाह हरिरिति, यथा सोऽप्यरिष्टो लीलासहितं भगवन्तं पश्यन् अन्ते तमेव ध्यायन् मुक्तो भवति, तस्यापि वृत्तान्तमाह सोऽपीति, एवमाक्षेपैः कोपितः स्वभावतोऽप्यरिष्टरूपः खुरेण अवनिं भूमिमुल्लिखन् पूर्ववत् मारणप्रकारं विचारयन् पश्चादुद्यत्पुच्छो भूत्वा तेनोर्ध्वपुच्छेन भ्रमन्तो मेघा यस्य पुच्छाघातेन मेघा इतस्ततो विक्षिप्ताः, ततः क्रुद्धः सन् अयुक्तं करोतीति ज्ञापयितुं कृष्णं सदानन्दमुप समीपपर्यन्तमाद्रवत् ॥९॥

व्याख्यार्थः—उसको नगण्य और तुच्छ समझकर, भगवान् क्रीड़ा करने लगे—यह सख्युरंसे–श्लोक से कहते हैं। भगवान् अपनी विशाल भुजा को मित्र के कन्धे पर फैलाकर खड़े हो गए, क्योंकि, आप हरि-जैसे दुष्टों के प्राणों को हर लेने वाले हैं। और मुक्ति देने वाले हैं, वैसे ही यह वृषासुर अन्त समय में लीला युक्त भगवान् का दर्शन तथा ध्यान करता हुआ मुक्त होगा।

आक्षेपों से उत्तेजित और कुपित किया हुआ, जन्म जात अरिष्ट-विघ्न रूप वह असुर खुर से पृथिवी को खोदने लगा मानों भगवान् पर आक्रमण करना सोच रहा हो और फिर ऊंची तानी हुई अपनी पूंछ की चपेट से बादलों को इधर उधर तितर बितर करता हुआ सदानन्दघन भगवान् कृष्ण की ओर झपटा। क्रोध में आकर ऐसा अनुचित कार्य करने लगा ॥९॥

श्लोकः—अग्रन्यस्तविषाणाग्रः स्तब्धासृग्लोचनोऽच्युतम्।
कटाक्षिप्याद्रवत् तूर्णमिन्द्रमुक्तोऽशनिर्यथा ॥१०॥

श्लोकार्थः—वह असुर अपने तीखे सींगों को आगे किए, क्रोध से लाल लाल आंखें निकाले और कृष्ण पर वक्र दृष्टि डालता हुआ इन्द्र के हाथ से फेंके गए वज्र की तरह वेग से आगे बढ़ा ॥१०॥

सुबोधिनी:—आद्रवणे प्रकारमाह अग्रन्यस्तेति, अग्रे प्रथमतो न्यस्ते स्थापिते विषाणाग्रे येन, स्तब्धे असृग्वर्णे लोचने यस्य, बहिरन्तर्मारणसाधनपरिग्रह उक्तः, तयोरसाधनत्वसूचनायाह अच्युतमिति, आदौ दृष्टिवेधार्थं कटाक्षीकृत्य वस्तुतस्तु कटाक्षेनापि भगवान् न विद्धः तथापि अकटाक्षमपि कटाक्षीकृत्य तूर्णमाद्रवत्, अविचारेण समागमने दृष्टान्तमाह इन्द्रमुक्त इति, यथा पर्वतपक्षछेदने दुष्टानामेन छेदनार्थं प्रवृत्तः, अन्यत्रापि गतः, एवं अयं भगवत्समीपमप्यागतः अत्रैव वा अविचारदशायामिन्द्रेण मुक्तः नमुचिप्रस्तावे वा ॥१०॥

व्याख्यार्थ—उसकी भग कर भगवान् के निकट आने की रीति—"अग्रन्यस्त" इत्यादि श्लोक से बतलाते हैं। उसने अपने सींगों की तीखी नोक को आगे करके बाहर से और लाल लाल नेत्रों को टेढे करके भीतर मन में मारने के उपाय किए और सोचे किन्तु अच्युत भगवान् पर उसके वे उपाय व्यर्थ हो गए। पहले उसने भगवान् पर भौंहें टेढी करके दृष्टि से ही प्रहार किया। जब उसका यह दृष्टि वेध व्यर्थ हुआ-कटाक्ष से भी भगवान् प्रहत नहीं हो सके तो भी वह कटाक्ष रहित निर्भय भगवान् को कटाक्ष का लक्ष्य बना कर उन पर वेग से झपटा। बिना सोचे समझे, उसके भगवान् के आगे बढ़ने, और निष्फल होने में, उदाहरण देते हुए, बतलाते है, कि जिस प्रकार दुर्दान्त, पंखधारी उड़कर प्रजाओं का नाश कर देने वाले दुष्ट पर्वतों के पंखों का काटने और वृत्रासुर आदि दैत्यों को नाश कर देने वाला भी वज्र और भी कई जगह सफल होकर वैसे ही नमुचि नामक असुर पर इन्द्र के द्वारा बिना सोचे समझे फेंका जाकर निकम्मा और व्यर्थ सिद्ध हो गया। इसी तरह इस असुर के अच्युत भगवान् कृष्ण पर सारे आक्रमण निष्फल और निरर्थक रहे ॥१०॥

श्लोकः—**गृहीत्वा शृङ्गयोस्तं वै अष्टादशपदानि सः ।**
प्रत्यपोवाह भगवान् गजः प्रतिगजं यथा ॥११॥

श्लोकार्थः—जैसे कोई मस्त हाथी अपने से भिड़ने वाले दूसरे हाथी को रेल कर पीछे धकेल देता है, वैसे ही श्रीकृष्ण चन्द्र ने दोनों सींग पकड़कर उस असुर को अठारह पेंड पीछे धकेल दिया ॥११॥

सुबोधिनी:—तदा भगवता यत् कृतं तदाह गृहीत्वेति, लोकेतिसाहसं शृङ्गयोरेव धृत्वा तं प्रसिद्धमरिष्टं वै निश्चयेन, अष्टादशविद्यास्थानेषु वृषो न वध्यत इति पश्चाद्भागे अष्टादशपदानि प्रत्यपोवाह यथा महान् छाग नर्वति तथा करणे सामर्थ्यं भगवानिति ज्ञाने च, ननु भगवांश्चेत् स्वबलं प्रदर्शितवान् तथा कथं पुनरागत इत्याशङ्क्य विशेषतो न ज्ञापितवानिति वक्तुं दृष्टान्तमाह गजः प्रतिगजं यथेति, तद्बलापेक्षया अल्पमेवाधिकं बलं प्रकटितवानित्यर्थः ॥११॥

व्याख्यार्थ—जब वह असुर अनिष्ट करने की इच्छा से आरोप पूर्वक भगवान् के सम्मुख झपटा, तब उस समय उस पर भगवान् का कर्त्तव्य-गृहीत्वा-इत्यादि श्लोक से वर्णन करते है। भगवान् ने उसे सींगों में पकड़कर अठारह पेंड पीछा धकेल दिया; क्योंकि लोक में बैल, भैंसा आदि सींग वाले पशुओं का अत्याधिक साहस सींगों में ही होता है और पशु (बैल) पशु विद्या के अठारह स्थानों में नहीं मारा जा सकता है। इसलिए पूर्ण पराक्रम और पूर्ण ज्ञानशाली भगवान् श्रीकृष्ण ने

जैसे बलवान् महा पुरुष एक बकरी को बिना किसी परिश्रम के धकेल देता है, उसी तरह उस असुर को अठारह पेंड पीछा धकेल दिया। ज्ञान की पूर्णता से ही, अठारह विद्या स्थानों में, पशु असुर नहीं मारा जा सकता यह ज्ञान और पशुओं का बल, सींगों में होता है, इसलिए सींगों में पकड़ कर उसे सहज पीछा धकेल देना–यह पूर्ण पराक्रम दिखलाया।

शङ्का:—भगवान् ने यदि अपना बल प्रदर्शित करके उस असुर को पीछे धकेल दिया तो फिर वह लौटकर श्रीकृष्ण के सामने कैसे आ गया? इसके उत्तर में दृष्टान्त देते हैं, कि जैसे एक बलवान् हाथी अपने साथ भिड़ने वाले कुछ कम बल शाली हाथी को टक्कर मार कर पीछा धकेल देता है, वैसे ही भगवान् ने उस असुर को पीछा धकेलने में अपनी पूरी सामर्थ्य नहीं दिखाई, किन्तु उसकी शक्ति की अपेक्षा कुछ ही अधिक शक्ति प्रदर्शित की। यदि भगवान् पूर्ण शक्ति प्रदर्शित करते, तो वह फिर कर वापस आ ही नहीं सकता था ॥११॥

श्लोक:—सोपि विद्धो भगवता पुनरुत्थाय सत्वरः ।

आपतत् स्विन्नसर्वाङ्गो निःश्वसन् क्रोधमूर्च्छितः ॥१२॥

श्लोकार्थ:—भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे धकेल दिया था, परन्तु वह फिर सम्हलकर झपटा। उसका शरीर पसीना पसीना हो गया था, तो भी वह लम्बी २ सांसे छोड़ता हुआ क्रोधान्ध होकर दौड़ा ॥१२॥

सुबोधिनी—न केवलं भगवाता नीत एव तावद्दूरं किन्तु भूमौ त्यागसमये निक्षिप्तः, तादृशोऽपि पुनरागत इत्याह सोपीति, महतो भूमौ पतितस्य गात्रभङ्गसम्भवात् कथमागत इत्याशङ्क्य भगवता विद्ध इति, तथैव विद्धः यथा पुनः आयाति, यतोयं वध्य एव, अतः पुनरुत्थाय पूर्वापेक्षयापि सत्वरः आपतत् आगत एव भगवत्समीपं, अधुनायं मारणीय इति ज्ञापयितुं विशेषणद्वयमाह स्विन्नानि सर्वाङ्गानि यस्य, अनेन देहाभावार्थं मारणपर्यन्तं तेनैव प्रयत्नः कृत इति मारितो वा मारयित्वा वा निवर्तते नान्यथेति ज्ञापितं क्रोधेन मूर्च्छित इत्यन्तःकरणप्रवृत्तिरनिवर्त्या निरूपिता ॥१२॥

व्याख्यार्थ:—भगवान् उसको पकड़ कर केवल इतनी दूर पीछा ले ही नहीं गए; किन्तु छोड़ते समय, उसे पृथिवी पर दे भी मारा था, तो भी पछाड़ा गया वह (लौट) संभल कर फिर लौट आया—यह–'सोपि'–इत्यादि श्लोक से कहते हैं। भगवान् ने उसे यों धीरे से ही पछाड़ा था, जिससे विशाल काय भी उसके अङ्ग भङ्ग नही हुए थे। इस कारण से वह फिर संभल कर पहले की अपेक्षा भी बड़े वेग से झपटा; क्योंकि अब उसकी मृत्यु निकट आ गई थी और वह स्वयं भी मरने के उपाय ही कर रहा था। उसके सारे अङ्गों से पसीना निकल रहा था और उसकी वैसी क्रोधान्ध दशा से जान पड़ता था कि वह बिना मरे या मारे नहीं रहेगा। तात्पर्य यह है, कि अन्तःकरण की दुष्ट प्रवृत्ति मरने तक भी नहीं बदलती है ॥१२॥

श्लोक:—तमापतन्तं स निगृह्य शृङ्गयोः पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले ।

निष्पीडयामास यथार्द्रमम्बरं कृत्वा विषाणेन जघान सोपतत् ॥१३॥

श्लोकार्थः—तब भगवान् ने उसके दोनों सींग हाथों से पकड़ लिए और उसे पृथिवी पर गिरा दिया। फिर उसके शरीर को पांव से दबाकर—जैसे गीले कपड़े को निचोड़ते है, इस तरह मरोड़ डाला। उसके सींग उखाड़ लिए और सींग के प्रहार से ही उसे मार डाला ॥१३॥

सुबोधिनीः—तदा भगवता मारित इत्याह तमापतन्तमिति, उपरि पतन्तमरिष्ठं शृङ्गयोर्गृहीत्वा तस्य बलं निगृह्य यथा बलक्षीणो भवति तथा कृत्वा पश्चाद् भूमौ पातयित्वा पादेनाक्रम्य यथा यज्ञे पशुर्निष्पीड्यते तथा निष्पीडयामास, तथा क्षताभावेपि रोमकूपद्वारा रुधिरं निःसारितवानित्यर्थे दृष्टान्तमाह यथार्द्रमम्बरमिति. तदपि हस्तेन निष्पीडितमम्बरं न सर्वं जलं विमुञ्चति यथा रजकादिभिः काष्ठखण्डैर्निष्पीडितं तदाह विषाणेन कृत्वेति, विपरीतनिर्देशः अग्रिमसम्बन्धार्थं; विषाणेन च तं जघान, येनैव मारणार्थं स प्रवृत्तः तेनैव स मारित इति, 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इत्यर्थं उक्तो भवति, विषाणद्वयमेकं वा तदुदरे निवेशितवानित्यर्थः, ततः स अपतत् पुनरुत्थान प्रयत्नं न कृतवानित्यर्थः ॥१३॥

व्याख्यार्थः—इस-तमापतन्त-श्लोक से भगवान् के द्वारा उसके मरण का वर्णन करते हैं। ऊपर गिर कर दबाने की इच्छा वाले उस अरिष्ट को, भगवान् ने उसके सींगों को पकड़ कर उसे बलहीन कर दिया और फिर पृथिवी पर गिरा कर यज्ञीय पशु की तरह पाँव से दबाकर मरोड़ डाला। यद्यपि उसके हाथ पांव आदि अङ्ग क्षत विक्षत नहीं हुए थे, ज्यों के त्यों ही थे, तो भी उसके रोमकूपों से इस तरह खून बह रहा था जैसे धोबी लोगों के द्वारा डंडे में लेकर कपड़े को -उनके स्वरूप को न बिगाड़ कर ही—निचोड़ दिया जाता है। भगवान् ने उसके सींगों को जिनसे वह मारने आया था—उखाड़ लिए और दोनों अथवा एक ही सींग को उसके पेट में घुसेड़ दिया। तब तो, वह असुर गिर पड़ा और फिर नहीं उठ सका। सींग से मारने, आने वाले उस असुर को सींग से ही मार कर—"ये यथा"—भगवान् ने-जो मुझे जैसे भजता है, मैं भी, उसे वैसे ही भजता हूँ—अपनी सत्य प्रतिज्ञा प्रदर्शित की ॥१३॥

श्लोकः—असृग् वमन् मूत्रशकृत समुत्सृजन् क्षिपंश्च पादाननवस्थितेक्षणः।
जगाम कृच्छ्रं निर्ऋतेरथ क्षयं पुष्पैः किरन्तो हरिमीडिरे सुराः ॥१४॥

श्लोकार्थ.—उस अरिष्टासुर की आंखें बाहर निकल आईं, मुंह से रुधिर बहने लगा, मल मूत्र एक साथ निकल पड़ा। वह बार बार पैर पटक कर बड़े कष्ट से यम लोक को गया। तब देवगण भगवान् पर पुष्प वर्षा कर उनकी स्तुति करने लगे ॥१४॥

सुबोधिनीः—अन्तस्तु प्राणोद्गमनरूपः प्रयत्नो जात इत्याह असृग् वमन्निति, मुखद्वारा असृक्, मूत्रं मध्ये, शकृद् अन्ते. एवं सर्वतः सर्वं निःसृतमिति महान् प्रयत्नो मरणात्मकः सूचितः,

गच्छतः प्राणस्य चेष्टामाह क्षिपंश्च पादानिति, न अवस्थिते ईक्षणे यस्य नेत्रे विपरीते जाते, अनेन नेत्रद्वारा प्राणगमनमिति निरूपितम्, प्रथमतः कृच्छ्रं मूर्च्छां जगाम, ततो न पुनरावृत्तः किन्तु अथ निर्ऋतेः क्षयं मृत्युमेव जगाम. अथवा प्रथमतो निर्ऋतेः क्षयम्, अथ तदनन्तरं क्षयं स्वस्थानमाश्रयभूतं जगाम, मुक्तिप्रकरणे गणितत्वात् वृषभवधः आकृतिसाम्यादयुक्त इव भविष्यतीत्याशङ्क्य देवानुमोदनेन तद्युक्तमिति समर्थयति पुष्पैः किरन्त इति, पुष्पवृष्टिं कृत्वा स्तोत्रमपि कृतवन्तः यतः स्वदुःखं दूरीकृतवान्, तदर्थपरिज्ञानाय सुरा इति ॥१४॥

व्याख्यार्थः – 'असृग् वमन्'—इस श्लोक से उसके प्राण निकलने तक का प्रकार बतलाते हैं। वह मरते समय मुंह से खून बहा कर, बीच में मूत्र और अन्त में मल का त्याग करके अपने मरने के लिए बडे भारी प्रयत्न करने को सूचित कर रहा था। अर्थात् उसके प्राण बड़े कष्ट से निकल रहे थे। वह पैरों को पीट रहा था। उसकी निकली हुई निश्चल आंखे अपने मार्ग से अपने प्राणों का निकलना बतला रही थीं। पहले वह मूर्च्छित होकर सचेत नहीं हुआ, किन्तु यमराज के लोक को (मृत्यु को) ही प्राप्त हो गया। अथवा पहले यमलोक को जाकर फिर अपने स्थान मोक्ष को प्राप्त हो गया।

यद्यपि आकार की समानता से बैल को मारना अयोग्य-अनुचित सा-दिखाई देता है; किन्तु उसके वध से प्रसन्न होकर देवों के द्वारा पुष्पों की वृष्टि और स्तुति किए जाने पर उस बैल रूप धारी भी असुर का वध करना उचित ही था, क्योंकि असुर को मारकर भगवान् ने सुरों-देवों-का दुःख दूर कर दिया था। 'मोदेत साधुरपि वृश्चिक सर्प हत्या' अर्थात असाधु की मृत्यु से साधु प्रसन्न ही होते है। देवता होने के कारण कंस की आज्ञा से इस अरिष्ट के बैल के रूप में व्रज का अनिष्ट करने के लिए खिरक में आने को वे जान ही रहे थे ॥१४॥

श्लोकः—एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः स्वजातिभिः ।
विवेश गोष्टं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः ॥१५॥

श्लोकार्थः—इस प्रकार उस वृषभासुर को मार कर गोपों के मुख से अपनी प्रसंसा सुनते हुए, गोपिकाओं के नेत्रों को आनन्द देने वाले नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र बलरामजी के साथ व्रज में आए ॥१५॥

सुबोधिनी – उपसंहरति एवमिति, सजातीया अपि कठिना इति स्वजातिभिरपि गोपैः स्तूयमानः, अत एव जातिपदम्, ततो गोष्ठशत्रुं हत्वा गोष्ठं प्रविवेश, सबलो बलभद्रसहितोपि जातः, प्रमाणसहितत्वात् तस्य गोष्ठे प्रवेशस्य कारणं गोपीनां नयनोत्सवरूप इति, अनेन निरोधस्य सिद्धत्वात् नातः परं सम्बन्ध इति सूचितम् ॥१५॥

व्याख्यार्थः—इस लीला का–एवं-इत्यादि श्लोक से उपसंहार करते हैं। 'जातिश्चेदनलेनकिं'—के अनुसार समान जाति वाले लोग उत्कृष्ट गुण वाले अपनी जाति के पुरुष की स्तुति नहीं किया करते हैं, बड़े निठुर होते हैं; किन्तु अरिष्ट रूप अरिष्ट का वध करने पर स्वजाति के भी गोपजन भगवान् की स्तुति करने लगे।

गोष्ठ-व्रज-के शत्रु असुर को मार भगवान् साक्षिभूत बलरामजी के साथ व्रज में पधारे। श्री कृष्ण के दर्शन से व्रज भक्त गोपीजनों के नेत्रों को बड़ा उत्सव आनन्द और सुख मिलता था। उनको वह निरोध-सर्वात्मभाव-सिद्ध हो गया था, जिसके पश्चात् अन्य कोई सम्बन्ध शेष नहीं रह गया था अर्थात् निरोध ही सर्वोत्कृष्ट सम्बन्ध है ॥१५॥

लेख:—'एवं-ककुद्मिनं' -श्लोक की व्याख्या में-अनेन-पद से यह अभिप्राय कहा है, कि निरोध सिद्धि का सम्बन्ध फल रूप नहीं है किन्तु नित्यलीलासिद्ध सार्वदिक सम्बन्ध ही फलरूप है ॥१५॥

श्लोक—अरिष्टे निहते दैत्ये कृष्णेनाद्भुतकर्मणा।

कंसायाथाह भगवान् नारदो देवदर्शनः ॥१६॥

श्लोकार्थ:—अद्भुत कर्म करने वाले भगवान् ने जब अरिष्टासुर को मारकर यम लोक भेज दिया; तब दिव्य दृष्टि रखने वाले देवर्षि नारदजी ने, भगवान् की इच्छा के अनुसार कंस से जाकर कहा ॥१६॥

सुबोधिनी-एवं हेतुभूते अरिष्टवधे जाते तत्फलं अग्रे निरूपयिष्यन् प्रथमं कार्यमाह सार्धाभ्यां गोष्ठे **अरिष्टे निहते** नातः परं गोष्ठे कार्यमस्ति सर्वमेव दुःखमेतन्मूलकमिति, ननु सदानन्दोऽप्यपेक्षित इत्याशङ्क्याह **कृष्णेनेति**, साधनत्वमापन्नः सदानन्द एवेति न तदर्थमन्यत्कार्यम्, **अद्भुतकर्मणेति**, भगवता अरिष्टो न हतः किन्तु गोकुले स्थापितः यतः तत्प्रभृति गोकुले दुःखमेवेति विपरीतक्रियैव अद्भुतकर्मता, तदा भगवानागमिष्यतीति ज्ञात्वा रथादिप्रेषणार्थं नारद उपायं कृतवानित्याह **कंसायाथाहेति**, अथ तदनन्तरमेव यदैव भगवान् गन्तुमियेष तदैव देववद् दर्शनं यस्येति भगवत इव तस्य ज्ञानं निरूपितम्, लोकविरुद्धस्यापि करणे दोषाभावाय देववद् वा आराधितप्रत्यक्षे यथेष्टं भवति तथा नारदस्य दर्शनेन सर्वेष्ट जातमिति ज्ञापितम्, अथवा यो देवः पूर्वमाह 'अस्यास्त्व मष्टमो गर्भ' इति तस्मिन् दृष्टे यथा भवति सर्वसन्देहनिवृत्तिः तथा नारदे दृष्टे जातेति ॥१६॥

व्याख्यार्थ:—इस प्रकार अरिष्ट वध-जिसके लिए ही भगवान् अब तक व्रज में विराजते रहे—को कह कर आगे इस वध से होनेवाले फल का निरूपण करते हुए पहले—"अरिष्टे निहते"—इत्यादि ढाई श्लोकों से उसके कार्य का वर्णन करते हैं। व्रज में आए हुए सभी दुःखों का मूल कारण यह अरिष्ट ही था। अतः इसका नाश कर देने के पश्चात् व्रज में अब भगवान् का कोई कर्त्तव्य कार्य अवशिष्ट नहीं था। और अद्भुत कर्म करने वाले भगवान् कृष्ण—"कृषिभूर्वाचकः शब्दो णश्च निर्वृति वाचकः। तयो रैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते"—के अनुसार अरिष्ट वध मे-कृष्णेन साधनरूप हुए सदानन्द ही हैं। इस कारण से अपेक्षित सदानन्द की प्राप्ति कराने के लिए भी व्रज में रहने का कोई अन्य कार्य शेष नहीं रह गया था। भगवान् ने अरिष्ट का वध करके उसे गोकुल में ही रहने दिया, क्योंकि उसके पश्चात्-भगवान् के मथुरा पधार जाने पर-तभी से-व्रज में दुःख ही दुःख बना रहा। इस लिए वध करके भी, गोकुल में उसका स्थापन कर देना—(यह भगवान् की विपरित

कर्म वाली अद्भुत कर्मता का वर्णन किया) भगवान् की यह विपरीत क्रिया वाली अद्भुत कर्मता है।

भगवान् ने जब कंसादि के वध के लिए मथुरा जाने का विचार किया, तभी-भगवान् मथुरा पधार आवेंगे- ऐसा जानकर नारदजी कंस के पास गए और भगवान् को बुलाने के लिए रथादि भेजने का उपाय करने लगे इस कारण से,-अर्थात् भगवान् की मथुरा आने की इच्छा को जान लेने से-नारदजी को 'देवदर्शन'- भगवान् के तुल्य ज्ञानवान् कहा है। अथवा देवदर्शन-विशेषण का दूसरा तात्पर्य यह है, कि कंस के वध के लिए ही, उसके ही द्वारा रथादि भेजकर भगवान् को बुलाना यद्यपि लोक विरुद्ध काम किया गया, तो भी ऐसा करने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जैसे आराधना किए हुए देव का साक्षाद् दर्शन हो जाने पर आराधक की इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं, वैसे ही नारदजी के दर्शन से सारी जनता के सारे ही मनोरथ सिद्ध हो गए। 'देवदर्शन'-पद का तृतीय तात्पर्य यह भी बताते हैं कि--'अस्यास्त्वामष्टमो गर्भः'-भा. १०-१-३४। यहां देवकी के आठवें गर्भ को कंस के लिए मृत्यु बतलाने वाले देव का दर्शन हो जाने पर जैसे सारे सन्देह दूर हो जाते हैं, वैसे ही नारद जी के दर्शन होने पर सभी सन्देहों की निवृत्ति हो गई ॥१६॥

श्लोकः—यशोदायाः सुतां कन्यां देवक्याः कृष्णमेव च।
रामं च रोहिणीपुत्रं वसुदेवेन बिभ्यता॥
न्यस्तौ स्वमित्रे नन्दे वै याभ्यां ते पुरुषा हताः॥१७॥

श्लोकार्थः—कि "देवकी के आठवें गर्भ से कन्या नहीं हुई, वह कन्या तो यशोदा की थी। कृष्ण, देवकी के और बलराम रोहिणी के पुत्र हैं। वसुदेवजी ने तुम्हारे भय से अपने मित्र नन्द के यहां उनको रख दिया है। उन्हीं ने तुम्हारे भेजे हुए अनुच असुरों को मारा है" ॥१७॥

सुबोधिनीः—नारदस्य वाक्यान्याह **यशोदायाः** सुतामिति, दैवमप्यनृतं वदतीति तस्य या विपरीतबुद्धि सा प्रथमतः अपोह्यते कन्या न देवक्याः नापि यशोदायाः पुत्रः, किन्तु यशोदायाः कन्या देवक्यास्तु पुत्रः सर्वत्राहेति सम्बन्धः, यशोदायाः सुतामाह कन्यां, कृष्णं तु देवक्याः पुत्रमाहेति रामं च देवक्याः पुत्रं रोहिणीपुत्रमपि, एवकारस्तद्व्यावृत्त्यर्थः, यथा देवक्या रोहिण्याश्च रामः पुत्रः एवमेव देवक्याः यशोदायाः पुत्रो न भवतीति कथमेवं व्यत्यासो जात इति चेत् तत्राह, **वसुदेवेन बिभ्यता न्यस्तौ स्वमित्रे नन्द** इति, एतावदर्थं नारदोपि न जानाति यथा नन्दोपि न जानाति तथा भगवांस्तत्र तिष्ठतीति परमार्थतो वा न्यासः मित्रपदं ज्ञात्वाप्यन्यथा न करिष्यतीति ज्ञापनार्थं, वै निश्चयेन याभ्यां कृष्णरामाभ्यां, ते पुरुषाः सर्व एव प्रलम्बादयो हता इति, अन्यथा नान्यो मारयितुं शक्नुयात्, एतावदुक्त्वा तूष्णीं तत्रैव स्थितः ॥१७॥

व्याख्यार्थः-"यशोदायाः सुतां-इत्यादि श्लोक से नारदजी के वचन कहते हैं। पहले यह कह कर, कि"--कन्या न देवकी की है, और न यशोदा का पुत्र है"—कंस की इस विपरीत बुद्धि को-कि "देव-आकाशवाणी-भी मिथ्यावादी होता है"-दूर किया गया है। नारदजी ने कन्या को यशोदा

की पुत्री और कृष्ण को देवकी का पुत्र कहा। इसी तरह बलरामजी को देवकी और रोहिणी का पुत्र भी बतलाया। बलरामजी की तरह कृष्ण भी देवकी और रोहिणी के पुत्र तो हैं ही, किन्तु देवकी और यशोदा के पुत्र नहीं हैं। इन दोनों का गोकुल में रहने का कारण तो यह है, कि तुम्हारे (कंस के) भय से डरकर वसुदेव ने अपने मित्र नन्द के यहां रख छोड़ा है। किन्तु वास्तव में, यहां यह धरोहर साक्षात् भगवान् ही हैं--इस बात को न नारदजी और न नन्द जी जानते थे। लोक में जैसे मित्र अपने मित्र की किसी बात को यथार्थ जानकर के भी उसे प्रकट नहीं करता, वैसे ही वसुदेव के मित्र नन्द, भगवान् के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भी, प्रकट नहीं करेंगे-इस अभिप्राय से मूल में 'मित्र' पद का प्रयोग है। उन साक्षात् भगवान् कृष्ण बलराम ने तेरे (कंस के) अनुयायी प्रलम्ब आदि असुरों को-जिन्हें अन्य कोई भी नहीं मार सकता था—मार गिराया है। इतना कह कर नारद जी चुप होकर कंस के निकट ही बैठे रहे ।१७।।

श्लोक:—निशम्य तद्भोजपतिः कोपात् प्रचलितेन्द्रियः ।
निशातमसिमादत्त वसुदेवजिघांसया ।।१८।।

श्लोकार्थ:—नारद जी के यह समाचार सुनकर, कंस क्रोध से विह्वल हो उठा। वह एक तीक्ष्ण तलवार लेकर सभा में उपस्थित वसुदेव को मारने के लिए उद्यत हो गया ।।१८।।

सुबोधिनी:—ततो यज् जातं तदाह निशम्येति, नारदोक्तं तत् प्रमेयं निशम्य अन्यथाकरणे सामर्थ्यार्थमाह भोजपतिरिति भोजानां पतिः, अकस्माज्जातेन कोपेन प्रकर्षेण चलितानीन्द्रियाणि जातानि; अन्यायो वसुदेवस्येति ज्ञात्वा तज्जिघांसया निशातं तीक्ष्णं खड्गमाददे ।।१८।।

व्याख्यार्थ:—निशम्य-इस श्लोक से कंस का कर्त्तव्य वर्णन करते हैं। नारद जी के कथनानुसार-'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' प्रमेयं हरिरेवैकः—साक्षात् प्रमेय स्वरूप भगवान् को वस्तुतः सुनकर भी वह भोज-पति कंस अपने तथा अपने अनुयायियों के-जिनका वह स्वामी था—बल पर क्रोध से चंचल इन्द्रियों वाला हो गया और उसने वसुदेवजी का अन्याय और अपराध समझकर, उन्हें मारने की इच्छा से अपनी तेज तलवार उठाई ।।१८।।

श्लोक:—निवारितो नारदेन तत्सुतौ मृत्युमात्मनः ।
ज्ञात्वा लोहमयैः पाशैर्बबन्ध सह भार्यया ।।१९।।

श्लोकार्थ:—परन्तु नारद जी ने समझा बुझाकर उसे रोक दिया। उन्होंने कहा, कि वसुदेवजी तुम्हें (कंस को) कुछ हानि नहीं पहुंचा सकते; उनके दोनों पुत्र ही तुम्हारे (कंस के) काल है। तब कंस ने वसुदेव के प्राण तो नहीं लिए, किन्तु देवकी सहित उन्हें (वसुदेव को) फिर लोहे की बेड़ियों से बान्धकर कारागार में डाल दिया ।।१९।।

सुबोधिनी—प्रायेण वसुदेवः सभायामेवास्ते तदा भीतो नारदो निवारयामासेत्याह **निवारित** इति, ननु तन्निवारितः कथं कंसो न मारयेदित्याशङ्क्याह **नारदेनेति**, स हि तेषां मान्यः, तुल्यो देवेषु तेषु च, तथापि शत्रुरिति बद्ध इत्याह **तत्सुतावात्मनो मृत्युरिति** देवकीवसुदेवौ **बबन्ध**. भ्रातृणामपि स्वमध्यपातात् सेवकानां च, सुताविति द्विवचनं अविशेषकथनात् सन्देहाद् वा **लोहमयैः पाशैरिति** न पादे शृङ्खला किन्तु सर्वावयवेषु शृङ्खलाभिरिव बन्धनम्, एतावदुक्त्वा नारदो निर्गतः केचित् तु बन्धनमपि नारदेनैवोक्तमित्याहुः, मारणे तत्सुतौ पलायनं करिष्यत इति, तदुपेक्षणीयमनृतवादप्रसङ्गात् ॥१९॥

व्याख्यार्थः—सम्भवतः वसुदेवजी, वहां कंस की सभा में ही मौजूद थे। दुष्ट कंस कहीं उन्हें मार न डाले,—इस भय से भयभीत हुए नारदजी का उसे रोकना—'निवारितः'—इत्यादि श्लोक से कहते हैं। नारदजी के रोकने से उस दुष्ट कंस ने भी वसुदेव जी को जीवित ही रहने दिया; क्योंकि देवों की तरह असुरों में भी, नारदजी का पूर्ण गौरव और सन्मान है। उनके कथन को देवों की तरह, असुर भी वैसे ही शिरोधार्य तथा मानते हैं। तथापि, उसके काल कृष्ण व राम, के पिता होने के कारण, उन्हें (वसुदेवजी को) शत्रु मान कर कारागार में डाल दिया। उनके हाथों पावों में ही बेड़ियां नहीं डाली गईं; किन्तु उनका सारा ही शरीर बेड़ियों से जकड़ दिया गया था। यद्यपि शत्रु के सम्बन्धी सारे ही शत्रु गिने जाते हैं, तो भी वसुदेवजी के भाईयों तथा सेवकों को कारागार में नहीं डाला गया; क्योंकि वे तो कंस के मध्यपाति-अनुयायी-ही थे। वसुदेव के दोनों पुत्र कंस का काल है—'तत्सुतौ'-मूल में यह द्विवचन दोनों के लिए साधारणतया दिया है, अथवा दोनों में से न जाने किसके हाथ से कंस मारा जाएगा—इस सन्देह से दिया है, यों कह कर नारदजी वहां से चले गए।

कोई यहां यह कहते हैं, कि नारदजी ने ही-यों कह कह कर कि वसुदेव को मार देने पर तो उसके पुत्र इधर उधर कहीं भाग जाएंगे—वसुदेव को कारागार में बन्धन कर देने की सम्मति कंस को दी थी—इत्यादि कथन मिथ्यावाद के प्रसङ्ग-दोष-के कारण माननीय नहीं है ॥१९॥

लेखः—'निवारितः'—इस श्लोक की व्याख्या में-भ्रातृणा-इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है कि वसुदेवजी के 'देव', 'भाग' आदि नौ भाई और उनके सभी सेवक भी, शत्रु पक्ष के शत्रु के सम्बन्धी ही थे; कि वे सारे ही कंस के मध्यपाती-अनुयायी थे। इस कारण से उन्हें कारागार में नहीं डाला। केवल देवकी और वसुदेवजी को बन्धन में डाला ॥१९॥

श्लोकः—**प्रतियाते तु देवर्षौ कंस आभाष्य केशिनम् ।**

प्रेषयामास हन्येतां भवता राममाधवौ ॥२०॥

श्लोकार्थः—नारदजी के चले जाने पर कंस ने केशी नाम के असुर को बुलाया। उसको आज्ञा दी, कि तुम ब्रज में जाकर कृष्ण और बलदेव को मार डालो ॥२०॥

सुबोधिनी—ततो देवर्षौ प्रतियाते पुनस्तस्यान्यथाबुद्धिः पूर्ववद् भविष्यतीत्याशङ्क्य तुशब्दो वारयति यतोयं देवानामपि मन्त्रद्रष्टा तदा कंसः स्वनिकटे स्थितं स्वस्य पट्टाश्वरूपं केशिनमा भाष्य

हे केशिन्निति सम्बोध्य गोकुले प्रेषयामास त्वं गच्छ गोकुलमिति, अर्थसिद्धत्वान्नोक्तम्, गतस्य कृत्यमाह हन्येतामिति, गत्यर्थोऽपि हनधातुरिति, आनयनार्थमेव घोटकः प्रेष्यत इति लक्ष्यते, सुखासनं तत्र भवतीति पश्चाद्रथप्रेषणम्, तस्य तथा सामर्थ्यमग्रे वक्ष्यति 'तस्य हेषितसंत्रस्ता' इति, माधवपदं मधुवंशोत्पन्नाभिप्रायेण, रामस्तु प्रसिद्धः ॥२०॥

व्याख्यार्थः - यहां मूल श्लोक में स्थित 'तु'-शब्द यह बतलाता है, कि पहले नारदजी के कहने से वसुदेवजी का वध करने से रुके हुए कंस ने उन (नारदजी) के वहां से चले जाने के बाद भी फिर उन (वसुदेव) पर अपनी विपरीत बुद्धि करके वसुदेवजी का वध नहीं किया; नारदजी की आज्ञा को उनके सामने की तरह उनके पीछे भी मानता रहा और उसने वसुदेवजी का वध नारदजी के वहां से चले जाने के बाद भी नहीं किया; क्योंकि, नारदजी देवर्षि-दयों के भी मंत्र द्रष्टा-ऋषि हैं।

तब कंस ने निकट बैठे हुए, घोड़े के रूपधारी केशी को सम्बोधित करके गोकुल भेजा और कहा, कि वहां जाकर राम, कृष्ण-दोनों-को मार आओ। हन हिंसागत्योः-'हन' धातु का गमन-(जाना) अर्थ भी है। घोड़ा किसी को बुलाने के लिए ही भेजा जाता है; किन्तु घोड़े की सवारी सुखकर नहीं होती। इस कारण से कृष्ण, राम को लिवाने के लिए फिर रथ भेजा जाएगा। घोड़े के रूप में गए हुए उस केशी असुर की शक्ति का वर्णन यहां अगले अध्याय में नारदजी ने किया है, कि-यस्य ह्रेषित संत्रस्तास्त्यजन्त्यनिमिषादिवम्:-उसकी कर्ण कटु हिनहिनाने को सुनकर डरे हुए देवगण देव लोक को खाली करके भाग निकले-इस तरह किया है। मूल में यहां-राम माधवौ-राम-बलराम तो प्रसिद्ध हैं ही और मधुवंश में उत्पन्न होने के अभिप्राय से माधव-श्री कृष्ण-के लिए कहा गया है ॥२०॥

श्लोक,—ततो मुष्टिकचाणूरशलतोशलकादिकान ।
अमात्यान् हस्तिपांश्चैव समाहूयाह भोजराट् ॥२१॥

श्लोकार्थः—इसके बाद, भोजराज कंस ने मुष्टिक, चाणूर, शल, तोशलक आदि अपने महाबली पहलवानों को कुवलयापीड़ हाथी के महावतों को और अपने सभी मंत्रियों को बुलाकर कहा ॥२१॥

सुबोधिनी:—सोऽपि भक्तो भविष्यतीति साक्षाद्भगवन्नाम न मुखान्निःसृतम्, हृदये तेन कार्यं रोत्स्यतीति ज्ञात्वा सर्वानिवाहूय मन्त्रयामासेत्याह तत इति, मुष्टिकादयो मल्लाः अमात्या गृहमन्त्रिणः हस्तिपाः युद्धकुशलाः चकारादन्यांश्च बन्धून्, एवकारेण न विपक्षान्, समाहूय गृहस्थितानाकारयित्वा, आगमनार्थं हेतुमाह भोजानां राजेति ॥२१॥

व्याख्यार्थः—एक बार भी भगवान् का नाम लेलेने पर कहीं वह भक्त हो जाए—इस कारण से कंस के मुख से भगवान् कृष्ण का नाम न निकल सका हृदय में-वैर भाव से-रहने वाले भगवान् कार्य सिद्ध कर देंगे—इस प्रकार जानकर उसके मुख से मधुवंश में उत्पन्न-माधव-ही निकला। कंस ने

सारे ही मंत्रियों को बुलाया—यह-'ततः'-इत्यादि श्लोक से कहते हैं। मुष्टिक, चाणूर आदि नाम के मल्लों को गृह मंत्रियों को, युद्ध में अतिनिपुण महावतों को, अन्य सगे सम्बन्धियों को तथा श्रीकृष्ण के विरोधियों को सभी को उनके घरों से बुलवाया। भोजतड़ यादवों के राजा कंस की आज्ञा पाकर वे सब दरबार में उपस्थित हो गए ॥२१॥

श्लोकः—भो भो निशम्यतामेतद् वीरचाणूरमुष्टिकौ ।
नन्दव्रजे किलासाते सुतावानकदुन्दुभेः ॥२२॥

श्लोकार्थः—हे चाणूर, मुष्टिक आदि वीर बली पहलवानों सुनो। वसुदेव के लड़के कृष्ण और बलदेव नन्द के व्रज में रहते हैं ॥२२॥

सुबोधिनीः—समागतेषु तेषु स्ववृत्तान्तमाह भो भो इति, सामान्यसम्बोधनद्विरुक्त्या सर्वेषामेव सम्बोधनं लक्ष्यते, तेन प्रत्येकं नाम गृहीत्वा कथयतीति ज्ञापितम्, एतन्निशम्यतामिति सावधानीकरणम्, वीरेति विशेषणं प्रकृतोपयोगित्वात् सर्वेषां, चाणूरेति भिन्नतया निरूपणे तस्यैव वा वीरो वा कश्चित् मुष्टिकादीनां प्रधानेन ग्रहणात् बहुवचनं वा, अज्ञातं वृत्तान्तमाह नन्दव्रज इति, मन्त्रे वक्तुर्नाम न ग्राह्यमिति किलेत्याह प्रसिद्ध एवायमर्थः, आसाते किल, नन्दव्रजे किल, आनकदुन्दुभेः सुतौ किल ॥२२॥

व्याख्यार्थः—बुलाने से, उनके वहां आ जाने पर, कंस-'भो भो'- इस श्लोक से अपना वृत्तान्त कहने लगा -"भो भो"-इस (दो बार कहे गए) साधारण सम्बोधन से प्रत्येक से उनका अलग अलग नाम लेकर उन्हें सुनने में सावधान करता हुआ बोला, कि—सुनिए। वीर पद चाणूर का विशेषण है। यह युद्ध के समय में उचित ही है। अथवा वीर नाम का एक कोई और मल्ल मान लिया जाए तो-वीर चाणूर-मुष्टिकाः—ऐसा बहुवचन का प्रयोग करना उचित है। इन मल्लों में चाणूर मुष्टिक प्रधान मल्ल होने से उनके नाम ही लिए हैं। जिस बात को वे लोग नहीं जानते थे, उसे उनसे कहने लगा। मंत्रणा (गुप्त बात) में कहने वाले का नाम नहीं लेना चाहिए कि अमुक ने ऐसा कहा है। इसलिए (कहने वाले) नारदजी का नाम न लेकर अर्थात्, नारदजी ने ऐसा कहा है।—यों न कहकर मूल में 'किल' कहा है। ये सभी बातें प्रसिद्ध ही हैं कि, रहते हैं, नन्द के व्रज में हैं और आनक दुन्दुभि वसुदेव के बेटे हैं ॥२२॥

श्लोकः—रामकृष्णौ ततो मह्यं मृत्युः किल निर्दिशतः ।
भवद्भ्यामिह सम्प्राप्तौ हन्येतां मल्ललीलया ॥२३॥

श्लोकार्थः—(नारदजी ने) मुझे बतलाया है कि उनके हाथ से मेरी मृत्यु है। मैं उन्हें यहां बुला लेता हूं। तुम अपने दाव पेंच की चतुराई से उन्हें मार डालना ॥२३॥

सुबोधिनीः—नाम्ना प्रसिद्धयर्थं नामाह रामकृष्णाविति, किमतो यद्येवमित्याशङ्क्याह ततो मह्यमिति, मृत्युर्मरणं अत्रापि पूर्ववत् किलेति, निर्दशित इति नितरां दर्शितः प्रत्यक्षतया सर्वैरुक्तः, तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह भवद्भ्यामिति, इह सम्यक् प्राप्तौ भवद्भ्यां चाणूरमुष्टिकाभ्यां मल्ललीलया हन्येतामिति प्राप्येतामित्युक्तं भवति, यदि लौकिकभाषया स विरुद्धं न वदेत् तदा भगवानपि लोकरीत्या तं न मारयेत्, लीलयेति पद भागिनेयाविति प्रकटतया तथाकरणमनुचितमिति, अत एव भगवतापि तथैव कृतं न तु शस्त्रेण नापि मुष्टिभिः ॥२३॥

व्याख्यार्थः – रामकृष्णौ-इस श्लोक से उनका प्रसिद्ध नाम लेकर भी कहता हैं। उन-दोनों को सबही में स्पष्ट रूप से मेरी मृत्यु (मेरा काल) बतलाया है। इसलिए भली भाँति-हर्ष पूर्वक-यहां आए हुए उन दोनों को आप-चाणूर और मुष्टिक-दोनों ही मल्ल की लीला (खेल) ही में मार डालना। हन्येतां -हन धातु गमनार्थक भी है— हन्येतां-भगवान् के हाथ से आप मर कर—ये ये हताश्चक्र धरेण के अनुसार-उत्तम गति को प्राप्त कर लो–ऐसा भी कंस के कथन का तात्पर्य होता है।

यहां यह अभिप्राय है, कि यदि कंस- 'हन्येतां'–रामकृष्ण को मार डालने का लौकिक शब्द के द्वारा उन्हें आदेश नहीं देता, तो भगवान् कृष्ण भी, कंस का लोक रीति से वध नहीं करते। लौकिक विरोध की भाषा से बोलने के कारण ही भगवान् ने कंस को मारा था। राम कृष्ण-कंस की बहिन-देवकी के पुत्र-भानेज–हैं। भानेज को प्रकट रूप से अस्त्र शस्त्रों से मरवा देना उचित नहीं है। इसलिए-'मल्ललीलया'-पहलवानों के दाव पेचों से ही-खेल में ही उन्हें मार देने का उनको आदेश दिया। इसी कारण से ही, भगवान् ने भी कंस को शस्त्र और मुक्कों से न मारकर लीला (क्रीडा) पूर्वक ही आगे मारा है ॥२३।

श्लोकः—मञ्चाः क्रियन्तां विविधाः मल्लरङ्गपरिश्रिताः ।
पौरा जानपदाः सर्वे पश्यन्तु स्वैरसंयुगम् ॥२४॥

श्लोकार्थः—भांति भांति के मञ्चों की रचना करो और उनके बीच में एक भारी अखाड़ा बनाओ। पुरों और गांवों में रहने वाले लोग उन मञ्चों पर बैठकर इस दंगल को देखें ॥२४॥

सुबोधिनीः—अयं भावः भगवता तद्हृदये स्थापित इति बालकवञ्चनार्थं मल्लरङ्गप्रकारमाह मञ्चाः क्रियन्तामिति, विविधा इति मनोहरत्वाय येनान्यचित्तत्वे मारयितुं शक्येत, मल्लानां रङ्गमाश्रित्य परितस्तिष्ठन्तीति मञ्चानां सर्वतः करणं येनैव सुखेन मल्लैः सह युद्धं तथैव आचार्ये केवलभंगो न भविष्यतीति तत्र लोकानां निवेशनमाह पौरा जानपदा इति, पुरवासिनो जनपद-वासिनश्च पृथक् पृथक् मञ्चे स्थिताः, स्वैरसंयुगं स्वेच्छया युद्धं पश्यन्त्विति तेषां कोलाहलेन वा अन्यचित्ततेति अपकीर्त्यभावश्च फलिष्यतीति ॥२४।

व्याख्यार्थः—कंस के हृदय में जो बात बुद्धि प्रेरक भगवान् ने उत्पन्न की, वही, वह चाणूर मुष्टिक को बुलाकर—'मञ्चाः क्रियन्तां'—इस श्लोक में उनसे बालकों को ठगने के लिए कहने लगा,

कि अखाड़े के चारों ओर भांति भांति के अनेक मनोहर-ऐसे सुन्दर-मंचों की सजावट करो कि उन्हें देखकर रामकृष्ण का भी मन आकर्षित हो जाए और तब, अन्य मनस्क-मंचों की शोभा देखने में संलग्न मन वाले, उनको तुम सहज ही में मार सको। अखाड़े के निकट सब तरफ मंच बना देने से, मल्लों के साथ युद्ध आसान हो जाता है और दाव पेंच भी अखाडे में ही उनके किए जा सकते हैं। पुर और प्रान्त के निवासी लोग उन (मंचों) पर बैठ कर, अलग अलग, उस स्वेच्छा युद्ध-दंगल-को देखें।' उनके कोलाहल (शोरगुल) से रामकृष्ण का भी चित्त बट जाएगा, वे अन्य मनस्क हो जाएंगे। तब वे सहज ही में मार दिए जा सकेंगे और दंगल में उनके मारे जाने पर अपकीर्ति भी नहीं होगी ।।२४।।

श्लोक;— महामात्र त्वयाभद्र रङ्गद्वार्युपनीयताम् ।
द्विपः कुवलयापीडो जहि तेन ममाहितौ ।।२५।।

श्लोकार्थः—हे महावत, तुम भी उस दिन रंग भूमि (अखाडे) के दरवाजे पर कुवलयापीड़ हाथी को लाकर खड़ा कर देना और जब मेरे शत्रु वे दोनों भाई, अखाडे में आने लगें; तब वहीं पर ही, पहले ही तुम उनको मार देना ।।२५।।

सुबोधिनीः—भगवदर्थमेवैतज् जातम्, तत्रापि सन्देहे उपायान्तरमाह महामात्रेति, महामात्रो महाहस्तिपः कुवलयापीडस्य पट्टहस्तिनो यन्ता तस्य सम्बोधनं प्रोत्साहर्थं त्वया कुवलयापीडो रङ्गद्वारि नेतव्यः, न त्वन्येन नाप्यन्यः, भद्रेति सम्बोधनं तव कापि चिन्ता न भविष्यतीति ज्ञापनार्थं, सरस्वतीसंवादात् अभद्रेति ज्ञानं, कुः पृथिवी तस्या वलयस्य आपीडं मुकुटरूपं, ततः विमत आह, मम अहितौ कामक्रोधौ जहीति, न त्वन्यः अहितः ।।२५।।

व्याख्यार्थः—यद्यपि भगवान् कृष्ण का अनिष्ट करना सोचकर ही, कंस ने मल्लों को आदेश दिया था; किन्तु उस उपाय में सन्देह करके "महामात्र"—इत्यादि श्लोक से फिर दूसरा उपाय कहता है। कंस के सबसे प्रधान हाथी का नाम कुवलयापीड़ था। उसके सबसे मुख्य चालक (यन्ता) को प्रोत्साहन करता हुआ सम्बोधित करके कहता है. कि हे महामात्र, हे महावत, हे भद्र, निश्चिन्त होकर, तुम ही कुवलयापीड को ही अखाडे के द्वार पर ले जाकर खड़ा करो। कोई दूसरा महावत किसी दूसरे हाथी को वहां खड़ा न करे।

सरस्वती के संवाद से महावत अमांगलिक माने जाते हैं, यह जानकर कंस ने उसे-अभद्र (अमांगलिक) पद से भी सम्बोधित किया है। यह हाथी कु (पृथिवी) 'वलय, आपीड' (मण्डल का मुकुट रूप) है।' इसलिए इस हाथी के द्वारा मेरे दोनों शत्रु (काम क्रोधों) को मार गिराओ। क्योंकि इन दोनों के अतिरिक्त अन्य कोई शत्रु मनुष्य का नहीं होता। ये दोनों काम क्रोध ही सबके, सबसे बड़े शत्रु हैं। इनके मार दिए जाने पर, ही केवल कंस का ही नहीं, मनुष्य मात्र का कल्याण है ।।२५।।

श्लोकः—आरभ्यतां धनुर्यागश्चतुर्दश्यां यथाविधि ।
विशसन्तु पशून् मेध्यान् भूतराजाय मीढुषे ।।२६।।

श्लोकार्थः—चौदस के दिन तन्त्रोक्त विधि के अनुसार शिव की प्रसन्नता के लिए धनुषयज्ञ का आरम्भ किया जाए और आशुतोष वरदानी भूतनाथ शिव की पूजा में अनेक पशुओं का बलिदान किया जाए ॥२६॥

सुबोधिनी—एवं लौकिकमुपायमुक्त्वा अलौकिकमाह **आरभ्यतामिति**, अयं विष्णवंश इति तस्य प्रतीतिः अतः शिव आराध्यः स एव तत्प्रतिबलो भवितुमर्हतीति तत्रापि तस्य यागा बहवः तन्मध्ये युद्धजयोगिकाङ्क्षित इति धनुर्याग एव कर्तव्यः, यत्र धनुषि शिवः पूज्यते स शैवतन्त्रे धनुर्यागः प्रसिद्धः **चतुर्दश्यां** स कर्तव्यः, यतश्चतुर्दशी शिवतिथिः, **यथाविधीति** अधिवासनादिपुरःसरं तत्तन्त्रोक्तन्यायेन हिंसाप्रचुरश्च यागः कर्तव्यः, शैवतन्त्रे शिवभेदा बहवः सन्तीति तदर्थं हिंसाप्रचुरश्चेत् क्रियते तदा तादृश एव देवो भवतीति तदाह **भूतराजायेति, मीढुषे** कामपूरकाय सर्वथा फलदात्रे ॥२६॥

व्याख्यार्थ – इस प्रकार कंस लौकिक उपायों द्वारा कृष्ण का अनिष्ट करने का आदेश देकर– 'आरम्यतां' इस श्लोक से अलौकिक उपाय करने को भी कहता है। वह कृष्ण को विष्णु का अंश मान रहा था और इसलिए शिवजी ही कृष्ण का प्रतिद्वन्दी बलवान्-समान बलवाले-हो सकते है, उनकी ही आराधना करनी चाहिए। शिव याग अनेक हैं, जो भिन्न भिन्न कामना से किए जाते है। उनमें से युद्ध में विजय की आकांक्षा से 'धनुर्याग' ही किया जाता है। इसलिए धनुर्याग करने का ही वह आदेश देता हुआ कहता है कि धनुर्याग का आरम्भ किया जाय।

जिस 'याग' में धनुष में शिवजी की पूजा की जाती है, वह शिवतंत्र में धनुर्याग नाम से प्रसिद्ध है, और वह चतुर्दशी (चौदस) के दिन किया जाता है, क्योंकि, वह शिवजी की तिथी है। उस दिन शिवतंत्र में बताई हुई विधि के अनुसार अधिवासनादि पूर्वक अत्यन्त हिंसात्मक-धनुर्याग किया जाय। शैवतन्त्र में शिवजी के बहुत भेद बतलाए हैं। उनमें भूतनाथ भेद ही प्रचुर हिंसा प्रिय रूप कहा है। इसलिए ऐसे प्रचुर हिंसात्मक धनुर्याग में वैसे ही प्रचुर हिंसा प्रिय देव भूतनाथ के लिए बलि दी जाय। वे कामना पूर्ण करने वाले और अवश्य ही फल देने वाले हैं ॥२६॥

श्लोकः—**इत्याज्ञाप्यार्थतन्त्रज्ञ आहूय यदुपुङ्गवम्।**
गृहीत्वा पाणिना पाणिं ततोक्रूरमुवाच ह ॥२७॥

श्लोकार्थः—स्वार्थ साधने में कुशल, कंस ने इस तरह पहलवानों और महावत को आज्ञा देने के अनन्तर यादवों में श्रेष्ठ अक्रूर को बुलाया और एकान्त में ले जाकर अपने हाथ में उनका हाथ लेकर उनसे वह कहने लगा ॥२७॥

सुबोधिनीः—एवं दृष्टादृष्टोपायमुक्त्वा समानयनोत्तर-कालमेतदिति समानयनार्थं अक्रूरमर्थयितुं तमाकारितवानित्याह **इत्याज्ञाप्येति, अर्थतन्त्रज्ञः** कार्यपरिकराभिज्ञः अक्रूरं विना नान्येन कार्यं सिद्धयतीति ज्ञात्वा, **यदुपुङ्गवं** यादवश्रेष्ठं गृहादाहूय पाणिना तस्य पाणिं

गृहीत्वा सन्माननार्थं परिगृह्य ततः प्रीतं ज्ञात्वा स्वभावतोप्यक्रूरमुवाच, हेत्याश्चर्यं न हि भगवद्भक्त एवं कार्यार्थे प्रेषयितुमुचित इति ॥२७॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार महावत और मल्लों से दृष्ट, अदृष्ट-लौकिक, अलौकिक उपाय करने का आदेश देकर-ये उपाय तो कृष्ण के यहां आने पर ही किए जा सकेंगे -इसलिए गोकुल से कृष्ण को लिवा लाने के लिए अक्रूर को भेजने की इच्छा से-'इत्याज्ञाप्य'-इस श्लोक में कंस का अक्रूर को उसके घर से बुलाने का वर्णन करते हैं। कार्य सिद्धि के उपायों को जानने में निपुण कंस ने यह जानकर कि एक अक्रूर ही कृष्ण को यहां मथुरा ला सकता है, दूसरा कोई भी इस काम को सिद्ध नहीं कर सकता–यादवों में श्रेष्ठ अक्रूर को-जो स्वभाव से ही सौम्य (क्रूर नहीं) थे–उसके घर से बुलवाकर आदर पूर्वक हाथ से उसका हाथ पकड़ कर-अक्रूर को प्रसन्न जानकर-उससे कहा। मूल में-'ह' इस आश्चर्य बोधक अव्यय का यह तात्पर्य है कि अक्रूर जैसे भगवद्भक्त को कृष्ण का अनिष्ट करने के विचार से उन्हें लिवा लाने के लिए कंस का भिजवाना उचित नहीं है। यह आश्चर्य है ॥२७॥

श्लोकः—**भो भो दानपते मह्यं क्रियतां मैत्रमादृतः ।**
नान्यस्त्वत्तो हिततमो विद्यते भोजवृष्णिषु ॥२८॥

श्लोकार्थः—हे दानाध्यक्ष अक्रूरजी आप मेरे परम मित्र और हितैषी हैं। यादवों में किसी अन्य का मैं आप से बढ कर आदर नहीं करता। आपसे बढ़कर हितैषी मेरा कोई नहीं है। इसीलिए आपको मेरा एक काम अवश्य करना होगा।

सुबोधिनीः—भो भो इति सम्बोधने द्विरुक्तिरत्यादरसूचिका, दानपत इति तद्धर्मकीर्तनं स हि दानमात्रस्याधिष्ठाता द्वादशसंवत्सरपर्यन्तं प्रत्यहं गोदाने क्रियमाणे जातः, तन्मातापि तथा गान्दिनी, यथा आर्तेभ्योन्यद्दानं तथा मह्यमार्ताय भगवान् देय इत्यर्थः, मह्यं मैत्रं मित्रकार्यं क्रियताम्, अनेन त्वयि मैत्री स्थाप्यते, यथा मित्रस्योचितं तथा कुर्वित्यर्थः, तत्राप्यादृतः आदरयुक्तः कर्तरि क्तः मया वा आदृतः आहतो यतः, एतादृशं कर्म अन्येन कारणीयमित्याशङ्क्याह नान्य इति, त्वत्तः अन्यः मे हिततमो नास्ति, अनुवृत्त्या ज्ञायते, भोजाः पितृवंश्या वृष्णयो यादवाः, सामान्यविशेषभावे तद्द्वयमाह, अतः सामान्यतो वा विशेषतो वा नान्यो हिततमो वर्तत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ–सम्बोधन में—'भो भो' यह दो बार कथन अक्रूरजी में कंस का आदर सूचित करता है। दानपते-सम्बोधन से उनके दान धर्म का कीर्तन किया। बारह वर्षों तक प्रति दिन गोदान करते रहने से अक्रूर जी सभी दानों के अधिष्ठाता हो गए थे। उनकी माताजी गान्दिनी-गोदान करने वाली थी। अक्रूरजी जैसे आप दुःखियों के लिए उनकी अभिलषित वस्तु देते हो, वैसे ही पीड़ित मेरे (कंस के) लिए भगवान् कृष्ण को दान करो। तुम मेरा (मित्र का) काम करो। तुम मेरे मित्र हो। जिसमें मित्र का हित हो, वैसा आदर पूर्वक करो। मैं आपका सम्मान करता हूं। यह एक ऐसा काम है जिसे तुम ही कर सकते हो, तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई भी इस काम को नहीं कर सकता है,

क्योंकि, पितावंशज भोजों में और यदुवंश में उत्पन्न होने वाले वृष्णि वंशी यादवों में सामान्य रीति से, अथवा विशेष प्रकार से, एक आप ही मेरे परम हितैषी हैं। दूसरा कोई भी मेरा हितू नहीं हैं ॥२८॥

श्लोकः—अतस्त्वामाश्रितः सौम्य कार्यगौरवसाधनम् ।
यथेन्द्रो विष्णुमाश्रित्य स्वार्थमध्यगमाद्विभुः ॥२९॥

श्लोकार्थः—जैसे शक्तिशाली इन्द्र ने विष्णु का आश्रय लेकर अपने सब काम सिद्ध कर लिए वैसे ही, मैं भी अपने एक बड़े भारी काम को साधने के लिए आपका सहारा लेता हूं ॥२९॥

सुबोधिनी—ततः किमत आह अतस्त्वामाश्रित इति, एतावत् कालं मां त्वमाश्रितः, अधुना तु त्वामहमाश्रितः, सौम्येति सम्बोधनं आश्रययोग्यार्थम्, कार्यस्य महद्गौरवं तस्य साधनं प्रति तत्साधयितुं साधने वा साधनार्थं, ननु विधेयस्याश्रयः न युक्त इति चेत्तत्राह यथेन्द्र इति, इन्द्रो ज्येष्ठः विष्णुरुपेन्द्रः कनिष्ठः तथापि दैत्यैस्त्रैलोक्ये हृते तत्सिद्धयर्थं विष्णुमाश्रित्य कार्यं साधितवान् एवमहमपि साधयितुमुद्युक्तः स्वार्थं गमिष्यामि विभुरपीन्द्रः अतः कार्यार्थं समाश्रयणं न निन्दितमिति भावः ॥२९॥

व्याख्यार्थ - इस कारण से—"अतस्त्वामाश्रितः" इस श्लोक से आगे की बात बतलाता है। कंस ने अक्रूर से कहा, कि अब तक तो तू (अक्रूर) मेरे आश्रित था और अब मैं तुम्हारे आश्रित हूं। कार्य-जिसे कंस अक्रूरजी से कराना चाहता है—अत्यन्त गौरव पूर्ण है। उसके उपाय के प्रति, उसको सिद्ध करने के लिए अथवा उसको पूरा करने में अक्रूरजी आश्रय सहारा-लेने के योग्य हैं—यह बात-'सौम्य' (अक्रूरजी) पद से उनको सम्बोधित करके, स्पष्ट की है, स्वामी (किसी काम में) कभी सेवक का आश्रय ले, (सहारा चाहे) यह तो अनुचित है। इसलिए दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं, कि जैसे शक्तिशाली (विभु) और बड़े इन्द्र ने भी असुरों के द्वारा त्रिलोकी, (स्वर्ग) को हर लेने पर, अपने से छोटे-उपेंद्र (विष्णु) का आश्रय (सहारा) लेकर अपना कार्य सिद्ध किया था। वैसे ही कार्य सिद्धि के लिए मुझ बड़े (कंस) का अक्रूर का जो छोटा और सेवक है—आश्रय लेना अनुचित एवं निन्दनीय नहीं है। इसी अभिप्राय से, मूल श्लोक में, इन्द्र उपेन्द्र का दृष्टान्त देकर, स्पष्ट किया है। असुरों के स्वर्ग को हर लेने पर, जैसे इन्द्र ने उपेन्द्र का आश्रय लेकर, कार्य सिद्धि प्राप्त की थी, वैसे ही कार्य सिद्धयर्थ, बड़े (कंस) को छोटे (अक्रूर) का आश्रय चाहना अनुचित तथा निन्दनीय नहीं है ॥२९॥

श्लोकः—गच्छ नन्दव्रजं तत्र सुतावानकदुन्दुभेः ।
आसाते ताविहानेन रथेनानय मा चिरम् ॥३०॥

श्लोकार्थः—हे तात, आप आज ही नन्द के व्रज में जाईए। वहां वसुदेव के दो पुत्र कृष्ण और बलराम रहते हैं। उनको इस रथ पर बिठाकर शीघ्र यहां ले आईए, देर न कीजिए ॥३०॥

सुबोधिनी:—तत्कार्यमाह **गच्छ नन्दव्रजमिति**, ततः **तत्रानकदुन्दुभेः** जन्मकालेपि भगवदधिष्ठानत्वेन प्रसिद्धस्य सुतौ रामकृष्णौ तत्र व्रजे आसाते, ततः किमत ग्राह ताविहानेन रथेनानय चिरं मा विलम्बो न कर्तव्यः ॥३०॥

व्याख्यार्थ:- 'गच्छ' इत्यादि श्लोक से अक्रूर के करने का काम कहता है। कंस ने कहा, कि हे अक्रूर, तुम शीघ्र नन्द के व्रज में जाओ और वहां-जिनके जन्म काल में देवों ने दुन्दुभि बजाकर यह प्रसन्नता प्रकट की थी कि इनके यहां साक्षात् भगवान् अवतरित होंगे उस आनक दुन्दुभि नाम से प्रसिद्ध वसुदेवजी के राम और कृष्ण-दो पुत्र रहते हैं। उन दोनों को इस रथ पर विठाकर यहां शीघ्र ले आओ, विलम्ब मत करो ॥३०॥

श्लोक:—**निसृष्टः किल मे मृत्युर्देवैर्वैकुण्ठसंश्रयैः ।**
तावानय समं गोपैर्नन्दाद्यैःसाभ्युपायनैः ॥३१॥

श्लोकार्थ:—विष्णु का आश्रय लेकर रहने वाले देवों ने, उन्हें मेरी मृत्यु के लिए सिरजा (उत्पन्न किया) है; यह निश्चित है। नन्द आदि गोपों को भी तरह तरह की भेटें लेकर यहाँ आने के लिए कहो और उनके साथ ही आप कृष्ण और बलदेव को भी लेते आवें ॥३१॥

सुबोधिनी:—प्रयोजनाकाङ्क्षायामाह **निसृष्ट** इति, किलेति प्रसिद्धया पूर्ववत् नारदगोपनं उभावेव मृत्युः, देवैर्निसृष्ट इत्यनुल्लङ्घ्यः, ननु दैत्यानां देवा वध्या इति किं तैरिति चेत् तत्राह **वैकुण्ठसंश्रयैः** वैकुण्ठो विष्णुः स एव सम्यगाश्रयो येषाम्, अतो भगवदाश्रयेण देवैः क्रियत इति नान्यथा सोयं भविष्यति, पूर्वं रथेनानयेत्युक्त्वापि मृत्युत्वेन निर्देशेनानेष्यतीति पुनराह **तावानयेति**, विशेषमाह **समं गोपैरिति**, सर्वैः सहैव कदाचिदायास्यतीति बालकत्वाद्वा नायास्यतीति पित्रा सखिभिः सहानयेति **नन्दाद्यैरित्युक्तम्**, व्याजार्थमाह **साभ्युपायनैरिति**, अभ्युपायनं गृहीत्वा समागन्तव्यमिति वक्तव्यम् ॥३१॥

व्याख्यार्थ:—"निसृष्टः":—इस श्लोक से राम कृष्ण को बुलाने का प्रयोजन कहता है। कंस पहले की तरह नारदजी का नाम न लेकर कहता है कि उन दोनों राम और कृष्ण को विष्णु भगवान् का दृढ आश्रय रखने वाले और दैत्यों के शत्रु देवों ने मेरा काल रूप उत्पन्न किया है। भगवान् के आश्रय से देवों का यह कार्य विपरीत नहीं होगा। यद्यपि कंस ने अक्रूर को पहले रथ में विठाकर, राम कृष्ण को लिवा लाने का आदेश दे दिया है, किन्तु फिर भी—यह सोचकर कि वे दोनों मेरी मृत्यु है—इस कथन से अक्रूर उन्हें अवश्य ले आवेगा, लिवा लाने का आदेश दे रहा है, कि उन दोनों को यहां लिया लाओ। यदि अकेले नहीं आवें तो गोप लोगों के साथ ही लाओ और बालक स्वभाव से यदि गोपों के साथ भी न आवें, तो उनके पिता नन्दजी और उनके मित्रों के साथ ही लाओ तथा भेंट लेकर आने के बहाने से ले आओ। किसी भी प्रकार से छल पूर्वक भी भेंट लाने के बहाने से ही बुलाने का आदेश देता हुआ कहता है कि ॥३१॥

श्लोक—इहानीतौ घातयिष्ये कालकल्पेन हस्तिना ।
यदि मुक्तौ ततो मल्लैर्घातये वैद्युतोपमैः ॥३२॥

श्लोकार्थ—यहां आने पर उनको मैं काल के समान अपने हाथी से मरवा डालूंगा । यदि वे किसी प्रकार हाथी से बच भी गए, तो वे मेरे वज्र के समान कठिन-कठोर-अंग वाले फुर्तीले पहलवान् (पट्ठे) उनको जीवित नहीं छोड़ेंगे ॥३२॥

सुबोधिनी—ततः स्वस्य भगवतो निर्दोषार्थमन्तर्गतं भावमाह इहानीताविति, अयं कुवलयापीडः कालादीषन् न्यूनः अतः कालकल्पः योर्थः कालेन साधनीयः सोनेनेति, कदाचित् कुवलयापीडो मतः अनवहितश्चेत् ततोन्तःप्रविष्टो भगवान् त्वामेव मारयिष्यतीत्याशङ्कायामाह यदि मुक्ताविति, ततो यदि मुक्तौ तदान्तर्मल्लाः सन्ति ते विद्युदग्नितुल्याः न तेषां प्रतीकारः कश्चन, तैः कार्यं साधयिष्यामीति भावः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—कंस अपने भगवान् की निर्दोषता के लिए-"इहा नीतौ"-इस श्लोक से अपने हृदय के अभिप्राय को प्रकट करते हुए कहता है, कि उनके यहां आ जाने पर, काल से कुछ ही न्यून, काल जैसा ही काम कर देनेवाले, कुवलयापीड़ नामक अपने हाथी से मरवा दूंगा काल के द्वारा सिद्ध-किए जाने (होने) वाले काम को यह हाथी ही कर देगा ।

यदि कदाचित् हाथी ने उन्मत्त होकर असावधानी से उनको जीवित छोड़ भी दिया, तो भी भगवान् कृष्ण मुझे नहीं मार सकेगा; क्योंकि, हाथी से बचकर अखाड़े के भीतर आए हुए उनको अखाड़े में उतरे हुए बिजली की आग-उल्कापात-के समान अप्रतीकार्य (निरुपाय) अपने बलवान मल्लों के द्वारा तो मरवा ही दूंगा ॥३३॥

श्लोकः—तयोर्निहतयोस्तप्तान् वसुदेवपुरोगमान् ।
तद्बन्धून् निहनिष्यामि वृष्णिभोजदशार्हकान् ॥३३॥

श्लोकार्थ—उन दोनों के मर जाने पर शोक से व्याकुल वसुदेव आदि उनके बन्धुओं और अन्य भोज, वृष्णि, दाशार्ह आदि यादवों की शाखाओं के लोगों को-जो वसुदेव और उनके पुत्रों से सहानुभूति और मुझसे भीतरी वैर रखते हैं—सहज ही में मार डालूंगा ॥३३॥

सुबोधिनी—ततोपि यत् कर्तव्यं तदाह तयोरिति, तप्तत्वात् तेषां युद्धादौ न सामर्थ्यं, वसुदेवः पुरोगमो येषां तद्बन्धून् वसुदेवबन्धून्, वृष्णिभोजादयः सर्व एव गणिताः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—तदनन्तर, वह जो कार्य करना चाहता था, उनको 'तयो' इस श्लोक से प्रकट करता है । उन राम कृष्ण का अनिष्ट मृत्यु के पश्चात् उनके शोक से सन्तप्त तथा युद्धादि करने में

शक्ति हीन वसुदेव आदि प्रधान २ तथा उनके बन्धुओं और वृष्णि, भोज आदि शाखा के यादवों को सहज ही में मार दूंगा ॥३३॥

श्लोक—**उग्रसेनं च पितरं स्थविरं राज्यकामुकम् ।**
तद्भ्रातरं देवकं च ये चान्ये विद्विषो मम ॥३४॥

श्लोकार्थ—इसके बाद, बूढ़े होने पर भी, राज्य करने की लालसा रखनेवाले, अपने पिता उग्रसेन को, उनके भाई देवक को और अपने अन्य शत्रुओं को भी मार डालूंगा ॥३४॥

सुबोधिनी—तत उग्रसेनोपि यद्यपि पिता तथापि स दुष्ट इति वक्तुं तस्य दोषमाह **स्थविरं राज्यकामुकमिति** वृद्धोऽपि भूत्वा राज्यं कामयत इति, य एव शत्रुषु स्थास्यति स एवापकरिष्यतीति **तद्भ्रातरं देवकं च** मारयिष्यामि, किञ्च ये केचन मम विद्विषः बान्धवाः **अन्ये च** तान् सर्वानेव हनिष्यामि, तेषां हनने हेतुः **विद्विष** इति ॥३४॥

व्याख्यार्थ- यद्यपि उग्रसेन मेरे पिता हैं, तो भी वे दुष्ट हैं; क्योंकि, अत्यन्त वृद्ध भी वह राज्य करने की लालसा रखता है। उस दुष्ट पिता उग्रसेन को, जो मेरे शत्रुओं में मेरा अपकार कर सकेगा, उनके भाई-मेरे काका-देवक को और जो कोई भी मुझसे बैर रखने वाले हैं, उन सबको ही मार दूंगा तथा मरवा डालूंगा ॥३४॥

श्लोक—ततश्चैषा मही मित्र भवित्री नष्टकण्टका ।
जरासन्धो मम गुरुर्द्विविदो दयितः सखा ॥३५॥

शम्बरो नरको बाणो मय्येव कृतसौहृदाः ।
तैरहं सुरपक्षीयान् हत्वा भोक्ष्ये महीं नृपान् ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे मित्र, तब इस पृथिवी पर मेरा कोई शत्रु शेष नहीं रह जाएगा। मैं निष्कण्टक होकर राज्य करूंगा। मेरे श्वसुर जरासन्ध, प्रिय मित्र द्विविद वानर, शम्बरासुर, नरकासुर और बाणासुर आदि अपने हितकारियों की सहायता से देवों का पक्ष करनेवाले राजाओं को मार कर सम्पूर्ण पृथ्वी का चक्रवर्ती राजा बन एकछत्र पृथ्वी को भोगूंगा ॥ ३५—३६ ॥

सुबोधिनी—ननु सर्वेषु हतेषु भोगो न भविष्यतीति किं हननेनेति चेत् तत्राह ततश्चेति, **एषा मही नष्टकण्टका भविष्यति**, ये केचन राजानः भूमौ चरन्ति पथिका इव तत्र ये प्रतिबन्धकाः ते कण्टकाः तेषु गतेषु नष्टकण्टका भवति, अनेनास्याभिनिवेशवर्णनेन यदा भगवानस्मै मुक्तिं दास्यति तदास्य मनोरथः कर्तव्य इति भक्तहितार्थं निष्कण्टकं कृतवानिति निरूपितम्,

अन्यथास्य मनोरथवर्णनं व्यर्थं स्यात्, विपरीतोक्तिरिति विपरीता गतिरग्रे वक्तव्या, निष्कण्टकभूमौ भोगः सिध्यति, सहायाश्च वर्तन्त इत्याह जरासन्धो मम गुरुरिति, गुरुः श्वशुरः हितोपदेष्टा च, द्विविदो वानरः, स दयितः प्रियः, स्वभावतोपि सखा च ॥३५॥ शम्बरादयश्च तथेत्याह मय्येव नान्यस्मिन्, अन्यथा दैत्येष्वपि परस्परविसम्मतौ भोगो न सेत्स्यतीति तदर्थमेवकारः, कृतं सौहृदं यैरिति, पूर्वमपि तैरुपकारः कृत इति अग्रेपि कर्तव्य इत्यर्थः। ननु बहवो देवपक्षाः कथं त्वयैकाकिना निवार्या इत्याशङ्क्याह तैरहमिति, भोगेपि तेषां सहभावः शत्रुनिवारणेपि, पूर्वं दैत्यानामेव भूमिः राज्यं स्वर्गश्च, अत एव पूर्वदेवास्ते, ब्राह्मणा इव स्थिता देवाः पुरोहिता इव, पश्चाद् यज्ञादिभि तान् निवार्य भगवन्तमाराध्य नित्यसृष्टिप्रकारेण वेदं दृष्ट्वा ततो देवा जाता इति कृत्रिमा एव ते न तु सहजा इति, अत एव कालः तेषामपि पक्षपातं करोति तथाधुनापि करिष्यतीति तस्य मनोरथः, नृपा युधिष्ठिरादयः, अतः सान्तमेव विरोधकार्यं सेत्स्यतीति न भयं त्वया कर्तव्यम् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—भोग तो, सभी के जीवित रहते ही भोगे जाते हैं। सब ही के मर जानें, अथवा मार दिए जाने पर, भोग ही नहीं भोगे जा सकते, भोग भोग ही नहीं रह सकते। तब सबको मार देने से, क्या लाभ है ? इस शंका के उत्तर-ततश्च-इस श्लोक से देता है, कि यह पृथिवी निष्कण्टक हो जाएगी। पृथिवी पर पथिकों की तरह घुमने वाले राजाओं मे जो प्रतिबन्धक, भोग में विघ्न रूप-हैं, उन कण्टकों के न रहने पर, यह पृथिवी निष्कण्टक होती है।

कंस के इस अत्यन्त आग्रह के वर्णन से इस बात का निरूपण किया है, कि जब भगवान् कंस के लिए मोक्ष प्रदान करेंगे, तब उसका मनोरथ भी सिद्ध करेंगे। इसलिए उसके मनोरथ के अनुसार-भक्तों का हित करने के लिए कंस को मार कर भगवान् ने पृथिवी को निष्कण्टक कर दिया उसके मनोरथ को व्यर्थ नहीं होने दिया। आगे अध्याय में स्वयं कण्टक रूप कंस का वध कर देने पर, यह पृथिवी निष्कण्टक हो जाएगी—इस विपरीत कथन का यह अभिप्राय है।

ध्रियते यावदेकोपि रिपुस्तत्र कुतः सुखं-के अनुसार एक शत्रु-(कण्टक) के रहते हुए भी सुख भोग सुलभ नहीं हैं। निष्कण्टक पृथिवी पर सुख भोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार सुख भोग में सहायकों का होना भी अपेक्षित है। अतः अपने सहायकों का वर्णन करता है। जरासन्ध मेरे श्वसुर हैं, जो मुझे सदा हित का उपदेश देते रहते हैं। द्विविद नाम का बन्दर मेरा सा स्वभाव वाला होने के कारण "समानशील व्यसनेषु मैत्री" मेरा प्यारा मित्र है।

दैत्यों में भी परस्पर विरोध होने पर भोग सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए कहता है, कि शम्बर, नरक, बाण आदि असुर एक मुझ (कंस) पर ही प्रीति रखते हैं। उन्होंने मेरा पहले भी उपकार किया है और आगे भी करेंगे। उनके द्वारा ही एकाकी भी मैं असंख्य देव पक्षों का निराकरण (नाश) कर दूंगा क्योंकि, वे सुख भोग में ही मेरे (कंस के) साथी हैं और देव पक्ष (शत्रु) का नाश करने में भी सहायक हैं ही।

कंस का मनोरथ था, कि पहले यह पृथिवी, सारा राज्य और स्वर्ग, ये सभी दैत्यों ही के थे और इसी कारण दैत्यों को पूर्व देव कहा जाता था। देव तो ब्राह्मण पुरोहित की तरह दैत्यों के पुरोहित से थे। फिर उन ब्राह्मण पुरोहित के समान स्थित वे देवगण, नित्य-सर्वदा-सृष्टि के क्रम से

वेद का अध्ययन करके वेदोक्त विधि से यज्ञ और भगवान् की आराधना करके देवता बन गए हैं। इसलिए वे कृत्रिम देव हैं, सहज नहीं हैं और इसी कारण से, काल, दैत्यों का भी पक्षपात (सहायता) करता आया है और अभी भी पक्षपात करेगा ही। इस प्रकार, हे अक्रूर! युधिष्ठिर आदि देव पक्षीय विरोधी राजाओं और विरोध कार्य पूर्णतया समाप्त हो जाएगा तब मैं (कंस) निष्कण्टक पृथिवी का भोग कर सकूंगा। तुम इस विषय में कोई प्रकार का भय मत करो ॥ ३५ ३६ ॥

लेख—"तैरहं सुर पक्षीयान्" ३६ वें श्लोक के द्वितीय चरण की सुबोधिनी में 'नित्यसृष्टि प्रकारेण' इत्यादि पंक्तियों का तात्पर्य यह है, कि पहले पुरोहित की तरह रहने वाले देवों ने विचार किया कि अभी तो दैत्य लोगों का राज्य है; किन्तु सर्वदा सृष्टि के क्रम से देवों ने वेदों में यज्ञों के द्वारा दैत्यों का पराजय देखकर यज्ञों से दैत्यों का पराजय करके देव हो गए, आसुर कल्प में दैत्यों का ही राज्य था। असुर होने से स्वयं कंस ने आसुर मत का अनुवाद किया है। इसलिए काल, दैत्यों का ही पक्ष लेता है ॥३७॥

श्लोक—एतद् ज्ञात्वानय क्षिप्रं रामकृष्णाविहार्भकौ।
धनुर्मखनिरीक्षार्थं द्रष्टुं यदुपुरश्रियम् ॥३७॥

श्लोकार्थः—यह जानकर हे अक्रूरजी! आप शीघ्र ही कृष्ण और बलराम को धनुषयज्ञ और मथुरापुरी की शोभा दिखाने के बहाने से यहाँ ले आईए ॥३७॥

सुबोधिनी—किन्त्वेतत् ज्ञात्वा **क्षिप्रमानय,** **ननु समर्थौ रामकृष्णौ** कथं मया आनेतुं शक्या-विति चेत् तदाह **अर्भका**विति, बालकौ हि कौतु-कार्थं यत्र क्वचनागच्छतः तयोः स्थाने नास्मद-भिप्रेतं वक्तव्यं किन्तु **धनुर्मखनिरीक्षार्थं यदुपुरस्य** मथुरायाश्च श्रियं **द्रष्टुमि**ति, मित्रभेदं न करिष्य-तीति सर्वमेव तदुक्तवान्, अक्रूरोयं द्विस्वभावो जीवः सात्त्विकः कार्यार्थं दैत्याविष्टश्च, अन्यथा तं प्रति कंसो न वदेत्, नापि दैत्यैः सह प्रीतिः स्यात्, तद्दत्तविषयान् वा अनुभूयात्, एवं सति तस्य कार्यकर्तृत्वमपि न विरुद्धं भवति, स्यमन्त-कादिप्रसङ्गश्च न विरुद्धो भवति ॥३७॥

व्याख्यार्थः—"एतद् ज्ञात्वा" यह जानकर, उन्हें यहां शीघ्र ले आओ, यद्यपि, वे दोनों बल-शाली हैं। उनका सहज लिवा लाना साधारण नहीं है, किन्तु वे बालक हैं। बालक खेल कूद क्रीड़ा को देखने के उत्साह से चाहे जहां आ ही जाते हैं। इसलिए धनुर्याग और मथुरा की शोभा देखने के बहाने ले आओ। उनसे वहां मेरे मन की बात प्रकट मत करना। तुम मित्रभेद नहीं करोगे, यह जान-कर, मैंने अपने मन की बात तुमसे कह दी है।

यह अक्रूरजी दो स्वभाव वाले जीवात्मा, सात्त्विक हैं, और कार्य के लिए दैत्य के आवेश वाले हैं : दैत्याविष्ट जीव होने के कारण ही, कंस ने इनके आगे अपने सारे दुर्भाव प्रकट कर दिए, भगवान् कृष्ण को लिवाने भेजा और दैत्यों के साथ इनकी प्रीति थी तथा दैत्य कंस की प्रदत्त जीवि-का का उपभोग करते थे। ऐसी स्थिति में कंस के आदेश के अनुसार कार्य करना और स्यमन्तक मणि आदि का प्रसङ्ग अक्रूर के लिए अनुचित नहीं है ॥३७॥

अक्रूर उवाच।

श्लोक— **राजन् मनीषितं सम्यक् तव स्ववद्यमार्जनम्।**

सिद्ध्यसिद्ध्योः समः कुर्याद् दैवं हि फलभावनम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—अक्रूर ने कहा कि–महाराज ! आपका विचार बहुत ही अच्छा है। अपने शत्रु को मारना, अपने अमंगल को मिटाना मनुष्य का पहला कर्त्तव्य है। परन्तु उस उद्योग का पूरा होना अथवा पूरा न होना मनुष्य के (अपने) वश की बात नहीं है। फल देनेवाला दैव ही है ॥३८॥

सुबोधिनी—सन्दिग्धं तं प्रत्युत्तरमाह द्विरवभावत्वात्, राजन्निति सम्बोधनं आज्ञाकरणावश्यकत्वार्थं स्नेहसूचनार्थं, **मनीषितं** विचारितं **सम्यगेव**, तदपि **तव** न तु मम, विचारस्य सम्यक्त्वे हेतुः **स्वावद्यमार्जनमिति**, येन स्वस्य लौकिकप्रतीत्यापराधो न भवति, अनेन कालो राजा त्वं तु सेवक इति निरूपितम्, अन्यथा कथमयं भीतो भवेत्, अगात् लोकानामन्यथाप्रवृत्तौ कालस्तानेव दुष्टान् जानीयादिति न तव दण्डः स्यात्, दैत्यसिद्धान्तश्चावलम्बित इति न शास्त्रद्वारापि विरोधः, देवानामेव हि राज्ये तेषामधिकारात् तदुक्तरीत्या नरकस्वर्गौ न तु दैत्यानामधिकारे, अन्यथा दैत्यैर्देवपराजयो न स्यात् ग्रहास्तु साधारणाः अतो मनीषितं सम्यगिति न विरुद्ध्यते. अयं च सर्वसिद्धान्ताभिज्ञः, कालस्यैषा व्यवस्था भगवान् सर्वप्रकार इति न भगवच्छास्त्रविरोधः, अन्यथा वाचनिकी दैत्यानां मुक्तिर्बाधिता स्यात्, विरुद्धेष्वपि मतेष्वनुभावश्च न स्यात्, कालग्रहे प्रविष्टश्च भगवान् स्वकीयान् कालस्थानुद्धृत्य नयतीति भगवल्लक्षणो देशः कालादतिरिच्यते, अतो व्यवहारार्थं सर्व एव कालात् बिभ्यति, भगवांश्च कालं वञ्चयित्वैव भक्तान् नयति कालरूपश्च भवति, अतो भगवदवतारः कालातिक्रमार्थं एवेति प्रमेयबल सिद्धिः, प्रमाणबलं सर्वजनीनम्, अन्यथा देवा ब्राह्मणा धर्मश्च प्रतिष्ठिता न भवेयुः, मध्यमकालौ द्विविधाविति देवदैत्यविभागः, मूलभूतस्तु समः अतः प्रमाणबलं मध्यभाव एव प्रमेयबलं तु मूलोल्लङ्घनमपि कारयतीति सिद्धान्तरहस्यम्, यतो दैत्यानां सिद्धान्तोनेनावलम्बितः, अतः सिद्धान्तानुसारेण सम्यगेवावलम्बितं, अतः पक्षद्वये सम्बन्धात् मूलकालः किमनुगुण इति ज्ञातुमशक्यत्वात् नैकतरसिद्धान्तः सिध्यतीति तं प्रति सिद्धान्तमाह **सिद्ध्यसिद्ध्योः समः कुर्यादिति**, प्राणिना सर्वसिद्धान्ताभिज्ञेन यत् कर्तव्यं तत्राग्रहो न कर्तव्यः, यतो दैवस्य विद्यमानत्वात् प्रयत्न एव स्वस्य न तु फलं, फलं दैवाधीनमित्याह **दैवं हि फलभावनमिति**, फलं दैवमेव भावयति. अनेन पक्षद्वयं समानमुक्तम् ॥३८॥

व्याख्यार्थ—सात्त्विक और दैत्याविष्ट भेद से दो प्रकार के स्वभाव वाले अक्रूरजी 'राजन्' इस श्लोक से सन्देह-संशयात्मा-कंस के प्रति उत्तर देते हैं। राजन्-इस सम्बोधन से आज्ञापालन की अवश्य कर्त्तव्यता और स्नेह को सूचित करते हुए अक्रूरजी ने कहा कि आप (कंस) का विचार ठीक ही है; क्योंकि, धनुर्याग और मथुरा की शोभा को देखने के बहाने से बुलाए गए और उत्साह पूर्वक स्वयं भी यहाँ आए हुए उन दोनों का अनिष्ट (मरण) करवा देने पर भी लौकिक जनता की दृष्टि में

ग्राप (कंस) ग्रपराधी नहीं माने जाग्रोगे। इस निरपराधी माने जाने के विचार को कह कर, यह निरूपण किया है, कि काल राजा है, ग्रौर कंस उस काल का सेवक है, क्योंकि यदि कंस राजा होता तो, काल से वह क्यों डरता। फिर भी, यदि जनता भ्रम से, कंस को ही राजा समझती रहे तो, काल, जनता को ही दुष्ट (दोषी) जानकर, उसे ही दण्ड देगा, तुम (कंस) को काल दण्ड नहीं देगा।

तात्पर्य यह है, कि जो लोग सेवक कंस को राजा ग्रौर राजा काल को सेवक-भूल से-समझने वाले हैं, काल उन्हें ही दोषी समझ कर, दण्ड देगा-तुम (कंस) तो निरपराधी ही हो। इस प्रकार से, दैत्य सिद्धान्त के ग्रवलम्बन से, दैत्य-शास्त्र द्वारा भी विरोध की निवृत्ति की है, क्योंकि देवों के ग्रधिकार में हो, देवों का राज्य रहता है ग्रौर तब ही उनके कथनानुसार स्वर्ग, नरक की व्यवस्था है। दैत्यों के ग्रधिकार में, ऐसी व्यवस्था कुछ नहीं है ग्रौर यदि दैत्यों के ग्रधिकार में भी, देवों का राज्य ही मानें तो, दैत्य देवों को जीत ही नहीं सकें। यह तो साधारण ही हैं। इस कारण से भी ग्राप (कंस) का विचार उचित ही है।

ग्रक्रूरजी सारे ही शास्त्र-सिद्धान्तों के ज्ञाता हैं। इस प्रकार से दैत्य सिद्धान्त के ग्रनुसार काल की व्यवस्था का वर्णन द्वारा विरोध परिहार करके, भगवान् की सर्व प्रकारता के वर्णन-ग्रर्थात् भगवान् सर्वरूप हैं-के द्वारा भागवत सिद्धान्त के द्वारा भी विरोध का परिहार करते हैं। यदि भगवच्छास्त्र से विरोध हो तो, दैत्यों की मुक्ति का कथन न हो ग्रौर विरोधी सिद्धान्तों में भागवत सिद्धान्त का माहात्म्य भी न हो।

भगवान्, काल ग्रह में प्रवेश करके, काल में रहने वाले, सभी भगवदीयों को काल से उद्धार करके निकाल लेते हैं। इसलिए भगवत्सम्बन्धी देश (स्थान) काल से ग्रतिरिक्त ही है, वहां काल का प्रभाव नहीं है। काल से सब डरते हैं-यह कथन तो व्यवहारिक है। भगवान् तो काल को ठग कर ही, भक्तों का काल से उद्धार कर लेते हैं ग्रौर काल के-कालः कलयतामहं-कालरूप भी हो जाते हैं। इसलिए भगवान् का ग्रवतार, काल के ग्रतिक्रमण के लिए है। यह प्रमेय बल-स्वरूप बल की सिद्धी है। प्रमाण बल तो सबके लिए सामान्य ग्रौर हितकर है। प्रमाण बल की सर्व साधारणता के कारण ही देव, ब्राह्मण ग्रौर धर्म की प्रतिष्ठा चली ग्रा रही है। यदि प्रमाण बल सर्व साधारण न हो तो, देवादि भी यथावस्थित प्रतिष्ठित न रहें।

देव-काल ग्रौर दैत्य-काल के भेद से मध्यम काल दो प्रकार का है। मूल भूत काल तो समान ही है। इस कारण प्रमाणबल मध्यभाव-सर्व सामान्य-ही है ग्रौर प्रमेय बल तो मूल भूत का उल्लंघन भी करा देता है। यह देव-भगवत्-सिद्धान्त का रहस्य है। कंस ने तो दैत्यों के सिद्धान्त के ग्राश्रय से ग्रपने विचार कहे हैं। इसलिए दैत्य सिद्धान्त के ग्रनुसार ठीक ही कहा है। मूल भूत काल का देव ग्रौर दैत्य दोनों कालों के साथ समान सम्बन्ध होने के कारण दोनों कालों में मूल भूत काल किस काल के ग्रनुकूल है--यह नहीं जाना जा सकता है। इसीलिए किसी एक पक्ष का निर्णय सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इस कारण से, ग्रक्रूरजी कंस से कहते हैं, कि प्रयत्नशील पुरुष को कार्य की सफलता ग्रथवा ग्रसफलता में समान रहना चाहिए। किसी प्रकार का ग्राग्रह (हठ) नहीं करना चाहिए; क्योंकि, सिद्धि ग्रथवा ग्रसिद्धि मनुष्य के वश की बात नहीं है। प्रयत्न करना मात्र, मनुष्य का कर्त्तव्य है

और फल देना तो दैवाधीन ही है। इस प्रकार फल प्राप्ति को दैवाधीन कहकर दोनों-सिद्धि और असिद्धि-पक्षों की समानता का निरूपण किया है ॥३८॥

श्लोक—मनोरथान् करोत्युच्चैर्जनो दैवहतानपि ।
युज्यते हर्षशोकाभ्यां तथाप्याज्ञां करोमि ते ॥३९॥

श्लोकार्थः—मनुष्य बड़ी ऊंची २ अभिलाषाएं करता है। दैव यद्यपि उनमें प्रतिबन्धक होकर उनको पूरी नहीं होने देता। तथापि वह वाञ्छित कामना के पूरा होने पर आनन्द प्राप्त करता है और पूर्ण न होने पर दुःखित भी होता है। तो भी, मैं अपनी ओर से, आपकी आज्ञा का पालन करूंगा ॥३९॥

सुबोधिनीः—तदन्यदा भवति इदानीं तु भगवानवतीर्ण इति द्वितीयः पक्ष एव मुख्यः, अतोनेन विचारितमनोरथः वृथेवेतिविशेषमाह मनोरथान् करोतीति, उच्चैः स्वयोग्यैः, इदं हि सर्वेश्वरेण विचारयितुं शक्यते, अल्पोपि मनोरथस्तस्य न सिध्यतीत्याह दैवहतानपीति, यदैव भगवानवतीर्णः तदैव कंसादयो मारणीया इति अतो भगवता हता एव मनोरथास्तान् करोतीति भ्रान्त एवायम्, यतो जनः स्वयमेव जातः, यद्यस्य मनोरथः सिध्येत् कदाचिदपि तदा परगर्भे कथं जायेत कस्यचिद् वा मलरूपं रेतः कथं समाश्रयेत, अतो यो मनोरथः कर्तव्यः स आत्मानं विचार्य कर्तव्यः, अन्यथा चेत् हर्षशोकाभ्यां युज्यते, कदाचिद् भगवान् किञ्चित् करोति किञ्चित् च न करोतीति, यद्यप्येवं ज्ञायते तथापि ते आज्ञां करोमीति, अन्यथा स्वस्य तव च कार्यं न सेत्स्यतीति ॥३९॥

व्याख्यार्थः—किसी मनोरथ की सिद्धि होने अथवा असिद्धि होने में, संशय तो, भगवान् के अनवतार दशा में ही हो सकता है। इस समय भगवान् की अवतार दशा में तो, अल्प बुद्धि से किए हुए जीव के मनोरथों की असफलता ही निश्चित है। इस कारण से, तेरा (कंस का) विचारा हुआ मनोरथ व्यर्थ ही है। यह-'मनोरथान्'-इस श्लोक से कहते हैं। सर्वेश्वर के ही सारे विचार पूरे हो सकते हैं। जीव का तो छोटा सा भी मनोरथ पूरा नहीं हो पाता। पुरुष, दैव के रोके हुए बड़े २ मनोरथ करता है। भगवान् ने अवतार लेते समय ही, कंसादि का वध सोच लिया था। इस कारण, कंस का मनोरथ दैवहत ही था। ऐसे दैवहत मनोरथों का करनेवाला कंस भ्रम में पड़ा हुआ था। हां यदि जीव स्वेच्छा से स्वयं ही उत्पन्न हुआ हो तो, कदाचित् जीव का मनोरथ पूरा भी हो सकता है। जीव स्वयं जात तो नहीं है। स्वयं जात होता तो, किसी के गर्भ में रजोवीर्य रूप का आश्रय क्यों करता। इस कारण से, अपनी स्थिति पर, विचार कर ही मनोरथ करना चाहिए। अपनी स्थिति पर विचार न करके, मनोरथ करने पर सिद्धि में प्रसन्न और अपूर्ति में दुःखित होना पड़ता है। सिद्धि और असिद्धि रूपफल भगवान् (दैव) के अधीन ही जान पड़ता है तो भी मैं (अक्रूर) आप (कंस) की आज्ञा का पालन करूंगा। आज्ञा पालन न करने से तो तेरा (कंस का) मरण और मेरा (अक्रूरजी का) भगवद्दर्शन रूप कार्य सिद्ध ही नहीं होगा। इसलिए अवश्य जाकर राम कृष्ण को ले आऊंगा ॥३९॥

श्रीशुक उवाच ।

श्लोक—एवमादिश्य चाक्रूरं मन्त्रिणश्च विसृज्य सः ।
प्रविवेश गृहं कंसस्तथाक्रूरः स्वमालयम् ॥४०॥

श्लोकार्थः—श्री शुकदेवजी कहते हैं—महाराज, अक्रूर को इस प्रकार आज्ञा देकर, कंस ने अपने मन्त्रियों को, मल्लों को और महावत को विदा किया और स्वयं अपने भवन में गया । इधर अक्रूरजी भी अपने घर को गए ॥४०॥

सुबोधिनी—एवमन्योन्यपरिभाषणमुक्त्वा उभयोः स्वस्थानगतिमाह एवमिति, अक्रूरोक्तं तेन न विचारितमेव कार्यवैयग्र्यात्, अतस्तस्यैव कृतमनूद्योपसंहरति एवमादिश्येति, चकारात् केशिनं हस्तिपांश्च जनपदाकारणार्थं प्रवृत्तांश्च मन्त्रिणश्च विसृज्य तान् बहिरेव स्थापयित्वा स्वयमन्तःपुरं गतः, तथा अक्रूरः स्वस्यालयं गत इति न तस्मिन् दिवसे गृहात् निर्गमनम्, सोऽन्तःस्थितः तमर्थं चिन्तयिष्यति, अयमपि स्वगृहं गतः, गमनोपायं प्रकारं च अग्रस्थतृतीयाध्याये कृत्यं वक्तव्यं विचारितं च ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्ध विवरणे त्रयस्त्रिंशाध्यायविवरणम् ॥३३॥

व्याख्यार्थः—इस प्रकार कंस और अक्रूर की वार्तालाप का वर्णन-'एवं'-इस श्लोक से दोनों का अपने २ स्थान पर जाने का निरूपण करते हैं । अक्रूरजी के कथन पर कंस ने कार्यों की व्यग्रता के कारण विचार नहीं किया । इसलिए उसके कृत कार्य का अनुवाद करके उपसंहार करते हैं कि अक्रूर से यों कहकर, कंस केशी, मल्लों, महावत और पुरवासियों और प्रान्त निवासियों को बुलाने में लगे हुए मंत्रियों को बाहर सभा भवन में ही छोड़ कर स्वयं अपने भवन में चला गया । अक्रूरजी भी अपने घर चले गए । उस दिन भवन से बाहर नहीं निकला । भीतर बैठा ही विचार करता रहा । अक्रूरजी के जाने का प्रयत्न, रीति, कर्त्तव्य, वक्तव्य और विचार आदि का वर्णन यहीं पैंतीसवें अध्याय में करेंगे ॥४०॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध) ३६ वें अध्याय की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का ३३ वां अध्याय, राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण 'ऐश्वर्य निरूपक' प्रथम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्री हरिः ॥

इस अध्याय में वर्णन की गई लीलाओं के कुछ पद

राग सोरठ

१ यहि अन्तर वृषभासुर आयो ।
देखे नन्द सुवन बालक संग इहै घात ही पायो ॥
गयो समाइ धेनुपति ह्वै कै मन में दाउं विचारै ।
हरि तब ही लखि लियो दुष्ट को डोलत धेनु बिडारै ॥
गैयां बिडरि चलीं जित तित को सखा जहां तहां घेरैं ।
वृषभ शृंग सो धरणि उकासत बल मोहन तन हेरैं ॥
आवत चल्यो श्याम के सन्मुख निदरि आप अंग सारी ।
कूद पर्यो हरि ऊपर आयो कियो युद्ध अति भारी ॥
धाइ परे सब सखा हांक दै वृषभ श्याम को मार्यो ।
पाउं पकरि भुज सों गहि फेर्यो, भूतल माहिं पछार्यो ॥
पर्यो असुर पर्वत समान ह्वै चकित भये सग ग्वाल ।
वृषभ जान के हम सब धाये यह कोऊ विकराल ॥
देखि चरित्र यशुमति सुत के, मन में करत विचार ।
सूरदास प्रभु असुर निकन्दन सन्तन प्राण अधार ॥

राग कान्हरौ

२ तेरो माई गोपाल रण सूरो ।
जहं तह भिरत प्रचारि पैज करि तहीं परत है पूरो ॥
वृषभ रूप दानव इक आयो, सो क्षण मांहि संहार्यो ।
पांव पकरि भुज सों गहि वाको भूतल मांहि पछार्यो ॥
कहति ग्वाल यशुमति धनि मैया, बड़ो पूत तैं जायो ।
यह कोउ आदि पुरुष अवतारी, भाग्य हमारे आयो ॥
चरण कमल पै वन्दित रहिये अनुदिन सेवा कीजै ।
वारंवार सूर कहै प्रभु की हरषि बलैया लीजै ॥

राग कान्हरो

३ अहो नृप द्वै अरि प्रगट भये ।
बसे नन्द गृह गोकुल थानक दियो सुदिन न गए ।
तुमहूं को दुःख बहुत जनम को रथ मारग मारोए ।
ता दिन ते शिशु सप्त देवकी तेरे ही कर सोए ॥

जो परि राज काज सुख चाहै बेग बुलाइ न लीजै ।
हारि जीति दोउन की विधि नह जैसे होइ सो कीजै ॥
ऐसी कहि बैकुंठ सिधारे कष्ट निशा विकराय ।
सूर श्याम कृत की वे इच्छा मुनि मन इहै उपाय ॥

राग सोरठ

४ नृपति मन इहै विचार परो ।
क्यों मारों दोउ नन्द ढोटोना ऐसी अरनि अरो ॥
कबहुंक कहत आपु उठि धावौं यहै विचार करो ।
सात दिवस में बधो पूतना यह गुनि मनहिं डरो ॥
पुनि साहस जिय जिय करि गर्वो, ताको काल सरो ।
सूर श्याम बलराम हृदयते नेक नहिं विसरो ॥

राग रामकली

५ नंद सुत सहज बुलाइ पठाऊं ।
श्याम राम अति सुन्दर कहियत देखन काज मगांऊं ॥
जैहै कौन प्रेम करि ल्यावै भेद न जानै कोई ।
महर महरि सों हित करि ल्यावै महाचतुर जो होई ॥
इहि अंतर अक्रूर बुलायो, अति आतुर महाराज ।
सूर चलो मन सोच बढायो, कौन है ऐसो काज ॥

राग मारू

६ सुनो अक्रूर यह बात सांची करो, आज मोहे भोर ते चेत नाहीं ।
श्याम बलराम यह नाम गुनि तामे मोहि काहि पठवहुं जाइ तिनहि पाहीं ॥
प्रीति करि नन्द सों सहज बातें कहै तुरत ले आइ दुहुँ नृपति बोलै ।
देखिबे को साध बहुत सुनि गुण विपुल अतिहि सुन्दर सुने दोउ अमोलै ॥
कमल जवते उरग पीठि ल्याये सुने वहै बकशीरा अब उनहिं देहैं ।
सूर प्रभु श्याम बलराम को डर नहीं, बचन इनके सुनत हरष पैहैं ॥

राग बिलावल

तब अक्रूर कहत नृप आगे, धन्य धन्य नारद मुनि ज्ञानी ।
बड़े शत्रु ब्रज में दोउ हमको सुनहु देव नीकी चित आनी ॥
महाराज तुम सरि को ऐसो जाते जगत यह चलत कहानी ।
अब नहि बचै क्रोध नृप कीन्हो जैहै छनकि तवा ज्यों पानी ॥
यह सुनि हर्ष भयो गर्वानो, जबहि कही अक्रूर सयानी ।
कालि बुलाइ सूर दोउ मारौं, बारं बार यह भाषत बानी ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ३७ वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ३४वां अध्याय

राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण

'द्वितीय अध्याय'

केशी और व्योमासुर का उद्धार तथा नारदजी के द्वारा भगवान् की स्तुति ।

कारिका—चतुस्त्रिंसे प्रेषितस्य तामसस्य निरूप्यते ।
कार्यं वाक्यानि च ऋषेर्लीलां काश्चित् हरेः प्रियाम् ॥१॥

कारिकार्थ—३४ वें अध्याय में कंस के भेजे हुए तामस (केशी-राक्षस) का कार्य, ऋषि के वाक्य और हरि की प्रियलीला कर कुछ निरूपण है ॥१॥

कारिका—हेतुकार्यफलान्यत्र पूर्ववद् बोधितानिहि ।
केश्यागमनकार्यं तु ऋषिवाक्यात् न चान्यथा ॥२॥
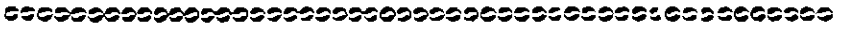
कारिकार्थ—इसमें हेतु (केशीवध) कार्य (ऋषिका आगमन) फल (आगे कही हुई लीला) पूर्व की तरह समझाये हुए हैं—ऋषि के कहने से ही कंस ने केशी को भेजा—यदि ऋषि न कहते तो केशी न आता, इसका आशय यह है कि ऋषि ने ही वह अनर्थ कराया है, यदि भगवान् के द्वारा केशी का वध न होनेवाला होता तो ऋषि आते ही नहीं ॥२॥

कारिका—**वधेन जातेनागच्छेदनर्थं कृतवानिति ।
वधो निदर्शनं तस्मात् अतो वाक्यानि बोधने ॥३॥**

कारिकार्थ—अतः ऋषि के आने में केशी का वध ही हेतु (कारण) है, कंसादि के मारने में भी सामर्थ्य यह केशी का वध निदर्शन है, इसलिए भगवान् सामर्थ्यवान् हैं यों जानकर ही ऋषि ने ऐसे बोधप्रद वाक्य कहे ॥३॥

कारिका—**बोधितश्चेत् हरिर्लीलां न कुर्यात् स्वेच्छया मुदा ।
तदा प्रेमयरीतिर्हि दुर्बलैव भवेत् सदा ॥४॥**

कारिकार्थ—यदि बोधित हुए हो तो, हरि स्व (अपनी) इच्छा से प्रसन्नता पूर्वक लीला न करते, तब प्रमेय की रीति सदा दुर्बल ही हो जाती ॥४॥

कारिका—**अतः फलार्थं लीला हि पूर्वजाता निरूप्यते ।
सिंहावलोकनं चापि करिष्यति हरिः स्वयम् ॥५॥**

कारिकार्थ—अतः पूर्व की हुई लीला फलार्थ ही निरूपण की जाती है। इसका सिंहावलोकन भी हरि स्वयं ही करेंगे ॥५॥

कारिका—**अतो न गोकुले चिन्ता कापीत्यपि निरूप्यते ।
केशी हतो गुणैः कृत्वा तथा व्योम ऋषिः पुनः ॥६॥**

कारिकार्थ—अतः (इसलिए) गोकुल में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं हुई यों निरूपण है, केशी अपने गुणों से मरा, व्योम पद से क्रम न समझना, व्योम से जैसे पृथ्वी में बिल कर प्रवेश किया वैसे यह (केशी) भी पृथ्वी को फोड़ता हुआ आ गया ॥६॥

कालमात्र मुवाचेति नव षोडश वं नव—

काल मात्र कहा, सो 'नव षोडश' इति मूल में कहा हुआ क्रम जानना चाहिए—

श्रीशुक उवाच ।

श्लोकः---केशी तु कंसप्रहितः खुरैर्महीं महाहयो निर्दरयन् मनोजवः ।
सटावधूताभ्रविमानसंकुलं कुर्वन् नभो हेषितभीषिताखिलः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन् ! कंस का भेजा हुआ केशी नामक असुर विशाल घोड़े का रूप धर कर वहां गया, वह अपने खुरों से पृथिवी को खोद रहा था। उसका वेग मन से भी कहीं अधिक था। वह अपनी गर्दन के बालों की थपेड से आकाश में बादल और विमानों को तितर-बितर कर रहा था। उसके भयङ्कर हींसना को सुनकर सारा जगत् भय से व्याकुल हो गया ॥१॥

सुबोधिनी—पूर्वाध्याये केशी प्रेषित इत्युक्तम्, तस्यागतस्य कृत्यमत्र नवभिरुच्यते, पूर्वदैत्यवत् केश्यागमनं न भवतीति वक्तुं भिन्नं प्रकारमाह केशी त्विति, अन्ये पूर्वं साधारण्येन नियुक्ताः केशी तु कंसेन प्रेषितः विशेषाकारेण तदा खुरैर्महीं विदारयन् व्योमवदेवागतः निर्दरयन् विदारयन्, ननु केशिनो राक्षसस्य कथं खुरा इत्याशङ्क्याह महाहय इति, महानयमश्वः, ननु सन्ध्यायामाज्ञप्तः कथं शीघ्रमागत इति चेत् तत्राह मनोजव इति, पूर्ववदस्यापि सामर्थ्यमाह सटाभिरवधूताः अभ्रा विमानानि च तैः संकुलं नभः कुर्वन् इति तस्य कायिको व्यापार उक्तः, वाचनिकमाह हेषित भीषिताखिल इति, हेषितोऽश्वशब्दः, तेनैव भीषितमखिलं येन, साधारणप्रयोगः दैत्यानामपि भयजनकोयमिति ज्ञापनार्थः ॥१॥

व्याख्यार्थ—पहले तैंतीसवें अध्याय में कंस के द्वारा केशी को भेजे जाने का वर्णन किया जा चुका है। केशी ने व्रज में आकर जो उपद्रव किया, उसका वर्णन अगले नौ श्लोकों में किया जा रहा है। वत्स, बक आदि असुरों की तरह यह केशी असुर नहीं आया था। किन्तु यह किसी अन्य प्रकार से ही आया था। इसलिए 'केशी तु' इस श्लोक से आने का दूसरे ढंग का वर्णन करते हैं, क्योंकि, पहिले आए हुए असुर तो साधारण रीति से, व्रज का अहित करने के लिए नियुक्त किए हुए थे और केशी को तो विशेष रूप से कंस ने ही भेजा था।

मन के समान वेग वाला, वह एक विशाल घोड़े के रूप में, वहां उपस्थित होकर, व्योमासुर के समान अपने टापों से भूमि खोदने लगा। वह अपने शिर के बालों के झटके से, आकाश में बादल और विमानों को अस्त-व्यस्त कर रहा था और अपने हिनहिनाने (घोड़े के शब्द से) से ही सारे जगत् को भयभीत कर रहा था। इस कथन से उसकी शारीरिक और वाचनिक शक्ति का निरूपण किया है। देव, नर और पशु पक्षियों को ही नहीं, किन्तु वह दैत्यों को भी भयभीत कर रहा था। इसीलिए मूल में-अखिलः—साधारण प्रयोग किया है ॥१॥

लेख—केशी तु-इसकी व्याख्या में-व्योमवदेव-का तात्पर्य यह है, कि जिस तरह व्योमासुर पृथ्वी पर बिल बनायेगा, वैसे ही यह भी पृथ्वी को खुरों से खोदने लगा। दोनों की समता और एक सा गुण वर्णन करने के लिए यहां पर नौ नौ श्लोकों से दोनों का ही निरूपण है। अर्थात् इस अध्याय

में चौतीस श्लोक है। उनमें आदि के नौ श्लोकों में केशी के और अन्तिम नौ श्लोकों मे व्योमासुर के वध का वर्णन है और मध्य के १० वें श्लोक से २५ वें श्लोक तक सोलह श्लोको में नारद कृत भगवत्स्तुति और कार्य का वर्णन है।

श्लोक—विशालनेत्रो विकटास्यकोटरो बृहद्गलो नीलमहाम्बुदोपमः।
दुराशयः कंसहितं चिकीर्षुर्व्रजं स नन्दस्य जगाम कम्पयन् ॥२॥

श्लोकार्थः—उसकी आंखें बड़ी मोटी मोटी और मुख गुफा की तरह भयङ्कर था। उसका कण्ठ विशाल था और वह बड़े विशाल काले बादल के समान दिखाई देता था। कंस का हितैषी वह दुष्ट बुरे विचार से नन्दरायजी के व्रज में गया। उसके चलने पर पृथ्वी थरथराती (थरथर कांपती) थी ॥२॥

सुबोधिनी—तस्य क्रियाव्यतिरेकेणापि रूपं दृष्ट्वैव सर्वं बिभ्यतीति ज्ञापयितुं रूपं वर्णयति **विशालनेत्र** इति, विशाले नेत्रे यस्य, इयं विशालता प्रकरणवशात् भयानका ज्ञातव्या, विकटमास्यकोटरं यस्य. **बृहद् गलो** यस्य, नीलो यो महान् घनः तस्योपमा यस्य, नीलघनापेक्षयाप्यधिक इति उपमानत्वनिरूपणार्थमुपमापदं, रूपमेकेन, गुणत्रयं मुखे वर्तत इति तज्ज्ञापनार्थं नेत्रे आस्यं कण्ठश्च वर्णितः, अन्तर्दोषानाह **दुराशय** इति, स्वभावतोप्यन्तःकरणं दुष्टमिदानीं तु सुतरामित्याह **कंसहितं चिकीर्षु**रिति, ततो नन्दस्य व्रजं जगाम उपद्रवार्थमेव ।२॥

व्याख्यार्थ—आगे चलकर व्रज में उसके कार्य तो भयङ्कर थे ही, किन्तु उन कार्यो के किए बिना भी, उसका केवल रूप भी बड़ा डरावना था - यह "विशाल नेत्र" इस श्लोक से कहते हैं। उसकी आंखें बड़ी मोटी २ डरावनी थीं। उसका मुख गुफा जैसा और कण्ठ बड़ा विशाल था। उसका शरीर दूर तक फैले हुए बादल के समान काला था। यही नहीं; किन्तु काले और विशाल बादल की उसके शरीर से तुलना की जाती थी। तात्पर्य यह है, कि काले और दूर तक फैले हुए बादल की अपेक्षा भी उसका रूप अधिक काला और भयङ्कर था। इस प्रकार इस एक विशेषण से उसके रूप का वर्णन किया है और पहले तीन विशेषणों से नेत्र, मुख और कण्ठ का वर्णन है; क्योंकि मुख में तीन गुण हैं। इस प्रकार उसकी बाहरी भयङ्करता और दुष्टता का वर्णन करके भीतरी दोषों का करते हैं कि वह जन्म जात दुष्ट तो था ही, किन्तु इस समय कंस का हित करने की इच्छा से ही आया था, इसलिए अत्यन्त ही दुष्ट हृदय वाला वह केशी भारी उपद्रव करने के लिए ही नन्दरायजी के व्रज में उपस्थित हुआ ॥२॥

लेखः—विशाल नेत्रः—इस श्लोक की व्याख्या में-उपमानत्व निरूपणार्थ मुपमापदं-इत्यादि पंक्ति का तात्पर्य यह है, कि मूल में उपमा-नीलमहाम्बुदोपमः—पद केशी को नीलधन का उपमान सूचित करने के लिए है; क्योंकि उपमान चन्द्रादि में उपमेय मुखादि से अधिकता होती है; किन्तु यहां उपमान नील मेघ को उपमेय और उपमेय उसके शरीर को उपमान बताया है। अर्थात् केशी काले बादल के समान नहीं; प्रत्युत काला बादल केशी के शरीर सा था। चन्द्रादि में जैसे मुख से अधिक गुण दिखाई देते है वैसे ही बादल की अपेक्षा केशी का शरीर अधिक भयङ्कर था।

श्लोक—तं त्रासयन्तं भगवान् स्वगोकुलं तद्धेषितैर्बालविघूर्णिताम्बुदम् ।
आत्मानमाजौ मृगयन्तमग्रणीरुपाह्वयन् स व्यनदत् मृगेन्द्रवत् ॥३॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने देखा कि वह असुर अपने शब्द से गोकुल को भयभीत बनाता हुआ युद्ध करने के लिए उन्हीं को खोज रहा है, और उसकी पूंछ के बालों से विदीर्ण मेघसमूह इधर उधर बिखर रहे हैं। तब श्रीकृष्ण ने सामने आकर उसे ललकारा। कृष्ण को देखकर केशी भी सिंह की तरह गरजा ॥३॥

सुबोधिनी—स तु शीघ्रमेव कार्यं करिष्यतीति भगवान् प्रथमत एवाभिज्ञाय तत्कार्यात् पूर्वमेव तमाकारितवानित्याह **तं त्रासयन्तमिति**, तस्मिन्नागत एव रूपं दृष्ट्वैव त्रासः, मारणपरिज्ञानयोः सामर्थ्यज्ञापनार्थम् भगवानिति, अक्लिष्टकार्यपि तथा कृतवानित्यत्र हेतुमाह **स्वगोकुलमिति**, स्वस्य गोकुलमिति,स्वा गावश्च तेषां कुलमित्यपि,तं प्रसिद्धं हेषितैः यानि देवानामपि भयजनकानि,शीघ्राकारणे हेतुमाह **बालविघूर्णिताम्बुदमिति**, पुच्छभ्रामणेन विशेषेण घूर्णिता मूर्च्छिता अम्बुदा यस्य, पुच्छभ्रामणमात्रेण यदेवं महाननर्थः तदा किञ्चिद्विलम्बेपि महाननर्थो भवेदिति, नन्वकस्मादागत्य कथं न गोकुलं मारितवान् तत्राह **आत्मानमाजौ मृगयन्तमिति**, न स गोकुलमारणार्थमागतः किन्तु भगवता सह युद्धं कर्तुम्, **आजौ** संग्रामे, **आत्मानं** भगवन्तं, **मृगयन्तमन्वेषयन्तं** क्वास्ति कृष्ण इति, नन्वेव कथं धाष्ट्यं करोति यस्माद् बिभेति, तत्राह स प्रसिद्धः केशी, अत एव **मृगेन्द्रवत्** सिंहवत् **व्यनदत्**, स ह्यन्यान् गजानिव मन्यते, बलभद्रं कथं न प्रेषितवान् इत्यत्र हेतुर**ग्रणीरिति**, भगवानेवाग्रणीः, भगवान् अग्र एव उपद्रवान् दूरीकरोतीति ॥३॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने पहले ही यह जान कर–कि केशी आते ही जल्दी से गोकुल का अनिष्ट रूप अपना कार्य पूरा कर लेगा, उसको पहले ही से ललकारा-यह- "तंत्रासयन्तं-श्लोक से कहते हैं। उसके आते ही उसके रूप को देखकर ही सब भयभीत हो गए। श्रीकृष्ण भगवान् हैं–इस कारण से केशी के बुरे विचारों को जान लेने और उसको मार देने की शक्ति उनमें थी। भगवान् अक्लिष्ट-कर्मा है। आपको किसी भी कार्य को करने में-लोकवत्तु लीला कैवल्यम्-इस ब्रह्म सूत्र के अनुसार परिश्रम नहीं होता। आपने अपने बन्धु बान्धवों तथा अपनी गौओं के कुल को डराने वाले केशी को ललकारा; क्योंकि वह देवों को भी भयभीत कर देने वाले अपने कर्णकटु हींसने से भगवान् के गोकुल को डरा रहा था।

वह अपनी पूंछ के घुमाने मात्र से जब बादलों को तितर बितर और व्याकुल कर रहा था और देर करने पर तो न जाने क्या २ अनर्थ कर डालेगा–इस विचार से भगवान् ने उसे महान् अनर्थ करने से पहले ही ललकार दिया। वह गोकुल का नाश करने का विचार लेकर नहीं आया था, गोकुल को तो वह अचानक ही मार देता। वह तो भगवान् के साथ युद्ध करना चाहता था। इस कारण से वह तो संग्राम में श्रीकृष्ण को ढूंढ रहा था कि कृष्ण कहां है? यद्यपि कृष्ण से वह भी भयभीत था; तो भी वह अपनी धृष्टता से कृष्ण को-युद्ध की इच्छा से इधर उधर देख रहा था। वह प्रसिद्ध केशी अन्य वीरों को हाथी सा मानता था इस कारण वह सिंह के समान दहाड़ने लगा।

भगवान् अग्रणी हैं विघ्नों को उनके आने के पहले ही दूर कर देते हैं। इसलिए बलरामजी को आगे भेजकर, स्वयं ने ही सामने जाकर, भगवान् ने ही, उसको ललकारा ॥३॥

श्लोक—स तं निशम्याभिमुखो मुखेन खं पिबन्निवाभ्यद्रवदत्यमर्षणः ।
जघान पद्भ्यामरविन्दलोचनं दुराशयश्चण्डजवो दुरत्ययः ॥४॥

श्लोकार्थ—वह प्रचण्ड वेग वाला था, इसीलिए उसे कोई वश में नहीं कर सकता था और न उसके पास जा सकता था। वह बड़ा क्रोध करके-मानों आकाश को पी जाएगा इस तरह मुंह फैलाकर कृष्ण के ऊपर झपटा और पास में आकर उनपर उसने पीछे को दुलत्ती चलाई ॥६॥

सुबोधिनी—भगवदाह्वानं श्रुत्वा यत् कृतवांस्तदाह स तमिति. उपाह्वयन् वा स भगवानेव व्यनदत्, अथवा पूर्वं भगवन्तं दृष्ट्वैव गर्जनं कृतवान्, पश्चात् वाक्यं श्रुत्वा यत् करिष्यति तदग्रे निरूप्यते स केशी तद् भगवद्वाक्यं निशम्य मुखेनाकाशं पिबन्निव व्यात्ताननः अभिमुखः अभ्यद्रवत् ग्रासार्थीव शीघ्रमागमने आकाशो निविशतीव दृष्ट इति पिबन्निवेत्युक्तम्, यत्राकाशमेव ग्रसति तत्र तन्मध्यपातिनः सुखग्रासा इति बहिश्चेष्टा निरूपिता, अत्यमर्षण इत्यान्तरी, तदा निकटे समागत्य परावृत्त्य पद्भ्यां जघान धेनुकवत्, ननु संमुखमागत्य मुखेनैव मारणसम्भवेपि किमिति परावृत्त इति चेत् तत्राह अरविन्दलोचनमिति, कमलनयनो भगवानिति, भगवतः परमसौन्दर्यं दृष्ट्वा साक्षादतिक्रमासमर्थः परावृत्त्य अपश्यन्नतिक्रमः कृतवानित्यर्थः, ननु पद्भ्यामपि भगवद्रूपं स्मृत्वा कथमतिक्रमः सम्भवतीत्याशङ्क्याह दुराशय इति, दुष्टान्तःकरणत्वात् तथा कृतवान्, दुरासद इति पाठे कथं रामादिभिः अतिक्रमो न निवारित इत्याशङ्क्याह दुरासद इति, दुःखेना सादो यस्येति, न कोपि तन्निकटे गन्तुं शक्नोतीत्यर्थः, तत्र हेतुमाह चण्डजव इति, अतिशीघ्रमागच्छति, तस्य प्रतीकारो दूरे तस्मिन्नागते पलायनमप्यशक्यमित्याह दुरत्यय इति दुःखेनात्ययो यस्येति ॥४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् की ललकार को सुनकर केशी ने जो कुछ किया, उसका वर्णन "स तं"-इस श्लोक से करते हैं। उसको ललकार के भगवान् ने गर्जना की। अथवा भगवान् को देखकर ही पहले केशी ने गर्जना की और फिर भगवान् का वचन सुनकर मुख को फैलाकर आकाश को लीलता सा भगवान् के सामने बड़े वेग से झपटा। वह भगवान् को निगल लेना चाहता था। क्योंकि आकाश को भी लील लेने पर, उस अकाश में स्थित पदार्थ तो सहज ही निगले जा सकते हैं ही। यह कर केशी की बाहरी चेष्टा का वर्णन किया। उसकी भितरी चेष्टा का वर्णन करते हुए कहते हैं, कि वह बड़ा क्रोधी था। उसने अत्यन्त क्रुद्ध हो और मुड़ कर अपने पीछे की दुलत्ती का धेनुकासुर की तरह भगवान् पर प्रहार किया।

कमल से नेत्र वाले भगवान् की कोटि-काम-लजावन सुन्दरता को देखते हुए उस केशी की भगवान् पर सामने से प्रहार करने की सामर्थ्य नहीं हुई। और तब दुष्ट हृदय वाला वह फिर कर उनको बिना देखे ही उन पर पीछे की दुलत्ती चला सका। बलरामजी आदि कोई भी उसको न रोक

सकते थे और न उसके पास ही जा सकते थे। वह बड़े वेग से झपटता था। उसको रोक देने की बात तो कौन करें, उसके निकट आने पर उससे अपने प्राण बचाकर कोई भाग भी नहीं सकता था ॥४॥

श्लोक—तद् वञ्चयित्वा तमधोक्षजो रुषा प्रगृह्य दोर्भ्यां परिविध्य पादयोः ।
सावज्ञमुत्सृज्य धनुःशतान्तरे यथोरगं तार्क्ष्यसुतो व्यवस्थितः ॥५॥

श्लोकार्थः—भगवान् कृष्ण ने सहज ही में उस प्रहार से अपने आप को बचा लिया और उसके दोनों पिछले पैर पकड़कर गरुड़ जैसे किसी साधारण साँप को झिटक देता है, वैसे ही—केशी को उपर घुमाकर चार सौ हाथ दूरी पर फेंक दिया और आप जहां के तहां खड़े रहे ॥५॥

सुबोधिनी—भगवानतिचतुरः स सुरासुरैः शस्त्रैश्चावध्य इति तस्य प्रकारान्तरेण समाधानं कृतवानित्याह **तद् वञ्चयित्वेति**, तत् पादप्रहरणं तिर्यग्भूत्वा वञ्चयित्वा मोघत्वं सम्पाद्य ततः **दोर्भ्यां** तस्य पादद्वयं धृत्वा परिविध्य भ्रामयित्वा उत्तोल्य धनुःशतान्तरे **सावज्ञमुत्सृज्य** व्यवस्थित इति सम्बन्धः, ननु शीघ्रमागतो मारयितुं पादप्रसारणं कृतवान् यथा न प्रतिहतो भवति साधनवेगः तत् कथं प्रतिहतो जात इत्याशङ्कायामाह **अधोक्षज** इति इन्द्रियजन्यं तस्य ज्ञानं क्रिया वा तं न विषयीकरोति, अतो युक्त एव तस्य पादासम्बन्ध इति, वञ्चनमपि भगवतो लौकिकसामर्थ्याद् युक्तमिति न किञ्चिदनुपपन्नम्, संमुखमागतः किमिति परावृत्त इति रोषेण **दोर्भ्यां** गृहीतः, कदाचित् तस्य हृदये भीतः सन् वञ्चनं कृतवानिति शङ्का स्यात् ततो भगवान् निःशङ्कमाप्तमिव **दोर्भ्यां** परिगृहीतवान्, तत उत्तोलनं च कृतवान्, यो पादो भगवते चिक्षेप तत्रैव स्थाने स गृहीत इति दत्तमेव गृह्णातीत्यपि सूचितम्, उत्तोलनादिकं सर्वं यथा पुनर्नायाति तथा ज्ञापनार्थम्, महान् देवलब्धवर इति तस्य गर्वनाशार्थं **सावज्ञ**मवज्ञापूर्वकमुत्सर्गः, **शत**शब्दोपरिमितवाची, **धनुः**पदं वीरत्वज्ञापनार्थम्, ननु देहेन महान् सः, बालकश्च भगवान्, अलौकिकं च सामर्थ्यं न प्रकटितवान्, तत् कथं तस्योत्तोलनादिकमित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **यथोरगमिति**, गरुडो यथा महान्तमप्युरगं भक्ष्यत्वात् अलृप्तत्वात् भक्ष्यमाणः, बले विद्यमाने पराक्रमं करिष्यतीति बलक्षयार्थं तथा क्रियते, तथा भगवानपि, असुरो निवार्य एवेति बलक्षयार्थं तथा करणम्, एवं कृत्वा न महत् कर्म कृतमिति मेने किन्तु पूर्ववदेव विशेषेणैव लीलयैव स्थितः ॥५॥

व्याख्यार्थ—परम चतुर शिरोमणि भगवान् ने यह जानकर कि यह केशी देव और असुरों से तथा किन्हीं शस्त्रों के द्वारा भी नहीं मारा जा सकता, तब उसका समाधान जिस प्रकार से किया उस प्रकार को "तद्वञ्चयित्वा" इस श्लोक से बतलाते हैं ! भगवान् ने स्वयं झुककर उसकी उस दुलत्ती के प्रहार को निरर्थक बनाकर अपने आप को उससे बचा लिया और उसके पिछले दोनों पैरों को अपनी दोनों भुजाओं से पकड़ कर ऊंचा उठा और घुमाकर चार सौ हाथ ही नहीं हजारों हाथ दूरी पर अनायास फेंक दिया।

यद्यपि केशी बड़े वेग से दौड़ कर भगवान् को मारने के विचार से ही आया था और उसने इसी लिए ही किसी से भी न रुकने वाली दुलत्ती को मारने का साधन बना कर ही भगवान् पर

चलाई थी, तो भी वह व्यर्थ ही हो गई; क्योंकि, भगवान् अधोक्षज हैं। इन्द्रियों का ज्ञान तथा कार्य उन तक नहीं पहुँच सकता। इसी कारण से वह दुलत्ती भगवान् को स्पर्श नहीं कर सकी। यह उचित ही है, तथा अपने अलौकिक सामर्थ्य से भगवान् का अपने आप को उसके आघात से बचा लेना भी उचित ही है।

उसने पहले सामने आकर और फिर पीछे फिर कर, भगवान् पर दुलत्ती चलाई। इस कारण से क्रुद्ध हुए निर्भीक भगवान् ने निडर केशी के पिछले पैरों को दोनों श्री हस्तों से पकड़ लिया और ऊंचा उठाकर घुमाकर,अनादर पूर्वक दूर फेंक दिया। उसने देवों से वरदान प्राप्त किया था। उसका उसे बड़ा गर्व था। उस गर्व का नाश करने के लिए ही सारे बलों के बल भगवान् ने अनायास घुमाकर हजारों हाथ दूर फेंक दिया, जिससे वह फिर लौट कर वापस न आ सके।

वह असुर तो बड़ा विशालकाय था और भगवान् बालक थे। उस समय भगवान् ने अपनी आलौकिक सामर्थ्य को भी प्रकट नहीं किया था। तब बालक श्रीकृष्ण ने उस लम्बे चौड़े और मोटे ताजे प्रचण्ड शरीर वाले असुर को क्यों कर ऊँचा उठा लिया? इस शंका के उत्तर में दृष्टान्त देते हैं। जैसे गरुड़जी बड़े भारी सांप को-जो उनका सहज भोजन है-पछाड़ कर बलहीन कर देते हैं। वैसे ही, भगवान् ने भी उसे निर्बल करने के लिए घुमाकर फेंक दिया; क्योंकि बल के रहने पर तो फिर भी पराक्रम कर सकता है। उसे बहुत दूर फेंककर और इस काम को कोई बड़ा काम न मानकर भगवान् श्रीकृष्ण पहले की तरह ही जहां के तहां ही खड़े रहे। ५।

श्लोक—स लब्धसंज्ञः पुनरुत्थितो रुषा व्यादाय केशी तरसापतत् हरिम्।
सोऽप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं स्मयन् प्रवेशयामास यथोरगं बिले ॥६॥

श्लोकार्थ—पहले तो वह असुर मुर्च्छित हो गया। फिर होश आने पर, मुंह फैलाकर बड़े वेग से कृष्ण की ओर झपटा। श्रीकृष्ण ने हंसते हंसते अपनी भुजा उसके मुँह के आगे कर दी। जैसे सांप बिल में चला जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण की भुजा उस केशी के मुख में चली गई ॥६॥

सुबोधिनी—प्रक्षिप्तस्य वृत्तान्तमाह **स लब्धसंज्ञ** इति, पूर्वं मूर्च्छितः पश्चात् लब्धसंज्ञस्तथापि न निवृत्तः किन्तु पुनरुत्थितः, ततो मुखं व्यादाय यतः **केशी तरसा** शीघ्रमेव हरिमभ्यापतत्, ततो भगवानपि भोजनार्थमिव व्यात्तमुखं भोजितवानित्याह सोपीति, भगवानप्यस्य वक्त्रे उत्तरं वामभुजं स्मयन् हसन् भक्षणार्थमायासि चेत् भक्षयेति वदन्निव भुजं **प्रवेशयामास**, वामो हि भुजो दैत्यानामेवेति, स निःशङ्कं प्रविष्ट इति वक्तुं दृष्टान्तमाह **यथोरगं बिल** इति ॥६॥

व्याख्यार्थ—"स लब्धसंज्ञः"-इस श्लोक से फेंक दिए जाने के बाद का वृत्तान्त कहते हैं। पहले तो वह मुर्च्छित-अचेत-हो गया और फिर सचेत होकर-होश में आकर-भी पीछा नहीं लौटा, किन्तु फिर खड़ा होकर खा जाने के अभिप्राय से मुँह को फैला कर वेग से भगवान् पर झपटा। खाने के लिए ही मानों मुंह फैलाकर आये हुए उसके मुंह में-भगवान् ने यों कहकर मानों-खाने के लिए

आया है तो ले साले-अपनी बाईं भुजा हँसते २ रख दी; क्योंकि, भगवान् की बाईं भुजा दैत्यों की ही है। वह भगवान् की बाईं भुजा उसके मुख में इस प्रकार प्रवेश कर गई; जैसे सांप बाँबी में निःशङ्क घुस जाता है ॥६॥

श्लोक—दन्ता निपेतुर्भगवद्भुजस्पृशस्ते केशिनस्तप्तमयःस्पृशो यथा।
बाहुश्च तद्देहगतो महात्मनो यथामयः संववृधे उपेक्षितः ॥७॥

श्लोकार्थ—भगवान् की भुजा के छू जाते ही, केशी के सारे दांत इस तरह गिर गए जैसे तपा हुआ लोहा लगने से लोगों के दाँत गिर पड़ते हैं। जैसे उपेक्षा करने से शरीर में रोग बढ़ने लगता है, वैसे ही भगवान् की भुजा उस असुर के शरीर में घुस-कर (पहुँच कर) क्रमशः बढ़ने लगी ॥७॥

सुबोधिनी—भुजप्रवेशनं कथं मारणोपाय इति शङ्कायां प्रकारमाह दन्ता निपेतुरिति, स भक्षणार्थं प्रवृत्तः दन्तसम्बन्धं कारितवान् तदा भगवद्भुजस्पृशो भगवद्भुजं स्पृशन्तीति तथा-भूता दन्ता निपेतुः, ते प्रसिद्धा यैर्देवा अपि हन्यन्ते तत्रापि केशिनः अतिप्रसिद्धस्य अलौकिकप्रकारेणौषधादिस्पर्शेनैव दन्ताः पतिता भविष्यन्तीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह तप्तमयःस्पृश इति, तप्तमयः अग्निवर्णं ये स्पृशन्ति ते तप्तमयःस्पृशः तप्तमयो वा तप्तलोहम्, स्पृशः षष्ठ्यर्थे द्वितीयेति, ततो बाहुरपि तद्देहान्तःप्रविष्टः ववृधे तस्य वृद्धौ साधनं नापेक्ष्यत इत्यत्र दृष्टान्तमाह, यथामय इति, यदेव किञ्चित् करोति पुरुषस्तद्रोगप्रतीकारमकुर्वन्, तेनैव स वर्धते, न हि देहवृद्धाविव रोगवृद्धौ साधनमपेक्ष्यते। ननु वृद्धौ विकारित्वं स्यात् तथा चानुभवो न स्यात् दोषश्च स्यात् इति चेत् तत्राह महात्मन इति, स हि व्यापकःसर्वतः पाणिपादान्तः यावत् दूरे मायामुद्घाटयते येन तेनैवावयवेन वृद्ध इत्युच्यते, महान् आत्मा स्वरूपं यस्य, अस्य च उपेक्षा प्रणिपाताकरणं पलाय्यागमनं वा ॥७॥

व्याख्यार्थ—उस असुर के मुंह में अपनी भुजा प्रविष्ट (घुसाकर) भगवान् ने जिस प्रकार उसका नाश किया—उस प्रकार को 'दन्ता निपेतुः' इस श्लोक में बतलाते हैं। वह खाने के लिए ही आया था। इसलिए उस कुख्यात केशी ने जब भगवान् की भुजा को दांतों से, जिनसे वह देवों को भी मार देता था,–काटने लगा, तब तो भगवान् की भुजा को छूते ही उसके दांत इस तरह से गिर गए जैसे आग की तरह लाल अत्यन्त तपे लोहे को छू जाने पर लोगों के दांत गिर पड़ते हैं। उसके वे दांत किसी अलौकिक रीति से, औषधि आदि के खाने से, जैसे नहीं गिरे थे।

भगवान् की भुजा भी उसके शरीर में घुसकर वैसे ही बढने लगी, जैसे आलस्य करने से, रोग निवृत्ति का उपाय न करने से रोग बढ़ता ही जाता है, क्योंकि देह की वृद्धि में जैसे व्यायाम, संयम, पौष्टिक पदार्थ सेवन आदि साधनों की अपेक्षा रहती है। इस तरह रोग की वृद्धि में किसी साधन की अपेक्षा नहीं होती। रोग जैसे क्रमशः बढ़ता रहता है, वैसे ही भगवान् की भुजा उसके शरीर में घुस कर बिना किसी साधन के ही बढने लगी ॥७॥

शङ्का--उत्पन्न होना, ठहरना, बदलना, बढ़ना आदि छ: विकार तो माया से प्रतीत होते हैं, और मायिक मृगमरीचिका में जैसे जल का स्पर्श नहीं होता, उसी प्रकार माया से होने वाले बढने रूप विकार वाली भुजा का अनुभव केशी को कैसे हुआ ? और हुआ तो दोष युक्त हुआ ? इसका निवारण मूल में आगे 'महात्मन:' इस पद से करते हैं। भगवान् की आत्मा-स्वरूप-महान् है। वह व्यापक और सब ओर पाणि, पाद और अन्त वाले हैं। वे अपने जिस अवयव में जितनी सी जगह में माया का उद्घाटन करने देते हैं, उसी अवयव से वे बढ़ गये—ऐसे कहे जाते है। इस कारण से भुजा के बढ़ने में मायासम्बन्ध रूप कोई दोष नहीं है और केशी के दान्तों तथा शरीर को उसके बढने का अनुभव भी हुआ ही; क्योंकि भगवान् शुद्ध-माया सम्बन्ध-रहित हैं। मनुष्य के शरीर में रोग जैसे उपेक्षा-लापरवाही-करने से बढ़ता है, वैसे ही केशी की-भगवान् को प्रणाम न करना और भगवान् पर झपट कर आना रूप-लापरवाही-उपेक्षा-के कारण भगवान् की भुजा उसके शरीर में पैठ कर बढने लगी।

लेख—'दन्ता निपेतु':-इस श्लोक की व्याख्या में-षष्ठ्यर्थे-पद का अर्थ है कि यह द्वितीया षष्ठी के अर्थ को बताती है अर्थात् तपे हुए लोहे का स्पर्श करने से जैसे लोगों के दांत गिर पड़ते हैं; वैसे ही भगवान् की भुजा का स्पर्श करते ही केशी के सारे दांत गिर पड़े। "विकारित्वं"–इसी की व्याख्या में "विकारित्व'–का तात्पर्य यह है कि शरीर के छ: विकारों में बढ़ना चौथा विकार है। ये सारे विकार माया से प्रतीत होते है, इस सिद्धान्त के अनुसार बढ़ना रूप माया का विकार वाली भगवान् की भुजा का-मायामरिचीका में जल की तरह-दांतों से छूने का अनुभव केशी को होना अनुचित है और मायिक स्पर्श के कारण, दोष युक्त भी है। नट विद्या इन्द्रजाल में जैसे मायिक पदार्थों का स्पर्श होता है, उसी प्रकार माया विकार से बढने वाली भी भगवान् की भुजा का केशी के दांतों से स्पर्श सम्भव मानकर इस अरुचि मे दूसरा दूषण देते हैं, कि इस प्रकार मायिक पदार्थों का स्पर्श सब जगह नहीं हो सकता। इसलिए इसमें हेत्वाभासरूप दोष है।

इन दोनों प्रकार की शङ्का की निवृत्ति 'महात्मन:' भगवान् की सर्वव्यापकता बतला कर की गई है ।।७।।

श्लोक—**समेधमानेन स कृष्णबाहुना निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन् ।**
प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचन. पपात लेण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसु: ।।८।।

श्लोकार्थ—लगातार बढ़ रही भगवान् की भुजा से केशी के सांस का आना जाना रुक गया और दम घुटने लगा। वह पृथ्वी पर गिर पड़ा और पैरों को पछाड़ने लगा। उसकी आंखे बाहर निकल आई। शरीर से पसीना वह चला और मल के साथ ही उसके प्राण भी निकल गए ।।८।।

सुबोधिनी—ततो यत् जातं तदाह समेधमानेनेति, सम्यक् परित: एधमानेन वर्द्धमानेन, स केशी, कृष्णपदमेतदर्थमेवावतीर्ण इति ज्ञापनार्थं, बाहुश्च क्रियाप्रधान: अतोसमीचीने बाहुप्रक्षेपणादिकं न विरुध्यते, वक्त्रविवरस्य बाहुना पूर्णत्वात् निरुद्धवायुर्जात:, तदा व्याकुल: चरणांश्च विक्षि-

पन् विशेषेण क्षिपन् दुरात्मभिरेवाहूमानीतो मारणार्थमिति क्षिपन्निव, चकारात् कंसं च, अन्तः प्रयासात् प्रस्विन्नगात्रो जातः, परिवृत्ते लोचने यस्य, अन्तर्बहिः क्रियागमः ज्ञानापगमश्च सूचितः, तदा पपात लेण्डं विसृजन् इति, पायुद्वारा मलं विसृजन्, लेण्डशब्देन शकृदुच्यते, क्षितावप-तदिति न पातेन कश्चिदुपद्रुत इति सूचितम् ।।८।

व्याख्यार्थ—'समेधमानेन'–इत्यादि श्लोक से आगे की बात का वर्णन करते है। भगवान् कृष्ण दैत्यों के नाश के लिए ही अवतरित हुए हैं। भुजा कर्मप्रधान है। कर्म करना भुजाओं का कर्त्तव्य है। बढ़ती हुई कर्म प्रधान श्रीकृष्ण की भुजा से केशी का मुँह भर गया और वायु के रुकने से श्वास प्रश्वास का आना जाना बन्द हो गया। पाँवों को पटकने लगा तथा मरने के लिए यहाँ कृष्ण के पास लाने वाले अपने दुष्ट मित्रों को और यहाँ भेजने वाले कंस को भी अत्यधिक बुरा-भला कहने लगा। परिश्रम से उसका शरीर पसीने से भींग गया, आँखें बाहर निकल आई, उसके बाहरी और भीतरी ज्ञान तथा क्रिया का नाश हो गया; तब तो लीद करता हुआ वह पृथ्वी पर गिर पड़ा और मर गया। वह पृथ्वी पर गिर पड़ा–इस कथन से-सूचित किया कि उसके गिरने पर कोई उपद्रव नहीं हुआ ।।८।।

श्लोक—तद्देहतः कर्कटिकाफलोपमाद् व्यसोरपाकृष्य भुजं महाभुजः।
अविस्मितोयत्नहतारिरुत्स्मयैः प्रसूनवर्षैर्वर्षद्भिरीडितः ।।९।।

श्लोकार्थ—भगवान् ने पकी हुई फूट की तरह बिखरे हुए केशी के मृत शरीर से अपना हाथ निकाल लिया। भगवान् ने उस शत्रु को अनायास-बिना परिश्रम-ही मार डाला, इसका उन्हें कुछ भी विस्मय नहीं हुआ, किन्तु देवता लोग-जो यह सब चरित्र देख रहे थे-बहुत ही विस्मित हुए। वे नन्दनन्दन के ऊपर फूल बरसाने लगे और उनकी स्तुति करने लगे ।।९।।

सुबोधिनी—ततः कार्ये सम्पन्ने भगवान् सर्वैः पूजितो गृहे गत इत्याह **तद्देहत इति**, समारब्धा वृद्धिः ततो न निवृत्ता गतेष्वपि प्राणेषु वर्धमाना देहं पक्व**कर्कटिकाफलवत्**, विदीर्णं कृत्वा विदीर्णद्वारा हस्ते निर्गते निवृत्ता मुखतो हस्तनिःसारणे क्रिया परिवृत्ता भवतीति तदर्थं देहविपाटनम्, व्यसो-रिति निष्कासने हेतुः, त्यक्तप्राणो देहः, अशु-चिर्भवतीति कृतकार्यत्वं च ज्ञापितं, **अपाकर्षणं** ततो निःसारणं पूर्ववत् करणं च, महान् भुजो यस्येति भुजेनापि मुक्तिं दातुं शक्यत इति तस्य मुक्तावपि न सन्देह इत्यर्थः, महती तस्य क्रिया-शक्तिरिति च ज्ञापितम्, एवमपि कृत्वा **अविस्मितः**, न हि तृणे छिन्ने कस्यचिदभिमानो भवति, तदेव ज्ञापयति **अयत्नहतारि**रिति, न कोपि भगवता प्रयत्न कृतः अनायासेन हत इति, केचित् गाया-पगमः स्त्राज्ञयेति न प्रयत्नः, ऊर्ध्व**स्मयैः** हसद्भिः सर्वैरेव देवैः **प्रसूनवर्षैः** पुष्पवृष्टिभिः सहितैर्भ-गवानीडितः तत्र स्थितवाक्यानि न सन्ति किन्तु पुष्पवृष्टिरेव, तदाह वर्षद्भिरिति, वर्षणमिव स्तोत्रमिति प्रसूनानां वर्षो येषां इति पुष्पवृष्ट्य-धिकारिणो देवाः तैर्वर्षद्भिरयात् पूर्णरेव **ईडित** इति स्तोत्रं भिन्नमेव, एवं हेतुत्वेन केशिवधो निरूपितः । ९।।

व्याख्यार्थ तदनन्तर केशी का वधरूप कार्य के सिद्ध हो जाने पर, सब देवताओं ने भगवान् का पूजन किया और भगवान् घर पर पधारे यह 'तद्' हत : श्लोक से कहते हैं। केशी के प्राणों के निकल जाने पर भी भगवान् की भुजा तो बढ़ती ही रही और पकी फूट की तरह उसके शरीर को विदीर्ण करके बाहर निकली। जब हाथ केशी के मुंह से बाहर निकाला तब उसका बढ़ना रुका और जैसे पहले जैसा था, वैसा ही भगवान् ने साधारण सा हाथ कर लिया।

वह असुर मर चुका था। मृत शरीर अपवित्र हो जाता है, इस कारण से तथा असुरवधरूप कार्य के पूरे हो जाने से श्रीकृष्ण ने अपनी भुजा को उसके मृतशरीर से बाहर निकाल लिया। भगवान् महाभुज-बड़ी भुजा वाले-हैं, वे भुजा से भी मुक्ति दे सकते हैं। इसलिए केशी की मुक्ति में भी सन्देह नहीं है। महाभुज कह कर, यह भी बतलाया कि भगवान् की भुजा की क्रिया-शक्ति बहुत बड़ी है।

केशी को मार देने पर, श्रीकृष्ण को कुछ भी विस्मय नहीं हुआ; क्योंकि घास को तोड़ने में किसी मनुष्य को, मैंने घास तोड़ दिया, ऐसा अभिमान नहीं होता है, वैसे ही केशी तो भगवान् के आगे घास के बराबर नहीं था। उसको मारने के लिए भगवान् ने जरा भी प्रयत्न नहीं किया, अनायास ही मार डाला। कोई टीकाकार कहते हैं, कि अपनी आज्ञा से ही भगवान् ने माया को दूर कर दिया। इसलिए उन्हें माया को हटाने में कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ा। तब सारे देवों ने प्रसन्न होकर पुष्पों की वर्षा के साथ २ भगवान् की स्तुति की। मूल में स्तुति के वचन नहीं है, किन्तु पुष्पों की वर्षा का ही वर्णन है। वह स्तुति पुष्पों की वर्षा की तरह थी। इसलिए पुष्पों की वर्षा करने के अधिकारी देवों ने पुष्पों से ही भगवान् की पूजा और स्तुति की। इस प्रकार कंस वध का हेतुरूप से केशी के वध का निरूपण किया।।९।।

श्लोक—देवर्षिरुपसङ्गम्य भागवतप्रवरो नृप ।
कृष्णमक्लिष्टकर्माणं रहस्येतदभाषत ।।१०।।

श्लोकार्थ—इस अवसर पर भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ नारदजी एकान्त में सर्वशक्तिमान् भगवान् के निकट उपस्थित हुए और कहने लगे ।।१०।।

सुबोधिनी—ततो नारदस्य स्वापराधक्षमापनार्थं वाक्यानि निरूपयन् पञ्चदशभिः प्रथमतः तस्य समागमनमाह देवर्षिरिति, यदैव भगवता केशी हतः तदा भगवत्समीपे न कोपि स्थित इति तदैव समागतः निकटे भक्तवन् नमस्कुर्वन्, तदाह उपसङ्गम्येति, देवर्षित्वाच्च तदर्थपरिज्ञानं, भगवान् कथं तमनुज्ञातवानित्याह भागवतप्रवर इति, भागवतानां मध्ये प्रवरः श्रेष्ठः भागवतमार्गोपदेष्टृत्वात्, नृपेति सम्बोधनमनभिप्रेतोप्यागच्छतीति राजलीलायाः परिज्ञानार्थं, उच्यमानः कथञ्चिद् अनभिप्रेतो नारद इति भगवान् मारयेत्, अतः कथं निर्भयो भूत्वा तथा वदतीत्याशङ्क्याह अक्लिष्टकर्माणमिति, स्वतोप्यागमनं परमानन्दरूपत्वात् सम्भवति तदाह कृष्णमिति, रहसीति, उभयोरदृश्यत्वे एकान्ते वा गत्वा उभयोरपि तथा सामर्थ्यसम्भवात् नानुपपत्तिः, इदं वक्ष्यमाणं स्तोत्रपूर्वकं निवेदनात्मकमभाषत ।।१०।।

व्याख्यार्थ— आगे नारदजी के अपने अपराध की पन्द्रह श्लोकों से क्षमायाचना पूर्वक आगमन का वर्णन पहले 'देवर्षि' इस श्लोक से करते है। भगवान् ने जब केशी दैत्य का वध किया। उस समय उनके पास कोई भी गोप ग्वाल आदि नहीं था। इस बात को नारदजी ने, देवर्षि होने के कारण, जान लिया और उसी समय भगवान् के समीप जाकर परम भक्त की तरह नमस्कार किया। नारदजी भक्त शिरोमणि है, भक्ति मार्ग के उपदेशक हैं। इस कारण से, अनभिप्रेत भी भगवान् की इच्छा को न जानकर भी आए हुए अपराधी नारदजी अक्लिष्ट कर्मा सर्व-शक्तिमान्, परमानन्दघन श्रीकृष्ण के निकट स्वयं भी निर्भय होकर चले गए और स्तुति करते हुए एकान्त में निवेदनात्मक वचन कहने लगे। भगवान् की तरह नारदजी भी स्वतः अदृश्य ही है। स्वेच्छा से ही दिखाई देते हैं। इसलिए एकान्त में दोनों को ही निवेदन करते, सुनते कोई नही देख सका। राजलीला में अनभिप्रत को देखना और उसकी बात को सुनना पड़ता है। इस अभिप्राय से मूल में 'नृप' यह सम्बोधन किया है ॥१०॥

लेख - 'देवर्षि' इस श्लोक की व्याख्या में 'वाक्यानि' पद का भाव यह है, कि पंद्रह श्लोकों से नारदजी के वाक्यों का निरूपण करते हुए पहले प्रथम एक श्लोक से उनके आने का वर्णन करते हैं। इस प्रकार से १५+१ मिलकर सोलह श्लोक होते है।

आगे इसी व्याख्या में उच्यमानः—इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है, कि नारदजी का आगमन कलह कारक होने से किसी को अच्छा (प्रिय) नहीं लगता। फिर भी, नारदजी आ गए। तब सब भक्त मिलकर भगवान् से प्रार्थना करने लगे तो, भगवान् नारदजी का अनिष्ट कर दें। इस बात का भय नारदजी को नहीं हुआ और वे सर्व शक्ति मान तथा परमानन्दघन श्रीकृष्ण के निकट निर्भयता पूर्वक जाकर कहने लगे। 'स्वतोपि' का अभिप्राय यह है, कि भगवान् की अक्लिष्ट-कर्मता और परमानन्द-रूपता का विचार न करके भी स्वतः ही, नारदजी भगवान् के निकट चले गए 'अदृश्यत्वे' पद का अर्थ यह है, कि योग बल से दोनों हो (श्रीकृष्ण और नारदजी) किसी की दृष्टि में नहीं आए उन्हें कोई नहीं देख सका, क्योंकि 'इन्द्रियाणान्तु सामर्थ्यादिदृश्य स्वेच्छया तु तत्' यह स्वेच्छा से ही दर्शन देते हैं, इन्द्रियों की शक्ति से वह अदृश्य है इन्द्रियां उसको नही देख सकती है।

श्लोक—कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् योगीश जगदीश्वर।
वासुदेवाखिलावास सात्वतां प्रवर प्रभो ॥११॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हे सच्चिदानन्द ! हे अखण्ड स्वरूप ! हे योगेश्वर ! हे जगन्नाथ ! आप सब प्राणियों में व्याप्त हैं। आप सब का आश्रय है। हे यादव देव ! आप सर्व शक्तिमान् हैं ॥११॥

सुबोधिनी--प्रथमं भगवन्तं नवधा सम्बोधयति कृष्ण कृष्णेति, मूलरूपं निरूपयन् कृष्णेति सदानन्दो मूलमन्यथा जगतस्तदात्मत्वं फलरूपता च न स्यात्, तत्र प्रमाणद्वयमाह अनुभवं वेदचाग्रिमाभ्याम, पुनः कृष्णेति द्विरुक्तिरादरे, परमानन्द एवादरणीयो भवतीति, यद्यपीदमस्यतया नानुभूयते तथापि वस्तुस्वाभाव्यात् तत्रादर उत्पद्यते, अत्रार्थे प्रमाणं वदन् वेदानां गम्य

इति तदर्थं वेदोऽप्यस्तीति, द्वितीयं प्रमाणमाह अप्रमेयात्मन्निति, न प्रमातुं योग्यः केनाप्यात्मा यस्य, सर्वथा प्रमाणाभावे नास्तीति न मन्तव्यं, आत्मत्वात्, अतो भगवतैव स्वरूपकथनं चोपपद्यते, एवं द्वाभ्यां प्रमाणरूपतां निरूप्य साधनरूपतां निरूपयति द्वाभ्याम् योगीश जगदीश्वरेति बहिर्योगः अन्तरीश्वरत्वेन नियमनं तदर्थमाराधना च यथा सम्यगेव प्रेरयतीति, ईश्वरत्वाद् वावश्यं सेव्य इति, फलरूपत्वमाह द्वयेन वासुदेवाखिलावासेति, वासुदेवो मोक्षदाता, अखिलावासेति तस्य दाने परिज्ञानं, भोक्तृरूपश्च स भोग्यरूपश्चेति फलत्वं न सम्पद्यते, प्रमेयरूपत्वेन निरूपयन् भगवत्सिद्धान्तसिद्धमेव प्रमेयमिति ज्ञापयितुं द्वयमाह सात्वतां प्रवर प्रकर्षेण व्रियत इति प्रवरः, प्रकृष्टो वा वरः भर्ता, सात्वतैः यो व्रियते स एव प्रमेयमिति, यश्च परिपालयितुं शक्तः स एव च पतिः, एवमुपास्योपासकयोः निरूपको धर्मो निरूपितः ॥११॥

व्याख्यार्थ—नारदजी प्रथम तो भगवान् को "कृष्ण कृष्ण" इस श्लोक में नो प्रकार से सम्बोधित करते हैं। "कृष्ण" इस पद से मूलरूप का निरूपण करते हुए "कृषिर्भू वाचक शब्द" के अनुसार सदानन्द कृष्ण ही मूलरूप हैं? यदि सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण मूलरूप न हो तो, जगत् की तद्रूपता और फलरूपता नहीं हो। इस विषय में अगले दो सम्बोधनों से अनुभव और वेद का प्रमाण देते हैं। कृष्ण-यह पुनरुक्ति (दो बार कथन) आदर सूचक है; क्योंकि, परमआनन्द का ही सब आदर करते हैं। यद्यपि उस परमानन्द स्वरूप का यह ऐसा और इतना है-इदमित्थतया (ज्यों का ज्यों) वास्तविक अनुभव नहीं होता है, तो भी, उस परमानन्द रूप वस्तु का यही स्वभाव "इदमित्थतया" (अनुभव में न आना ही) होने के कारण आदर होता ही है।

वह परमानन्द कृष्ण अनुभववेद्य नहीं है, किन्तु वेदगम्य है। इसीलिए वेदों की रचना है। यह 'अप्रमेयात्मन्' इस सम्बोधन से प्रमाणित करते हुए कहते हैं, कि परमानन्द कृष्ण का स्वरूप किसी प्रमाण से जानने योग्य 'न तत्र वाग गच्छति न मन यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' नहीं है। यद्यपि वह किसी प्रमाण से सर्वथा जानने योग्य नहीं है, तो भी वह सबकी आत्मा है, इस कारण उसकी सत्ता में सन्देह नहीं है। इस कारण से वह स्वयं ही—"स्वयं मेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं, अहमात्मात्मनां धात" गीता भागवत् के अनुसार-अपने स्वरूप का वर्णन कर सकता है।

इस प्रकार दो विशेषणों से श्रीकृष्ण की प्रमाण रूपता-स्वतः प्रमाणता का निरूपण करके साधन रूप भी वही है यह अगले "योगीस', 'जगदीश्वर' इन दो विशेषणों से कहते हैं। क्योंकि जब वह योग का ईश्वर होने के कारण बाह्य इन्द्रियों का और जगत् का ईश्वर होकर अन्तः इन्द्रिय मन का नियमन करता है, तब ही आराधना साधन ठीक बन सकती है। अथवा वह सारे ही जगत् का ईश्वर होने से, सबका ही सेव्य-आराध्य-है। आगे वासुदेव, अखिलावास इन दो विशेषणों से कहते हैं, कि फलरूप भी यही श्रीकृष्ण ही है। आप वासुदेव मोक्ष देने वाले हैं और अखिलावास सब प्राणियों में व्याप्त होने के कारण मोक्ष प्राप्ति के योग्य जीवों को जानने वाले हैं। भोक्ता, जीवरूप और भोग्य-मोक्ष रूप आप हो हैं। इसलिए फलरूप, आप श्रीकृष्ण हैं। इस प्रकार मर्यादा मार्ग के अनुसार भगवान् को फलरूप वर्णन करके अगले 'सात्वतां प्रवर, प्रभो' इन दो विशेषणों के द्वारा भागवत् सिद्धान्त सिद्ध फलरूपता का निरूपण करते हैं। भक्तों के आप प्रकृष्ट वर-वरने के योग्य हैं अथवा सर्वोत्तम भर्ता-भक्तों के द्वारा वरण किए होने से, आप ही प्रमेय हैं। आप प्रभु सबका

पालन करने में समर्थ है, सबके पति हैं। 'स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं' के अनुसार आप पति उपास्य हैं और पालनीय जीव उपासक है। इस प्रकार इन अन्तिम दो विशेषणों से उपास्य, उपासक का निरूपण करने वाले धर्म का, अर्थात् उपास्य उपासक धर्म का वर्णन किया गया है ॥११॥

कारिका:—**स्वापराधनिवृत्त्यर्थं त्रिधा स्तोत्रं चकार ह ।**

मूलरूपं तु सम्बोध्य मध्यकार्ये निरूपिते ॥१॥

कारिकार्थ:—अपने अपराध की क्षमायाचना के लिए नारदजी ने मूलरूप कृष्ण को **सम्बोधित** करके तीन प्रकार से उन मूल रूप श्रीकृष्ण की तीन प्रकार से ज्ञान, भक्ति और कर्म-स्तुति की' मध्यभाव और कार्य भाव का निरूपण किया है ॥१॥

लेख:—प्रथम कारिका में–'त्रिधा' पद का तात्पर्य यह है, कि अन्त के 'सात्वतां प्रवर' इस विशेषण से ज्ञान का, 'प्रभो' से भक्ति का और शेष सात-कृष्ण, कृष्ण-इत्यादि विशेषणों से कर्म का वर्णन करके प्रथम सात विशेषणों से कर्म का, फिर एक से ज्ञान का और अन्तिम विशेषण से सम्बोधित करके भक्ति का निरूपण है। आगे के 'त्वमात्मा' इस श्लोक से मध्य भाव तथा आत्मनात्माश्रय–इस श्लोक से कार्य भाव प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार से तीन ११, १२, १३, श्लोक होते हैं ॥ का. १ ॥

कारिका:—**ततोवतारकार्यस्य निरूपणमतः कृतम् ।**

अनुमोद्य करिष्यन् यः पञ्चभिस्तदुदीरितम् ॥२॥

कारिकार्थ:—इसके बाद एक श्लोक से इसीलिए अवतार के कार्य का, एक श्लोक से अनुमोदन करके पांच श्लोकों से आगे किए जाने वाले कार्यों का वर्णन किया है ॥२॥

लेख:—ततः–फिर एक श्लोक "सत्त्वं भूधरभूतानां" से भगवान् के अवतार धारण करने का प्रयोजन, फिर "दिष्टया" एक श्लोक से अश्वरूपधारी केशी दैत्य के वध का अनुमोदन करके "चाणुरं मुष्टिकं" इत्यादि १६ से २० पांच श्लोकों से आगे भावी चरित्र का वर्णन किया है ॥का. २॥

कारिका:—**सामान्येन कृतं द्वेधा द्वाभ्यां स्वेन तथान्यतः ।**

ज्ञानभक्तिविभेदेन स्वरूपं च निरूपितम् ॥३॥

कारिकार्थ:—फिर दो २१ वें व २२ वें श्लोकों से भगवान् के द्वारा तथा अन्य अर्जुन के द्वारा की जाने वाली साधारण कृति का वर्णन करके अन्तिम २३ वें व २४ वें दो श्लोकों से ज्ञान और भक्ति के भेद से भगवान् के स्वरूप का निरूपण है ॥३॥

लेख:—ततः "सामान्यकृति द्वाभ्यां" फिर "यानि चान्यानि" "अथ ते कालरूपस्य" इन २१ वें व २२ वें दो श्लोकों से आपके तथा अन्य के द्वारा होने वाले कार्य का वर्णन करके "विशुद्ध विज्ञानघनं" इस श्लोक से ज्ञान का और "त्वामीश्वरं" इस २४ वें श्लोक से भक्ति का निरूपण किया है। आदि में "देवर्षिरूप-सगम्य" इस १० वें श्लोक से उपक्रम और "एवं यदुपति कृष्णं" इस अन्तिम नारदजी के विदा होने का वर्णन है। इस प्रकार से ये सब सोलह श्लोक हैं ॥ का. ३ ॥

कारिका:—आनन्दचित्सतां रूपं ज्ञाने भक्ताविहोद्गतिः ।
कार्यर्थमवतीर्णत्वात् भक्तिमार्गे न दूषणम् ॥४॥

कारिकार्थ:—ज्ञान मार्ग में ज्ञानियों को आनन्दात्मक चित्स्वरूप का ज्ञान होता है और भक्ति मार्ग में भगवान् का प्राकट्य होता है। भगवान् (आपका) का कार्यार्थ भूभारहरणार्थ अवतार हुआ है। इस कारण से मेरा (नारद का) कंस को बोध करना रूप कार्य भक्तिमार्ग दूषण नहीं है ॥४॥

लेख:—इस उपयुक्त कारिका से "विशुद्ध विज्ञानघनं" इस ज्ञान का निरूपण करने वाले श्लोक का विवरण किया है। तदनन्तर भक्ति होने पर भगवान् का प्राकट्य होना "त्वामीश्वरं" वर्णित है। आप भगवान् का अवतार कंसवधादि कार्य करने का साधक होने से मेरा (नारद का) कंस को बोध करा देना रूप दोष नहीं है—यह भक्ति का निरूपण करनेवाले अन्तिम 'त्वामीश्वरं' श्लोक में निरूपण है ॥ का. ४ ॥

कारिका:—**कृतं तु भगवानेवेत्येवं सप्तभिरीर्यते ।**
कर्ममार्गेप्यदोषाय सामान्यद्वयमीर्यते ॥५॥

कारिकार्थ:—धर्म धर्मी भेद से भगवान् के चरित्र का वर्णन सात श्लोकों (१६ वें से २२ वें तक) से किया है। कर्म मार्ग के अनुसार भी नारदजी का कंस को बोध कर देना रूप दोष नहीं है। इसलिए सामान्य चरित्र का वर्णन है ॥का.५॥

लेख:—"कृतं तु" इस कारिका से चरित्र को सामान्य विशेष भेद से सात श्लोकों से वर्णन करने का कारण कहते हैं। भगवच्चरित्र भगवद्रूप ही है। सामान्य चरित्र के वर्णन करने का कारण यह है, कि सामान्य रूप से असुरों का नाश करनेवाले भगवान् ही हैं। इसलिए कर्ममार्गानुसार भी मेरा कोई दोष नहीं है। इस बात को दोषाभाव को सूचित करने के लिए कर्म का निरूपण करनेवाले श्लोकों में सामान्य चरित्र का वर्णन करने वाले श्लोकों में सामान्य चरित्र का वर्णन किया है ॥ का० ५ ॥

कारिका:—**ततोन्ते ज्ञानभक्ती च स्वापराधो यतो न हि ।**
उपक्रमगतिभ्यां च षोडशात्मा निरूपितः ॥६॥

कारिकार्थः—अपने अपराध की निवृत्ति अभाव के लिए अन्त में दो श्लोकों से ज्ञान और भक्ति का नारदजी ने वर्णन किया है। प्रथम १० वें श्लोक से उपक्रम नारदजी का आगमन और अन्तिम "एवं यदुपति' २५ वें श्लोक से नारदजी का भगवान् के पास से चले जाने का वर्णन है ॥६॥

लेख:—ज्ञान भक्ति का वर्णन अपने अपराध की निवृत्ति के लिए ही किया गया है। क्योंकि इस वर्णन से नारदजी के अपराध का अभाव अपराधाभाव प्रदर्शित होता है ॥ का० ६ ॥

श्लोक—त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिवैधसाम् ।
गूढो गुहाशयः साक्षी महापुरुष ईश्वरः ॥१२॥

श्लोकार्थः—लकड़ियों में जैसे अग्नि व्याप्त है, वैसे ही, आप सब प्राणियों के भीतर आत्मा के रूप से स्थित हैं। तथापि गूढ हैं, लोग आप को देख नहीं पाते। आप गुफा-हृदयाकाश (बुद्धि) के भीतर रहने वाले और उसके साक्षी हैं। आप महा पुरुष-परम पुरुष और ईश्वर-परतन्त्र सारे जीवों का सञ्चालन करते हैं ॥१२॥

सुबोधिनी—एवं नवधा मूलरूपं निरूप्य स्वदोषपरिहारार्थं भगवतः सर्वात्मकत्वं निरूपयति त्वमात्मेति, जीवा अप्यात्मानो भवन्तीति तद्व्यावृत्यर्थं एक एव त्वं सर्वभूतानामात्मेति, जीवाः प्रत्येकमात्मानः, अयमात्मशब्दः ब्रह्मवादे परमात्मपरः, योगशास्त्रे विभूतिपरः, भगवच्छास्त्रे आत्मनामात्मा आधिदैविको गङ्गेव, साङ्ख्ये तु न जीवब्रह्मविभागः 'पुरुषैश्वरयोरत्रे'त्यत्र निषिद्धत्वात्, चतुर्ष्वपि पक्षेषु भगवती न विलक्षणत्वं, प्रतीतिस्तूपाध्योर्विषय इति, तत्र दृष्टान्तमाह ज्योतिरिवैधसामिति, सर्वेषामेव काष्ठानां मध्ये ज्योतिरग्निरेक एव, वर्णान्तरप्रतीतिस्त्वौपाधिकी, सम्बन्धी निरूपितः, न तु तत्त्वाधिकरणत्वम्, अनेन काष्ठमग्निरेव, काष्ठता परमग्नेर्लयप्रतिबन्धिका, तस्मिन् दग्धे स्वरूप एव वह्निस्तिष्ठतीति, अत एव गूढः विद्यमानमपि न कोऽपि जानाति, अग्नेः स्वरूपमुभयथा प्राप्नोति, भ्रातृव्यवशात् दाह्याभावाद् वा, उपाधिद्वयस्यापि प्रतिबन्धकः यथा न दहति तथा न शाम्यति च, तथा सङ्घाते जगति विद्यमाने आत्मा न स्वरूपं प्राप्नोति, न साधनैर्नापि, बाधकैः, एतदर्थमेवमुक्तवान्, अस्तीत्यत्र मथनवत् प्रमाणमाह गुहाशय इति, गुहायामाशेते इति, अन्यथा सर्वप्रकाशो न स्यात्, किञ्च साक्षी सर्वकर्माणि पश्यति, अन्यथा अयमहमेतत्सर्वं द्रष्टेति, अन्यथा फलभोगोऽपि न स्यात् इत्यपि निरूपितम्, जीवव्यावृत्यर्थमाह महापुरुष इति, सानुभावः पुरुषो महापुरुषः, अनुभावश्च परमकाष्ठामापन्नः चतुर्ष्वपि पक्षेषु भगवद्धर्म एव, किञ्च ईश्वरस्त्वं सर्वनियामकः, नियम्यास्तु जीवा इति, यथा नियमयसि तथा कुर्वन्तीति, स्वरूपत्वात् प्रेरकत्वात् च सामान्यन्यायेन न मम दोषः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार नौ तरह से मूलरूप का निरूपण करके, नारदजी अपने अपराध की निवृत्ति के लिए 'त्वमात्मा' इस श्लोक से भगवान् की सर्वात्मकता (सर्वरूपता) का वर्णन करते हैं।

यद्यपि 'आत्मा' शब्द का अर्थ जीव भी होता है; किन्तु इस श्लोक में सब भूत प्राणियों की आप एक ही आत्मा हैं-"आत्म" शब्द एक श्रीकृष्ण भगवान् का वाचक ही है; क्योंकि जीव तो प्रत्येक देह में अलग २ होने से, असंख्य है।

यह "आत्म" शब्द ब्रह्मवादे परमात्मवाचक है, योगशास्त्र में, 'आत्म' शब्द का अर्थ विभूति है। भागवत शास्त्र में गंगा के अधिदैविक स्वरूप की तरह "आत्मा" की आत्मा अधिदैविक श्रीकृष्ण मूलरूप का बोधक "आत्म" शब्द है। सांख्य सिद्धान्त में, तो जीव, ब्रह्म का विभाग नहीं है क्योंकि "पुरुषेश्वरयोः" इत्यादि श्लोक से विभाग का निषेध किया है। इन चारों पक्षों में भगवान् के रूप की विलक्षणता (भेद) नहीं है, एक रूपता ही है। भिन्न २ प्रतीति तो उपाधि के कारण गौण है। इस विषय को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं कि सारे काष्ठों में (सब लकड़ियों में) जैसे अग्नि एक ही है, वैसे ही, सब प्राणियों में आत्मा एक आप ही हो। काष्ठ के वर्ण के अनुसार अग्नि भी भिन्न २ रंग सी दिखाई देती है। इसलिए अग्नि सारे काष्ठों में एक है। वर्णान्तर (विभिन्न वर्णों) की प्रतीति काष्ठानुसार होने से औपाधिकी (गौण) है।

जैसे अंगारे ही लकड़ी के वर्ण के अनुसार रंग बिरंगे दिखाई देते हैं। अग्नि तो सब में एक रूप से ही व्याप्त रहती है, वैसे ही प्राणियों में रहने वाले गुरुत्व लघुत्व, ह्रस्वत्व दीर्घत्व आदि विकार अंशी भगवान् में नहीं हैं। इस सम्बन्ध से अग्नि का दृष्टान्त मूल में दिया है।

इस प्रकार भगवान् को सब भूतप्राणियों की आत्मा कहकर दृष्टान्त में भी 'अंशी' अग्नि को सब लकड़ियों की आत्मा बतलाई है। अर्थात् लकड़ी अग्नि ही है। जब तक लकड़ी है, तब तक अग्नि है। लकड़ी के जल जाने पर स्वरूप से अग्नि ही रह जाती है। इसलिए भगवान् को मूल में 'गूढ' कहा है। सब काष्ठों में छिपी हुई अग्नि की तरह सब प्राणियों में विद्यमान (स्थित) भी आप को कोई नहीं जानता है। काष्ठ स्थित वह अग्नि जैसे जल से काष्ठ के बुझा देने पर, अथवा दाह्य (जलाने) की कोई वस्तु के न रहने पर अपने आप ही शान्त होकर अग्नि के स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। वैसे ही दृश्य के न रहने पर सब जगत् भगवद्रूप ही हो जाता है। किन्तु जैसे वह काष्ठ स्थित अग्नि काष्ठ रूपी उपाधि से आवृत (घिरी) है, तब तक वह न तो जल से बुझती है और न किसी निकटस्थ काष्ठ को जला ही सकती है। इसी प्रकार जगत् में संघात के रहते हुए जीवात्मा साधन ज्ञानादि के द्वारा तथा बाधक अविद्या के द्वारा अपने स्वरूप (भगवत्स्वरूप) को प्राप्त नहीं हो सकता है। इसी समानता के कारण अग्नि का दृष्टान्त दिया है।

दूध में जैसे छिपा हुआ घृत मथन के द्वारा प्रकट होता है। इसी तरह गूढ़ भी वह परमात्मा विद्यमान है। "हृदि हृदि घिष्ठित मात्मकल्पितानां" हृदयाकाश में स्थित है। उसकी सत्ता से ही उस सर्वात्मा से ही सब प्रकाशित हैं। वह सबका साक्षी है, सबके कर्मों को देखता है, क्योंकि यदि वह अच्छे बुरे सब कर्मों का साक्षी-देखने वाला न हो तो, यह मैं हूं, वह सबका दृष्टा है—ऐसे बोध और कर्मानुसार फल की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। वह सर्वात्मा महापुरुष परमकाष्ठापन्न है, महा-महिम है। जीव ऐसा नहीं हो सकता है। उक्त चारों पक्षों में ऐसे धर्म से युक्त भगवान् ही हैं। आप ईश्वर सबके नियन्ता हो। जीव नियम्य (आपके आधीन-वशीभूत) है। जीवों को तो जैसी प्रेरणा आप देते हो, वैसा ही वे करते हैं। आप प्रेरक हो इस सर्व साधारण नियम के अनुसार मेरे (नारद

के) भी आप प्रेरक हैं। आपकी प्रेरणा से प्रेरित होकर ही मैंने (नारद ने) कंस को बोध कराया है। इसलिए इसमें मेरा कोई दोष नहीं है ।।१२।

लेख:– त्वमात्मा-इस श्लोक की व्याख्या में 'दृष्टान्त' पद का तात्पर्य अनेक भूतों में सर्व भूतान्तरात्मा-सारे काष्ठों में एक अग्नि की तरह आप एक ही हैं। 'काष्ठानां मध्ये एक एव' आग के अंश भूत अंगारों के अनेक होने पर भी, अंशी अग्नि जैसे सब में एक ही है–वैसे ही अंशी नाना-व्यपदेशात्-अंश रूप अनेक प्राणियों में सर्वान्तरात्मा आप एक ही है। "वर्णान्तर प्रतीतिस्तौपाधिकी" का अभिप्राय यह है, कि एक ही अग्नि के खैर आदि लकड़ी के अंगारों में लाल-गोल आदि भिन्न २ वर्ण तो काष्ठ आदि के कारण दिखाई देने लगते हैं। इसलिए वह विभिन्न की प्रतीति तो गौण है। "न तु तत्त्वेति" अर्थात् लकड़ी के अनुसार अंगारे विभिन्न वर्ण के दिखाई देने लगते हैं। अंशी अग्नि जैसे एक ही है, वैसे ही नाना प्राणियों में स्थित (दिखाई देने वाला ह्रस्वत्व दीर्घत्वादि विकार अंशी भगवान् में नहीं है। इसी प्रकार ईंधन अंशभूत अंगारों का और भूत प्राणी अंश रूप जीवों का आधार है, अंशी आग का आधार ईंधन जैसे नहीं हो सकता, वैसे ही भूत प्राणी अंशी भगवान् का आधार नहीं है, क्योंकि सारे आधेय जगत् और जगत् के सारे दृष्टश्रुत पदार्थ भगवद्रूप आधेय हैं, ऐसे ही, सबका आधार रूप भी भगवान् का ही धर्म है, अर्थात् श्रीकृष्ण ही आधेय और वे ही आधार रूप हैं।

'तत्ता नास्ति, सम्बन्धो निरूपित:' –इत्यादि व्याख्या के पदों का आशय बतलाते हैं, कि अंशी अग्नि में विभिन्न वर्णता नहीं है, वैसे ही अंशी भगवान् में विकार नहीं है। इसी सम्बन्ध के लिए यहां अग्नि का दृष्टान्त दिया गया है। अर्थात् दार्ष्टान्तिक में भगवान् को सर्व भूतात्मा कहकर दृष्टान्त में भी अग्नि को सब काष्ठों की आत्मा बतलाया है। 'काष्ठता परमग्नेर्लय प्रतिबन्धिका' इन पदों के कहने का यह अभिप्राय है, कि जब तक लकड़ी में काष्ठता रहती है, तब तक काष्ठस्थित अग्नि न जल से बुझ सकती है और न एक काष्ठ के निकट की अन्य लकड़ियों को दाह्य के रहते हुए भी जला ही सकती है। वह काष्ठस्थित अग्नि अरणि आदि के द्वारा मंथन करने पर प्रकट होकर काष्ठाकार से दृष्टिगोचर हो जाती है। उभयथा स्वरूपं-प्राप्नोति-पदों से यह स्पष्ट करते हैं, कि अग्नि भ्रातृव्य – शत्रु – जल से बुझजाने पर अथवा दाह्य अन्य काष्ठ आदि के न रहने पर अंशभूत अंगारों के रूप को त्यागकर अंशी अग्नि रूप में ही स्थित रहती है। यहां काष्ठता उपाधि है। जब (तक) वह काष्ठता लकड़ी में है, तब तक वह काष्ठस्थित अग्नि पानी से नहीं बुझ सकती है, और निकटस्थ दाह्य पदार्थों को जला भी नहीं सकती है।

'न साधनैर्नापिवाधकै:' का स्वारस्य यह है, कि ज्ञान आदि साधनों के द्वारा तथा पंचपर्वारूप-अविद्या के बाधकों के द्वारा आत्मा संघात के रहते हुए स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता है। "अन्यथा सर्व प्रकाशो न स्यात्" अर्थात् यदि वह परमात्मा हृदयाकाश में स्थित न हो तो, सबको सब पदार्थों का ज्ञान ही न हो सके इसलिए हृदयाकाश में परमात्मा स्थित है वह गुहाशय है। 'अन्यथा फल भोगोपि न स्यात्' इस कथन में यह गूढाभिसन्धि है, कि यह परमात्मा सबके कर्मों का साक्षी देखने वाला नहीं हो तो तत्कृत कर्मों का फल भी न हो और उनका भोग भी जीवों को न हो। इसलिए 'फलमत उपपत्ते:'–ब्रह्मसूत्र के अनुसार वह सब कर्मों का साक्षी द्रष्टा भी है और इसीलिए जीवों को कर्मानुसार फल भी देता है। जीव व्यावृत्यर्थं आह महापुरुष इत्यादि पदों का स्पष्टीकरण

यह है, कि वह महापुरुष परम काष्ठापन्न वस्तु है। एक जीव, अथवा सारे जीव उस के आकार नहीं हैं, किन्तु सबका अंशी है ॥१२॥

श्लोक:—आत्मनात्माश्रयः पूर्वं मायया ससृजे गुणान् ।
तैरिदं सत्यसङ्कल्पः सृजस्यत्स्यवसीश्वरः ॥१३॥

श्लोकार्थ—आप सर्वतन्त्र स्वतन्त्र और सत्य संकल्प हैं। आपने किसी अन्य साधन की अपेक्षा न रख कर अपनी शक्ति माया के द्वारा गुणों की सृष्टि की है और उन गुणों के द्वारा ही आप जगत् की सृष्टि पालन और संहार करते हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—किञ्च उत्पत्तिविचारेणापि त्वयैव भिन्नतया सृष्टा इति न कंसस्य नापि मम दोष इत्याह आत्मेति, त्वं कर्ता, आत्माश्रयस्त्वमेवाधिकरणं, स्वरूपस्थितावपि त्वमेव करणमिति प्रथमतः कारणनिर्देशः, आत्मना मायया सर्वभवनसामर्थ्यमप्यात्मैव, उभयेनेत्येके, मायया लोकानामन्यथाप्रतीत्यर्थं वा, उत्पादितास्तु सच्चिदानन्देभ्यः सत्त्वरजस्तमांसि, लोकानां प्रतीतिस्तु प्रकृतिरिति, अन्यथा भगवतः कर्तृत्वमेव न स्यात् स्वातन्त्र्याभावात्, स्वातन्त्र्ये तु उभयोः स्वतन्त्रता न सम्भवतीति प्रकृतिस्तदधीना मन्तव्या, अत आत्मनैव गुणान् सृजन् मायामपि करणत्वेन स्वीकृतवान्, गुणानामुपादानमात्मैव स्वरूपं च, अन्यथाप्रतीत्यर्थमेव भगवद्रूपा भगवच्छक्तिर्व्यापियत इति पश्चात् तैरेव इदं सर्वं जगत् सृजसि अत्सि भक्षयसि अवसि पालयसि, ननु किमर्थमेवं करोषीत्याशङ्क्याह ईश्वर इति, ईश्वरेच्छाया नियन्तुमशक्यत्वात्, अन्यथा स्वविचारेण प्रयोजनस्याभावात् लीलायामपि प्रयोजनासम्भवः, अत ऐश्वर्यमेव नियामकमिति, अतस्त्वयैव सृष्टमिति त्रिभिर्गुणैरपि अग्निमकार्यं च विचारितमिति न कस्यचित् दोषः, साक्षात् भगवतः सर्वं जायत इति पक्षः प्रकृते न सम्भवति, तथा सति वैलक्षण्ये नियामकाभावात् स्वापराधरितेष्ठेदेव, स्वकृतवैयर्थ्यं च स्यादतोन्य एव पक्ष आश्रितः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—उत्पत्ति-युक्ति-द्वारा नारदजी अपना दोषाभाव बतला कर, उत्पत्ति के अनुसार भी अपने आप को कंस को भी निर्दोषी आत्मनात्माश्रय इस श्लोक से कहते हैं। आपने (हे श्रीकृष्ण) सारे जीवों को भिन्न २ उत्पन्न किया है। इस कारण से न कंस का दोष है और कंस को बोध करने पर भी, न मैं (नारद) ही दोषी हूँ। आप ही जगत् के कर्ता हैं। आप ही इसके तथा अपने आप के आश्रय हैं। आप स्वयं ही स्वरूप से जगद्रूप से विराजमान हैं। इस कारण-करण-जगत् के साधकतम भी आप ही हैं। माया सर्व भवन सामर्थ्य रूप आपकी आत्मशक्ति माया के द्वारा और स्वयं आत्मा के दोनों के द्वारा पहले गुणों को उत्पन्न करते हो। माया से तो. लोकों को विपरीत ज्ञान होने के लिए कहा है। आपने ही अपने सच्चिदानन्द-सत्,चित्, आनन्द-रूप से सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की सृष्टि की है। लोक तो प्रकृति को जगत्कर्त्ता मानते हैं। प्रकृति को जगत् का कर्ता मानने पर भगवान् का कर्तृत्व नहीं माना जावेगा और 'स्वतन्त्रःकर्ता'-कर्ता स्वतन्त्र होता है। इसलिए भगवान् की स्वतन्त्रता में बाधा आ पड़ेगी। भगवान् और प्रकृति दोनों को ही कर्त्ता माने जाने पर तो दोनों की ही स्वतन्त्रता बाधित हो जाती है। इस कारण आप भगवान् जगत् के कर्ता हैं और प्रकृति आपके आधीन है। यह मानना उचित है।

आपने अपने आप स्वयं ही गुणों की सृष्टि करते हुए माया को भी करण रूप से ग्रहण कर लिया है। उन गुणों का उपादान (समवायिकारण) आत्मा आपका स्वरूप ही है। भगवत्स्वरूप भगवान् की शक्ति माया का व्यापार तो केवल विरुद्ध प्रतीति-मायिकत्वभान के लिए है। फिर आप इन गुणों से इस जगत् को उत्पन्न करते हो-इसका पालन और संहार करते हो, क्योंकि ईश्वर-कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथाकर्तुं सर्व शक्तिमान् है। आपकी इच्छा नियन्त्रण किसी से भी नहीं किया जा सकता। यदि ईश्वर की इच्छा भी सीमित (बाधित) कर दी (हो) जाए तो अपने विचार से, और लीला से भी, सृष्टि करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। इसलिए आपका ऐश्वर्य ही नियामक है। इस कारण से आपने ही गुणों की सृष्टि करके गुणों के द्वारा ही जगत् की रचना की है और अगले कर्तव्य का भी निर्णय सोच लिया है। इस प्रकार किसी का भी दोष नहीं है।

साक्षात् भगवान् से ही सबकी उत्पत्ति हुई है, यह पक्ष यहां सङ्गत नहीं है; क्योंकि, तब तो जगत् की विलक्षणता का कोई कारण न रहने से अपना (नारदजी का) अपराध ज्यों का त्यों बना रहेगा और अपने कृत (किए) कार्य की व्यर्थता भी हो जाएगी। इस कारण से गुणों के द्वारा सृष्टि करने का पक्ष ही स्वीकृत किया (माना) है ॥१३॥

श्लोक—स त्वं भूधरभूतानां दैत्यप्रमथरक्षसाम् ।

अवतीर्णो विनाशाय साधूनां रक्षणाय च ॥१४॥

श्लोकार्थ—वही विशुद्ध सत्त्वस्वरूप परम काष्ठापन्न आप रजोगुणी राजाओं के रूप से पृथ्वी पर अत्याचार करने वाले तमोगुणी दानव दैत्य, असुरगणों का संहार और सज्जनों की रक्षा के लिए मनुष्य लोक में प्रकट हुए हो ॥१४॥

सुबोधिनी:- एतस्मिन्नर्थे हेतुं वदन् एतदर्थमेव **त्वमवतीर्ण** इति सेवकैरपि तदनुगुणमेव कर्तव्यगति न ममापराध इति वक्तुमाह स त्वमिति, भूधरा राजानः ते भूभारका एव भूपालकत्वेन जाताः, वस्तुतो दैत्याः तेषु सात्त्विकाः प्रमथाः यक्षा राजसाः रक्षांसि तामसानि एते त्रयोऽपि सर्वनाशकाः, न हि नाशकैः पालनं सम्भवति अतः केवलं पर्वतभूताः भाराय जाताः, तेषां नाशाय अवतीर्णो भगवान्, तेन भूमेर्भारो गच्छति, साधवश्च परिपालनीयाः, अराजके राज्ये साधूनां परिपालनं न सम्भवति, अरक्ष्यमाणा सर्व एवासाधवश्च भवन्ति, अतः प्रकारान्तरेण दैत्यवधेपि न कार्यं सिध्यति, सर्वेषां वधे प्रलय एव स्यात्, अतो राजानं विधायैव दैत्या हन्तव्याः, अतो भगवान् स्वयमवतीर्णः साधूनां रक्षणार्थं च, चकारात् भक्त्यर्थं च, अतस्तदनुगुणं सेवकैरपि कर्तव्यमिति मयापि कर्तव्यमिति भावः ॥१४॥

व्याख्यार्थः—आप भगवान् ने अवतार लेने के कारण को बतलाते हुए कहते हैं, कि जब आपने दैत्यवधार्थ ही अवतार लिया है, तब आपके सेवकों (हम नारदादिकों) को भी आपके अवतारानुकूल ही कार्य करना चाहिए। इसलिए कंस को आपके स्वरूप का ज्ञान करा देने में मेरा अपराध नहीं है। यह इस 'स त्व' श्लोक से कहते हैं। भूधर-राजा लोग ही (भूधर) पर्वत रूप पृथ्वी पर भार बनकर पृथ्वी का पालकपने का स्वांगधारी हो रहे हैं। वास्तव में तो, ये दैत्य ही हैं। इनमें

प्रमथ, सात्त्विक हैं और यक्ष राजस तथा राक्षस तामस हैं। ये तीनों ही सबका नाश कर देने वाले हैं। भक्षकों (नाशकों) से पालन की आशा नितान्त असम्भव ही है। इसलिए जो (भूधर) राजा लोग केवल (भूधर) पर्वत रूपी भारभूत ही पृथिवी पर हो रहे हैं। उन ऐसे दुष्ट राजाओं का नाश करने को ही आपका अवतार है; क्योंकि उनके नाश कर देने पर पृथ्वी का भार हलका हो जाता है।

आपके अवतार का दूसरा प्रयोजन साधु पुरुषों की रक्षा करना है। जिस राज्य में जहां कोई राजा नहीं होता है, वहां साधु पुरुषों की रक्षा नहीं हो सकती और वहां सारी प्रजा असाधु (दुष्ट) बन जाती है। ऐसी दशा में केवल दैत्यों का वध कर देने मात्र से शान्ति स्थापित नहीं हो सकती और सबका ही नाश कर देने पर तो प्रलय ही निश्चित है। इसलिए राजा का निर्माण करके ही दैत्यों का नाश करना चाहिए। इसी कारण से साधु पुरुषों तथा भक्ति की रक्षार्थ भगवान् ने स्वयं अवतार धारण किया है। अतः आपके सेवकों को भी आपके अवतारानुकूल कार्य करना उचित है। इस मैंने (नारद ने) भी जो कुछ किया उचित ही किया है ॥१४॥

श्लोक— दिष्ट्या ते निहतो दैत्यो लीलयायं हयाकृतिः ।
यस्य हेषितसंत्रस्तास्त्यजन्त्यनिमिषा दिवम् ॥१५॥

श्लोकार्थः—बड़े सौभाग्य की बात है कि उस केशी असुर को जिसके प्रचण्ड शब्द को सुनकर ही भयभीत हुए देवता स्वर्ग को छोड़ कर भाग निकलते थे-आपने लीला पूर्वक यमलोक का अतिथि बना दिया ॥१५॥

सुबोधिनी—एतन्निदर्शनं वदन् भगवता साम्प्रतं कृतमनुमोदति **दिष्ट्ये**ति, त्वया **अयं** महान् नितरां हतः, हय इत्याकृतिमात्रं वस्तुतो **दैत्यः लीलयेति** स्वयं पीडां च **नाप्नुवन्, अन्यथा** पीडायामपि सेवकस्यापराध एव स्यात्, **अत एव दिष्ट्या मम महद्भाग्यम्**, ननु तुच्छोनायासेनैव **मार्यते किमाश्चर्यमित्याशङ्क्याह यस्येति. हेषि**तेन **संत्रस्ताः अनिमिषा** अपि दिवं त्यजन्ति, ज्ञानशक्तिः स्थिरा अनिमिषाणां **तेषामपि** भयेन तन्नाशो निरूप्यते. किञ्च, निमिषोपि येषां नास्ति **तेषां मूर्च्छादिकमसंभावितमिति भयं सर्वथा** अयुक्तं, तेषामपि **हेषितमात्रे**ण भयं जनयति, तदपि भयं महत्कार्यं करोतीत्याह **विषमपि त्यज**न्तीति, अत आयासः कृतो भवेत् स न कृत इति महद्भाग्यम् ॥१५॥

व्याख्यार्थ—'दिष्ट्या' इस श्लोक से दृष्टान्त पूर्वक भगवान् की कृति का नारदजी अनुमोदन करते हैं। हे प्रभो! केवल आकार मात्र से घोड़ा सा दिखाई देने वाले इस बड़े भारी दैत्य केशी को लीला मात्र से (अनायास) ही मार डाला। यह मेरा (नारद का) बड़ा सौभाग्य है। यदि भगवान् को इस केशी वध में तनिक भी परिश्रम होता तो वह सेवक का अपराध ही समझा जाता। इसलिए मैं बड़ भागी हूं, कि इस महान् दैत्य को मारने में आपको तनिक भी परिश्रम नहीं आया, खेल में, सहज में, ही मार दिया।

तुच्छ तो सहज ही, मार दिया जाता ही है। तुच्छ केशी को भगवान् ने बिना परिश्रम ही-खेल में ही-मार दिया इसमें आश्चर्य की बात क्या हुई? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं, कि वह केशी

कोई छोटी भी बला नहीं थी; किन्तु उसके शब्द (हिनहिनाने) मात्र से ही देवगण भयभीत हो, अपना स्वर्ग छोड़कर, भागते थे। वे अनिमिष अर्थात् दृढ़ ज्ञान-शक्ति वाले हैं, तो भी उनकी स्थिर ज्ञान शक्ति का भय से नाश हो जाता था। वे देवगण अनिमिष हैं, उनको एक क्षणमात्र मूर्च्छादि होना असम्भव है, उनका भयाकुल होना तो नितान्त अनुचित है, वे ऐसे भी देवगण जिसके शब्द मात्र से ही डर जाते थे, वे केवल डर ही नहीं जाते थे; किन्तु डरकर अपने समृद्धिशाली, सर्वोत्कृष्ट स्थान स्वर्ग लोक को जिसकी धार्मिक लोग यज्ञादि करके कामना करते हैं- छोड़कर भाग जाते थे। ऐसे महान् दैत्य का बध करने में भगवान् को परिश्रम उठाना ही पड़ता। इसलिए मेरा बड़ा भाग्य है, कि ऐसे महान् दैत्य को भी आपने बिना परिश्रम के अनायास ही मार दिया ॥१५॥

श्लोक—चाणूरं मुष्टिकं चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम् ।
कंसं च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोऽहनि ते विभो ॥१६॥

श्लोकार्थः—अब मैं परसों शीघ्र ही आपके द्वारा होने वाले-चाणूर मुष्टिक आदि पहलवानों का, कुवलयापीड हाथी का और कंस के नाश को भी देखूंगा ॥१६॥

सुबोधिनीः—अन्यदप्यग्रे भविष्यतीति तदहं सर्वं द्रक्ष्यामीति मया मत्सुखार्थमेवैतत्कृतमिति स्वौत्सुक्यं प्रकटयन् स्वस्यापि दोषं स्वयमेव निवेदयन् आह चाणूरमिति, योगजधर्मज्ञानं न सर्वात्मना सर्वं विषयीकरोतीति ज्ञापनार्थं व्युत्क्रमेण वर्ण्यते, अन्यथा हस्तिपः प्रथमं हतः नृगः पश्चात् प्रथमं च स्यमन्तकः ततोपि पूर्वं मृतपुत्रोपादानं, मुष्टिकचाणूरयोः प्रधानत्वात् कीर्तनम्, बलभद्रेणापि मारितो योगजधर्मात् भगवदावेशाच्च भगवत्कृत एवेति ज्ञायते, निहतं युद्धं चेति चकारार्थः, अद्य सन्ध्यायामक्रूरः समागमिष्यति श्वो गन्तव्यं मथुरायां परश्वो हन्तव्या इति, तदप्यह्न्येव न तु रात्रिपर्यन्तमपि विलम्बः, उपलक्षणमेतत्, पूर्वाह्ण एव मल्लाः शलादयः, अन्ये च धनूरक्षकाः चकारात् कंसभ्रातरश्च, नारदत्वात् समनोरथः, विभो इति सम्बोधनं सर्वथा तथा भविष्यतीति निश्चयार्थम् ॥१६॥

व्याख्यार्थः—इसके आगे होने वाली और भी आपकी सारी क्रीडा-सभी चरित्रों-को मैं देखूंगा। इसलिए मैंने अपने आनन्द के लिए ही यह कंस वध की सारी योजना बनाई है। इस प्रकार से, नारदजी अपनी उत्कण्ठा को प्रकट करते हैं और अपने दोष का स्वयं निरूपण करते हुए—चाणुरं-इस श्लोक से कहते हैं, कि मैं अपने योगजन्य ज्ञान से कहता हूं, कि परसों मैं इन चाणूर आदि सबको आपके द्वारा मार दिए गए को देखलूंगा। योगजन्य ज्ञान से त्रिकाल (भूत, भविष्यत्, वर्तमान की सारी बातें क्रम से नहीं जानी जा सकती हैं। यही कारण है, कि इस श्लोक में आगे का चरित्र पीछे और पीछे होनेवाली लीला का पहले वर्णन किया है। मुष्टिक और चाणूर दोनों कंस के सेवकों में प्रधान थे। इसीलिए यहां इनका नाम लिया गया है। यद्यपि मुष्टिक वध बलभद्रजी ने किया था, तथापि योगजज्ञान की अयथार्थता और भगवान् के आवेश से ही किया था। इसलिए उसे भी भगवान् का कार्य ही कहा है। कंस के साथ आपके युद्ध को और उसकी मृत्यु को देखूंगा। आज सायंकाल अक्रूरजी आयेंगे। कल आप मथुरा जायेंगे और परसों वहां ये सब मार दिए जायेंगे। परसों दिन में ही सब मारे जायेंगे। रात्रि तक का विलम्ब नहीं होगा। और परसों दिन में ही यह कथन भी गौण

हैं; क्योंकि दिन तो बारह घन्टों का होता है और शल आदि मल्लों को, धनुष के रक्षकों को तथा कंस के भाईयों को परसों सुबह ही मार दिया था। ये नारदजी हैं। इसलिए इनकी ऐसी कामनाएं हैं। भगवान् सर्व शक्तिमान् है। इस-विभो-सम्बोधन से यह सूचित किया है कि सर्वव्यापक भगवान् निश्चय ही यह सब कुछ कर देंगे ॥१६॥

श्लोक—तस्यानु शङ्खयवनमुराणां नरकस्य च ।
पारिजातापहरणमिन्द्रस्य च पराजयम् ॥१७॥

श्लोकार्थ:—कंस वध के बाद शंखासुर, कालयवन, मुरदानव, नरकासुर आदि को भी आप मारेंगे। इन्द्र को जीतकर आप स्वर्ग से कल्पवृक्ष को ले आवेंगे ॥१७॥

सुबोधिनी:—न केवलं कंसं हत्वा निवृत्तो भविष्यसि किन्तु अन्यानपि मारयिष्यसीति तान् गणयति **तस्य** कंसस्य **वधमनु शङ्खः** पञ्चजनः, **यवनः** कालयवनः, **मुरो** नरकमित्रं एतेषां वधं द्रक्ष्यामीति सम्बन्धः, एते त्रयः सात्त्विकराजसतामसभेदाः, **नरकस्य च** तथा वधं द्रक्ष्यामीति सम्बन्धः, अयं भगवत्पुत्रो विशिष्ट इति, **प्रथमं** निरूपितः, **चकारा**दन्येपि तत्सेवकाः पीठादयः, ततो वधं परित्यज्य केवलं जयं वक्तुं निमित्तफलान्याह, **पारिजातस्य हरणं** निमित्तं, **इन्द्रस्य** पराजयः ॥१७॥

व्याख्यार्थ:—कंस का वध कर देने के बाद भी, आप अन्य राक्षसों को मारेंगे। उनको 'तस्यानु' श्लोक से नाम लेकर बतलाते हैं। कंस के वध के पीछे शंखासुर (पंचजन), कालयवन और नरकासुर का मित्र मुरदैत्य और नरकासुर का भी वध देखूंगा। नरकासुर भगवान् का पुत्र होने के कारण अलग गिनाया है और यह शंखादि की अपेक्षा उच्च कोटि का है। इसी प्रकार कंस के अन्य पीठ आदि सेवकों का नाश भी देखूंगा। इन असुरों के बध को देखने के अतिरिक्त स्वर्ग से कल्प वृक्ष को लाने के लिए इन्द्र के-आप से युद्ध में-पराजय को भी देखूंगा ॥१७॥

श्लोक—उद्वाहं वीरकन्यानां वीर्यशुल्काविलक्षणम् ।
नृगस्य मोक्षणं पापाद् द्वारकायां जगत्पते ॥१८॥

श्लोकार्थ:—अपना पराक्रम ही मूल्य देकर आप भौमासुर के यहां से १६००० कन्याओं को मुक्त करके उनके साथ विवाह करोगे। इसी प्रकार रुक्मिणी आदि आठ पटरानियों को भी पराक्रम से जीतकर उनके साथ भी व्याह करोगे। द्वारकापुरी में राजा नृग को शाप से छुड़ाओगे ॥१८॥

सुबोधिनी—वीरकन्यानामुद्वाहः विवाहः फलम्, ननु गृहीतानां तत्रापि वन्द्या गृहीतानां कथं विवाह उचित इति चेत् तत्राह, वीर्यशुल्क एव आदिर्यस्य मनस्तोषादिः गान्धर्वादिर्वा, तदेव लक्षणमसाधारणो धर्मो यस्योद्वाहस्य, विवाहे वीर्यमेव प्रयोजकं, मूल्यक्रीते यथा न काचिच्चिन्ता 'सर्वं पण्यगतं शु' चेति वाक्यात्, तथापि वीर्यशुल्कमपि क्षत्रियकन्यानामेवोचितम्,

न तु यस्य कस्यचित्, तत्राह वीराणामेव याः कन्याः, दानमेव प्रयोजक चेत् तदा नृगस्य दानात् न किञ्चित् सिद्धमिति, पापात् ब्राह्मणगोहरणात् कृकलासरूपाद् वा, द्वारकायामिति तस्योद्धारे भक्तत्वे च हेतुः, ननु ब्राह्मणगोहरणमक्षय्यं भवति तत् कथमुद्धार इति चेत् तत्राह जगत्पत इति, स एव पतिर्नियामकः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—भौमासुर के द्वारा रोकी हुई कन्यायें विभिन्न जाति की (चाहे जिसकी) नहीं थी, किन्तु वे सब वीर क्षत्रियों की कन्यायें थीं। उनको आप पराक्रम का मूल्य देकर खरीद लेंगे और फिर उनकी इच्छानुसार उन सबों के साथ विवाह करोगे। चित्त की प्रसन्नता अथवा गान्धर्व विधी से विवाह करोगे। वे तो वीरों की कन्यायें ही थीं, बाजार में बिकती वस्तु तब पवित्र होती है— इस न्याय से पराक्रम का मूल्य देकर खरीदी हुई उन कन्याओं के विजातीय होने पर भी, उनके साथ विवाह कर लेना अनुचित नहीं था। उत्तम फल की प्राप्ति का कारण केवल दान ही नहीं है अर्थात् केवल दान करने से ही उत्तम गति नहीं होती, क्योंकि दानी शिरोमणि नृग राजा को दान देने का ब्राह्मण की गाय ले लेना रूप पाप, अथवा गिरगिट की योनि में गिर जाने के अतिरिक्त क्या फल मिला। राजा नृग भगवान् का भक्त था। इसी कारण से उसका द्वारका में उद्धार किया। यद्यपि ब्राह्मण की और गाय को चुरा लेने का पाप से, कभी किसी प्रकार भी छुटकारा नहीं हो सकता, किन्तु आप जगत्पति, जगत् का नियमन करने वाले, सर्व समर्थ हैं। इसी कारण ऐसे अमिट पाप से भी नृग को छुटकारा मिल गया ॥१८॥

श्लोक—स्यमन्तकस्य च मणेरादानं सह भार्यया।
मृतपुत्रप्रदानं च ब्राह्मणस्य स्वधामतः ॥१९॥

श्लोकार्थ—जाम्बवती और सत्यभामा के साथ ही स्यमन्तक मणि को प्राप्त करोगे। यमलोक से गुरुजी के मरे हुए पुत्र और अपने मूल स्थान से ब्राह्मण के मृत पुत्रों को लाकर दोगे ॥१९॥

सुबोधिनी—सत्राजितप्रसंगे स्यमन्तकमणेरप्यानयनम्, जाम्बवता हि नीतः पश्चात् ज्ञात्वा कन्यामपि दत्तवानिति भार्यया सह नयनम्, मृतपुत्रोपादानं गुरोः, चकारात् मृतपुत्राणां ब्राह्मणस्य उपधानम्, स्वधामतो मूलस्थानात्, योगजधर्मात् ते सर्वे स्फुरिताः तिरोहिता अपि, योगजधर्मस्यैतावदेव बलं न त्वविद्यमानमपि पश्यति, अत एव वैनाशिकप्रक्रिया असङ्गता ॥१९॥

व्याख्यार्थः—सत्राजित के प्रसंग में, स्यमन्तक मणि का लाना, फिर जाम्बवान् का (सत्राजित के) भाई को मारकर उस मणि का ले जाना, और आपका उसकी गुफा में जाकर उसको युद्ध में जीतना और फिर उस जाम्बवान् के द्वारा उसकी कन्या जाम्बवती के साथ मणि का ले आना आदि आपके चरित्रों को मैं देखूंगा। तदनन्तर यमलोक से गुरुजी के मरे हुए पुत्र को तथा अपने धाम (मूल स्थान) से ब्राह्मण के मृत पुत्रों को आप ले आओगे। यह सब मैं देखूंगा। यह पहले कह आए हैं, कि योगी को योगजन्य ज्ञान से विद्यमान (मौजूदा) पदार्थ ही दिखाई देते हैं। जो पदार्थ मूल में नहीं है ? जिनका अस्तित्व नहीं है। वे पदार्थ योगज धर्म से दिखाई नहीं दे सकते। इस

कारण से आविर्भाव और तिरोभाव ही जगत् का मानना उचित है। आविर्भाव में पदार्थ दृष्टिगोचर होने लगता है और तिरोभाव में किसी रूपान्तर में कभी-कभी स्वस्वरूप में रहकर भी दिखाई नहीं देता। जैसा महाभारत में प्रसिद्ध है। अतः उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया असंगत है। इसीलिए निबन्ध में श्रीमदाचार्य चरणों की आज्ञा है कि – आविर्भाव तिरोभावौ शक्ति वै मुरवैरिणः आविर्भावे प्रतीयेत् तिरोभावे तु नेच्छया-आविर्भाव और तिरोभाव नाम वाली मुरारि भगवान् की शक्तियां हैं, आविर्भाव में पदार्थ की प्रतीति होती है और तिरोभाव में भगवान् की इच्छा से वही पदार्थ दिखाई नहीं देता है ॥१६॥

श्लोक—पौण्ड्रकस्य वधं पश्चाद् काशिपुर्याश्च दीपनम्।
दन्तवक्रस्य निधनं चैद्यस्य च महाक्रतौ ॥२०॥

श्लोकार्थ—आप पौण्ड्रक को मारेंगे, सुदर्शन चक्र के तेज से काशीपुरी को जलायेंगे और युधिष्ठिर के महा यज्ञ में शिशुपाल तथा दन्तवक्र को मारेंगे। ये सब चरित्र मैं देखूंगा ॥२०॥

सुबोधिनीः—पश्चात् पौण्ड्रकस्य वध इति स्वदर्शनापेक्षया पौण्ड्रको मिथ्यावासुदेवः, चकारात् काशिराजस्यापि, काशीनगर्या दीपनं ज्वालनम्, दन्तवक्रस्य शिशुपालस्य च ततो वधः, विपरीतक्रमः, पूर्वजन्मद्वये हिरण्याक्षः कुम्भकर्णश्च प्रथमं हत इति तथैव मारयिष्यतीत्युक्तवान् महाक्रतौ राजसूये, चकारात् सर्वत्र तत्सम्बन्धिपदार्थो ग्राह्यः ॥२०॥

व्याख्यार्थः—फिर मैं पौण्ड्रक-मिथ्या वासुदेव-और काशीराज के बध को भी देखुंगा। आप अपने सुदर्शन चक्र से काशीपुरी को जलायेंगे। तदनन्तर आप धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय नामक महायज्ञ में शिशुपाल को मारेंगे तथा दन्तवक्र का वध वैसे ही करोगे जैसे वाराह और रामावतार में हिरण्याक्ष और कुम्भकर्ण को उनके सब सम्बन्धियों-असुरों-सहित मारे थे। यह सब मैं देखूंगा। २०॥

श्लोकः—यानि चान्यानि वीर्याणि द्वारकामावसन् भवान्।
कर्ता द्रक्ष्याम्यहं तानि गेयानि कविभिर्भुवि ॥२१॥

श्लोकार्थ— द्वारका में रहकर आप और भी जो जो पराक्रम के चरित्र करेंगे, उन्हें भी मैं देखूंगा। उन पवित्र चरितों को कविजन पृथिवी पर गाएंगे ॥२१॥

सुबोधिनी—एवं विशेषतो निरूप्य सामान्यतो निरूपयति, यानि चान्यानि चेति शाल्ववधादीनि वीर्याणि, स्त्रीणां गृहेषु नानाविधा लीलाश्च, अन्यानि जीवसाधारणानि, द्वारकायां वसन्निति प्रासंगिकानि तानीत्युक्तम्, भवानिति सम्मुखतया स्वस्याप्रदर्शनं सूचितम्, ननु दर्शनेन किं स्यादित्याशङ्क्य वीर्याणां माहात्म्य माह गेयानि कविभिरिति, अथवा ममोपदेष्टव्यानीति तदर्थं मया द्रष्टव्यानि, भुवीति अग्रप्रमाणां मुक्तयर्थानीति सूचितम्। २१॥

व्याख्यार्थः—इस प्रकार विशेष चरितों का वर्णन करके, सामान्य लीलाओं का निरूपण 'यानि' इस श्लोक से करते है। आप द्वारका में रहकर शाल्ववध आदि पराक्रम के चरित्रों को, पटराणियों सहित सोलह हजार पत्नियों के महलों में लीलाओं को तथा जीवों के से अन्य कार्यों को आप करेंगे। उनको मैं इसलिए देखूंगा कि कवि लोगों ने उन चरितों की महिमा गाई है और मैं भी उनको साक्षात् प्रत्यक्ष देखकर जनता को उपदेश करूंगा, जिनके सुनने और गान करने से भूमि पर उत्पन्न होने वाली भावी जनता मोक्ष प्राप्त कर सकेगी (मुक्त हो सकेगी) ॥ २१ ॥

श्लोकः—**अथ ते कालरूपस्य क्षपयिष्णोरमुष्य वै ।**
अक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्याम्यर्जुनसारथेः ॥२२॥

श्लोकार्थः—फिर काल रूप आप भूमि का भार उतारने की इच्छा से महाभारत संग्राम में अर्जुन के सारथि बनकर असंख्य कई अक्षौहिणी सेनाओं का संहार करेंगे। यह सब भी मैं देखूंगा ॥२२॥

सुबोधिनीः—एवं साक्षात् स्वकृतमुक्त्वा कारितमाह **अथेति**, परम्परया करणे हेतुः सामर्थ्य चाह **कालरूपस्येति**, अनेन कालरूपो भूत्वा भारतकार्यं कृतवानिति ज्ञातव्यम्, न तु 'कालोऽस्मी'ति वाक्यात् कालरूप एव भगवान् इति, कालस्य नियन्ता भगवानिति तथाकरणे हेतुमाह, **अमुष्य** भूभारस्य, **क्षपयिष्णोः**, **वै** निश्चयेन, कालो हि निमित्तत्वमेवाप्यते, **अक्षौहिणीनामष्टादशपरिमितानां**, अक्षौहिणीपरिमाणं च एकेभैकरथा त्र्यश्वा पत्तिः पञ्चपदातिका पत्त्यङ्गैस्त्रिगुणैः सर्वैः क्रमादाख्या यथोत्तरम् । सेनामुखं गुल्मगणौ वाहिनी पृतना चमूः । अनीकिनी दशानीकिन्यक्षौहिण्येकविंशतिसाहस्रो सप्तत्यष्टशताधिका । सङ्ख्या रथाश्विनोः प्रोक्ता नराणां लक्षमुच्यते । तथा नवसहस्राणि त्रीणि चैव शतानि च । पञ्चाशच्च तथाश्वानां पञ्चषष्टिसहस्रकम् । दशाधिकसहस्राणि षडेवेत्येष सङ्ग्रहः । एवं स्वरूपाणामक्षौहिणीनां **निधनं द्रक्ष्यामि** भगवता कारितमित्यत्र लौकिकं निदर्शनमाह **अर्जुनसारथेरिति** ॥२२॥

व्याख्यार्थः—इस प्रकार के साक्षात् भगवान् के चरित्रों का वर्णन करके भगवान् के द्वारा अर्जुन से कराए गए चरितों को 'अथ ते' इस श्लोक से कहते हैं। साक्षात् स्वयं ने न करके, भूमि का भार हरने की इच्छा वाले काल रूप आपने अर्जुन के हाथों कई अक्षौहिणी सेना का नाश करवाया। इस कथन से यह जाना जाता है, कि कालरूप होकर भगवान् ने महाभारत संग्राम किया था। 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्'–इस वाक्यानुसार आप केवल कालरूप ही नहीं हैं, किन्तु काल के काल-नियन्ता भी हैं। काल तो केवल भूभार को हरने की इच्छा वाले आपका निमित्तमात्र है। सेना के– १ पत्ति, २ सेनामुख, ३ गुल्म, ४ गण, ५ वाहिनी, ६ प्रतना, ७ चमू, ८ अनीकिनी और ९ अक्षौहिणी-नौ भेद हैं। इनमे प्रथम पत्ति नाम की सेना में एक रथ, एक हाथी, ३ घोड़े पांच पैदल होते हैं। इसके आगे सेनामुख भेद से लगा कर अनीकिनी सेना के आठवें भेद तक पत्ति सेना के भेद की आगे त्रिगुनी तिगुनी संख्या होती रहती है और अक्षौहिणी सेना में तो अनीकिनी भेद वाली सेना की संख्या से दशगुनी संख्या हाथी, रथ, घोड़े, और पैदलों की होती है। ऐसी एक अक्षौहिणी की संख्या है। निर्णय के लिए चक्र लिखते हैं।

सेना	पत्ति	सेना मुख	गुल्म	गण	वाहिनी	पृतना	चमू	अनीकीनी	अक्षौहिणी
गज रथ	१	३	९	२७	८१	२४३	७२९	२१८७	२१८७०
अश्व	३	९	२७	८१	२४३	७२९	२१८७	६५६१	६५६१०
पदाति	५	१५	४५	१३५	४०५	१२१५	३६४५	१०९३५	१०९३५०

इस प्रकार की संख्या वाले अक्षौहिणियों का भगवान् के द्वारा अर्जुन के हाथों कराए गए वध को भी मैं देखूंगा ।।२२।।

श्लोक:—विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया समाप्तसर्वार्थममोघवाञ्छितम् ।
स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमायागुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि ।।२३।।

श्लोकार्थ:—हे श्रीकृष्ण ! केवल विशुद्ध ज्ञान ही आप का स्वरूप है। आपको अपने परमानन्दमय रूप से ही सारे अर्थ प्राप्त हैं। इसलिए आप पूर्ण काम हैं। आपकी इच्छा शक्ति अमोघ है। माया का कार्य गुणों के प्रवाह को आप अपने तेज से, आपसे अलग रक्खे हुए हो। हे परमेश्वर ! मैं आपको शरण हूँ ।।२३।।

सुबोधिनी:—एवं चरित्रनिरूपणेन लौकिकदृष्टिप्रधानानां स्वदृष्टान्तेन भगवतोपि लौकिकत्वं मत्वा ब्रह्मत्वाय लीलयैवैतत् कृतमिति मत्वा स्वरूपमाह द्वाभ्यां ज्ञानभक्तिसिद्धान्तनिरूपकाभ्यां, विशुद्धेति, त्वं स्वरूपत: ज्ञानरूप: तच्च ज्ञानं न जन्यं नापि सविषयं, तदाह विशुद्धेति, ज्ञानशक्तिस्त्वजन्यापि सविषया भवति, तदेव विशिष्टा शुद्धिर्भवति, तच्च विज्ञानं ब्रह्मरूपमिति वक्तुं घनमित्याह, घनमेव हि बृहत् बृंहितं च भवति, एतादृशस्य ब्रह्मण: सर्वा सामग्रीं जगत्कारणे आधारादिभूतां फलं च स्वरूपमेव, अन्यथा असङ्गत्वभङ्गप्रसङ्ग: स्यात्, विकारित्वं च स्यात्, स्वरूपाशे तु तथैव प्रादुर्भवतीति न कोपि दोष: सिध्येत्, तदाह स्वसंस्थयेति, स्वस्मिन्नेव सम्यग् या स्थिति: तयैव कृत्वा समाप्तसर्वार्थ:, समाप्ता: सर्वे अर्था यस्य, बोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपमेव तस्य स्वरूपं, तत् स्वरूपस्थित्यैव भवति, बहिर्मुखत्वे न भवतीति नित्यं स्वरूपे भगवानेव स्थितो न त्वन्य इति तस्यैव सिद्धा: सर्वे: कामा:, न केवलमिष्टसिद्धिरेव स्वरूपस्थित्या किन्त्वनिष्टमेव निवर्तत इति तदाह स्वतेजसेति, स्वस्य यत् तेज: कोटिसूर्याधिकप्रकाशं चैतन्यं स्वप्रकाशं तेनैव नित्यनिवृत्ता ये मायागुणा: सत्त्वादय:, तेषां प्रवाह: कार्यपरम्परा यस्य, एते हि दोषास्तम इव सर्वदा सर्वत्र भवन्ति, सूर्यमण्डले तु यथा न तम: तथा भगवति न भवन्ति, तत्र हेतुरवश्यं वक्तव्य:, हेतुवशादेव नित्यनिवृत्तत्वम्, अन्यथा सर्वत्र प्रवर्तमाना दोषास्तत्र गता न निवृत्ता भवेयु:, सच्चिदानन्दगुणास्तूपयोगिन इति, तन्निवारणार्थं मायेति, एतादृशमपि औडुलोमिमतवत् न निर्गुणं निराकारं किन्तु भगवन्तं षड्गुणैश्वर्यसंपन्नं त्वां ईमहि शरणं व्रजाम:, प्रार्थनायां लिङ् ।।२३।।

व्याख्यार्थः – इस प्रकार नारदजी भगवान् के शकटासुर, पूतना, अरिष्टासुर आदि का वध रूप भूत और कंसादि दैत्यों का बधरूप भावी चरित्र का निरूपण करके अवतारी भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पर ब्रह्म हैं और आपने ये सब चरित्र लीला मात्र से ही किए हैं। इसलिए ज्ञान और भक्ति के सिद्धान्त का निरूपण करने वाले दो श्लोकों से भगवान् के स्वरूप का वर्णन करते हैं क्योंकि लौकिक दृष्टि से ही देखने वाले लोग अपने आप की तरह भगवान् को लौकिक पुरुष ही समझते हैं। इसलिए पहले 'विशुद्ध विज्ञानघनं' इस श्लोक से श्रीकृष्ण की ज्ञान स्वरूपता का वर्णन करते हैं। आप स्वरूप से ज्ञान रूप हैं। और वह ज्ञान अन्य से उत्पन्न हुआ–जन्य-नहीं है और न सविषय-आपके स्वरूप से भिन्न जानने योग्य-वेद्य-पदार्थ वाला ही है। वह ज्ञान तो विशुद्ध आपका स्वरूप ही है; क्योंकि ज्ञानशक्ति विशुद्ध (विशेष शुद्ध) तब ही होती है, जब वह अन्य जन्य न होकर भी सविषय होती है। वह विज्ञान ब्रह्म रूप है। इसीलिए मूल श्लोक में 'घन' पद का प्रयोग है, क्योंकि घन ही बृहत्वान्, (व्यापकावाद) ब्रह्म-ब्रह्मरूप होता है।

इस प्रकार के विशुद्ध विज्ञानघन ब्रह्म का स्वरूप ही जगत् का कारण होने में जगत् को उत्पन्न करने में सारी आधार, आधेय भूत सामग्री रूप और फलरूप है; क्योंकि यदि स्वरूप को ही सामग्री और फल रूप न मानेंगे तो असंगोऽयं पुरुषः–ब्रह्म असंग नहीं रहेगा, तथा विकारी हो जाएगा। इसलिए सबको ब्रह्मरूप मानने के पक्ष में तो आप भगवान् सारी सामग्री रूप और फलरूप से प्रकट होते हैं। इसमें तो कोई असंगादि दोष सिद्ध ही नहीं होता। इसी अभिप्राय को मूलस्थंस्वसंस्थया (अपने आप में ही अच्छी तरह अवस्थिति से) पद सूचित करता है। स्वरूप से ही सम्यक् स्थिति के कारण ही आपके सारे ही अर्थ परिसमाप्त हैं; क्योंकि बार २ और अतिशय रूप से उत्पन्न होनेवाले सभी पुरुषार्थ रूप ही आपका स्वरूप है। यह स्वरूप में स्थिति से ही हो सकता है, बाह्य स्थिति होनें पर नहीं हो सकता। इसलिए भगवान् ही सदा स्वरूप में स्थित हैं,–दूसरा कोई नहीं हैं और इसी कारण से उसके सारे काम पुरुषार्थ सिद्ध हैं।

स्वरूप स्थिति से केवल इष्ट की सिद्धि ही नहीं होती, किन्तु अनिष्ट की निवृत्ति भी होती हैं। इसीलिए मूल में 'स्वतेजसा' इत्यादि विशेषण जोड़ा है। आप ने करोड़ों सूर्यों से भी अधिक प्रकाश वाले, स्वतः प्रकाश अपने तेज के द्वारा ही माया के सत्त्व, रज, तम-गुणों के प्रवाह को (कार्य परम्परा को) आप से निवृत्त (दूर) कर दिया है। माया के ये गुण और इन गुणों का कार्य आप में नहीं हैं। अन्धकार की तरह ये माया जन्य दोष सदा सब जगह होते हैं; किन्तु सूर्य मण्डल में जैसे अन्धेरा नहीं रह सकता है, वैसे ही भगवान् में ये दोष नहीं होते हैं। भगवान् ने अपने तेज से इन दोषों को सदा अपने स्वरूप से हटाकर (दूर कर) रक्खा है। यदि अपने तेज से भगवान् इन मायागुणकृत दोषों को अपने आप से नहीं हटाते तो, सब जगह ही फैले हुए ये दोष भगवान् में भी होते; निवृत्त नहीं होते। भगवान् के तेज से ही ये दोष वहां तक नहीं जा सकते हैं। 'सत्' 'चित्' और 'आनन्द' गुण तो भगवान् में नित्य स्थित हैं। ये गुण तो जड़, जीव और अन्तर्यामी स्वरूप जगत् को उत्पन्न करने में उपयोगी हैं; किन्तु माया के गुण उनमें नहीं हैं। इसी अभिप्राय से अर्थात् यहां गुण पद से सच्चिदानन्द गुणों का भगवान् में अभाव है–ऐसा अर्थ नहीं हैं; किन्तु माया के गुण उनमें नहीं हैं–मूल श्लोक में 'माया' शब्द दिया है। इस प्रकार ज्ञान स्वरूप भी आप (औडुलोमि ऋषि ब्रह्म को निर्गुण, निराकार मानते हैं) औडुलोमि ऋषि के मतानुसार निर्गुण, निराकार

नहीं है; किन्तु आप तो भगवान्-षडैश्वर्य-सम्पन्न हैं। इस प्रकार के ऐश्वर्य, वीर्यादि पूर्ण छः गुणों से युक्त आपकी मैं शरण हूँ ॥२३॥

लेखः—विशुद्ध विज्ञानघन-इस श्लोक की व्याख्या में 'लौकिकं मत्वा' का अर्थ है कि भगवान् को भी अपनी तरह लौकिक ज्ञान वाला ही मान लेंगे ॥२३॥

श्लोकः—त्वामीश्वरं स्वाश्रयमात्ममायया विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनम् ।
क्रीडार्थमद्यात्तमनुष्यविग्रहं नतोस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्वताम् ॥२४॥

श्लोकार्थः—आप ईश्वर और स्वतन्त्र हैं। आप अपने आधीन अपनी माया के द्वारा सारे महत्तत्व आदि विशेषों की कल्पना (रचना) करते हो। इस समय क्रीड़ा करने को आपने यह नररूप धारण किया है। आप यदु, वृष्णि और सात्वत वंश के यादवों में श्रेष्ठ हैं ॥२४॥

सुबोधिनीः—भक्त्यनुसारेण भगवन्तं निरूपयति त्वामीश्वरमिति, सर्वनियन्ता भगवान् ईश्वरः, अन्ये स्वीशितव्याः, एतादृशोपि न स्वार्थमीशितव्यानपेक्षते लौकिकेश्वरवत्, तदाह **स्वाश्रयमिति**, स्वमात्मानमेवाश्रित्य तिष्ठति, यथा गरुडादेः धारणा प्रयत्नः स्वस्मिन्नेव वर्तत इति नाधारान्तरमपेक्षते, स प्रयत्नः साम्यतीति गरुडादयः कदाचिदन्याधारा अपि भवन्ति, भगवतस्तु स प्रयत्नो नित्य इति न कदाचिदप्यन्याश्रितः, परिदृश्यमानोपिः, सम्बद्ध इव दृश्यते न तु सम्बध्यते, अत एव 'यः पृथिव्यां तिष्ठ'न्नित्यादिश्रुतयः, एवमपि सति असंयुक्त एव, संयोगोपि न तेन सह जायते, यत **आत्ममाययैव निर्मिता अशेषविकल्पा** येन, सर्वे विकल्पाः अन्यथाबुद्धिहेतवः, ते वस्तुतः माययैव प्रदर्श्यन्ते, स्वरूपं तु भगवानेवेति, भगवानसंगोपि, ननु दृश्यन्ते अवतारेषु देहेन्द्रियादिधर्मा इति चेत्तत्राह **क्रीडार्थमिति**, क्रीडायां ये अर्थाः परिगृह्यन्ते कुञ्जरवादयो धर्मा वाहनत्वादयश्च ते आकारसङ्गोपनेन प्रदर्शनार्था एव न तु सहजाः, तथा **मनुष्यधर्माः** देहाकृतिस्वभावादयः परमानन्दे स्वीक्रियन्ते, न तु भगवद्धर्माः सहजास्ते, तथापि कर्म तद्भवतीति फलसाधकत्वं, सहजत्वे दोषरूपत्वात् तदपि न स्यात्, अत एव **नतोस्मि** निर्दोषपूर्णगुणविग्रहम् विशेषमाह **धुर्यमिति**, यादवा वृष्णयः सात्वताश्च सात्त्विकाः, यदुवृष्णिरूपा वा वैष्णवाः तेषां धुरं सर्वमेव भारं वहतीति, सर्वभक्तोद्धारक इत्यर्थः ॥२४॥

व्याख्यार्थः—'त्वामीश्वरं-इस श्लोक से भक्ति के अनुसार भगवान् का निरूपण करते हैं। आप भगवान् सबका नियमन (शासन) करने वाले ईश्वर हैं। ब्रह्मादि देवता सब आपके शास्य (आज्ञा पालक) हैं। सबके नियन्ता होकर भी, आप (लौकिक स्वामी जैसे अपने सेवकों की अपेक्षा रखता है) इस तरह, अपने शास्य-सेवक देवों की अपेक्षा नहीं रखते हैं; क्योंकि स्वाश्रय हैं, अपनी आत्मा का ही आश्रय लेकर स्थित हैं। जैसे गरुड़ आदि अपने आप में ही प्रयत्नशील होते हैं—अपने ही आश्रित होते हैं, वैसे आप स्वाश्रित ही हैं। वे गरुडादि तो उनका प्रयत्न शिथिल हो जाने पर कभी अन्य के आश्रित भी हो जाते हैं; किन्तु भगवान् का प्रयत्न तो नित्य है, कभी शिथिल नहीं होता। इस कारण से भगवान् कभी अन्य का आश्रय नहीं लेते हैं। वे तो सबसे जुडे हुए (सम्बद्ध)

से दिखाई देते हैं। परन्तु सबमें होते हुए भी सबसे अलग (असम्बद्ध) ही हैं। इसीलिए-यः पृथिव्यां तिष्ठन्-वेद में उनको पृथिवी में रहते हुए पृथिवी उनको नहीं जानती-पृथिवी से अलग कहा है। आप सब में मिले होने पर भी-असंयुक्त-नहीं मिले हुए हो।

वास्तव में तो आपके साथ साक्षात् संयोग भी नहीं है। क्योंकि, विपरीत बुद्धि को उत्पन्न करने वाले सारे विकल्पों को आप-भगवान्-ने अपनी आत्म माया के द्वारा ही रचे हैं, वे सारे सम्बन्ध विकल्प आत्म माया से ही दिखाई देते है। स्वरूप तो आपका षड्गुणैश्वर्य संपन्न ही है और असङ्ग भी है। यद्यपि अवतार दशा में, भगवान् में देह इन्द्रियादि के धर्म दिखाई देते हैं, तथापि वे सब धर्म क्रीड़ा के लिए ही ग्रहण किए हुए हैं। जैसे क्रीडा में कोई मनुष्य लूला, लगड़ा, कूबडा बन जाता है; किन्तु वास्तव में वह वैसा नहीं होता, वे लूला आदि धर्म उस मनुष्य के सहज वास्तविक धर्म नहीं होते, केवल दिखावटी ही होते हैं, वैसे ही, परमानन्द भगवान् में, देह, आकार, स्वभाव आदि मनुष्यों के से धर्म क्रीडार्थ मान लिए जाते हैं। वे धर्म वास्तव में भगवान् के सहज धर्म नहीं हैं। भगवान् में दिखाई देनेवाले वे मनुष्य साधारण धर्म उनके स्वभाविक (सहज) धर्म नहीं हैं, तो भी उन धर्मों का कार्य तो मनुष्य धर्मों का जैसा ही होता है। इसीलिए वह व्यक्ति फल देने वाला होता है। यदि उन बनावटी धर्मों को भगवान् के सहज धर्म ही मान लेंगे, तो वे भगवान् में दोष रूप हैं। और दोष रूप होने से फल साधक भी नहीं होंगे। इसीलिए यादवों, वृष्णियों और सात्त्वतों के अथवा यादव, वृष्णि भक्तों के धुर्य सबही भार को (योग क्षेम को) वहन करने वाले, निर्दोष पूर्णगुण विग्रह और सारे भक्तों का उद्धार करने वाले आप भगवान् को मैं नमस्कार करता हूं।।२४।।

लेख: - स्वामीश्वरं इस श्लोक की व्याख्या में कुब्जत्वादय इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है कि क्रीड़ा में जैसे कोई पुरुष कुबड़ा बनकर कूबड़े की तरह चलने लगता है, किन्तु वास्तव में वह कूबड़ा नहीं होता है। क्रीड़ा में कोई गाय बैल सा बनकर उनका सा व्यापार करने लगता है। वास्तव में तो न वह कूबड़ा ही होता है और न गाय बैल ही होता है। केवल जैसे दिखावा मात्र होता है। वैसे ही अवतार दशा में भगवान् में भी मनुष्य के से धर्म केवल प्रदर्शनार्थ ही हैं। वे सहज भगवद्धर्म नहीं हैं ।। २४ ।।

श्रीशुक उवाच

श्लोक:—एवं यदुपतिं कृष्णं भागवतप्रवरो मुनिः ।
प्रणिपत्याभ्यनुज्ञातो ययौ तद्दर्शनोत्सवः ।।२५।।

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी कहते हैं–हे राजन् ! श्रीकृष्ण के दर्शन से परम आनन्दित हुए भागवत श्रेष्ट नारद मुनि ने इस तरह स्तुति करके प्रणाम किया और भगवान् से आज्ञा लेकर चले गए ।।२५।।

सुबोधिनी:—एतावदुक्तेपि न भगवान् किञ्चिदुवाच भ्रान्तोयमिति केवलं गमनार्थमनुज्ञा दत्तवानित्याह एवमिति, एतदुक्तमवश्यं करिष्यतीति ज्ञापनार्थं यदुपतिमिति, तेषां पतिर्हि तत्कार्यं करिष्यतीति, कृष्णं सदानन्दम्, किञ्चिदप्यकरणे स्वतः पुरुषार्थरूपम्, अवश्यं स्वज्ञातं स्वकृतं च

स्वामिने निवेदनीयमिति निवेदितवानित्याह भागवतप्रवर इति, एष्यपरिज्ञाने हेतुः मुनिरिति. गमनार्थं साष्टाङ्गं प्रणामं कृतवान्, पश्चात् भगवता अभ्यनुज्ञातः ययौ, ननु गतागतो न किञ्चित् प्राप्तवान् कथं व्यर्थमेव गत इति चेत् तत्राह तस्य भगवतो दर्शनमेवोत्सवो यस्य, लोके महाफलमुत्सवं, तद्रूपं दर्शनमेव प्राप्तवानिति ॥२५॥

व्याख्यार्थः—नारद को भ्रम हो गया है, ऐसा समझकर उनके इतना कहने पर भी भगवान् कुछ नहीं बोले। केवल उन्होंने उन्हें जाने की आज्ञा दी, जो एवं इत्यादि इस श्लोक से कहते हैं। नारदजी ने ऊपर के श्लोकों में जो कुछ कहा है, भगवान् वह सब कार्य अवश्य करेंगे; क्योंकि भगवान् यादवों के स्वामी हैं। अपने दास यादवों का कार्य करेंगे ही। भगवान् कुछ भी प्रयत्न न करने पर भी, स्वतः पुरुषार्थ रूप हैं।

नारदजी भक्तों में सर्व श्रेष्ठ हैं। अपने जाने हुए और अपने किए हुए कार्य को अपने स्वामी के आगे निवेदन करना सेवक का कर्तव्य है। इसलिए नारदजी ने यह सब भगवान् के आगे निवेदन किया, नारदजी को भविष्य काल का ज्ञान भी है, क्योंकि वे मुनि हैं। इस प्रकार से प्रार्थना करके नारदजी ने श्रीकृष्ण से जाने की आज्ञा मांगी और फिर उनकी आज्ञा पाकर वे चले गए। लोक में उत्सव को महा फल मानते हैं। वह भगवान् के दर्शन का उत्सव (परम फल) नारदजी को मिल गया और वे वहां से चले गए ॥२५॥

श्लोकः—भगवानपि गोविन्दो हत्वा केशिनमाहवे ।

पशूनपालयत् पालैः प्रीतैर्व्रजसुखावहः ॥२६॥

श्लोकार्थः—व्रज को सुख देने वाले गोविन्द भी युद्ध में केशि को मार कर प्रसन्न मन वाले गोपों के साथ गायें चराने गए ॥२६॥

सुबोधिनीः—एवं मध्ये समागतं नारदमुपसंहृत्य केशिवधानन्तरं भगवान् गोकुले गत इति नोक्तमिति तदुपसंहरति भगवानपीति, यतो **गोविन्दः**, यथा नारदो गतः एवं **भगवानपि** ततो गोकुलं गतः, आहवे सङ्ग्रामे, अन्यथायं वधः राजसप्रकरणे न वक्तव्यो भवेत्, पूर्ववदेव **पशूनपालयत्**, न तु नारदवाक्येन ऐश्वर्यभावो वा खेदो वा जात इति, **प्रीतैः पालैरिति** स्वाभिप्रेतनिवेदनं पूर्ववच्च स्थितिरुक्ता, किञ्च, अहर्निशं पूर्ववदेव **व्रजसुखावहो** जातः ॥२६॥

व्याख्यार्थः—इस प्रकार बीच में नारदजी का आगमन तथा भगवान् की स्तुति करके चले जाने का सोलह १० से २५ श्लोकों तक से कहकर केशि बध के बाद नहीं बताए गए भगवान् के गोकुल में पधार जाने का 'भगवानपि' इस श्लोक से उपसंहार करते हैं। आप गोविन्द हैं। इसलिए गोकुल में आपका पधारना उचित ही है। जैसे नारदजी चले गए वैसे ही भगवान् भी गोकुल में पधार कर चले गए। युद्ध में केशि को मार कर भगवान् प्रसन्न चित्त वाले गोपों के साथ पहले जैसे ही, पशुओं का पालन करने लगे, क्योंकि, नारदजी के कथन तथा स्तुति से भगवान् को जो कुछ गर्व तथा खेद नहीं हुआ। केशि को भगवान् ने युद्ध में मारा था। इसलिए इस राजस प्रकरण में इसका वर्णन

किया है । अपनी मन चाही बात ही नारदजी के मुख से सुनकर, गोप लोग बहुत प्रसन्न हुए । भगवान् स्वयं भी रात दिन सदा व्रज को सुखदानी हे । यह तो गोप जनों की प्रसन्नता का कारण था ही ।२६।

श्लोकः—एकदा ते पशून् पालाश्चारयन्तोद्रिसानुषु ।
चक्रुर्निलायनक्रीडाश्चौरपालापदेशतः ॥२७॥

श्लोकार्थः—एक दिन सब गोप पर्वत के शिखर पर पशुओं को चराते चराते आपस में चोर और पशुपाल बनकर छिपने का खेल खेलने लगे ॥२७॥

सुबोधिनी—यद्यप्यग्रिमकथा तस्मिन्नेव दिवसे न कृता तथापि सिंहावलोकनन्यायेन कथां निरूपयति, इतो गतोपि भगवान् गोकुलं पालयिष्यतीति ज्ञापनार्थम्, **एकदेति** नवभिः, पूर्वमस्याः कथायाः प्रकरणं न स्थितमिति स्वकाले नोक्ता तदाह, कदाचित् **ते** सर्वं एक गोपालाः **अद्रिसानुषु पशून् चारयन्तः** गोवर्द्धनोच्चप्रदेशेषु स्थिताः दूरादपि द्रष्टुं शक्नुवन्तीति, **निलायनक्रीडां चक्रुः**, तत्र **निलायनं** यासु क्रीडासु ये क्रीडन्ति तन्मध्य एव केचन लीना भवन्ति, केचनान्वेषणार्थं प्रवृत्ता भवन्ति, तत्रापि विशेषमाह **चौरपालापदेशत** इति, एवमपि केचन निलीनाः चोरा एव भवन्ति, अन्वेषकाः पाला एव ॥२७॥

व्याख्यार्थः यद्यपि आगे की कथा उसी दिन नहीं की गई थी, तो भी सिंहावलोकन के न्याय से उसका निरूपण करके यह सूचित करते हैं, कि यहां से जाकर भी भगवान् गोकुल का पालन करेंगे । यह 'एकदा' इत्यादि नौ श्लोकों से कहते हैं । इस कथा का प्रकरण पहले नहीं होने से, इस कथा का वर्णन समय पर, वर्णन न करके, यहां कही गई है । कभी किसी दिन वे सारे गोप गोवर्धन पर्वत के ऊचे शिखर पर जहां से दूर से भी देखा जा सके,-पशुओं को चराते हुए निलायन (छिपने) का खेल खेलने लगे । इस खेल में कुछ बालक छिप जाते हैं और कितनेक, उन छिपने वालों को ढूंढते हैं । उनमें भी जो छिपते हैं, वे चोर होते हैं और उनको ढूंढने वाले बालक पाल कहे जाते हैं । २७ ॥

**श्लोक—तत्रासन् कतिचित् चौराः पालाश्च कतिचिन् नृप ।
मेषायिताश्च तत्रैके विजह्रुरकुतोभया ।२८॥**

श्लोकार्थः—हे राजन् ! उनमें कुछ चोर, कुछ भेड़ और कुछ चरवाहे बने । उनमें चोर बनने वाले, भेड़ बनने वाले को चुराकर ले जाने लगे । इस तरह वे निधड़क खेलने लगे ॥२८॥

सुबोधिनीः—चौर्यविषयसिद्ध्यर्थं विशेषमाह **तत्रासन्निति**, सर्वे गोपालास्त्रिविधा जाताः, प्रयत्नाधिक्यात् प्रथमतश्चौराः चकारात् सर्वे परावृत्त्य सर्वं भवन्तीति, नृपेति सम्बोधनं लीलामात्रत्वज्ञापनार्थं **मेषा** नीयमानास्तूष्णीं तिष्ठन्तीति न छागादिरूपा निरूपिताः, एक इत्यशक्ताः, भगवता कृत्वा न **कुतश्चिद् भयं** येषां, प्रायेण भगवान् बलभद्रश्च तस्मिन् दिवसे न गोचारणार्थं गतौ, अन्यथा समागमनमात्रेणैव स हतो भवेत्, गोकुले स्थित एव तत्र गत्वा मारितवानिति विमर्शः ।२८।

व्याख्यार्थ—चोरी के विषय की सिद्धि के लिए 'तत्रासन्' इस श्लोक से कुछ विशेष बातें बतलाते है। ये सारे ही गोप-कुछ चोर, कुछ चोरी का विषय वस्तु आदि भेड़ रूप और कुछ उनको ढूंढने वाले पालरूप इस प्रकार से अपने २ प्रयत्नों की अधिकता से तीन प्रकार के हो गए, और फिर खेल पूरा हो जाने पर, सबके सब बदल कर वापस अपने वास्तविक (असली) रूप में ही आ जाते है। यह एक लीला क्रीडा-मात्र है, जैसे राजा लोग शिकार खेलना आदि स्वेच्छा से ही किया करते है। इस अभिप्राय से, मूल में 'नृप' यह सम्बोधन पद दिया है। भेड़ों को कोई कहीं ले जाता है, तो वे चुप चाप उसे ले जाने वाले के साथ बिना कुछ बोले - शब्द किए - चुपचाप ही चले जाते हैं। बकरे, बकरी की तरह वे चिल्लाते नहीं है। इस कारण से, ये कुछ असमर्थ गोपों को मेषायिन भेड़ों का सा, आचरण करने वाले कहा है। भगवान् के भरोसे वे सब व्रजवासी निर्भय थे और निर्भय होकर ही खेल खेलते थे। ऐसा ज्ञात होता है, कि उस दिन भगवान् कृष्ण और बलभद्रजी गोचारण के लिए नहीं गए होंगे; क्योंकि, यदि गोपों के साथ ही भगवान् होते तो, व्योमासुर को देखते ही मार देते। अथवा गोकुल में ही यह समाचार सुनकर वहां जाकर उसे मार दिया।। ऐसा भी उचित ही है।२८॥

श्लोक:—**मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृक्।**
मेषायितानपोवाह प्रायश्चौरायितो बहून् ॥२९॥

श्लोकार्थ.—इसी अवसर में, मयासुर का पुत्र महामायावी व्योमासुर, गोप रूप को धारण करके उन गोपों (बालकों) में मिल गया और भेड़-पशु बने हुए बहुत से बालकों को उठा ले गया ॥२९॥

सुबोधिनी:—दैत्यांशत्वात् कंसस्य तद्धितकारी मयपुत्रः स्वयमागत्य गोपानामुपद्रवं कृतवानित्याह **मयपुत्र** इति, महती माया यस्येति, गोपालान् वञ्चयितुं मारयितुं च शक्तिरुक्ता, ते पलायनं करिष्यन्तीति **व्योमासुरो गोपालरूपो जातः, चौरायित**प्रतिच्छायरूपः, **मेषायितान्** मेषवत् पतित्वा स्थितान् यथान्ये गोपाला नयन्ति, परं तेषु नीयमानेषु पालायिता जाग्रति, अस्मिंस्तु नीयमाने नयति सति मायया कृत्वा न कस्यापि जागरणमिति बहूनेव नीतवान् ॥२९॥

व्याख्यार्थ:—कंस भी दैत्यांश ही था। इसलिए उस कंस का हितैषी मयासुर का पुत्र व्योमासुर वहां उनके खेल में मिलकर गोपों का उपद्रव करने लगा—यह 'मयपुत्रः' इस श्लोक से कहते हैं, वह बड़ी माया जानता था, बड़ा मायावी था। इस कारण से, वह उन गोपों को ठगने में तथा मार डालने में समर्थ था। वह, यदि असुर के भयानक रूप में ही वहां आता तो, वे गोप लोग डर कर भाग जाते। इसलिए वह उन्हें चुराकर ले जाने वाले गोपों का सा, गोपाल रूप धारण करके 'मेषायित-गिर कर पड़े हुए भेड़ रूप गोप बालकों को अन्य चुरा कर ले जाने वाले गोपों की तरह चुराकर ले जाने लगा। परन्तु खेल में, जब चोर बने गोप, पशु भेड़ बने हुए ग्वाल बालकों को ले जाते थे, तब तो अन्य चोर बने हुए पालक बालक उसको ले जाता देखते ही थे, सब जगते ही रहते थे; किन्तु जब वह महामायावी व्योमासुर अपने लिए (आत्मनेपद) अथवा कंस के हितार्थ (परस्मैपद) पशु रूप गोपों को ले जाता था, तब उसे उसकी माया के कारण, कोई नहीं देख पाता था कोई भी जगता नहीं था। इस प्रकार, वह बहुत से अकर्मण्य पशुरूप गोपों को उठा (चुरा) ले गया ॥२९॥

लेख:--'मयपुत्र' इस श्लोक की व्याख्या में 'नीयमाने नयति सति, पदों का अभिप्राय यह है कि जब वह असुर उन भेड़ रूप गोप बालकों को स्व अर्थ उठाकर ले गया तो क्रिया फल, स्वार्थगामी होने से, आत्मने पद में शानच् प्रत्यय लगा-तब नीयमाने कथन साभिप्राय है और जब कंस के हितार्थ पशुभूत गोपों को ले जाना अर्थ करने पर तो क्रिया फल परगामी होने से, नयति यह शतृ प्रत्ययान्त प्रयोग उचित है। अपने हित तथा कंस के हित के लिए उन पशु रूप ग्वाल बालकों को चुराकर ले गया।

श्लोक:—गिरिदर्यां विनिक्षिप्य नीतं नीतं महासुरः।
शिलया पिदधे द्वारं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥३०॥

श्लोकार्थ:—वह असुर जिन बालकों को ले जाता, उनको एक पर्वत की कन्दरा में डालकर उसका दरवाजा भारी पत्थर (शिला) से बन्द कर आता था। इस तरह घटते २ मैदान में चार पांच बालक ही बच गए, और सबको वह ले गया ॥३०॥

सुबोधिनी:– क्रीडार्थं न नयनं किन्तु मारणार्थमित्यग्रिमकृत्यमाह गिरिदर्यामिति, बहूनप्येकवारं नयति, बहुवारं च नीतवान्, गुहाद्वारमतिसूक्ष्ममिति ज्ञापयितुं नीतं नीतमित्येकवचनम्, ननु बालाः दयापात्रं कथमेवं गुहायां प्रक्षिपतीत्याशङ्क्याह महासुर इति, अत्यन्तमासुरस्वभावः, अत एव न गुहाप्रवेशनमात्रमेव कारितवान् किन्तु शिलया द्वारमपि पिदधे, एवं मेषायिताः क्षीणाश्चेत् चोरायिताः पालायिताश्च मेषायिता एव क्रमेण भवन्तीति चत्वारः पञ्च वा अवशिष्टाः तदानीं नीयमानेन सह पञ्च नो चेत् चत्वारः ।३०।

व्याख्यार्थ:—"गिरिदर्यां" इस श्लोक में प्रदर्शित (दिखाई जाने वाली) उसकी आगे की करतूत से जाना जाता है, कि वह उन्हें उनके साथ खेलने के लिए उठाकर नहीं ले जा रहा था, किन्तु उन्हें मारने के लिए ही ले जाता था। बहुतों को एक बार में ही उठा कर ले गया अथवा एक एक को एक एक बार में गुफा में ले जाता रहा। 'नीतं नीतं'-एक एक को ले गया—इस कथन से जान पड़ता है, कि उस पर्वत की गुफा का दरवाजा बहुत सूक्ष्म (संकड़ा) होगा। वह महासुर-अत्यन्त आसुर स्वभाव वाला व्योमासुर-सहज दयनीय (दया के पात्र) बालकों को भी, अपने निर्दय स्वभाव के कारण, पर्वत की कन्दरा में फेंक आता था और इतना ही नहीं; किन्तु बड़ी शिला से उसका द्वार भी मून्द आता था। इस प्रकार इस क्रीड़ा में, जब पशु भूत गोपों की घटते २ कमी होती जाती है, तब तो वे चोर बने, और ढूंढने वाले-पाल बने हुए गोप भी क्रम से भेड़ पशु रूप बनते जाते, इस तरह ले जाते, ले जाते, उस उठाए हुए मेषायित गोप बालक सहित पांच अथवा केवल चार बालक ही जब शेष रह गए ॥३०॥

श्लोक:—तस्य तत्कर्म विज्ञाय कृष्णः शरणदः सताम्।
गोपान् नयन्तं जग्राह वृकं हरिरिवौजसा ॥३१॥

श्लोकार्थ:—साधु (सज्जनों) की रक्षा करने वाले कृष्णचन्द्र ने जान लिया, कि

यह काम उस गोप रूपधारी असुर का ही है। वह असुर अब की बार, जब फिर बालकों को उठा ले चला, तब श्रीकृष्ण ने झपट कर, उसे वैसे ही दबा लिया जैसे महाबली सिंह किसी भेड़िए को दबोच लेता है ॥३१॥

सुबोधिनी:--तदा अन्यत्र स्थितो भगवान् व्योमस्य कर्म ज्ञात्वा समागत्य यत् कृतवांस्तदाह तस्येति, तत्कर्म गुहायां निक्षिप्य शिलापिधानलक्षणम्, विशेषेण ज्ञात्वा प्रत्यक्षदर्श्येव, तथा ज्ञाने हेतुः, कृष्ण इति, सदानन्दो हि सः, यदंन स्वानन्दस्तेभ्यः तिरोभूतः सद्रूपाश्च ते, अतो ज्ञातवान्, तथापि अक्लिष्टकर्मा भगवान् सर्वसमः किमिति तं जगृह इत्याशङ्क्याह सतां शरणद इति, यदि भगवान् शरणागतान् सर्वावस्थासु न पालयेत् तदा न कोपि शरणं गच्छेत्, ततः शरणदानमेव न स्यात्, सतां च मनसि तद्दुःखं भवेदिर्गाप, शास्त्ररीतिरपि नश्येदित्यपि, गोपान् बहूनेव नयन्तं पालयित इव तत्रैव प्रादुर्भूतः आगतो वा जग्राह, तस्यैकदेशग्रहणव्यावृत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह, वृकं हरिरिवेति, स हि सर्वाङ्गे तं व्याप्य आच्छाद्य गृह्णातीति, तथा सर्वाङ्गे गृहीत इत्यर्थः ॥३१॥

व्याख्यार्थः--जब वह एक एक करके सारे गोप बालकों को उठाकर ले जाता रहा और पर्वत की गुफा में फेंक कर बड़ी शिला से उस गुफा के द्वार को बन्द कर देता रहा, उस समय भगवान् वहां उस क्रिड़ा में शामिल नहीं थे। कहीं दूसरे स्थान पर थे। किन्तु भगवान् कृष्ण सदानन्द हैं। इस कारण से, व्योमासुर के इस प्रकार के कार्य को जान गए यह 'तस्य तत्कर्म' इस श्लोक से कहते हैं। भगवान् ने उस असुर के इस प्रकार के कार्य को प्रत्यक्ष सा देख लिया। वे गोप लोग, धर्मी सदानन्द रूप भगवान् के धर्मिरूप सदात्मक केवल गणितानन्द ही थे—इस कारण से वे सद्रूप ही थे; क्योंकि धर्मी रूप आनन्द का उनमें तिरोभाव था। और इसी कारण से वह असुर उन बालकों को उठा कर ले जा सका था।

सर्वान्तर्यामी, सबके रक्षक भगवान् ने, उसके इस काम को जान वहीं प्रकट होकर अथवा वहां जाकर बहुत से गोप बालकों को ले जाने वाले, उस व्योमासुर को इस तरह सभी अङ्गों से घेर कर पकड़ लिया, जैसे सिंह किसी भेड़िए के सारे अङ्गों को दबाकर पकड़ लेता है। भगवान् यद्यपि अक्लिष्ट कर्मा और शत्रु मित्र सब में समान हैं, तो भी उस व्योमासुर को दबोचने का कारण यह है, कि वे सज्जनों के रक्षक है; क्योंकि, वे शरणागत भक्तों की सभी दशा में, पालन न करें तो कोई भी उनके शरण में नहीं जाए। उनके शरण में जाना छोड़ दे, और शरणदान ही न हो। तब तो सज्जनों के मन में भी बड़ा दुःख हो जाए और शास्त्र की मर्यादा भी नष्ट हो जाए। इसलिए इन सब मर्यादाओं की रक्षा के लिए ही शरणागत पालक भगवान् ने समदर्शी होते हुए भी, उस असुर को दबोच दिया ॥३१॥

लेखः—'तस्य तत्कर्म'–इस श्लोक की व्याख्या में 'सद्रूपाश्चते' इन पदों का तात्पर्य यह है, कि उन सद्रूप गोपों को भगवान् से ही आनन्द की प्राप्ति हुई थी। वे स्वयं तो धर्मि सद्रूप और गणितानन्द ही थे। क्योंकि आनन्द तो प्रधान प्रभु का है 'पूर्णानन्दो हरिः' ॥३१॥

श्लोक:—स निजं रूपमास्थाय गिरीन्द्रसदृशं बली ।
इच्छन् विमोक्तुमात्मानं नाशक्नोद् ग्रहणातुरः ॥३२॥

श्लोकार्थः—तब उस महाबली असुर ने एक बड़े पहाड़ जैसा अपना असली रूप प्रकट कर लिया। उसने छूटने का बहुत प्रयत्न किया, पर वह न छूट सका ॥३२॥

सुबोधिनी—ततः स विचारितवान् यद्यपि भगवान् महान् तथापि रूपान्तरं गृहीतवानिति मया स्वरूपे गृहीते भगवान् स्वल्परूपः इति न मारयितुं शक्ष्यति, भगवानपि चेत् स्वरूपं गृह्णीयात् तदावतारसमाप्तिरेव भविष्यतीति कंसादीनामस्माकं चामारणमेव स्यात् इत्यभिप्रेत्य स्वरूपं गृहीतवानित्याह स निजमिति, निजमासुरं रूपं, ग्रहणायोग्यत्वायाह गिरीन्द्रसदृशमिति, पराक्रमोपि वर्तत इति ज्ञापयितुमाह बलीति, एवमपि कृत्वा आत्मानं मोक्तुमिच्छन्नपि अत्यन्तप्रयत्नं कुर्वन्नपि आत्मानं विमोक्तुं नाशक्नोत्, दूरापास्तं विमोचनं ग्रहणेनातुर एव जातः, अन्तिमावस्था ग्रहणमात्रेणैव जातेति ॥३२॥

व्याख्यार्थः—तब उस व्योमासुर ने विचार किया, कि यद्यपि भगवान् मेरी और सारे जगत् की भी अपेक्षा महान् तो हैं, किन्तु इस समय तो, मनुष्य के अवतार में छोटे ही हैं। इसलिए मैं यदि अपना असली रूप ग्रहण कर लूंगा तब तो, भगवान् मेरे सामने छोटे से दिखाई पडेंगे और मुझको मार नहीं सकेंगे। यदि भगवान् ने भी अपना वास्तविक रूप धारण किया, तब तो अवतार की समाप्ति हो जाएगी और कंसादि तथा हमारी मृत्यु भी नहीं हो सकेगी-इस अभिप्राय से उसने अपना असली रूप धारण कर लिया-यह 'स निजं' इस श्लोक से कहते हैं। बलवान् उस व्योमासुर ने बड़े भारी पहाड़ के समान-जो किसी के पकड़ में न आ सके-अपना असली आसुरी रूप प्रकट कर लिया। तब भी वह अपने आप को भगवान् के पंजे (हाथों) से छूटने का भारी प्रयत्न करने पर भी मुक्त नहीं हो सका। छूटने की तो बात दूर रही, वह तो भगवान् के द्वारा पकड़े जाने पर ही मरनासन्न हो गया। पकड़ने से ही उसकी अन्तिम मरणावस्था हो गई ॥३२॥

श्लोक:—तं निगृह्याच्युतो दोर्भ्यां पातयित्वा महीतले ।
पश्यतां दिवि देवानां पशुमारममारयत् ॥३३॥

श्लोकार्थः—भगवान् ने उस दुष्ट दैत्य को दोनों हाथों से पकड़कर, पृथिवी पर पटक दिया और आकाश में देवों के देखते देखते पशुओं की सी मार से मार डाला ॥३३॥

सुबोधिनी:—तथापि मुख्यदैत्यत्वात् लीनो न भविष्यतीति स्वयं मारितवानित्याह तं निगृह्येति, दोर्भ्यां निग्रहं कृत्वा स्वयं भयरहितः अच्युतः महीतले तं पातयित्वा यथा भूमिष्ठा देवास्तं न त्यजन्ति तथा कृत्वा यज्ञार्थं तस्य वधो भवत्विति धर्मनिरूपणार्थं पश्यतामेव सर्वेषां देवानां पशुमारं यथा भवति तथा अमारयत्, मुखमुद्रणं कृत्वा गलमोडनं कृतवानित्यर्थः, देवानां दर्शनं सुखार्थम्, अन्यथा भगवानक्लिष्टकर्मा तथा न कुर्यात् ॥३३॥

व्याख्यार्थ:—इतने पर भी, वह दुष्ट लीन तो होगा नहीं, इस विचार से, भगवान् ने स्वयं उसे मार डाला, यह इस 'तं निगृह्य' श्लोक से कहते हैं। भूमि पर रहने वाले देवता उसको न त्यागे, इस अभिप्राय से भगवान् ने उसको भूमि पर गिरा कर और उसका वध यज्ञ के लिए हो—इस प्रकार से धर्म के निरूपण के लिए देवगणों के देखते देखते पशुओं की सी मौत से मार डाला। उसके मुख को मून्द कर गर्दन को मोड़ दिया, इस असुर की मृत्यु से देवता सुखी हुए। इसलिए वे देखने लगे। यदि देवों को सुख नहीं होता और वे नहीं देख सकते तो, अक्लिष्ट कर्मा भगवान् उसको इस प्रकार से नहीं मारते। उन्हें सुख हुआ इसलिए उनके देखते दुष्ट असुर का वध कर दिया ॥३३॥

श्लोक:—गुहापिधानं निर्भिद्य गोपान् निःसार्य कृच्छ्रतः।

स्तूयमानः सुरैर्गोपैः प्रविवेश स्वगोकुलम् ॥३४॥

श्लोकार्थः—उस दुष्ट दैत्य को इस प्रकार से मार देने के बाद भगवान् उस कन्दरा के पास पहुंचे और उसके शिला से बन्द दरवाजे को खोलकर उसमें बन्द गोप बालकों को कष्ट से मुक्त किया। तदनन्तर गोपगण और देवगण के मुख से अपनी स्तुति सुनते हुए श्रीकृष्ण व्रज में पधारे ॥३४॥

सुबोधिनी—ततो यत् कृतवांस्तदाह गुहापिधानमिति. मायया स्थापितं निर्भिद्य नितरां भित्त्वा यथा पुनरन्योपि न प्रवेशयेत् तथा गुहात्वमेव दूरीकृतवान्, कृच्छ्रतः संकटात् गोपान् निःसार्य तैरेव सुरैर्गोपैश्च स्तूयमानः भगवत्कृतमुपकारं ते जानन्तीत्युक्तं, ततस्तैः सह स्वगोकुलं प्रविवेश, सर्वत्र प्रत्यापत्तिर्निरूप्यते, अग्रे लीलापराणामपि तथात्वाय ॥३४॥

व्याख्यार्थ:—उसके वध के बाद, भगवान् ने जो वहां किया—उसका वर्णन 'गुहापिधानं' इस श्लोक से करते हैं। उस असुर के द्वारा माया से बनाए हुए उस गुफा की शिला के किवाड़ को तोड़कर उन गोप बालकों को वहां से बाहर निकाल कर उन्हें संकट से मुक्त कर दिया। कन्दरा को-इसको इस तरह नष्ट भ्रष्ट कर दिया, कि वह फिर कन्दरा ही नहीं रहने दी। जिसमें कोई और भी किसी को नहीं छिपा सके ॥३४॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशम् स्कन्ध (पूर्वार्ध), ३७ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का ३४ वां अध्याय राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण वीर्य निरूपक द्वितीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

——

न अध्याय में वर्णन की गई लीलाओं के निम्न पदों का पाठ कीजिएगा

राग मारू

असुर पति अतिहि गर्व धरयो ।
सभा मांझ बैठो गरजत है, बोलत रोष भरयो ॥

महा महा जे सुभट दैत्य बल बैठे सब उमराउ ।
तिहूं भुवन भर गमि है मेरो मो सन्मुख को आउ ॥

मो समान सेवक नहिं मेरे जाहि कहौं कछु दाव ।
काहि कहौं को ऐसो लायक ताते मोहि पछताव ॥

नृपति राइ आयसु दै मोको ऐसो कवन विचार ।
तुम अपने चित सोचत जाको असुरन के सरदार ॥

जो करि क्रोध जाहि तन ताको तिनको है संहार ।
मथुरा पति यह सुनि हरिषत भयो मनहिं धरयो अति भार ॥

श्वेत छत्र फहरात शीश पर ध्वज पताक बहु बान ।
ऐसो को जो मोहि न जानत तिहुँ भुवन मेरी आन ॥

असुर वंश जे महाबली सब कहौं काहि ह्वा जान ।
तनक तनक से महर ढिटौना करि आवे बिन प्रान ॥

यह कह कंस चितै केशीतन कह्यो जाइ करि काज ।
तृणावर्त शकटा अरु पूतना उनके कृत सुनि लाज ॥

तोते कछु ह्वै है यों जानत, धरि आने ज्यों बाज ।
छलकं बलकै मारु तुरत ही लै आवहु अब आजु ॥

अति गर्वित ह्वै कह्यो असुर भट, कितिक बात यह आहि ।
कह मारौं जीवत धरि लावौं एक पलक में ताहि ॥

आज्ञा पाइ असुर तब धायो मन मैं यह अवगाहि ।
देखौं जाइ कौन वह ऐसे कंस डरत है जाहि ॥

माया चरित करि गोप पुत्र भयो, ब्रज सन्मुख गयो धाइ ।
बल मोहन ग्वालन बालक संग खेलत देखे जाइ ॥

धाय मिल्यो कोउ रूप निशाचर हल धर सैन बताइ ।
मन मोहन मन में मुसुकाने खेलत फलनि जनाइ ॥

द्वै बालक बैठारि सयाने खेल रच्यो ब्रज खोरि ।
और सखा सब जुड़ जुड़ ठाडे, आपु दनुज संग जोरि ॥

खल को नाम बुझावन लागे हरि कहु दियो अमोरि ।
कंध चढ़े जिमि सिंह महाबल, तुरतहि मींच मरोरि ।।
तब केशी ह्वै वर वपु कह्यो, ले गयो पीठि चढाई ।
ऊपर परे हरि ता ऊपर ते कीन्हों युद्ध अपाइ ।।
दाउ घाउ सब भांति करत है तब हरि बुद्धि उपाइ ।
एक हाथ मुख भीतर नाग्यो, पछारि केश धरि जाइ ।
चहुंधा फेरि असुर गहि पटक्यो शब्द उठ्यो आघात ।
चौंकि परयो कंसासुर सुनके, भीतर चल्यो परात ।।
यह कोइ नहीं भओ व्रज जन्म्यो, या ते बहुत डरात ।
जान्यो कंस असुर गहि पटक्यो, नन्द महर के तात ।
और सखा रोवत सब धाये, आइ गए नर नारि ।
ग्वाल रूप संग खेलत हरि के, लै गए कांधे डारि ।।
धाए नन्द यशोदा धाई, नित्य प्रति कहा गुहारि ।
ना जानिए आहि धौं को यह, कपट रूप वपु धारि ।।
यशुमति तब अकुलाइ परी गिरि तनु की सुधि न रहाइ ।
नन्द पुकारत आरत व्याकुल टेरत फिरत कन्हाइ ।।
दैत्य संहारि कृष्ण तहं आए व्रजजन मरत जिवाइ ।
दौरि नन्द उर लाय लियो सुत मिली यशोदा माइ ।।
खेलत रह्यो संग मिलो मेरे ले उड़ गयो अकास ।
आपुन हि गिरि परयो धरणि पर मैं उबरयो तेहि पास ।।
उर डरात जिय बाते कहत उहि आए हैं करि नाश ।
सूर श्याम घर यशुमति ले गई, व्रज जन मनहि हुलास ।।

— —

राग बिलावली

हरि ग्वालन मिलि खेलन लागे वन में आंखि मिचाई ।
शिशु होय भोमासुर तहँ आयो, काहू जान न पाई ।।
ग्वाल रूप होइ खेलन लाग्यो, ग्वालन को लेजाइ चुराइ ।
धरे दुहाइ कंदरा भीतर, जानी बात कन्हाइ ।।
गुदी चांपि कै ताहि निपात्यो परयो धरणि गुरझाइ ।
सूर ग्वाल मिलि हरि गृहआए देव दुंदभी बजाइ ।।

— —

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ३८ वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ३५वां अध्याय

राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण

'तृतीय अध्याय'

अक्रूरजी की व्रजयात्रा

कारिका:—**पञ्चत्रिंशे भक्तिमार्गस्थापनाय निरूप्यते ।**
अक्रूरागमनं भक्तिः फलं चैव हि मानसम् ॥१॥

कारिकार्थ:—इस पैंतीसवें अध्याय में-भक्ति मार्ग की स्थापना (प्रतिष्ठा) के लिए-अक्रूरजी के गोकुल आने का और मानसिक भक्ति का फल निरुपित किया जा रहा है ॥१॥

कारिका:—**सात्त्विकश्चेदभिमुखः तदा भवति भक्तिमान् ।**
अन्यथा दैत्यसंसर्गे स्तब्धा भक्तिर्भवेत् ॥२॥

कारिकार्थः—सात्विक (जीव) यदि भगवान् के सम्मुख आ जाता है, तो वह अवश्य भक्त बन जाता है। भगवान् की शरण न आने पर दैत्य के संसर्ग में उसकी यह भक्ति निश्चित रूप से स्तब्ध (कुण्ठित) होती है ॥२॥

श्रीशुक उवाच ।

श्लोकः—**अक्रूरोपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः ।**
उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥१॥

श्लोकार्थः—श्री शुकदेवजी कहते है-हे राजन्-बड़े बुद्धिमान् अक्रूरजी उस रात्रि को वहीं (मथुरा में ही) निवास करके दूसरे दिन बड़े सवेरे रथ पर बैठ कर नन्दजी के गोकुल को चले ॥१॥

सुबोधिनीः—अथास्मिन्नशेध्याये अक्रूरः प्रेषित इत्युक्तं तस्यागमनं निरूपयति, अक्रूरोपीति, यस्यां रात्रौ समादिष्टः **तां रात्रिं मथुरायामेव** स्थितः सा हि भगवदधिष्ठिता भूमिः, भगवांश्चेत् निवारयेत् मथुरा वा भगवत्सेवको वा कश्चित् तदा न गमिष्यामीति निश्चित्य **तत्रैव स्थितः**, ततो गमनमेव समीचीनमिति ज्ञात्वा प्रचलित इत्याह **महामतिरिति**, अयमुपायः सर्वेषामेव हितकारी, अतो गत्वा समानेय इति, ततः कंसदत्तं दिव्यं रथमास्थाय स्वयमेकाकी सारथिरूपः नन्दस्य गोकुलं प्रति प्रकर्षेण बहिरन्तः सन्तोषपूर्वकं गृहे च सम्भृतिं कृत्वा ययावित्यर्थः ॥१॥

व्याख्यार्थः—गत तैंतीसवें अध्याय में कंस के द्वारा अक्रूरजी को गोकुल भेजने का उपक्रम किया गया है। उनका गोकुल आने का वर्णन 'अक्रूरोपि च' इस श्लोक से करते हैं। मथुरा की भूमि में अधिष्ठाता भगवान् ही हैं। इसलिए भगवान्, मथुरा अथवा भगवान् का कोई भक्त यदि गोकुल जाने के लिए निषेध (मना) कर देगा कि मैं नहीं जाऊंगा तो ऐसा निश्चय करके अक्रूरजी उस रात को (जब कि कंस ने आज्ञा दे दी थी) तो भी मथुरा में ही ठहर गए। फिर दूसरे दिन प्रातः, वे अति निपुण बुद्धिवाले अक्रूरजी (भगवान् को मथुरा ले आने पर सबका हित हो जाएगा। इसलिए उन्हें ले आना चाहिए) गोकुल गमन को उचित समझ कर कंस के दिए हुए दिव्य रथ पर सारथिरूप से स्वयं ही बैठ गए और बाहर तथा मन में सन्तोष पूर्वक एवं घर में भी सलाह करके नन्दरायजी के गोकुल को रवाना हुए ॥१॥

लेखः—अक्रूरोपि इस श्लोक की व्याख्या में 'सारथि रूपः' पद का तात्पर्य यह है कि अगले छत्तीसवें अध्याय में अक्रूरजी का रथ हांकने का वर्णन किया जाएगा। इस कारण से यहां इस पैंतीसवें अध्याय में अक्रूरजी का सारथि रूप से कह दिया गया है ॥१॥

श्लोकः—**गच्छन् पथि महाभागो भगवत्यम्बुजेक्षणे ।**
भक्तिं परामुपगत एवमेतदचिन्तयत् ॥२॥

श्लोकार्थः—मार्ग में जाते समय बड़े भाग्यशाली अक्रूरजी के हृदय में कमल से

नेत्र वाले भगवान् की परा (परम) भक्ति का उदय हो गया और (वे गदगद होकर) इस प्रकार यह सोचने लगे ॥२॥

सुबोधिनी:--सात्विकस्य भगवदाभिमुख्ये भक्तिर्भवतीति ज्ञापयितुं तस्य भगवद्विषयको मनोरथो जात इत्याह **गच्छन्निति**; **पथि गच्छन्निति** मार्गगन्तुर्भक्तिरुचितैव, **पथि गच्छन्निति** रथप्रेरणं नापेक्षत इति सूचितम्, ननु दुष्टसंसर्गं प्राप्य स्थितो दुष्टप्रेरितः कथं भक्तो जात इत्याशङ्क्याह **महाभाग** इति, पूर्वसञ्चितपुण्यराशिः, सर्वमेव भाग्यमद्य फलोन्मुखं जातमित्यर्थः, तत्फलमाह **भक्ति परामुपगत** इति, परां प्रेमलक्षणाम्, विषयो न विभूतिरूप इत्याह भगवतीति, अम्बुजवदीक्षणे यस्येति, दृष्टयैव सर्वतापनाशकत्वं निरूपितम्, अतः फलदातरि पुरुषोत्तमे भक्तिर्युक्ता, सापि भक्तिः पूर्वं जाता, मध्ये गता तिरोहिता, पुनरुपसमीपे स्वयमेवागता, एतद् वक्ष्यमाणमेवं प्रकारेणाचिन्तयदिति, गता भक्तिः समागता स्वतः प्रवेशमलभमाना कामनाद्वारा प्रविष्टेति भगवतो महत्त्वं ज्ञात्वा तेन स्वस्योत्कर्षं यथा कामयते तथा चिन्तायुक्तं कृतवतीत्यर्थः ॥२॥

व्याख्यार्थः—सात्विक पुरुष यदि भगवान् के अभिमुख होता है, तब उसके मन में भक्ति का उदय होता है। यह-इस 'गच्छन् पथि' श्लोक से कहते हैं। जब अक्रूरजी मार्ग में गोकुल की तरफ जा रहे थे, उनका भगवत्सम्बन्धी मनोरथ हुआ; क्योंकि, सन्मार्ग में चलने वाले की भगवान् में भक्ति होना उचित ही है। उन्मार्ग (कुपथ) गामी दुष्ट पुरुष भक्त नहीं हो सकते है। इसीलिए मार्ग में चलने वाले अक्रूरजी की भगवान् में भक्ति उत्पन्न हुई। इस कथन से यह सूचित किया, कि उन्हें रथ हांकने की अपेक्षा नहीं रही थी। रथ स्वयं चल रहा था।

अक्रूरजी महाभाग थे, जो दुष्ट कंस के संसर्ग में रहते हुए और उस दुष्ट की प्रेरणा से ही जाने वाले होकर भी, भगवान् के भक्त हो गए। पहले का सञ्चित पुण्य पुञ्ज सारा ही आज फलीभूत हो गया। उनकी साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में (किसी विभूति रूप में नहीं) परा (प्रेम) लक्षणा भक्ति उत्पन्न हो गई। उन कमल नयन दृष्टि से ही सन्ताप को मिटाने वाले, फल का दान करने वाले, भगवान् में भक्ति हो जाना उचित ही है।

उनकी पहले भगवान् में भक्ति थी तो सही किन्तु बीच में उसका तिरोभाव हो गया था। अब वह गई हुई भक्ति, स्वयं आई और अपने आप प्रवेश न पाकर, भगवान् के माहात्म्य ज्ञान पूर्वक (कामना द्वारा) प्रविष्ट हुई। इससे जैसे अपना उत्कर्ष चाहता हो, वैसे भक्ति ने अक्रूरजी को चिन्ता युक्त कर दिया। वे इस प्रकार से विचार करने लगे॥२॥

श्लोकः—**किं मयाचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः।**

किं वाथाप्यर्हते दत्तं यत् द्रक्ष्याम्यद्य केशवम् ॥३॥

श्लोकार्थ:—कि मैंने कौनसा ऐसा पुण्य अथवा उत्कृष्ट तप किया है, अथवा किसी सत्पात्र को दान दिया है, जिसके फल से आज मैं गोविन्द (केशव) भगवान् के दर्शन करूंगा ॥३॥

सुबोधिनी:—प्रथमतो भगवद्धर्माणां माहात्म्यमाह भक्तिदार्ढ्याय, तत्रापि दर्शनस्य सर्वोत्कृष्टत्वमाह **किं मयाचरितं भद्रमिति**, त्रयो विभागा: स्वयं भगवानन्ये सर्वे च, तेषामुत्कृष्टधर्मै: सहजैरागन्तुकैर्वा सर्वात्मको भगवांस्तुष्यतीति ज्ञायते, तस्मिंस्तुष्ट एव तस्य दर्शनं भवतीति यतो ब्रह्मेशयोरपि सुखमोक्षदाता भगवानिति, तत्र स्वधर्म आचार:, भगवद्धर्मस्तप:, सर्वलोकोपकारी दानमिति, 'आचारप्रभवो धर्म' इति तदुक्तं किं मयाचरितमिति, भद्रं कल्याणरूपम्, 'तपो मे हृदयं साक्षा'दिति वाक्यात् भगवच्छक्तिस्तप: अत उक्तं किं तप्तमिति, जीवधर्मतपोव्यावृत्त्यर्थं **परममिति**, सर्वोपकारो धर्मो दानं सुपात्र एव महाफलं साधयतीति **अर्हते दत्तमिति**, अथेति भिन्नप्रक्रमे, किं वेत्याकाङ्क्षायाम्, अत्यन्तं भगवत्पराय भगवदर्थमेव सर्वविनियोगाय श्रद्धया दत्तमिति धर्मशास्त्राद् भिन्न: प्रक्रम:, अन्यथा अद्यैव भगवद्दर्शनं न भवेदतो ज्ञायते त्रयाणामन्यतरत् कृतमिति ॥ ३॥

व्याख्यार्थ:—भक्ति दृढ हो इसलिए पहले भगवद्धर्मों का माहात्म्य, 'किं मया' इस श्लोक से बतलाते हैं। उन सारे ही भागवत धर्मों में भगवान् का दर्शन सब धर्मों से उत्कृष्ट है। स्वधर्म, भगवद्धर्म तथा अन्य सभी धर्म इस प्रकार से धर्म के तीन विभाग हैं। इन विभागों के सहज अथवा आए हुए (आगन्तुक) उत्कृष्ट धर्मों से सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं। यह जाना जाता है और उनके प्रसन्न होने पर ही, उनका दर्शन हो सकता है; क्योंकि, वे भगवान् ब्रह्माजी को सुख और शिवजी को भी मोक्ष देने वाले हैं।

प्रथम, स्वधर्म सदाचार, दूसरा, भगवद् धर्म तपस्या और सारे लोकों का उपकार करनेवाला दानधर्म सर्वधर्म है। उनका अक्रूरजी वर्णन करते हैं कि—आचार प्रभवो धर्म:—के अनुसार मैंने कौन परम पवित्र सदाचार का पालन किया है, अथवा 'तपो मे हृदयं साक्षात्' इस वाक्य के अनुसार मैंने कौनसा भगवान् की शक्ति रूप तप ही किया है, जो जीव साध्य नहीं; किन्तु परम उत्कृष्ट तप है, अथवा सर्वोपकारी दान धर्म ही किसी पूज्य सत्पात्र, भगवान् के भक्त के लिए, भगवान् के लिए ही सब अर्पण हैं। इस भगवद्बुद्धि से, श्रद्धा पूर्वक दिया ही दान है, कि जिसका फल रूप आज ही मैं भगवान् के दर्शन करूंगा। इस कथन से जान पड़ता है, कि उन उक्त तीन धर्मों से अतिरिक्त कोई अन्य पुण्य धर्म का ही आचरण अक्रूरजी ने किया था; क्योंकि, इन उक्त धर्मों के आचरण से तो इतना शीघ्र फल-आज ही भगवान् का दर्शन-नहीं मिलता ॥३॥

श्लोक:—ममैतद् दुर्लभं मन्य उत्तमश्लोकदर्शनम् ।

विषयात्मनो यथा ब्रह्मकीर्तनं शूद्रजन्मन: ॥४॥

श्लोकार्थ:—मैं अत्यन्त विषयासक्त हूं। इसलिए मुझे तो पुण्य (पवित्र) कीर्ति वाले भगवान् का दर्शन मिलना वैसा ही दुर्लभ जान पड़ता है जैसा शूद्र के लिए वेदों का पढना दुर्लभ है ॥४॥

सुबोधिनी:—एवं कार्यावश्यकतां ज्ञात्वा कारणं परिकल्प्य तत्र बाधकमाशङ्क्य परिहरति द्वाभ्याम्, **ममैतद् दुर्लभं मन्य** इति, एतद् दर्शनं, मम साधने विद्यमानेपि दुर्लभं, तत्रोपपत्तिर्मन्य

इति, युक्त्यैवं निश्चीयते मम दर्शनं न भविष्यतीति, अयं च तर्कः भगवतः अलौकिकत्वज्ञापकः लौकिकत्वे इति शङ्कैव नोदेतीति, दर्शनाभावे हेतुद्वयमाह भगवन्निष्ठं स्वनिष्ठं च धर्मद्वयं, भगवन्निष्ठमाह उत्तमश्लोकस्य दर्शनमिति, उत्तमैरपि श्लोक्यत एव न च दृश्यते, उत्तमाः सर्वज्ञा भक्ताः, स्वनिष्ठमाह विषयात्मन इति, किञ्च, विषयाणां न केवलं प्रतिबन्धकत्वं तथा सति कदाचित् अनित्यत्वात् विषयाणां दर्शनमपि भवेत्, किन्त्वधिकारनिवर्तकत्वमपि, अतः सिद्धे पि सुलभेपि विषये स्वस्य न योग्यतेति तदाह यथेति, ब्रह्मकीर्तनं वेदोच्चारणं, पूर्वजन्मनि ब्राह्मणोपि सर्वज्ञोपि वेदोच्चारणसमर्थोपि शूद्रबीजात् चेदुत्पन्नः तदा नार्हति कीर्तनं कर्तुम् ॥४॥

व्याख्यार्थः—इस प्रकार पूर्व श्लोकानुसार कार्य की आवश्यकता को जानकर और कारण को कल्पना सहित बाधक की शंका करके, "ममैतद्" इत्यादि दो श्लोकों से उसका निराकरण करते हैं। युक्ति द्वारा यह निश्चित होता है, कि मुझे भगवान् के दर्शन नहीं होंगे। इस तर्क से भगवान् की अलौकिकता सूचित होती है; क्योंकि भगवान् को अक्रूरजी लौकिक जानते तो उनके मन में दर्शन न होने की शंका ही नहीं होती। (लौकिक अक्रूरजी लौकिक भगवान् को देख लेते)।

भगवान् का दर्शन न होने के दो कारण हैं। एक तो भगवान् की अत्यन्त उत्कृष्टता और दूसरा अपनी (अक्रूरजी की) अत्यन्त अधमता। पहला कारण तो यह है, कि वे भगवान् स्वयं उत्तम श्लोक हैं, उत्तम सर्वज्ञ की भक्त केवल स्तुति ही कर सकते हैं। दर्शन तो उन्हें भी नहीं मिलते हैं। दूसरा कारण दर्शन न होने का यह है, कि मैं अत्यन्त विषयात्मा हूं। विषयों से केवल दर्शन ही नहीं रुकता; क्योंकि विषयों की अनित्यता (सदा स्थिति न रहने) के कारण कभी दर्शन हो भी जाए किन्तु वे (विषय) तो दर्शन की योग्यता (अधिकार) को भी नष्ट कर देते हैं। इस कारण से, भगवान् का दर्शन सिद्ध और सुलभ हो जाने पर भी, अधिकार हीन विषयासक्त मुझे दर्शन दुर्लभ ही हैं, क्योंकि मैं दर्शन कर सकूं—इस योग्य ही नहीं हूं। इसमें दृष्टान्त देते हैं, कि शूद्र का वेदोच्चारण में अधिकार ही होता, यदि वह पूर्व जन्म मे ब्राह्मण भी हो, सर्वज्ञाता भी हो और वेदोच्चारण करने मे समर्थ भी क्यों न हो; किन्तु यदि यहां अभी शूद्र के बीज (वीर्य) से उत्पन्न हुआ हो, तो वह वेदों के उच्चारण का अधिकारी नहीं हैं। इसी तरह विषयों मे आसक्त मैं (अक्रूर) भी भगवान् के दर्शन का अधिकारी कदापि नहीं हूं ॥४॥

श्लोक—मैवममेवाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम् ।
ह्रियमाणः कालनद्या क्वचित् तरति कश्चन ॥५॥
ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः ।
यन् नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥६॥

श्लोकार्थ—अथवा मेरा यह सोचना भूल है कि मैं अधम हूं, तो भी भगवान् के दर्शन मुझे मिल भी सकते है, क्योंकि जैसे नदी में बहते तृणों में से कोई कोई तृण किनारे भी लग जाता है, वैसे ही काल के प्रवाह में कर्म वश बहने वाले जीवों में से कितनेक जीव संसार के पार भी पहुँच जाते हैं ॥५॥

निश्चय ही आज मेरे सारे पातक मिट गए मेरा जन्म सफल हो गया; क्योंकि मैं व्रज में जाकर श्रीकृष्ण के उन चरण कमलों को प्रणाम करूंगा, जिनका ध्यान योगीजन सदा किया करते हैं ॥६॥

सुबोधिनी:—एवं प्रतिकूलतर्कं निरूप्य अनुकूलेन तस्य पराहतिमाह मैवमेवेति, मेति निषेधार्थे, यदुक्तं त्वया विषयित्वात् नाधिकारो विषयाश्च बाधका इति महतामपि केवलं स्तुत्य एव न तु दृश्य इति च, एतन् मा किन्तु एवमेवैतत्, उभयत्रापि साधकधर्मद्वयमाह, अधमस्यापि अच्युतदर्शनं स्यादेवेति, विषयाणां अधमाधिकारित्वसम्पादकत्वमेव न त्वधिकारनिवारकत्वं, आसुरत्वमेव तथा, 'असुर्यः शूद्र' इति श्रुतेः, नापि प्रतिबन्धकत्वं, विषयैरपि भगवद्भजनस्य शास्त्रे निरूपितत्वात्, 'यद्यदिष्टतमं लोक' इति, किन्त्वधमत्वमेव सम्पादयति, सर्वथा निर्विषय उत्तमः, बहिर्निर्विषयः मध्यमः, उभयत्रापि सविषयोधम इति, अधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनं, अन्यथा-धर्माधिकार एव न स्यात्, किञ्च, भगवानच्युतः सर्वथाच्युतिरहितः स्वरूपतो धर्मतश्च, यदि संकीर्तितः तत्कीर्तनं न व्यर्थमिति भवानेन फलमिति दर्शयेदेव कदाचित्, अतः स्यादेव, ननूक्तो दृष्टान्तो बाधक इति चेत् साधकोपि दृष्टान्तोस्तीत्याह ह्रियमाण इति, कालनद्या ह्रियमाणः क्वचित् कदाचित् कश्चित् तरतीति, यथा तृणं, दृश्यते च नौका जले पतिता स्वयमेव कूलात् कूलान्तरं गच्छति, कालोपि नदीरूपः भगवन्तं जीवसमूहं चान्तरा प्रवहति विषयमायाजलात्मा, तत्र तीरस्थान् कदाचित् मध्ये पातयित्वा उत्तरकूले नयेत्, अनेन कालवशादपि मोक्षः सिद्ध्यतीति केषांचित् मतमुक्तम्, अत्र नियामकं भगवदवतारः ॥५–६॥

व्याख्यार्थः—ऊपर के श्लोक में अक्रूरजी अपने को भगवान् के दर्शन का सकारण अनधिकारी बतला कर उस तर्क का इस, 'मैवमेव' श्लोक से खण्डन करते हुए कहते हैं। अक्रूरजी का ऊपर के श्लोक में अपने को विषयासक्त होने से भगवद्दर्शन का अनधिकारी कहना, विषयों को भगवद्दर्शन में बाधक बतलाना और महा पुरुषों को भी भगवान् का दर्शन तो दुर्लभ ही है, केवल वे उनकी स्तुति ही कर सकते हैं, (करते रहते है) इस प्रकार अक्रूरजी का विचार करना अनुचित ही हैं; क्योंकि, अधम को भी भगवान् दर्शन दे ही देते हैं। इन्द्रियों के विषय, पुरुष को केवल अधमाधिकारी बना सकते हैं, उसके भगवद्दर्शन के अधिकार को दूर नहीं कर सकते। विषयासक्त मनुष्य भी भगवद्दर्शन का अधिकारी तो है ही। हां 'असुर्यः शूद्रः' इस श्रुति के अनुसार आसुरी जीव को दर्शन का भी अधिकार नहीं होता।

विषय, विषयासक्त मनुष्य के भगवद्दर्शन में बाधक भी नहीं हो सकते, क्योंकि, 'यद्यदिष्टतमं लोके-प्यारी से प्यारी वस्तु तथा विषयों के द्वारा भगवान् का भजन, दर्शन शास्त्र में बतलाया गया है। इसलिए विषय न तो मनुष्य के भगवद्दर्शन के अधिकार को ही छीन सकते हैं और न उसके भगवद्दर्शन में बाधक हो (रोड़ा ही अटका) सकते हैं। विषय तो केवल उसको अधमाधिकारी ही बना सकते हैं।

उत्तमाधिकारी-भगवद्दर्शन का वह है जिसके मन में भीतर तथा बाहर विषयों का लेश भी कभी न हो, जिसके हृदय में विषयेच्छा है; किन्तु बाहर विषयासक्ति नहीं दिखाता हो वह मध्यमाधि-

त्यागी है और जो बाहर भी, भीतर मन में भी, विषयों में आसक्त मनुष्य अधमाधिकारी माना जाता है। ऐसे अधम को भी कभी अच्युत-स्वरूप से (धर्म से भी च्युति रहित) भगवान् का दर्शन हो ही जाता है यदि अधमाधिकारी दर्शन सर्वथा नहीं कर सकता हो, तो फिर अधिकार का तृतीय भेद अधमाधिकारी होवे ही नहीं, भगवान् का यदि कीर्तन किया जाता है तो वह भगवान् का नाम संकीर्तन भी व्यर्थ (निष्फल) नहीं होता है। कीर्तन का भगवान् ही फल है और वे कभी दर्शन दे ही देते है। इसलिए भगवान् का दर्शन होवेगा ही। ऊपर दर्शन नही हो सकने में, जैसे-शूद्र का वेदोच्चारण का बाधक दृष्टान्त दिया गया था, वैसे ही दर्शन हो सकने में साधक दृष्टान्त देते हैं, कि काल रूपी नदी के द्वारा बहाया गया तृण कभी, अथवा स्वयं पड़ी हुई नाव भी एक किनारे से दूसरे किनारे पर लग ही जाती है। इसी तरह नदी रूप काल-जो भगवान् और जीवों के बीच में बहता है और जो विषय माया के जल से पूर्ण है– विषय रूप जल से पूर्ण वह नदी रूप काल किनारे पर बैठे हुए जीवों को प्रवाह में डालकर कभी दूसरे किनारे पर पार लगा ही देता है। इस दृष्टान्त से किसी २ के मत से, यह भी सिद्ध होता है, कि काल भी मोक्ष प्राप्ति का साधक है। किन्तु भगवान् का अवतार इस कथन में नियामक है, भगवान् के अवतार में ही काल मोक्ष प्राप्ति का साधक हो सकता है अन्यथा नहीं ॥५–६॥

श्लोक:—कंसो बताद्याकृत मेऽत्यनुग्रहं द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितोऽमुना हरेः।
कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः पूर्वेऽतरन् यन्नखमण्डलत्विषा ॥७॥

श्लोकार्थः—अहो ! कंस ने आज मुझ पर बड़ी ही कृपा की। उसीके भेजने से, मैं पृथिवी पर अवतरित हुए भगवान् के चरण कमलों के दर्शन करूंगा, जिनके नख मण्डल के प्रकाश में अम्बरीष, प्रहलादादि भक्त इस घोर, अन्धकारमय संसार सागर को पार कर गए हैं ॥७॥

सुबोधिनी:—ननु बाधकस्य कालस्य कथं मोक्षसाधकत्वमिति चेत् तत्राह **कंस** इति, कदाचिद्बाधकान्येव साधकानि भवन्ति, विषं भक्षयित्वा जीवति अन्यथा म्रियेतेति लोकप्रसिद्धिः, तदाह **कंस** इति, **बतेति** हर्षे, यः सर्वथा बाधकः स एव **मे अद्यानुग्रहमकृत**, य एव हि भगवद्दर्शनं कारयति स एवानुग्रहं करोतीति, कदाचिदनुग्रहं करोति लौकिकं विषयादिद्वारा, अयं त्वत्यनुग्रह इति येन **प्रहितोऽङ्घ्रिपद्मं द्रक्ष्य** इति, ननु विपरीतार्थं प्रेषितवान् ततः कथमिष्टसिद्धिरिति चेत्, तत्राह **हरेरिति**, स हि सर्वदुःखहर्ता सम्बन्धमात्रमपेक्षते, स संबन्धोऽनेन कारित इति कंसस्यैवायमनुग्रहः, यथा कथञ्चित् सम्बन्ध एवात्र प्रयोजक इति ज्ञापयितुमाह **कृतावतारस्येति**, एतदर्थमेव भगवदवतार इति, तथात्वे प्रमाणमाह **पूर्वेतरन्निति**, **यस्य नखमण्डलत्विषापि पूर्वे भगवदीयाः अतरन्** संसारं, भावितो हृदये प्रकाशमानश्चरणः मुक्तिं ददातीति अविद्यान्धकार निराकरणार्थं कान्तिर्निरूपिता, **मण्डलपदं** सूर्यादिरिव निवारकत्वं ज्ञापयति न तु दीप इव, एकेनापि सूर्येणान्धकारो निवार्यते किं पुनर्दशभिरिति स्थापयितुं नखेति, तरणं पादपोतेनैवेति अर्थात् पादयोः, अतो यत्र चरणसम्बन्धमात्रेणैव ध्यानप्राप्तेन सर्वे तीर्णाः तत्र दर्शनवतो मम तरणे कः सन्देहः ॥७॥

व्याख्यार्थ:—काल-जो मोक्ष प्राप्ति का बाधक है-वह मोक्ष का साधक कैसे हो सकता है ?

इस शंका का उत्तर-कंसोयम्-इस श्लोक में देते हैं, कि बाधक भी कभी साधक हो जाता है। विष खा लेने पर मृत्यु निश्चित ही हो जानी चाहिए, किन्तु विष खा कर जीवित रहता है—ऐसा लोक में प्रसिद्ध है। अक्रूरजी सहर्ष कहते हैं, कि जो भगवद्दर्शन का ही नहीं, भगवन्नामस्मरण तक में बाधक था, उसी कंस ने मेरे ऊपर आज अनुग्रह किया है। साधारण अनुग्रह तो अन्न, वस्त्र, जीविका आदि लौकिक वस्तु के द्वारा भी किया जा सकता है, किन्तु वास्तविक अनुग्रह को तो, भगवान् के दर्शन कराने वाला ही करता है। इसलिए कंस ने मुझ पर बड़ी दया की है, क्योंकि इसके द्वारा भेजा हुआ मैं, सबके सब दुःखों को हरने वाले भगवान् के चरण कमलों का दर्शन करूंगा। कंस ने अपने दूषित विचार से श्रीकृष्ण को, मथुरा में बुला लाने के लिए मुझे भेजा है, तो भी, मुझे तो यह यात्रा फलदायिका ही है; क्योंकि, भगवान् के साथ कोई सा भी सम्बन्ध होना चाहिए। वह भगवद्दर्शन-सम्बन्ध कंस ने कराया है, यह उसका ही मुझ पर अनुग्रह है।

भगवान् के साथ भय, द्वेष- स्नेह आदि कोई सा भी (गोप्यः कामाद्भयात् कंस) सम्बन्ध जोड़ लेना ही परम फल है और जीवों का अपने साथ-कोई सा भी सम्बन्ध जुड़ाने के लिए ही, भगवान् का अवतार है—भगवान् अवतार लेते हैं—इस कथन की पुष्टि के प्रमाण देते है, कि जिस प्रकार एक ही सूर्य मण्डल सारे विश्व का अन्धकार दूर कर देता है, उसी प्रकार, असंख्य भक्त उनके दोनों चरणों को अपने हृदय में स्थापित करके और उनके दश नख मण्डल की कान्ति से अज्ञान रूपी अन्धकार के सर्वथा नष्ट हो जाने से, संसार को पार कर गए हैं। चरणों के जहाज के बल से संसार-सागर को पार किया जा सकता है। और जब जिनके चरणों का ध्यान करके केवल ध्यान के द्वारा हुए चरण सम्बन्ध से असंख्य भक्त संसार से पार हो चुके, तो फिर, उनके साक्षात् दर्शन कर लेने वाले मेरे संसार के पार लग जाने में सन्देह ही क्या है ? अर्थात् उन भगवान् का साक्षात् दर्शन करके मैं भी संसार से पार हो ही जाऊंगा ॥७॥

श्लोकः—यदर्चितं ब्रह्मशिवादिभिः सुरैः श्रिया च देव्या मुनिभिश्च सात्वतैः ।
गोचारणायानुचरैश्चरद् वने यद् गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम् ॥८॥

श्लोकार्थः—शिव, ब्रह्मा आदि देवता, लक्ष्मी देवी, मुनिगण और भक्तजन जिनकी सदा पूजा करते हैं; गाएं चराते समय, जो सेवक ग्वाल बालकों के साथ, वन में चलते हैं और जो गोपीजनों के वक्षःस्थल पर लगे हुए कुंकुम से अनुरञ्जित रहते हैं भगवान् के उन चरणों के आज मैं दर्शन करूंगा ॥८॥

सुबोधिनीः—एवं स्वस्य फलमधिकारं च निश्चित्य बहुवादिविप्रतिपन्नत्वाद् भगवतो मोक्षदातृत्वं साधयति यदर्चितमिति, अवश्यं मोक्षोस्तीत्यभ्युपगन्तव्यं स च किञ्चिदधीन इति च, तत्र सन्मार्गे ब्रह्मा लोके महान्, लक्ष्मीश्च विषयत्वेन, ज्ञानशास्त्रे मुनयः, भगवच्छास्त्रे सात्वताः, एतदवतारे चतुर्धा अवतीर्णस्य दिनरात्रिभेदेन गोपा गोप्यश्च सेवकाः ये धृष्टाः अज्ञाश्च न कञ्चन मन्यन्ते, तत्रापि स्त्रियः, तत्रापि तेन प्रकारेणेति, सर्वत्र भक्तिप्राधान्यार्थं पदग्रहणम्, जगति त्रयो मुख्याः ब्रह्मविष्णुशिवाः, तत्र ब्रह्मा शिवश्च आदि भूतौ येषां, सात्त्विककल्पे विष्णुर्भगवानिति,

गुणावतारेऽपि विशेष उक्तः, तैः सर्वैरेवेन्द्रादिभिः स्वेष्टसिद्धयर्थमर्चितं, स्वामित्वाद् वा श्रिया चार्चितं प्रथमतोऽपि तस्याः परिज्ञाने सामर्थ्यमाह देव्येति, मुनिभिश्चेति चकारात् कर्मिभिरपि फलार्थिभिः, सात्वतैरिति वैष्णवभेदा उक्ताः, ये सत्त्वैकनिष्ठाः, गोपानामर्चनपरिज्ञानार्थमाह अनुचरैरिति, अलौकिक गवां चारणं शिक्षणीयमिति ते पूर्वं सेवकाः यस्माद् वने ग्राम्याणां भगवदर्चने बाधकसद्भावात् न भवतीति, स्त्रीणामपि भजने हेतुं सूचयति कुचकुङ्कुमैरङ्कितमिति, कामेनैव तासां भजनं, ताभिः बहिरपि हृदये स्थाप्यत इति । ८॥

व्याख्यार्थ: - अक्रूरजी इस प्रकार अपने (भगवद्दर्शन रूप) फल और अपने दर्शनाधिकार का निश्चय करके 'यदर्चित' इस श्लोक से भगवान् मोक्ष के देने वाले हैं अनेक वादियों के द्वारा स्वीकृत किए हुए भगवान् के मोक्षदातापन को सिद्ध करते हैं । मोक्ष कोई वस्तु है और वह किसी के वश में है ऐसा अवश्य मानना चाहिए ।

सन्मार्ग के अनुसार, लोक में ब्रह्माजी बड़े है, लक्ष्मीजी विषय रूप से बड़ी हैं, ज्ञान मार्ग में मुनि जन और भक्ति मार्ग में भक्त श्रेष्ठ है । इस कृष्णावतार में चतुर्व्यूह युक्त अवतारी श्रीकृष्ण के ये चारों ब्रह्माशिवादि, लक्ष्मी, मुनिजन और सात्वत्-श्रेष्ठ भक्त हैं । यहां व्रज मे दिन और रात के सेवक गोप और गोपी जन हैं । धृष्ट और अज्ञानी तो किसी को मानते ही नहीं है । उनमें स्त्रियां और स्त्रियों में भी व्रजरमणियों की जैसी सेविका और नहीं हैं । भगवान् के चरणों में भक्ति का निवास है इसलिए सब में भक्ति की प्रधानता के कारण, चरण शब्द कहा गया है । जगत् में ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों मुख्य देव हैं । ब्रह्मा और शिव सभी देवों के आदि (प्रथम) हैं । सात्त्विक कल्प में, सत्व गुणावतार विष्णु को भगवान् कहा गया है । ये सारे ही इन्द्रादि देवगण अपने मनोरथों की सिद्धि के लिए जिन चरणों का पूजन करते हैं । देवी लक्ष्मीजी पहले से ही अपने स्वामी को जानकर जिनके चरणों का सेवन करती है । मुनि जन, कर्मठ लोग, अपने मनोरथ-सिद्धी के लिए और 'सात्वत' सात्विक वैष्णव जन जिन चरणों की अर्चना करते हैं । भगवान् से अलौकिक गोचारण सीखने के लिए अनुचर (पहले से ही सेवक) गोपों के द्वारा बन में वन्दना पूजे गए और स्त्रियों-व्रजवनिताओं के द्वारा हृदय में और बाहर अपने वक्षःस्थलों पर भी स्थापित करके सेवन किए गए उन भगवच्चरण युगल का मैं दर्शन करूंगा । ८॥

कारिका:— ऐश्वर्यं श्रीस्तथा ज्ञानं कीर्तिर्धर्मो विरागता ।
षड्गुणास्त्वत्र निर्दिष्टाः क्रमो नात्र विवक्षितः ॥९-८॥

कारिकार्थ:—इस आठवें श्लोक से भगवान् के चरणों के ऐश्वर्य, श्री, ज्ञान, कीर्ति, धर्म और वैराग्य-छ गुणों का निर्देश किया गया है, अर्थात् सुर, श्री, मुनि, सात्वत, गोप और गोपी जन-इन छहों के द्वारा अर्चित भगवच्चरण उक्त इन ऐश्वर्य आदि छः गुणों से युक्त हैं; किन्तु यहां क्रम विवक्षित नहीं है ।

लेख:—यदर्चितम्:—इस श्लोक की व्याख्या में एतदवातारे चतुर्था-पदों का अभिप्राय यह है कि धर्मार्थी ब्रह्मादि देवों ने धर्म प्रवर्तक अनिरुद्ध व्यूह की, पंचम स्कन्ध में लक्ष्मी के द्वारा कामदेव

की पूजा के निरूपण से श्री के द्वारा प्रद्युम्न व्यूह की अविद्या (अज्ञान) का नाश चाहने वाले होने के कारण, मुनिजनों के द्वारा अविद्या नाशक संकर्षण व्यूह की और एक मात्र सत्वनिष्ठ सात्वत भगवद्भक्तों के वासुदेव व्यूह की पूजा की जाती है इसलिए इस कृष्णावतार में चारों ही है।

(सात्त्विक कल्पे) इस कथन का तात्पर्य यह है, कि उस सात्त्विक कल्प में विष्णुरूप होकर सृष्टि करते हैं। और ब्रह्मा तथा शिव को उन (ब्रह्मा) उन (शिव) दोनों के कल्पों में सृष्टि करने की आज्ञा देते हैं ॥१--८॥

श्लोकः—द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोलनासिकं स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनम् ।
मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतं प्रदक्षिणं मे प्रचरन्ति वै मृगाः ॥९॥

श्लोकार्थः—मेरे अहो भाग्य ! सुन्दर कपोल, नासिका, मन्द मुसकान, कृपापूर्ण दृष्टि अरुण कमल से लाल नेत्र और घूंघरवाली अलकों से सुशोभित (उन मुकुन्द भगवान्) के) मनोहर मुखारविन्द को मैं अवश्य देखूंगा; क्योंकि, हरिण मेरे दाहिने ओर जा रहे हैं। यह शकुन मुझे इसी शुभ की सूचना दे रहा है ॥९॥

सुबोधिनीः—एवं सर्वनिर्धारं कृत्वा व्रजन् शकुनं दृष्ट्वा प्रोत्साहेन इष्टरूप दर्शनं भविष्यतीत्याह **द्रक्ष्यामीति**, यतो **मृगाः दक्षिणं प्रचरन्ति** अतो **नूनं द्रक्ष्यामि**, कंसभृत्यत्वात् भगवान् न सम्मुखो भविष्यतीत्याशङ्क्य मुखारविन्दमेव द्रक्ष्यामीत्याह **मुखमिति**, तथापि क्रुद्धः कदाचिद् भवेत् अपकारं वा विचारयन् तिष्ठेत् तदा कपोलौ नासिका च वक्रा विषमा च भवेत् तन्निवारणार्थमाह **सुकपोलनासिकमिति** सुष्ठु कपोलौ नासिका च यस्मिन् इति शक्तिः तद्रसश्च निरूपितौ, ननु तथाप्यपकारार्थं समागच्छन्तं कथमङ्गीकुर्यात् तत्राह **स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनमिति**, स्मितमल्पहासस्तेन ज्ञानेर्घ्यव्यामोहस्तेनैव व्यामोह इति न ममापराधः, युक्तार्थं चैतत्कृतयानिति ज्ञानाधारभूतक्रियायामरुणकमलसादृश्यं निरूपितं, अक्ष्णोररुणता युद्धं सूचयति, मुखदर्शनेन सर्वं फलं सेत्स्यतीत्याह **मुकुन्दस्येति**, ननु वादिविप्रतिपत्त्या कथं भगवानेवं मुखदर्शनेनैव मोक्षं प्रयच्छतीति चेत्, तत्राह **गुडालकावृतमिति**, अलकाः तत्त्वविद इति पूर्वं निरूपितम्, ते चेत् कुण्डलाकाराः प्रपन्नाः, ते च पुनर्मात्सर्यं परित्यज्य सर्वे सम्भूय भगवन्तमाश्रयन्ति तदा न विवाद इति, गुडशब्देन परावर्तनमुच्यते, सर्वतः प्रसरणस्वभावाः पिण्डीभावं प्राप्नुवन्तीति, प्रकर्षो यथाभिलषितार्थः, मदिच्छयैव वा तथा भवन्तीति मदर्थमेव शकुनं कुर्वन्तीति ज्ञायते, प्रकर्षेण च चरन्ति न तु पलायन्ते, अयमुक्तः सर्वोप्यर्थः न सन्दिग्धो नापि भ्रान्तिप्रतिपन्न इति वै निश्चयेनेत्युक्तम् ॥९॥

व्याख्यार्थः—इस तरह सारा निश्चय करके गोकुल जाते हुए अक्रूरजी ने मार्ग में शुभ शकुन देख कर यह निश्चय कर ही लिया कि मैं अवश्य ही (निश्चय रूप से) भगवान् के मुखारविन्द के दर्शन करूंगा ही; क्योंकि ये हरिण मेरे दाहिनी तरफ निशङ्क होकर घूम रहे हैं। भय से भाग नहीं रहे हैं। मुझको कंस का सेवक समझ कर भगवान् मेरे लिए, अपने मुखारविन्द के दर्शन नहीं देंगे, ऐसी कोई बात नहीं है; क्योंकि, मैं तो उनके मुख कमल को देखूंगा। यह भी सम्भव है, कि मेरे

अपराध का विचार करके रुष्ट हो सामने विराजे रहे, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि, क्रोध में तो कपोल और नासिका टेढ़ी हो जाती है। भगवान् के कपोल तथा नासिका तो बड़े सुन्दर, भक्ति और भक्ति रस को सूचित करने वाले हैं। इस मुखारविन्द के विशेषण से ज्ञात होता है कि भगवान् रुष्ट नहीं, बड़े प्रसन्न हैं।

यद्यपि मैं अपकार (अनिष्ट) करने के लिए भगवान् को लिवाने जा रहा हूं तो भी वे मुझे अङ्गीकृत (अपनालेंगे ही) कर ही लेगें; क्योंकि, उनका मुखारविन्द-हासो जनोन्मादकरी च माया' व्यामोहक मन्द मुस्कान से युक्त है। उस मन्दस्मित से व्यामुग्ध होकर ही मै उन्हें अपकारार्थ बुलाने जा रहा हूं। अतः इसमे मेरा अपराध नहीं है। वह मुख कमल-केवल चाक्षुषज्ञान ही नहीं--सारे ही ज्ञानों का आधार भूत लाल कमल सी आंखों से सुशोभित है। नेत्रों की लालिमा से युद्ध सूचित होता है।

मोक्षदाता भगवान् मुकुन्द के ऐसे मुख कमल के दर्शन से सभी फल सिद्ध हो जाएगा। यद्यपि भगवान्, मुख कमल के दर्शन मात्र से मुक्ति प्रदान कर देते हैं—इस सिद्धान्त को कुछ वेदान्ती लोग नहीं मानते हैं तो भी घुंघराली अलकों से अलङ्कृत मुखारविन्द का दर्शन मोक्ष दायक है–इसमें कोई विवाद नहीं है, क्योंकि अलकें तत्वज्ञानी है–यह पहले ध्यान के प्रसङ्ग में कह चुके हैं। वे भी अलकें (तत्वज्ञानी) जो स्वभाव से ही फैलने (लम्बी लटकने वाली है) ईर्ष्या छोड़कर गोलाकार होकर सभी मिलकर भगवान् का आश्रय कर लेते हैं, तो फिर, उनके मोक्ष प्रदान कर देने में किसी को कोई सन्देह ही नहीं हो सकता। ये यहां बताई हुई सारी बातें मेरी इच्छा से ही हो रही है, अथवा मेरे लिए ही शुभ शकुन कर रही हैं। इसमें (वे) कोई सन्देह नहीं है ॥९॥

श्लोक—अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो भारावताराय भुवो निजेच्छया।
लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं मह्यं न न स्यात फलमञ्जसा दृशः ॥१०॥

श्लोकार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी इच्छा से ही–भूमि का भार उतारने के लिए नर रूप धारण किया है। उनके उस त्रिभुवन कमनीय परम मनोहर श्याम शरीर के दर्शन क्या मैं आज कर सकूंगा ? यदि दर्शन कर पाया तो अवश्य ही मेरे नेत्र सफल हो जाएँगे ॥१०॥

सुबोधिनी:—एवं शकुनेनापि दर्शनं निर्धार्य अर्थ च भविष्यतीति मनोरथं करोति अपीति, दुर्लभं दिनमेतदिति सम्भावना, विभूतिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह विष्णोर्मोक्षदातुः लीलया मनुजत्वं मनुष्यत्वमीयुषः स्वीकृतवत', उपलम्भनं भविता एतदपि किं सम्भावितमिति, प्रयोजनमाह **भारावताराय भुव इति**, तत्रापि नियतं हेतुमाह **निजेच्छयेति**, भक्तानां ब्रह्मादीनामिच्छया, फलदानं कालान्तरेस्तु मा वा इदानीमेव दर्शनमात्र एव परमानन्द इति तदर्थमाह **लावण्यधाम्न इति**, सौन्दर्यमात्रस्यैव स्थानभूतस्य उपलम्भनं निकटे दर्शनं यदि भविष्यति तदा मह्यमेव भविष्यति, मदर्थमेव मम दृशः दृष्टीनां अञ्जसा फलं च भविष्यति, आत्मा तु मुक्त एव भविष्यति न सन्देहः जन्मापि सफलं भविष्यति इन्द्रियाणां साफल्यात् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार से अक्रूरजी मार्ग में शुभ शकुन को भी देख कर भगवद्दर्शन का निर्धार करके 'अप्यद्य' इस श्लोक से आज ही होने का मनोरथ करते हैं। यह दिन मेरे लिए बड़ा ही दुर्लभ होगा जब कि लीला करने के लिए अपनी और अपने भक्त ब्रह्मादि की इच्छा से नर देह धारण करने वाले, तथा वृन्दरमा के एक मात्र स्थानभूत और मोक्ष दाता भगवान् विष्णु का, (किसी विभूति रूप का नहीं) मैं निकट से (शीघ्र) दर्शन कर सकूंगा। तब वह मेरे लिए ही होगा और मेरे नेत्रों का परम (सहज) फल भी मेरे लिए ही होगा। मेरी आत्मा तो अवश्य ही मुक्त हो ही जाएगी तथा इन्द्रियों की सफलता होने से, मेरा जन्म भी सफल हो जायगा ॥१०॥

श्लोक—य ईक्षिताहंरहितोऽप्यसत्सतोः स्वतेजसापास्ततमोभिदाभ्रमः ।
स्वमाययात्मन्रचितैस्तदीक्षया प्राणाक्षधीभिः सदनेष्वभीयते ॥११॥

श्लोकार्थ—जो सर्व द्रष्टा हैं, कार्य कारण के कर्ता होकर भी, जो अंहकार से रहित हैं। जिन्होंने अज्ञान से उत्पन्न भेद भाव के भ्रम को अपने तेज से ही दूर कर रक्खा है; किन्तु उस भेद (भ्रम) को देखने की इच्छा से अपनी माया के द्वारा प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि से युक्त देहधारी होकर जो अपने रचे हुए जीवों के साथ व्रज भक्तों के घरों में क्रीड़ा करते हुए संसारी जीव जैसे प्रतीत होते हैं ॥११॥

सुबोधिनी—एवं शीघ्रदर्शनं सम्भाव्य अवतारे अन्यधर्मसम्बन्धमाशङ्क्य तथा सति सर्वमेवान्यथा भविष्यतीति तन्निवृत्त्यर्थं भगवति प्रापञ्चिकधर्मसम्बन्धाभावमाह **य ईक्षितेति** भगवतोन्यधर्मसम्बन्धः अहङ्कारे गुणेषु तत्कार्ये चेन्द्रियादौ वर्तमाने भवति, अहङ्कारादीनां तु कार्यं दृश्यमानमपि स्वरूपेणैव भवतीति न भगवतोन्यधर्मसम्बन्धः, तत्र प्रथमं अहङ्कारामावेपि तत्कार्यमाह **अहंरहितोपि असत्सतोर्य ईक्षिता,** द्रष्टा लौकिकः साहङ्कारो भवति, इन्द्रियेष्वहमध्यासव्यतिरेकेण द्रष्टृत्वाभावात्, ममतायां वा, तथात्वे वैदिकातिरिक्तसिद्धान्तेषु स्मार्तेषु पौराणिकेष्वपि अध्यासो मूलमिति ममतापक्षेप्यहङ्कारापेक्षा, भगवांस्तु आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरिति 'चक्षुषश्चक्षु'रिति अहंरहितोपीक्षिता भवति अनेन भगवज्ज्ञानं निर्विषयमेवेत्युक्तं दीपवदेव सर्वं प्रकाशयति तदा विषयदोषसम्बन्धाभावात् सतः असतश्चाणीक्षिता भवति, कार्यकारणयोर्वा, 'सत्यं चामृतं चे'ति श्रुतेः कार्यमेव सर्वं, गुणकृतदोषसम्बन्धाभावमाह **स्वतेजसेति,** भगवत्तेजसैव **अपास्ता** दूरीकृताः तमस्तामसमज्ञानं **भिदा** भेदस्तत्कृतो राजसस्ततो **भ्रमः** सात्त्विकोपि विश्वप्रतीतिरूपः, न हि तमसि दूरीकृते तत्कृतचोरभयादयो वा सम्भवन्ति, भगवतीन्द्रियादिसम्बन्धप्रतीतिर्माययैव न तु वस्तुत इत्याह **स्वमाययेति,** स्वाज्ञाकारिणी या सर्वभवनसमर्था माया तया कृत्वा **आत्मनि** स्वस्मिन्नेव **रचितैः प्राणाक्षधीभिः** प्राणैरिन्द्रियान्तःकरणैः सहितेषु सर्वेष्वेव देहेषु गृहेषु **अभीयते** प्रकाशते भगवान्, स्वाधीनया स्वकीयानां देहेन्द्रियान्तःकरणानि प्रतीयन्ते, तेष्वात्मप्रतीतिसिद्ध्यर्थं **आत्मनि रचितैः,** तेष्वात्मप्रतीतिर्भवत्विति, वस्तुतः सर्वत्रायमेव प्रतीयते, यत्रान्यत्रापि स्थितो भगवान् न तद्धर्मैर्युज्यते तदा केवलः कथं युक्तो भवेत्, अन्यत्रापि ते सर्वे धर्माः भगवदिच्छयैव भगवद्रूपाः माययान्यथा प्रतीयन्ते तत्र भगवत्येव किं वक्तव्यं, अथवा, लोकप्रीत्यर्थं सदनेषु गोपिकागृहेषु यथा भगवानतत्रत्योपि तत्रत्य इव प्रतीयते,एवं **प्राणाक्षधीभिः** रहितोप्यधीयते, आत्म-

स्थान एव मायया तथा प्रतीत्युपपत्तेः, उभयोस्तु-ल्यत्वात्, न दृष्टान्ताभाव उक्तः, अर्थतस्तु साधनीय

द्वयमपि, विमर्शे त्वननेवात्मा सर्वत्रेति कस्य दोषे-णायं संयुक्तो भवेदित्यर्थः ॥११॥

व्याख्यार्थः--इस प्रकार अक्रूरजी ने हेतु तथा शुभ शकुन के द्वारा भगवान् के दर्शन शीघ्र हो जाने की सम्भावना की। किन्तु यदि अवतार दशा में प्राकृत धर्मों का सम्बन्ध हो, तो यह पूर्व कथित सम्भावना विपरीत हो जाती है। इस लिए सम्भावना की यथार्थता के लिए अवतार दशा में भी उनमे प्राकृत धर्मों के सम्बन्ध का निषेध 'य ईक्षिता', इस श्लोक से करते हैं। भगवान् में प्राकृत धर्म इस लिए नहीं हैं, कि अहंकार, गुण, गुणों का कार्य तथा लौकिक परिमित शक्ति वाली इन्द्रियाँ उनमें नहीं है। जहाँ अहंकारादि नहीं होते, वहाँ प्राकृत धर्म भी नहीं होते। उनमें तो दिखाई देने वाले अंहकार के कार्य लौकिक धर्म भी स्वरूप से अभिन्न ही हैं। स्वरूप से ही, वे धर्म भगवान् में दृष्टि-गोचर होते हैं। उनका प्राकृत धर्मों से अल्प भी सम्बन्ध नहीं है।

भगवान् में कर्तृत्व दृष्टत्व आदि का अभिमान न होने पर भी, वे असत् सत्--कार्य कारण--के दृष्टा हैं। लौकिक दृष्टा अहंकार युक्त होता है; क्योंकि इन्द्रियों में अहं भाव के अध्यास के बिना दृष्टा हो नहीं बन सकता। इन्द्रियों में अहं भाव का अध्यास अथवा ममता होने पर ही अंहकार होता है। इस लिए वैदिक सिद्धान्त मे तथा तदतिरिक्त स्मार्त तथा पौराणिक सिद्धान्तों में भी अविद्या कृत-स्वरूपाज्ञानमेव हि पर्व देहेन्द्रियासवः अन्तःकरणमेषां हि चतुर्धा-ध्यास उच्यते-अध्यास ही अहम्भाव का मूल कारण है। ममता के पक्ष को स्वीकार करने पर भी अहंकार की अपेक्षा है ही, अर्थात् अहङ्कार होने पर ही, अन्य (लौकिक) धर्म का सम्बन्ध हो सकता है। भगवान् तो आनन्द मात्र करपादमुखोदरादिः चक्षुषश्चक्षु-आ पाद नख श्री मस्तक सर्वाङ्ग-आनन्दमय हैं और सर्वथा अहंकार रहित होकर भी 'सतां-वावृत'-सत् असत् का कार्य कारण का सर्व दृष्टा है और यह सब उसका ही कार्य है। उनका ज्ञान निर्विषय है, जो दीपक की तरह है। जसे घर के एक कोने में धरा हुआ दीपक सारे भवन में प्रकाश कर देता है उसी तरह से भगवान् के ज्ञान से सभी लोक प्रकाशित हो रहे हैं और प्रकाश्य पदार्थ गत दोषों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

उन भगवान् में जैसे विषय दोष सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही गुणों के द्वारा होने वाले दोषों का सम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि, उन्होंने अपने तेज से ही सारे अज्ञान तथा अज्ञान जनित राजस और विश्व की प्रतीति रूप सात्विक भेद के भ्रम को अपने से दूर कर दिया है। अज्ञान-अन्धकार के दूर कर देने पर अन्धकार का तथा चोर आदि का भय फिर नहीं हो सकता है। (अवतार दशा में) भगवान् का स्वांशभूत जीवो की देह इन्द्रियादि का सम्बन्ध उनकी आज्ञा कारिणी, 'गच्छ देवि व्रजं भद्रे'-सर्व भवन समर्था माया से ही प्रतीत होता है वास्तविक नहीं है। उस अपनी माया के द्वारा ब्रह्मरूप अपने में ही रचित प्राण, इन्द्रिय, अन्तः करणों से युक्त सारे ही शरीर रूपी घरों में वह भगवान् प्रकाशित हो रहा है। स्ववशीभूत माया से ही जीवों के देहादि की प्रतीति होती है और वह-इनमें आत्म प्रतीति हो-ऐसी इच्छा से आत्म प्रतीति की सिद्धि के लिए ही वे-आत्म रचित-अपनी आत्मा में ही-भगवान् ने निर्मित किए हैं। "तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्"।

वास्तव में तो, सभी जगह सब में भगवान् ही प्रतीत हो रहे हैं। इस प्रकार से जब सभी शरीरों मे (शरीर रूप घरों में) बिराजमान भी वे भगवान् उन देहादि के धर्मों से सम्बन्ध नहीं

रखते हैं तो केवल ये स्वयं मायिक धर्मों के सम्बन्ध वाले क्यों कर हो सकते है। तात्पर्य यह है, कि जीवों मे भी, भगवान् की इच्छा से ही भगवद्रूप अलौकिक वे धर्म माया के द्वारा लौकिक से दिखाई देते है तो फिर साक्षात् भगवान् में वे लौकिक कभी नही हो सकते है। सदनों में विभिन्न (अनेक) देहों में जैसे उनके धर्मों का उससे सम्बन्ध न होते हुए भी, माया से सम्बद्ध से दिखाई देते है, वैसे ही सदनेषु-गोपीजनों के घरों में नहीं रह करके भी वहां स्थित से दीख पड़ते है, क्योंकि, आप में ही माया से ऐसी प्रतीति हो रही है। शरीर और घर की समानता प्रत्यक्ष ही है। इसलिए 'इवादि' पदों से दोनों का दृष्टान्त भाव मूल नहीं बतलाया है। अर्थ के द्वारा तो दोनों (देह और घरों) में समानता हो है। वास्तव में विचार करने पर तो यह आत्मा-आत्मैवेदं सर्व ही-यह सब जगत् है तब फिर वह किसके दोष से युक्त हो। उससे भिन्न यहां कुछ भी नहीं है ॥११॥

लेख:—'य ईक्षिता' इस श्लोक की व्याख्या में-ममत्तायां-पद का तात्पर्य यह है कि मेरी आंख से मैं देखता हूँ–इस प्रकार से ममता में भी अध्यास ही मूल कारण है; क्योंकि अहन्ता ही-ममता को उत्पन्न करती है, ममता की जननी है। वैदिकेपि अर्थात् वैदिक पक्ष में तो सर्वमात्मैवाभूत्, तत्केन कंपश्येत्-वस्तुत: सब स्थानों में आत्म बुद्धि ही है, वहां अध्यास नहीं हैं। निर्विषयमेव भगवान् के ज्ञान को निर्विषय बतलाने का आशय यह है कि यह सबका आत्म रूप से ही ग्रहण करता है, विषय पदार्थ-रूप से ग्रहण नहीं करता। प्रकाशते-अर्थात् प्रकाश भगवद्धर्म होने से सभी शरीरों में वही प्रकाशित हो रहा है। विभिन्न देह धारी जीवों की सृष्टि करके सबमें वही प्रविष्ट है। इसीलिए इनमें प्रविष्ट हुए भगवान् ही प्रकाशित हो रहे हैं। जड़ देहेन्द्रियादि का अपना प्रकाश नहीं है।

उस प्रकाश में, एक मात्र आश्रय भगवान् में देहादि का भान, माया कृत ही है; क्योंकि असल में सब में अनुप्रविष्ट हुए भगवान् ही उस जगत् के रूप से प्रकाश का आधार भूत हैं। देह और प्राणादि समान ही हैं। इसलिए देह को प्राणादि से अलग कथन से उत्पन्न हुई अरुचि से 'सदन' का दूसरा अर्थ गोपीजनों का घर किया है। अर्थात् गोपीजनों के घरों से सम्बन्ध नहीं रखने वाले भी सम्बन्ध रखने वाले से प्रतीत हो रहे हैं। उभयोस्तुल्यत्वात्-इसी तरह प्राणादि भी भगवत् स्वरूप ही हैं तब प्राणादि सहित कहना उचित नहीं हो सकता; क्योंकि, साथो तो स्वरूप से भिन्न होने पर ही कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है, कि जैसे गोपिकाओं के घरों में नहीं रहते हुए भी भगवान् उनके घरों में स्थित से प्रतीत होते हैं। इसी तरह प्राणादि से असम्बद्ध भी प्राणादि वालों से प्रतीत हो रहें हैं। मूल में इवादि पदों के न होने पर अर्थ के द्वारा देहों और गोपीजनों के घरों की समानता है। इसीलिए दोनों का दृष्टान्त भाव परस्पर में अर्थ से सूचित होता है ॥११॥

श्लोक—यस्याखिलामीवहभिः सुमङ्गलैर्वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः ।
प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जगत् यास्तद्विरक्ताः शवशोभना मताः ।१२।

श्लोकार्थ—जिन श्रीकृष्ण भगवान् के गुण कर्म और जन्म की मंगलमय कथाएं सब पापों को नष्ट कर देती हैं, तथा जगत् को पवित्र और सुशोभित करती है; वे व्रज में विराजमान हैं। जिन कथाओं में भगवान् की चर्चा नहीं रहती है, वे अलंकारों से पूर्ण होने पर भी वस्त्र आभुषणों से युक्त शव शरीर की तरह व्यर्थ ही है ॥१२॥

सुबोधिनी:—किञ्च, यदि भगवति केनाप्यंशेन प्राकृतधर्मसम्बन्धः स्यात् तदा भगवद्गुणनामादिकीर्तने कस्यापि पापक्षयो न स्यादित्यभिप्रायेणाह यस्याखिलामीवहभिरिति, अखिलानामेव अमीवानां पापानां घ्नन्तीति अमीवहानि भगवन्नामानि, न केवलं पापनाशकानि किन्तु सुष्ठु मङ्गलजनकानि, तैर्विमिश्रिताः अन्यदीया अपि वाचः गुणाः सत्यादयः कर्माणि गोवर्द्धनोद्धरणादीनि जन्मानि देवकीपुत्रादीनि सर्वेषां सर्वाण्येव पापनाशकानि, अत एव या वाच एतद्युक्ताः ताः प्राणन्ति जीवन्ति, वाचः प्राणरूपाः भगवद्गुणा इति, शुम्भन्ति शोभनयुक्ताः पुष्टा भवन्ति, ततः सानुभावा अपि भवन्ति जगत् पुनन्तीति, यथा देहे प्राणा अन्नं धर्मश्च, एवं वाचि भगवद्गुणजन्मकर्माणि तथैव मनस्यपि त्रयो ज्ञातव्याः, 'मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूप'मिति श्रुतेः न पृथगुभयोर्निर्देश उक्तः, आधिक्यपरं भविष्यतीति सिद्धे साध्यवाक्यं तदाधिक्यं बोधयतीति न्यायात् इत्याशङ्क्य विपरीते बाधकमाह यास्तद्विरक्ता इति, यथा शवानां शोभा वस्त्राभरणैः क्रियते तथाप्यमङ्गलरूपैव प्राणाभावात् तत्पोषकान्नाभावात् प्राणकार्यधर्माभावाच्च, अतो भगवति शतांशेनापि प्राकृतधर्मसम्बन्धो भवेत् तदेतत् न स्यादिति भावः ॥१२॥

व्याख्यार्थ:—और यदि भगवान् में प्राकृत धर्मों का लेश भी हो, तो फिर-प्राकृत पुरुषों के गुण गान करने से जैसे किसी के पापों का नाश नहीं होता वैसे ही भगवान् के गुण, नाम आदि का कीर्तन करने पर भी पाप क्षय नहीं हो; किन्तु पापों का क्षय भगवद्गुणानुवाद से अवश्य हो जाता है—यह 'यस्याखिलामीवहभिः—इस श्लोक से कहते हैं। भगवान् के नाम सभी के सब पापों को नष्ट कर देते हैं। केवल पापों का ही नाश नहीं करते; किन्तु वे परम मङ्गल दायक भी हैं। भगवान् के उन नाम, गुण सत्य आदि, गोवर्धन धारण आदि कर्म तथा देवकी पुत्र आदि पदों से कहे जाने वाले जन्मों से युक्त जिनकी वाणियां हैं अर्थात् जो अपनी वाणी के द्वारा भगवान् के नाम, गुण, कर्म और अवतारों का कीर्तन करते रहते हैं, उन जीवों की उनसे युक्त वाणियां ही जीवित है; क्योंकि भगवान् के गुण वाणी के प्राणरूप हैं। वे ही सुशोभित, परिपुष्ट और महिमा युक्त होकर सारे विश्व को पवित्र कर देती हैं।

शरीर में जैसे प्राण, धर्म और अन्न हैं, वैसे ही वाणी और मन में, भगवान् के गुण, जन्म और कर्म ये तीनों प्राण, अन्न तथा धर्म रूप हैं। उनके गुण, जन्म, कर्म तो इन प्राणादि तीनों से भी अधिक हैं; क्योंकि, सिद्ध वस्तु में, फिर भी साध्य वाक्य बोलने से उस सिद्ध वस्तु की अधिकता ही बोधित होती है। अर्थात् प्रमाण-सिद्ध वस्तु को फिर प्रमाणान्तर से सिद्ध करें, तो उस वस्तु की दृढ़ता-उत्कर्ष ही जाना जाता है और जो वाणियां भगवान् के नाम गुणादि का कीर्तन नहीं करती, वे जैसे निर्जीव शरीर को फिर वस्त्र, आभूषणों से अलङ्कृत करने पर भी अमंगल ही रहता है, वैसे ही वे वाणियां भी अमंगलरूप ही हैं; क्योंकि न तो भगवान् के गुण रूप प्राण है, न उन प्राणों का पोषक भगवज्जन्म कीर्तन रूप अन्न है, और न उनके कर्म रूप प्राण कार्य धर्म ही है। इससे यह सिद्ध है कि भगवान् में प्राकृत धर्मों का किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है ॥१२॥

श्लोक:—**स चावतीर्णः किल सात्वतान्वये स्वसेतुपालामरवर्यशर्मकृत् ।**
यशो वितन्वन् व्रज आस्त ईश्वरो गायन्ति देवा यदशेषमङ्गलम् ॥१३॥

श्लोकार्थ:—जो अपनी बनाई हुई वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा के पालक देवों का

कल्याण करने वाले है, जिनके परम मङ्गलमय यश का देवगण गान करते हैं, वही परमेश्वर यदुवंश में अवतार लेकर अपने पवित्र यश को फैलाते हुए इस परम व्रज को सुशोभित कर रहे हैं ॥१३॥

सुबोधिनी:—एतादृश एवायमवतीर्णो न तु धर्मतिरोभावेनेति वक्तुमाह **सचावतीर्ण** इति, चकारात् अन्तर्यामितयावतीर्णोऽपि पुनर्बहिरप्यवतीर्ण इति, **चकाराद्** बलभद्रे वा शेषरूपः, किलेति प्रसिद्धिः प्रमाणं, महतो यत्र क्वाप्यवतारो न भवतीति **सात्वतान्वय** इत्युक्तम्, यादवाः सर्वे वैष्णवाः तेषां वंशप्रसिद्ध्यर्थं वा, अवतारप्रयोजनमाह **स्वस्य सेतुपालाः** भगवता कृता जगति या मर्यादा तस्याः पालका देवा इति तेषामवताराणां **शर्म** सुखं यथैव भवति तथैव करोति, अवतारेणैव भवतीति अवतारं करोतीत्यर्थः, मुख्यं प्रयोजनमाह **यशो** वितन्वन्निति, अग्रे जनिष्यमाणानां मोक्षार्थं, यावत् तानि कर्माणि सिद्धानि न भवन्ति तावद् **व्रज आस्ते**, ननु व्रजे स्थितो किं प्रयोजनं उत्कृष्टस्थाने स्थितेनैव तथा कर्तुमुचितमिति चेत् तत्राह **ईश्वर** इति, अपकृष्टे स्थाने स्थित्वा तादृशं कर्म कुर्वन् सर्वेषां मोक्षं साधयतीति रहस्यसिद्धान्ते चैतत् साधितम्, अत एव **यद्** भगवतश्चरित्रं सर्वे गायन्ति विशेषतो **देवाः** यस्मादशेषस्यापि मङ्गलभूतं भवतीति ।१३।

व्याख्यार्थ:—वहीं यह भगवान् अपने ऐश्वर्य वीर्यादि सकल दिव्य धर्मों सहित अवतीर्ण हुए हैं -यह-'स चावतीर्णः'- इस श्लोक से कहते हैं। वह भगवान् ही अन्तर्यामी रूप से हृदय में, फिर बाहर भी, अथवा बलदेवजी में शेषजी के रूप से अवतीर्ण हुए हैं। 'किल' इस में लोक वेद प्रमाण है। वह भगवद्भक्त (वैष्णव) यादवों के वंश में -वंश की प्रसिद्धि के लिए- अवतीर्ण हुए है; क्योंकि ऐसे महतो महीयान् का अवतार चाहे कहीं साधारण वंश में नहीं होता।

उन (भगवान्) के अवतार लेने के दो कारण हैं। एक तो यह है कि जगत् में उनकी बनाई हुई मर्यादा की रक्षा करने वाले देवों को सुख देना है। उन देवों को जिस प्रकार से सुख हो, वैसा ही करते है। वह देवसुख अवतार के द्वारा ही होता है। इसीलिए अवतार धारण करते हैं। अवतार का दूसरा मुख्य प्रयोजन अपने यश का विस्तार करना है। जिससे उस यश का गान करके आगे उत्पन्न होने वाले जीवों को भी मोक्ष प्राप्ति हो जावे। वे भगवान् अपने उन कर्मों के सिद्ध होने तक व्रज में विराज रहे हैं।

किसी उत्कृष्ट (तीर्थादि) स्थान में न विराज कर व्रज में विराज कर, विचित्र चरित करने का कारण यह है, कि वह ईश्वर (सर्व समर्थ) है। रहस्य सिद्धान्त में सिद्ध कर दिया गया है, कि हीन स्थान में रह कर भी, वे ऐसी क्रीड़ा लीला करते हैं, जिससे, सबको मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए उनके चरित्रों को सारे जीव और सभी देवगण भी गाते हैं; क्योंकि वे देव, तिर्यङ्, नर, देवादि सभी का मङ्गल करते हैं ॥१३॥

श्लोकः—तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम् ।
रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः ॥१४॥

श्लोकार्थः—उनके त्रिभुवन सुन्दर रूप को देखकर सभी नेत्र वाले प्राणी परम

आनन्दित होते हैं। महात्मा पुरुषों के एक मात्र रक्षक तथा गुरु श्रीकृष्ण का वही मनोहर रूप, आज मैं देखूंगा, जिसको लक्ष्मीजी बड़ी प्रीति से चाहती है; क्योंकि आज सवेरे ही सवेरे मुझे अच्छे-अच्छे शकुन दिखाई दे रहे हैं ।।१४।।

सुबोधिनी:–एवं भगवतो माहात्म्यमुक्त्वा सम्यगलौकिकत्वं सम्पाद्य तद्दर्शनं पुरुषार्थो भवतीति कामयते, तं त्वद्येति, तं पूर्वोक्तं, तुशब्देन प्रातीतिकं पक्षं व्यावर्तयति, अद्यैव द्रक्ष्यामि, नूनं नात्र सन्देहः किन्तु निश्चितमेवैतत्, भगवतः पुरुषोत्तमत्वप्रतिपादनाय सर्वफलरूपत्वमाह, महतामेव फलं भवतीति तेषां गतिः गम्यः प्राप्यः फलमिति यावत्, साधनमपि स एवेत्याह गुरुमिति, उपदेष्टापि स एव, ज्ञानं ज्ञानोपदेष्टा वा, एवं वैदिकप्रकारेणोत्तमत्वमुक्त्वा लौकिकप्रकारेणाह त्रैलोक्यकान्तमिति, कान्तः पतिः सुन्दरश्च, किञ्च, विशेषतो दृष्टिमतां ज्ञानवतां वा महानुत्सवो भवति उत्सवः फलं भवतीत्यविवादम्, सर्वेषामेव पतिरपेक्ष्यत इति लौकिकं द्वयमपि फलम्, एवं लौकिकवैदिकफलरूपं दधानमिति दर्शनं महाफलमिति सूचितम् किञ्च, लोके सर्वपुरुषार्थरूपा लक्ष्मीः 'तया विनाक्व देवत्व' मित्यादिवाक्यात्, तस्या अपि ईप्सितमास्पदं स्थानम्, दर्शने आवश्यकं लक्षणमाह ममास्त्वनुषसः सुदर्शना इति, एते प्रातःकालाः अद्यतनाः प्रतिक्षणं सुष्ठु दर्शनं येषां तथाविधाः प्रतिक्षणमानन्दजनका दृश्यन्ते ।। १४ ।।

व्याख्यार्थः—इस प्रकार से भगवान् की महिमा कह कर, उनकी अलौकिकता सिद्ध की। उन का दर्शन स्वतः पुरुषार्थ रूप है। इसलिए -तं त्वद्य- इस श्लोक से अक्रूरजी भगवान् के दर्शन की कामना करते हैं। मैं आज ही उन भगवान् के निश्चय ही दर्शन करूंगा। वे महापुरुषों के प्राप्तव्य अथवा ज्ञान रूप और उपदेशक हैं। ज्ञान प्राप्ति के साधन रूप गुरू हैं। इस प्रकार वैदिक रीति से उनकी पुरुषोत्तमता का वर्णन करके लौकिक रीति से भी वे पुरुषोत्तम हैं, यह सिद्ध करते हैं। वे त्रिभुवन में सुन्दर अथवा त्रिभुवनों के पति हैं। वे -चक्षुष्मतां फल मिदं- नेत्र धारियों (ज्ञान नेत्र वाले) के परम फल हैं। भगवान् के दर्शन करके उन्हें बड़ा आनन्द होता है। वे त्रिभुवन सुन्दर और सबके पति होने से, लौकिक फल रूप हैं; क्योंकि, लोक में सब को ही उत्सव और पति की अपेक्षा होती है। इस तरह लौकिक तथा वैदिक रीति से फल रूप वर्णन करके, यह सूचित किया कि उनका दर्शन परम फल रूप है।

इस लोक में -तया विनाक्व देवत्वम्-लक्ष्मी सकल पुरुषार्थ रूप है। ऐसी लक्ष्मी के भी वे एक मात्र मनोनीत आश्रय हैं, निवास स्थान अभिलषित है। वे मेरे लिए आज अवश्य दर्शन देवेंगे ही; क्योंकि आज ये प्रभात शुभ शकुन दिखाकर मुझे क्षण-क्षण में आनन्दित कर रहे हैं ।।१४।।

श्लोकः—अथावरूढः सपदीशयो रथात् प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये ।

धिया धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवं नमस्य आभ्यां च सखीन् वनौकसः ।१५।

श्लोकार्थः—उन त्रिभुवन कमनीय भगवान् के दर्शन करते ही मैं रथ से उतर जाऊंगा। योगी जन अपने लाभ के लिए प्रधान पुरुष श्रीकृष्ण बलदेव, के जिन

चरणों को केवल बुद्धि (भावना) के द्वारा हृदय में स्थापित करते हैं—साक्षात् दर्शन नहीं पाते—उनका प्रत्यक्ष दर्शन करके मैं प्रणाम करूंगा । तदनन्तर उनके सखा गोपों को भी प्रणाम करूंगा ॥१५॥

सुबोधिनी:— एवं दर्शनमनोरथमुक्त्वा दर्शनानन्तरमनोरथमाह **अथावरूढ** इति, रथावरूढः उत्तीर्णः भगवद्दर्शनानन्तरं सम्भावितदर्शने वा, ईशयोः **चरणं** नमस्ये इति आवेशावतारयोः चरणभेदो नास्तीत्येकवचनम्, ननु बालकयोः कथं नमस्कार उचित इति चेत् तत्राह **प्रधान-पुंसोरीशयो**रिति, मातापित्रोरपि स्वामिनोरिति भावः, अतो गर्भदासाः सर्वं एवेत्युक्तं भवति, ननु नमस्कारे किं प्रयोजनं दर्शनेनैव सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति तत्राह **स्वलब्धये** योगिभिरपि **धिया धृत**मिति, आत्मप्राप्त्यर्थं यत्पदं बुद्ध्या मानसिकं ध्रियते तत्साक्षात् नमस्कृतं किं किं न करोतीति नमस्कारमनोरथोपि युक्त इत्यर्थः, तर्ह्यनेन नमस्कारेण मोक्षः प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थं भक्तिरेव सिध्यत्वित्यभिप्रायेणाह आभ्यां सह एतत्सखीन् गोपालानपि **नमस्य** इति, ततो व्रजौकस एव सर्वाश्रमस्य इति भगवद्धर्माणां सर्वेषामेव सर्वोत्कृष्टत्वज्ञानं भक्तिहेतुरिति ॥१५॥

व्याख्यार्थ:— इस प्रकार अक्रूरजी भगवद्दर्शन के मनोरथ को कहकर, 'अथावरूढः' इस श्लोक से दर्शन के बाद का मनोरथ करते हैं । मैं सम्भावित भगवद्दर्शन करते ही, रथ से उतर जाऊंगा और उनके चरण को प्रणाम करूंगा । वे बालक नहीं है । वे तो प्रधान पुरुष और ईश्वर हैं, माता पिता के भी स्वामी हैं । उनके अतिरिक्त सभी जीव गर्भ से ही दास हैं । केवल वे ही सारे गर्भ दासों के स्वामी हैं । आवेशावतार बलभद्र और साक्षात् अवतारी श्रीकृष्ण के चरणों में भेद न होने के कारण मूल में-चरणं-एक वचन का प्रयोग किया गया है ।

शङ्का:—जब उनका दर्शन मात्र ही सारे पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला है, तब फिर नमस्कार करने का प्रयोजन क्या है ? इसका समाधान 'स्वलब्धये' इत्यादि चार पदों से करते हैं । जिस चरणारविन्द का योगी लोग आत्म प्राप्ति के लिए बुद्धि से मानसिक ध्यान धरते है । जब भावना से हृदय में धारण किया हुआ भी वह भगवच्चरणारविन्द योगियों को आत्मगति दे देता है, तो फिर साक्षात् नमस्कार किया गया वह चरण कमल क्या क्या नहीं कर सकेगा ? इसलिए भगवच्चरण कमल को नमस्कार करने का मनोरथ भी उचित है ।

भगवान् के चरण में नमस्कार करने का मनोरथ करके अक्रूरजी, योगियों की तरह मोक्ष की प्रार्थना न करके, चरण से भक्ति की ही सिद्धि चाहते हैं । वे आगे कहते हैं, कि भगवान् रामकृष्ण के साथ साथ उनके सखा गोपालों को तथा सभी व्रजवासियों को नमस्कार करूंगा । इस प्रकार भगवान् के सारे ही धर्मों का सबसे उत्कृष्ट ज्ञान होना भक्ति का कारण है । भक्ति को सिद्ध करने वाला है ॥१५॥

श्लोकः—अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभुः शिरस्यधास्यन्निजहस्तपङ्कजम् ।
दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम् ॥१६॥

श्लोकार्थः—मैं उन सर्व शक्तिमान् भगवान् के चरणों में गिर पड़ूंगा, तब वे
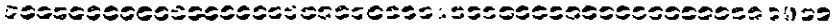
वेगशाली काल रूपी सर्प से घबराए हुए, शरण चाहनेवाले प्राणियों को अभय कर देने वाले अपने हस्त कमल को क्या मेरे शिर पर धरेंगे ? अवश्य ही धरेंगे ॥१६॥

सुबोधिनी:—ततो भगवत्प्रसादरूपं मनोरथमाह **अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्येति,** भक्त्युद्रेकात् शनैर्न नमस्कारः किन्तु चरणमूले पातः, नन्वदृष्टपूर्वे त्वयि कथं भगवान् कृपां करिष्यतीति चेत् तत्राह **विभुरिति,** स हि ज्ञाने प्रसादे च समर्थः, **अप्यधास्यत्** 'आशंसायां भूतवच्चे'ति, अपिति सम्भावनायां प्रायेण हस्तं धास्यतीति, धारणेनैव महत्सुखं भविष्यतीति अन्यदपि ततः फलं भविष्यतीति **हस्तपङ्कजं** वर्णयति **दत्ताभयमिति,** **पङ्कजं** हि जलकार्यं करोति, विषे हि जलेन प्रतीकारः तापरूपत्वाच्च, अत्रापि काल एव भुजङ्गः तस्य रंहसा वेगेन प्रोद्वेजितानां, दंशे तु गन्त्राद्यपेक्षा, केवलं दृष्ट्वैव भीताः पलायिताः कालो ग्रसिष्यतीति त्यक्तपरिग्रहाः सन्न्यासिनः विवेकिनो वा गृहस्थाः, ते च ते भगवच्छरणान्वेषिणः, अन्ये पुनर्देवादियोनयः साधनं कर्तुं शक्ताः, पश्वादयस्त्वज्ञा एव, अत उक्तं **नृणामिति,** अभयं प्रयच्छति, **पङ्कजमिति,** जले स्थिते कमले यः प्रविशति तस्य न भवत्येव सर्पभयं, जले विषस्य न पराक्रमः नापि कमले सर्पः प्रविशति ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थः—अब अक्रूरजी इस-अप्यंघ्रिमूले-श्लोक से भगवान् की कृपा रूप मनोरथ करते हैं। प्रेम-भक्ति-के अतिशय से नमस्कार न करके, पहले चरणों में गिर जाऊंगा। वे ज्ञान तथा कृपा करने में समर्थ हैं। इसलिए चरणों मे पड़े हुए, अपरिचित भी, मेरे शिर पर अपना श्री हस्त कमल रख ही देंगे। श्री हस्त के मेरे मस्तक पर रखने से ही मैं परम सुखी हो जाऊंगा। श्री हस्त को कमल सदृश कहने का तात्पर्य यह है कि कमल भी वही कार्य कर सकता है, जो जल से हो सकता है। विष ताप रूप है। ताप की शान्ति जैसे जल से होती है, वैसे ही, हस्त कमल भी ताप को शान्त (दूर) कर देता है।

यहां तो काल ही महा सर्प है, जिसके वेग से, दूर से देख कर ही, भयभीत हुए, काल ग्रस लेगा,—ऐसा समझकर घर कुटुम्ब को छोड़ देने वाले, सन्यासी, ज्ञानी तथा गृहस्थी लोग भगवान् की शरण खोजते हैं। उनको भगवान् का वह श्री हस्त कमल, अभय प्रदान करने वाला है। कारण यह है, कि जल में रहे कमल में प्रवेश करने वाले को, सांप का भय नहीं रहता, क्योंकि, कमल में सांप प्रवेश नहीं करता। इसीलिए श्री हस्त को कमल सदृश बतलाया है। देव आदि योनिवाले तो अन्य साधन भी कर सकते हैं। पशु पक्षी योनि अज्ञानी ही हैं। इसीलिए मूल मे मनुष्यों के लिए ही केवल भगवान् की शरण में जाना कहा है ॥१६॥

श्लोक:—समर्हणं यत्र निधाय कौशिकस्तथा बलिश्चाप जगत्त्रयेन्द्रताम् ।
यद्वा विहारे व्रजयोषितां श्रमं स्पर्शेन सौगन्धिकगन्ध्यपानुदत् ॥१७॥

श्लोकार्थ:—उस कर कमल में केवल जल तथा साधारण पूजा सामग्री अर्पण करके ही राजा बलि और इन्द्र को त्रिभुवन का राज्य प्राप्त हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण ने उत्तम कमल गन्ध से युक्त अपने उसी कर कमल से व्रज रमणियों की विहार की थकावट दूर की है ॥१७॥

सुबोधिनी—एवमनिष्टनिवारकत्वेन चरणं संस्तूय इष्टदातृत्वेनापि स्तौति **समर्हणमिति, यत्र** हस्ते **समर्हणं निधाय** देयं किञ्चित् समर्प्य **कौशिक:** इन्द्रः **बलिश्चजगत्त्रयेन्द्रतामवाप**, अथमिन्द्रः पूर्व-जन्मनि कौशिकगोत्रे उत्पन्न. बलिरिव भगवद्धस्ते सर्वं निवेदितवान्, तस्य कथा क्वचित् प्रसिद्धा भविष्यति, बलेस्तु प्रसिद्धैव, अवापेति प्रवाह-नित्यत्वात् पूर्वमपि बलिरिन्द्रपदं प्राप्तवानिति, छन्दसि लुङ् लङ् लिट इति भविष्यदर्थे वा लिट्, एवं प्रभुत्वेन अनिष्टनिवारकत्वमिष्टदातृत्वं चोक्त्वा मित्रवदपि कार्यं करोतीत्याह **यद्वा विहार** इति, **व्रजयोषितां** सम्बन्धिनि विहारे तासां **श्रमं** सौगन्धिकगन्धि सौगन्धिकपुष्पवत् गन्धयुक्तं श्रमजलमपानुदत्, वायुना हि श्रमो गच्छति त्रिगुणेन, तद्वत् हस्तेनापि गतमिति सूचयितुं श्रमजलसम्बन्धः, मान्द्यं च सिद्धमिति सौरभ्यार्थं तथोक्तवान्, अनेन नित्यं स भगवच्चरित्रा-नुसन्धानं करोतीति सूचितम्, वेति बह्वर्थसूचनार्थ, अनेन सर्वेषामेव धर्मान् करोतीति सर्वफलदातृत्वं सूचितम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ:—इस प्रकार भगवान् के चरणारविन्द की अनिष्ट निवारक रूप से स्तुति करके, 'समर्हणं यत्र' इस श्लोक से उनके कर कमल की इष्ट दाता रूप से अक्रूरजी स्तुति करते हैं। भगवान् के श्री हस्त में थोड़ी सी देने की वस्तु (पूजा सामग्री) समर्पण करके इन्द्र ने और बलि राजा ने भी त्रिलोकी का राज्य प्राप्त कर लिया है। यह इन्द्र पूर्व जन्म में कौशिक गोत्र में उत्पन्न है और राजा बलि की तरह इसने भी भगवान् के श्री हस्त में सर्वस्व निवेदन कर दिया था। उसकी कथा कहीं प्रसिद्ध होगी। बलि राजा की कथा तो प्रसिद्ध ही है।

अवाप:—इस मूलस्थ अनद्यतन परोक्ष भूत काल के प्रयोग से ज्ञात होता है, कि इस सृष्टि प्रवाह के सदा इसी प्रकार चलते रहने (नित्य होने) के कारण पहले भी बलि राजा ने इन्द्र पद को प्राप्त कर लिया होगा।

अथवा—'छन्दसि लुङ्, लङ्, लिट्':—इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार यह-अवाप-लिट् भविष्यत् अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार-सर्व शक्तिमान् भगवान् का चरण कमल अनिष्ट को दूर करने वाला है और श्री हस्त कमल वाञ्छित् मनोरथ को देने वाला है-अनिष्ट निवारक तथा इष्ट दाय-कता का वर्णन करके आगे—'यद्वा विहारे-इत्यादि मूलस्थ पदों से बतलाते हैं कि आपका हस्त कमल एक मित्र की तरह भी कार्य करता है। सुगन्धित श्वेत पुष्प की सी गन्ध वाले उस श्री हस्त कमल ने स्पर्श मात्र से ही, व्रज सीमन्तिनी सम्बन्धी विहार में, उनके सहज सुगन्धित श्रम जल को दूर कर दिया है।

सुगन्धित, शीतल, मन्द-इन तीन प्रकार की वायु से थकान दूर होती है। भगवान् के, पवन जैसे मन्द, सुगन्धित और शीतल, श्री हस्त स्पर्श से ही उनकी थकावट (श्रमजल) को दूर करने वाला है। इस कथन से यह सूचित किया गया है, कि अक्रूरजी सदा ही भगवान् के चरितों का अनु-सन्धान (चिन्तन) करते थे। और दूसरी बात यह भी सूचित की गई है कि वह कर कमल सभी लोगों को उनके मनोरथानुसार सारे ही फल देने वाला है। मोक्ष की इच्छा रखने वालों को मुक्ति, सकाम जनों को अभ्युदय और भक्तजनों को परमानन्द देने वाला है ॥१७॥

लेख:—'यद्वा विहारे' इस श्लोक की व्याख्या में सौगन्धिक-गन्धि-यह प्रथमान्त पद श्री हस्त कमल का विशेषण है। यह पद यहां कर्तृपद है और श्रम यह कर्म है। गत मिति-पद का तात्पर्य-

श्रम जल चला गया है, जो श्री हस्त को वायु के तुल्य सूचित करने के लिए कहा है। मान्ध च सिद्ध-पदों का अभिप्राय यह है, कि श्रम जल का श्री हस्त से पोंछना न कहकर केवल स्पर्श मात्र से ही दूर कर देना कहने से श्री हस्त की मन्दता सिद्ध होती है ॥१७॥

श्लोकः— न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक् ।
योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा ॥ १८॥

श्लोकार्थः—अक्रूरजी आगे मन ही मन में सोचते हैं कि यद्यपि मैं कंस का दूत बन कर उसके भेजने से ही जा रहा हूँ तो भी वे सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण मुझे अपना शत्रु कभी नहीं समझेंगे। वे अपनी ज्ञान दृष्टि से केवल मेरे मन की ही नहीं, सारे ही जगत् की बाहरी तथा भीतरी चेष्टाओं को भी देखते रहते हैं ॥१८॥

सुबोधिनीः—ननु शत्रुरेव भवान् शत्रुकार्यं च साधयतीति केश्यादेरिव तवापि वधमेव करिष्यति न तु प्रसादमित्याशङ्क्याह न मय्युपैष्यतीति, **मयि अरिबुद्धिं नोपैष्यति** शत्रुरयमिति नाङ्गीकरिष्यति, तत्र हेतुरच्युत इति, अच्युतत्वात् तस्य न कुतश्चिद् भयं, अतः स्वापकारकत्वेन न कोपि भगवतः अरिः, दैत्यानां मारणं तु तेषां लोकानां चोपकाराय, यद्यप्यहं कंसस्य दूतः तेनैव प्रेषितः मां प्रति यावदुक्तं तावच्च करिष्यामि, ततो लोकदृष्ट्या अरिबुद्धिः कर्तव्या, तथाप्यच्युतत्वात् न करिष्यति, मारणनिमित्तं तु मयि नास्तीति भावः, किञ्च, विश्वदृक्, व्याजेन अपकारार्थं प्रवृत्त इति ममैव हितार्थं वधं कुर्यात्, तद् भगवति व्याजो न सम्भवति यतो विश्वमेव पश्यति, इदं न ज्ञायत इति न व्याजं च करिष्यामि नाप्यतिक्रमं, अस्मिन्नर्थे प्रमाणमाह योऽन्तर्बहिरिति, चेतसोऽन्तर्बहिश्च ईहितं भगवानीक्षते, कदाचिदपि चित्तवृत्तिरेतादृशी भवेत् तदा मारणमेवोचितमन्यथा तु न मारयिष्यति, किञ्च, एतदपि तिरोहितं विश्वासरूपं भगवान् जानाति, स्वरूपे स्थित एव जानाति, प्रकारान्तरेणापि जानातीत्याह क्षेत्रज्ञ इति, सर्वं क्षेत्रं जानातीति, शरीरं क्षेत्रम्, 'महाभूतान्यहङ्कार' इत्यादिना निरूपितं 'सविकारं', क्षेत्रदर्शनेपि विशेषमाह अमलेन चक्षुषेति, चक्षुषः चक्षुषा, तदमलमेव भवति, अमलं चक्षुर्वस्तुयाथात्म्यमेव गृह्णाति, अतः सर्वमेव भगवतः प्रत्यक्षमिति मद्वृत्तान्तं जानातीति न मय्यरिबुद्धिः, चित्तस्य बहिः कार्यमान्तरमिच्छा ज्ञानं च, इच्छामध्य इति केचित्, एवं सति चित्तस्य चिदानन्दतद्रूपता भवति ॥१८॥

व्याख्यार्थः—शङ्का-शत्रु का कार्य सिद्ध करने वाला भी तो शत्रु ही होता है। इसलिए अक्रूरजी आप तो भगवान् के शत्रु ही हो। अतः वे श्रीकृष्ण केशी आदि की तरह आपका भी वध ही करेंगे। उनसे आप कृपा की आशा क्यों कर रहे हो ? इसका उत्तर वे स्वयं, 'न मय्युपैष्यति' इस श्लोक से दे रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण मुझ पर शत्रु बुद्धि नहीं करेंगे। वे मुझे शत्रु नहीं मानेंगे; क्योंकि वे तो अच्युत हैं। उन्हें तो किसी से भय नहीं है। इसलिए अपकारक रूप से उनका कोई भी बैरी नहीं है। दैत्यों का वध तो उन्होंने उन दैत्यों के और लोकों के उपकार के लिए किया है।

यद्यपि मैं कंस का दूत हूँ, कंस ने ही मुझे भेजा है, और जितना उसने कहा है, उतना ही सब करूंगा। इसलिए लोक दृष्टि से तो, मुझ पर शत्रु बुद्धि करना चाहिए, तो भी वे अच्युत भगवान् मुझको शत्रु नहीं समझेंगे। मार देने की तो आशंका ही नहीं है। क्योंकि मैंने कोई ऐसा भारी अपराध ही नहीं किया है। कदाचित् यही अपराध मान कर कि मैं मुख दर्शन के बहाने से, उनका अपकार कराने ले जाऊंगा--वे मेरा बध भी कर देंगे तो वह मेरे ही हित के लिए करेंगे, क्योंकि वे सारे विश्व के द्रष्टा हैं। उनके साथ छल की सम्भावना नहीं है। वे यह जानते हैं, कि यह, मैं उनके साथ कपट नहीं कर रहा हूं और न उनका अतिक्रमण ही कर रहा हूं।

वे तो स्वरूप से स्थित रह कर ही चित्त की बाहर की और भीतर की सारी चेष्टाओं को देखते हैं। यदि कभी चित्त की वृत्ति अहित करने की हो जाए तो बध कर देना ही उचित है। चित्त में अहित की भावना नहीं है। तो वे नहीं मारेंगे। केवल यह ही नहीं; वे तो क्षेत्रज्ञ भी हैं। 'महाभूतान्यहंकारः' इस वाक्यानुसार वे सारे शरीरों को जानते हैं। वो भी निर्मल चक्षु से देखते हैं। चक्षुषश्चक्षुः-आंख से भी आंख निर्मल होती है। और निर्मल आंख ही वस्तु की वास्तविकता देख सकती है। इसलिए जब सारा वृतान्त उनके प्रत्यक्ष (सामने) है तो मेरे वृतान्त को भी वे जानते हैं। इसलिए मुझ पर वे शत्रु बुद्धि नहीं करेंगे। चित्त के तीन रूप हैं--बाहरी कार्य, भीतरी इच्छा और ज्ञान। इस प्रकार से ज्ञानेच्छा प्रयत्न के कारण चित्त की सच्चिदानन्द रूपता होती हैं॥१८॥

लेख:—न मय्युपैष्यति-इस श्लोक में-चेतसोऽन्तर्बहिरीहितं-मूलस्य पदों की व्याख्या में-चित्तस्य बहिः कार्यम्-इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है कि चित्त की बाहरी चेष्टा कार्य करना और भीतरी चेष्टा इच्छा और ज्ञान है। ज्ञानचिद्रूप है, इच्छा-सुख का धर्म है इसलिए-आनन्द रूपा है और कार्य सद्रूप है। इस प्रकार चित्त चिद्रूप, आनन्द रूप और सद्रूप है॥१८।

श्लोक।—अप्यंघ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिं मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा।
सपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम्॥१९॥

श्लोकार्थः—उनके चरणों में प्रणाम करके हाथ जोड़कर जब मैं उनके आगे खड़ा हो जाऊंगा, तब क्या वे मन्द मुस्कान के साथ दया दृष्टि से मेरी ओर देखेगें? यदि ऐसा हुआ तो उसी समय मेरे समस्त पातक नष्ट हो जायेंगे और निःशङ्क होकर परम आनन्द को पाऊंगा॥१९॥

सुबोधिनी:—ननु तथापि संसर्गदोषात् अन्नादिदोषाच्च त्वां नाङ्गीकरिष्यतीत्याशङ्क्य तत् परिहरन् मनोरथमाह अप्यंघ्रिमूलेवहितमिति, पूर्वपुण्यवशात् अहं पादयोः पतिष्यामि, ततः अपराधे गते मयि दया उत्पत्स्यते नष्टो जायत इति, तदा दयादृष्ट्या सपद्येवापध्वस्तसमस्तकिल्बषो भूत्वा मुदं परमानन्दं वोढा वहिष्यामि, वीतविशङ्कश्च ततः प्रभृति भविष्यामि, ऊर्जितश्च चरणमूले पतितोवश्यं दृश्यते, अन्यथाग्रे गमनं न भवेत्, कदाचिदाकम्पोल्लङ्घ्य वा अन्यचित्तो गच्छेदित्याशङ्क्याह अवहितं इति, अहं सावधान आत्मानं ज्ञापयिष्यामि प्रपन्नोहमिति, नान्यथाबुद्धिर्भविष्यतीत्येतदर्थमाह कृताञ्जलिमिति, अत एव मामीक्षिता अवश्यं द्रक्ष्यति, तत्र प्रमाणमाह असाविति, इदानीमेव भावनायामेव प्रत्यक्षो जातः तदा किं वक्तव्यमिति, मम प्रवृत्तिं पूर्वदौरात्म्यं च स्मृत्वा
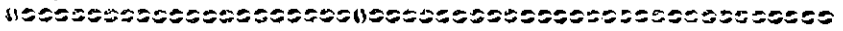
सस्मितोऽपि भविष्यति, ततः प्रवृत्तिं ज्ञात्वा आर्द्रापि दृष्टिर्भविष्यति, एवं भगवतः दृष्टिमन्दहास-स्नेहेषु जातेषु देशकालकर्मापेक्षायाः निवृत्तत्वात् सद्यश्च गतपापो भविष्यामि, वासनापि नमिष्यति मां परित्यज्य अधस्तादेव पतिष्यति, भगवता ममायमनुपकारः कृत इति फलसिद्ध्या निरन्तरं सन्तोषं च प्राप्स्यामि, पूर्वं यावानपराधः कृतः तावानग्रे न भविष्यतीति पूर्वस्य चेत् भगवान् निवारको जातः अग्रे कः सन्देहो भविष्यतीति वीतविशङ्कः शङ्का च न भविष्यति, ततो भगवद्भक्तेषु भगवदीयकार्येषु वा ऊर्जितः समर्थश्च भविष्यामि, एतस्य सर्वस्यापि मूलं दर्शनमेव ॥१९॥

व्याख्यार्थः--फिर भी दुष्ट कंस का संसर्ग दोष तथा कंस के द्वारा मिले हुए अन्न का भक्षण करने के दोष से भगवान् अक्रूर को अङ्गीकार नहीं करेंगे-ऐसी आशंका को दूर करते हुए अक्रूरजी अध्यक्षिगूले इस श्लोक से मनोरथ कहते हैं। मैं अपने पहिले किए हुए पुण्यों के कारण भगवान् के दर्शन करते ही उनके चरणों में गिर पड़ूंगा। तब मेरा सब अपराध नष्ट हो जायगा और मुझ पर भगवान् को दया आ जावेगी। उनकी दया दृष्टि से मेरे सारे पाप नष्ट हो जायेंगे और निर्भय होकर परम आनन्द को प्राप्त करूंगा। तभी से मैं निःशङ्क तथा शक्ति सम्पन्न हो जाऊंगा। ऊर्जित (शक्ति शाली) हुए बिना भगवान् के आगे जाया ही नहीं जाता है।

मैं अन्य मनस्क की तरह से आक्रमण अथवा उल्लंघन करके नहीं जाऊंगा; मैं तो सावधान होकर सावधानी से ही उनके अनन्य शरणागत हो जाऊंगा। हाथ जोड़कर खड़े हुए मुझ पर उनकी शत्रुबुद्धि नहीं रहेगी। इसीलिए ये भावना में ही प्रत्यक्ष हुए-भगवान् मेरी ओर अवश्य देखेंगे और फिर सामने चला जाऊंगा तब तो अवश्य ही देखेंगे ही। मेरे व्यवहार तथा पहले के दुर्गति-भाव का स्मरण करके वे मुस्करायेंगे और उनकी दृष्टि प्रेमार्द्र हो जावेगी। इस प्रकार से भगवान् की दया दृष्टि, मन्द हास और स्नेह-इन तीनों के युक्त हो जाने पर पापों के नाश होने में देश, काल तथा कर्म की अपेक्षा ही नहीं रहेगी। और मैं शीघ्र ही निष्पाप हो जाऊंगा। मेरी पापों की वासना भी दूर जा गिरेगी। इस तरह (भगवान् ने मुझ पर बड़ा ही उपकार किया है) फल की सिद्धि से मुझे अत्यन्त सन्तोष मिलेगा। पहले जितना अपराध आगे नहीं होवेगा और प्रथम का अपराध क्षमा कर देंगे तो आगे के अपराध की क्षमा में भी कोई सन्देह नहीं है। इस प्रकार से मैं सभी प्रकार से शङ्कारहित तथा भगवान् के भक्तों में तथा भगवत्-सम्बन्धी कार्यों को करने में मैं समर्थ हो गया। इन सभी बातों का मूल कारण भगवान् का दर्शन है। उनके दर्शन से ही मैं सब प्रकार से आनन्दित, निष्पाप, सन्तुष्ट, निःशंक तथा समर्थ हो जाऊंगा ॥१९॥

श्लोकः—सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेथ माम् ।
आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे बन्धश्च कर्मात्मक ऊच्छ्वसित्यतः ॥२०॥

श्लोकार्थः—मैं श्रीकृष्ण का परम मित्र और सजातीय हूँ। उनके सिवाय कोई और इष्टदेव नहीं है। यदि वे अपनी विशाल भुजाओं के द्वारा मुझे अपने हृदय से लगा लेंगे तो मेरी आत्मा-देह-तीर्थ के समान अत्यन्त पवित्र हो जायगी और इस देह के सारे कर्म बन्धन ढीले पड़ जायगे ॥२०॥

सुबोधिनी:— ततो मनोरथान्तरमाह सुहृत्तममिति, भगवान् बृहद्भ्यां दोर्भ्यां मां परिरप्स्यते किम्, तथा चेदात्मा मे देहः तीर्थीक्रियते, अतीर्थभूतमपि तीर्थं भविष्यति, लोकानामप्युद्धारं करिष्यति किं पुनर्ममेति, आलिङ्गनं त्रयाणां भवति, अन्तःकरणसम्बन्धिनां देहसम्बन्धिनां शास्त्रीयभक्तानां च, अहं तु त्रिरूपोपीति ममालिङ्गनं करिष्यत्येव, सुहृत्तमोतिस्निग्धः, ज्ञातिर्गोत्रजः, न विद्यते अन्यत् दैवतं यस्य, सुहृत्तमत्वं लोके सन्दिग्धमपि स्वानुभवात् निर्णीतमिति सिद्धवत्कारेणोक्तं, हेतुत्रयं बाधाभावाय आवश्यकत्वाय कार्याय च, देहे आत्मपदप्रयोगः भगवत्स्पर्शात् स्पर्शे वा तस्योत्तमत्वख्यापनाय, युक्तश्चायमर्थः, सर्वाङ्गे चरणो हीनः, तत्र चेद् गङ्गादितीर्थान्युत्पद्यन्ते तत उत्तमाङ्गेषु ततोपि बहून्येव तीर्थानि निर्गच्छन्तीति परिरम्भणानन्तरं निर्गतो देहः गङ्गाद्यपेक्षयापि महानेव भवति, तदैवेत्यग्रेणैव सम्बन्धः, तदैव जातोग्रेप्यनुवर्तत इति वा, तदैव कर्मात्मकश्च बन्ध उच्छ्वसिति विदीर्णो भवति, अनेन स्वपरोपकार उक्तः, अतोस्माच्छरीरात् मत्तो हेतोर्वा ॥२०॥

व्याख्यार्थः—सुहृत्तम–इस श्लोक से अक्रूरजी फिर अन्य मनोरथ करते हैं। वे कहते हैं कि भगवान् अपनी विशाल भुजाओं से क्या 'उनका' मेरा आलिङ्गन करेंगे? यदि ऐसा किया तो मेरा शरीर जो अभी तीर्थ नहीं है–तीर्थ रूप हो जायगा। तीर्थ तो दूसरों का भी उद्धार कर देता है, तो फिर मेरा उद्धार तो निश्चित ही है।

आलिङ्गनः—अन्तः करण सम्बन्धियों का, देह सम्बन्धियों का तथा भक्तों का शास्त्रानुसार तीनों का होता है। मैं भगवान् का अत्यन्त स्नेही (सुहृत्तम) उनके गोत्र (ज्ञाति) का तथा भक्त एक मात्र उन्हीं को देवता मानने वाला हूँ। यद्यपि लोक में मेरी उनके साथ घनिष्टता प्रसिद्ध नहीं हैं तो भी वे अपने अनुभव से स्वयं को दृढता पूर्वक भगवान् का सुहृत्तम बतलाते हैं। इस प्रकार से भगवान् के साथ ये तीनों सम्बन्ध रखनेवाले मेरा आलिङ्गन वे अवश्य ही करेंगे।

मूल में आलिङ्गन करने के सुहृत्तम, ज्ञाति, अनन्यदैवत-ये तीन कारण बाधक न होने, आवश्यक होने और कार्य के लिए लिखे गए हैं। यहां देह को आत्मा कहना अक्रूरजी की मनुष्य बुद्धि के अनुसार कहा गया है। अथवा भगवान् का स्पर्श होने पर देह की उत्तमता को विख्यात करने के लिए देह को आत्मा कहा है। और यह कहना उचित ही है। अक्रूरजी की मनुष्य बुद्धि का अनुसरण करके व्याख्या में लिखा गया है कि श्री अङ्ग में अन्य कर मस्तकादि अंगों की अपेक्षा हीन अङ्ग है। ऐसे भगवच्चरण से भी सारे त्रिभुवनों को पवित्र करने वाले गङ्गादि तीर्थों का उद्गम होता है। तो चरण से उत्तम अन्य भगवान् के अन्य अङ्गों से असंख्य तीर्थ उत्पन्न होते हैं। तब तो उनके आलिङ्गन कर लेने पर देह गङ्गादि तीर्थों से भी उत्तम और माहात्म्य युक्त हो जाता है; तथा शरीर के अथवा मेरे (अक्रूर के) कर्म बन्धन उसी क्षण कट जाते हैं॥२०॥

श्लोकः—लब्धाङ्गसङ्गं प्रणतं कृताञ्जलिं मां वक्ष्यतेक्रूर ततेत्युरुश्रवाः।
तदा वयं जन्मभृतो महीयसा नैवादृतो यो धिगमुष्य जन्म तत् ॥२१॥

श्लोकार्थः—इस प्रकार श्री अङ्ग स्पर्श का सुख पाकर हाथ जोड़कर जब मैं नम्र भाव से उनके सामने खड़ा होऊंगा, तब महायशस्वी श्रीकृष्ण "हे तात! हे अक्रूर!"

कहकर मुझसे संभाषण करेंगे। तब मेरा यह मानुष जन्म सफल हो जावेगा। जो जन परम पूज्य श्री हरि के आदर का पात्र नहीं है, उसके जन्म को धिक्कार है ॥ २१ ॥

सुबोधिनी:—एवं मनःशरीरसम्बन्धी प्रार्थयित्वा वाचनिकं प्रार्थयति लब्धाङ्गसङ्गमिति, पूर्वधर्माणामनुवृत्त्यर्थमनुवादः, अन्यथा विकल्पो भवेत्, लब्धः अङ्गसङ्गो येन, एतावता गर्वो भवेदित्यत आह प्रणतमिति, पूर्वधर्माश्रयं, ततः कृताञ्जलिः पुनर्विज्ञापकः, तदा हे **अक्रूर** हे तातेति **मां वक्ष्यति** किं, नाम्ना सम्बोधनं महत्वख्यापकम्, पितृतुल्यत्वेन बन्धुत्वं स्नेहित्वं च ख्यापयति, इतिशब्दः प्रकारवाची, एवं सम्बोधने फलमाह तदा वयं जन्मभृत इति, स्वभावतः कुलतश्च, अन्यथा महत उत्पत्तिस्तादृशे कुले चोत्पत्तिर्व्यर्था स्यात्, ननु भगवान् किमित्येवं प्रतिष्ठां दद्यात् तत्राह **उरुश्रवा** इति, यस्य गृहे यदधिकं भवेत् तदेवान्यस्मै च दद्यात् उरु अधिकं **श्रवो** यस्येति, ननु स्वभावतो महान् भगवता चेत् नाङ्गीकृतः तदा किं स्यादित्याशङ्क्याह **महीयसा यो नादृतः अमुष्य जन्म धिगिति**, सर्वदा आदराभावेपि कदाचिदप्यादरोपेक्ष्यते, तदभावे जन्मवैयर्थ्यमेव, तेन जन्मना लौकिकमपि कार्यं न भवतीति ज्ञापनार्थं धिगित्युक्तम् ।२१।

व्याख्यार्थ:—इस प्रकार गत दो श्लोकों से मन और शरीर के सम्बन्ध की प्रार्थना करके अक्रूरजी लब्धाङ्गसङ्ग–इस श्लोक से वाणी के सम्बन्ध की प्रार्थना करते हैं। पहले कहे हुए धर्मों का पुनः अनुवाद अनुवृत्ति का सूचक है, विकल्प का सूचक नहीं है। भगवान् के श्री अङ्ग का स्पर्श करके तीर्थ रूप हुए, नम्र 'तो भी गर्व नहीं करने वाले', और हाथ जोड़कर खड़े हुए मुझसे वे 'हे अक्रूर ! हे तात !' मेरा नाम लेकर सम्भाषण करेंगे; क्योंकि नाम लेकर सम्बोधित करना महत्व, पिता की समानता तथा स्नेह का सूचक होता है। भगवान् का सभी जगह सम्मान, कीर्ति और प्रतिष्ठा होती है। इसलिए ये सारी वस्तुएं (उरुश्रवा) उनके पास अत्यधिक हैं। जिसके पास जो वस्तु अधिक होती है, वह उसके पास आने वालों को वही वस्तु देता है। इस सर्व साधारण नियम से भगवान् मेरा सम्मान करेंगे।

अक्रूरजी तो स्वभाव से और कुल से भी महा पुरुष ही हैं। तब ही तो इनका यादव कुल में जन्म हुआ। इसलिए श्रीकृष्ण ने यदि इनका अङ्गीकार-सम्मानादि–नहीं किया तब भी इनकी क्या हानि होगी ? क्या बिगड़ेगा ? इस शङ्का के उत्तर में स्वयं कहते हैं कि–'महतो महीयान्'-भगवान् जिसका आदर न करें, उस मनुष्य के जन्म को धिक्कार है। यद्यपि सदा सम्मान की अपेक्षा नहीं होती, तो भी समय पर सम्मानित नहीं हुए पुरुष का जन्म व्यर्थ ही है; क्योंकि उसके ऐसे जन्म से कुछ लौकिक कार्य भी सिद्ध नहीं होता है। इसी बात को बतलाने के लिए मूल में धिक् शब्द कहा है ॥ २१ ॥

श्लोक:—न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा ।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोर्थदः ॥२२॥

श्लोकार्थ:—वास्तव में भगवान् समदर्शी हैं उन्हें न कोई प्रिय है न अप्रिय है,

न शत्रु है और न कोई उपेक्षा का ही पात्र है। फिर भी जैसे कल्प वृक्ष अपने पास आनेवाले की कामना को पूरी करता है, वैसे ही उनको जो जिस भाव से भजता है, उसको वे भी उसी भाव से भजते हैं ॥२२॥

सुबोधिनी—ननु पुरुषोत्तमो भगवान् त्वमत्यन्त हीनः कथमेवं तवादरं करिष्यति, तस्य बन्धुत्वादि तु नापेक्ष्यत एवेति चेत्, सत्यं, तथापि मन्मनोरथः सेत्स्यतीत्याह **न तस्येति**, वस्तुतो भगवान् सर्वेषामेव स्वरूपं, अन्तरान्यथाभावे तु पञ्च भगवता सह व्यवधानानीति, लोके जीवानां परस्परं पञ्च सम्बन्धा भवन्ति, बुद्धिस्त्रिविधा अपेक्षोपेक्षाद्वेषभेदात्, अपेक्षा द्विविधा, देहसम्बन्धात् मित्रभावाद् वा, द्वेषश्च द्विविधः, स्वस्य द्विष्टतया तत्कृतापकारेण वा, तत्र **दयितः** देहसम्बन्धी स्निग्धः, सुहृत्तमोतिमित्रं, भगवान् सर्वसख इति तद्व्यावृत्त्यर्थं तमप्प्रत्ययः, **अप्रियः** स्वस्य द्वेषविषयः, **द्वेष्यः** द्वेषहेतुः, विपरीतं वा, भगवांस्तु कस्यापि किमपि न भवति यतो देहधर्मा एवैते, तथाच लौकिकन्यायेन पुरस्कारः अपकारो वा न भवति दृष्टान्तार्थं द्वितीयमुक्तम्, तथापि भक्तिशास्त्रात् तथा करिष्यतीत्याह **तथापीति**, अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति प्रतिज्ञा विरुद्धा स्यात्, तेपि भगवन्तं भजन्त इति **भक्तान् भजते**, **यथा** भक्तास्तथा, नन्वेवं सत्यनर्थ एव स्यात्, प्रयोजनाभावश्च, भक्तो नमस्करोति पादसंवाहनं च करोति तथा चेत् कुर्यात् जीवानां कार्यमेव नश्येत्, तुलसी हि समर्प्यते भगवते भगवानपि चेत तुलसीमेव दद्यात् किं स्यादित्याशङ्क्याह **सुरद्रुमो यद्वदिति**, भजनार्थमेव हि तथाकरणं, भगवांस्तु तदनुसर्गपेक्षितमेव फलं प्रयच्छति, नापि तत्कृतं नापि स्वेच्छया, यथा कल्पवृक्षः निकटे गत एव कार्यं साधयति, अनेन सर्वात्मकत्वेपि भगवतः भक्तेभ्य एव दानमिति वैषम्यं परिहृतम्, नह्यपेक्षितं प्रयच्छन् कल्पवृक्षो विषमो भवति, अन्यथा व्यवस्थितिर्न स्यादिति, कर्मफलं तु तुच्छम्, तथा सति भगवत उत्कर्षोपि न स्यात्, अत **उपाश्रितार्थंव** पुरुषार्थदः, नत्वनुपाश्रितायेति सर्वं सुस्थम् ॥२२॥

व्याख्यार्थः—यद्यपि यह सत्य है कि वे भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम हैं, उन्हें जाति, गोत्र तथा बन्धु को अपेक्षा नहीं है। मैं तो अत्यन्त हीन हूँ, तो भी वे मेरा आदर करेंगे ही, मेरा मनोरथ सिद्ध ही होगा—यह-न तस्य-इत्यादि श्लोक से कहते हैं। वास्तव में भगवान् सबके ही स्वरूप हैं, तो भी बीच में भगवान् के साथ पांच व्यवधान होने से वे सर्वरूप प्रतीत नहीं से हो रहें हैं। लोक में जीवों के आपस में एक दूसरे के साथ पांच सम्बन्ध होते हैं। अपेक्षा, उपेक्षा और द्वेष भेद से बुद्धि तीन प्रकार की है। देह सम्बन्ध और मित्र भाव भेदों से अपेक्षा दो प्रकार की है। स्वयं बैर करने अथवा किसी के अपकार करने पर-द्वेष भी दो प्रकार का होता है। उनमें अत्यन्त प्रिय देह सम्बन्ध से होता है और अत्यन्त सुहृत्-मित्र भाव से होता है। भगवान् सबके मित्र हैं, यही नहीं, वे तो सबके घनिष्ट मित्र है, सुहृत्तम हैं।

भगवान् का कोई अप्रिय-द्वेष पात्र तथा द्वेष्टा-द्वेष का हेतु तथा विपरीत भी कोई नहीं है। वे तो किसी के कुछ भी नहीं है। क्योंकि ये सारे शत्रु मित्रादि देह के ही धर्म हैं। इसलिए आनन्द मात्र आकार भगवान् से लोक रीत्यानुसार न कोई आदर पाता है और न कोई तिरस्कार ही; क्योंकि कि वे किसी का अथवा कोई उनका अपकार तथा द्वेष पात्र नहीं है। यद्यपि यह सब सत्य है, तो भी वे मेरा भक्ति शास्त्र के अनुसार सब प्रकार आदर करेंगे ही; क्योंकि 'ये यथा मां' अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भक्तों को वैसे ही भजते हैं; जैसे भक्त उनको भजते हैं।

शङ्का:—भक्त तो भगवान् को नमस्कार करता है। उनके पाद-प्रक्षालन-पांव दबाता है। और तुलसी पत्र अर्पण करता है। बदले में भगवान् भी भक्त के साथ वैसा ही भजने-करने-लग जाय, तब तो बड़ा ही अनर्थ होगा ? इस शंका की निवृत्ति यहां कल्प वृक्ष के दृष्टान्त से की है। जैसे कल्प वृक्ष उसके निकट जाने वाले को ही उस जाने वाले का वाञ्छित ही अपेक्षित ही फल देने से विषम नहीं होता, वैसे ही सर्वात्मक भी भगवान् सदा निकट-भजने-वाले भक्तों को ही उनका अपेक्षित ही देते है उनको श्रुति अथवा अपनी इच्छा से नहो देते और विषम भी नहीं होते। "वैषम्यनैर्घृण्ये न, सापेक्षत्वात्" निकटस्थों को भक्तों को अपेक्षित का दान करने से विषमता मान ली जायगी तो कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी। कर्मानुसार फल देते हैं उनका आश्रय करने से क्यों ? यह कहना तो तुच्छ है; क्योंकि कर्मानुसार फल देने से तो भगवान् का कुछ उत्कर्ष ही नहीं रह जाता। इसलिए कल्प वृक्ष की तरह वे उनके आश्रितों के लिए ही पुरुषार्थ देते हैं, उनका आश्रय नहीं करने वालों को नहीं देते हैं। इस प्रकार से सारी व्यवस्था ठीक हो जाती है ॥२२॥

श्लोक:—किं वाग्रजो मावनतं यदूत्तम: स्मयन् परिष्वज्य गृहीतमञ्जलौ।
गृहं प्रवेश्याप्तसमस्तसत्कृतं सम्प्रक्ष्यते कंसकृतं स्वबन्धुषु ॥२३॥

श्लोकार्थ:—मैं जब शिर झुकाये और हाथ जोड़कर सामने खड़ा होऊंगा, तब प्रसन्न मुख बलदेवजी मेरा आलिङ्गन करेंगे और मेरा हाथ पकड़कर घर के भीतर लिवा ले जायेंगे। वहां भोजन आदि से मेरा सत्कार करके माता, पिता, बन्धु बान्धवों की कुशल तथा उनके साथ कंस के व्यवहार को भी पूछेंगे ॥२३॥

सुबोधिनी—एवं भगवद्विषयकं कायवाङ्मनोरूपं मनोरथमुक्त्वा बलभद्रविषयकं मनोरथमाह **किं वेति**, **अग्रजो** ज्येष्ठभ्राता, अनेन मया सर्वोपि वृत्तान्तो ज्ञायत इति मयि कृपां करिष्यतीति भाव:, तस्याप्यहमवनत: ज्येष्ठस्यापि कनिष्ठावनतौ उत्तमत्वं प्रयोजकमिति **यदूत्तम** इत्युक्तम्, **स्मयन्निति**, सम्यक्त्वमागत: कंसं घातयितुमिति, बन्धुत्वात् **परिष्वज्य** महत्त्वपूर्वकं मामञ्जलौ **गृहीत्वा** अतिनिकटत्वात् **गृहं प्रवेश्य** भोजयित्वा गृहगतमिव कृत्वा ततोप्यधिकं वा **आप्ता समस्ता सत्कृति**र्येन तादृशं पश्चाद् विश्रान्तं **स्वबन्धुषु कंसकृतं सम्प्रक्ष्यते** किमिति लोके सिद्धमिति, भगवान् महानिति मनोरथ: ॥२३॥

व्याख्यार्थ:—इस प्रकार अक्रूरजी देह, वाणी और मनरूप अपना भगवान् सम्बन्धी मनोरथ का वर्णन करके अब 'किं वाग्रजो' इस श्लोक से बलदेवजी सम्बन्धी अपना मनोरथ कहते हैं। ये भगवान् के बड़े भाई हैं। मैं उनके सारे ही वृतान्त को जाननेवाला हूँ। इसलिए वे प्रणाम करने वाले मुझ पर कृपा करेंगे। वे यादवों में उत्तम हैं। अत: मुझसे आयु में छोटे होने पर भी वे मेरे प्रणम्य है। कंस का वध कराने के लिए मैं उन्हें लिवाने जाऊंगा—यह अपनी अलौकिक दृष्टि से जानकर तथा मैं उनका अत्यन्त निकट सम्बन्धी बन्धु हूं—इस कारण वे हँस कर मेरा आलिङ्गन करेंगे और बड़े सम्मान के साथ मेरा हाथ पकड़कर मुझे घर के भीतर ले जावेगें। वहां भोजनादि सब विधी से सत्कार ग्रहण करके विश्राम करनेवाले मुझसे अपने बन्धु बान्धवों की कुशल तथा उनके साथ कंस के व्यवहार को पूछेंगे। भगवान् महतो महीयान् हैं। इसलिए अक्रूरजी ऐसे मनोरथ करते जा रहे हैं।२३।

श्रीशुक उवाच।

श्लोक—इति सञ्चिन्तयन् कृष्णं श्वफलकतनयोऽध्वनि।
रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं नृप ॥२४॥

श्लोकार्थः—श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन्, श्वफल्क के पुत्र अक्रूरजी रास्ते भर इसी तरह श्रीकृष्ण के विषय में सोचते और उन्हीं के ध्यान में मग्न रहे। सूर्य के अस्त होते होते अक्रूरजी गोकुल पहुँचे ॥२४॥

सुबोधिनी:—एवं मार्गे रथं स्थापयित्वा सन्ध्यापर्यन्तमनेकविधं मनोरथमेव कृतवान्, तथापि भगवत्साम्मुख्ये प्रवृत्तौ सर्व एवानुगुणा भवन्तीति रथ एव तं गोकुले समानीतवान्, तदाह इति कृष्णं सञ्चिन्तयन्नेवान्तः श्वफल्कतनयो महान् यदान्तर्भगवन्तं प्राप्तवान् तदा रथेन गोकुलमपि प्राप्तः, भगवानानन्दरूपः स्त्रीणामेवेति सन्ध्यावधिरात्रावेवेति, मनोरथसिद्ध्यर्थं सूर्योऽप्यस्तंगत इत्याह सूर्य इति चकारात् सूर्योऽप्यनुगुणः सर्वप्रकारेण, नृपेति सम्बोधनं मन्त्रणं गुप्ततयैव कर्तव्यमिति ज्ञापनार्थं, अश्लीलव्यावृत्त्यर्थं गिरीपदं, श्वफल्को महानुभाव इति तन्नाम्ना निर्दिष्टस्तथात्वाय, अन्यथा अनिष्टरूपो नागच्छेत् ॥२४॥

व्याख्यार्थः—इस प्रकार मार्ग में रथ को ठहराकर अक्रूरजी सायङ्काल तक अनेक मनोरथ ही करते रहे; तो भी भगवान् के सन्मुख होनेवाले भक्त के जड़ चेतन सारे ही अनुकूल हो जाते हैं। इसलिए रथ ने ही उनको गोकुल पहुँचा दिया—यह 'इति सञ्चिन्तयन्' इस श्लोक से कहते हैं। महाभाग वे श्वफल्क पुत्र अक्रूरजी ने जब भगवान् को ध्यान से हृदय में प्राप्त किया, तब रथ उन्हें गोकुल ले गया। भगवान् स्त्रियों के लिए ही आनन्द रूप हैं। इसलिए सन्ध्या समय रात्रि में ही रथ गोकुल पहुंचा। यह पहले कहा जा चुका है कि भगवान् के अभिमुख होनेवाले के सभी अनुकूल हो जाते हैं। इसलिए सब प्रकार से अनुकूल हुए सूर्यदेव भी भक्तों के मनोरथ की सिद्धि के लिए अस्त हो गए। मूल में 'नृप' सम्बोधन-मन्त्रणा गुप्त रीति से करना चाहिए—इसका सूचक है। और अस्तगिरि-यहां अस्त शब्द की अमङ्गलता रूप अश्लील दोष को मिटाने के लिए गिरि शब्द का साथ में प्रयोग किया है। अक्रूरजी के पिता श्वफल्कजी परम महानुभाव हैं। उनके नाम से अक्रूरजी का निर्देश करने का तात्पर्य यह है कि अक्रूरजी भी पिता के समान ही महानुभाव हैं। यदि महानुभाव नहीं होते तो अनिष्ट रूप-शत्रु के सेवक और तदन्नपोषित रूप से वे भगवान् के सम्मुख नहीं जाते ॥२४॥

लेखः—'इति सञ्चिन्तयन्' इस श्लोक की व्याख्या में भगवान् आनन्दरूपः-पदों का अभिप्राय यह है कि भगवान् गोपों के साथ गोचारण से परिश्रान्त होकर रात्रि में घर पर आते हैं। और वहां यशोदा आदि तथा गोपी आदि स्त्रियों के ही उन उनके योग्य आनन्द विलासों के द्वारा उनके लिए आनन्द निरूपक होते हैं। इसलिए सन्ध्या तथा रात्रि में ही जाना चाहिए—इस प्रकार के मनोरथ की सिद्धि के लिए सायङ्काल होने की प्रतीक्षा से रथ को बाहर ही रोक कर ठहरे रहे ॥२४॥

श्लोकः—पदानि तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः ॥२५॥

श्लोकार्थ:—जिनके चरणों की रज को बड़े बड़े लोकपाल सादर शीश पर चढ़ाते हैं, उन श्रीकृष्ण के परम पवित्र, पृथिवी को विभूषित करनेवाले चरणों के चिन्हों को अक्रूरजी ने पद्म, यव, अङ्कुश आदि अपूर्व रेखाओं से पहचान लिया ॥२५॥

सुबोधिनी: -अत्र मध्ये तस्य भक्त्यतिशयार्थं कायिकोपि व्यापारो वक्तव्य इति लोक-प्रसिध्यर्थं च निरूपयति **पदानिति** त्रिभिः, हेतुक्रियाफल-निरूपकैः, यो भगवान् हृदये फलत्वेन भाव्यते तस्य **पदानि** भूमावुद्गतानि भगवदीयशरीर सम्पादकरजोयुक्तानि दृष्टवान्, तद्रजो ग्राह्यमिति वक्तुं तस्य रजसो ग्रहणत्वाद्यपेक्षयापि महत्त्वमाह **अखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोरिति**, अखिलाः सर्वे लोकपालाः सर्वेषामैश्वर्यं भगवद-धीनमेवेति निरूपयितुं देवदैत्यादयः सर्व एव परिगृहीताः, लोकपाला इति स्वरूपतोपि महत्त्वं महतां सेव्य एव महान् भवतीति, किरीटजुष्टत्वेन धर्मार्थं तेषां प्रवृत्तिर्निवारिता, धर्मार्थं यो नमस्क-रोति स देहेनैव नमस्करोति, सर्वाभरणभूषितस्तु ईश्वरमेव नमस्करोतीति, मार्गरजोपि गच्छतां मुकुटसम्बन्धि भवति तद्व्यावृत्त्यर्थं रजसो विशेषण-ममलमिति, एतादृशश्चरणरेणुर्यस्येति भगवत्सम्बन्धादेव तस्य माहात्म्यं न तु मृगमदवत् स्वरू-पतो रेणुर्महान्, तादृशस्य **पदानि ददर्श** इति निधानप्राप्तिरिव सूचिता, ननु कथं ज्ञातवानेतानि भगवत्पदानीति तत्राह **विलक्षितानीति**, सुख-सेव्यत्वाय फलदानाय चाब्जरेखा, कीर्तिप्रकटनार्थं यवाकृतिः, मनोगजनिवारणार्थमङ्कुशरेखा, आदि-शब्देन ध्वजादयोपि, ननु भगवानेवं दुर्लभानि किमिति प्रकटितवानित्यत आह **क्षितिकौतुका-नीति**, क्षितौ कौतुकरूपाणि, भूमौ रसप्रकटनार्थं कौतुकत्वेन प्रकटितवान्, भूमिष्ठानां भजन-सिद्ध्यर्थं यत्राल्पस्थानेपि महाफलान्येव प्रयच्छ-तीति ॥२५॥

व्याख्यार्थ:—यहां मध्य में अक्रूरजी की भगवद्भक्ति की उत्कृष्टता तथा लोक प्रसिद्धि के लिए उनका कायिक व्यापार का निरूपण भी आवश्यक है। इसलिए हेतु क्रिया और फल का निरूपण करनेवाले पदानि इत्यादि तीन श्लोकों से अक्रूरजी के देह सम्बन्धी व्यापार का वर्णन करते हैं। जिन भगवान् की भावना वे हृदय में फल रूप कर रहे थे, भक्तों के शरीरें को भगवदीय बना देने-वाली धूल में दिखाई देनेवाले उनके चरणों को देखा। उस रेणु को-भगवान् के द्वारा ही महान् ऐश्वर्य और उन्नत पद प्राप्त किए हुए बड़े २ देव तथा दैत्य आदि लोकपाल-अपने किरीट मुकुटादि सभी आभूषणों से सुशोभित मस्तकों पर धारण करते हैं, वह रज ग्रहण करने योग्य ही है।

वे देव दैत्य आदि लोक पाल उस रज को धर्म बुद्धि से शीश पर नहीं चढ़ाते हैं, क्योंकि धर्म-बुद्धि वाला तो शरीर से ही नमस्कार करता है। सम्पूर्ण आभूषणों से भूषित हुआ तो ईश्वर को ही नमस्कार करता है, धूलि को नहीं। यह वह रास्ते की धूलि नहीं है, जो मार्ग में चलनेवाले लोगों के किरीटों पर-पैरों के आघात से उड़कर जा लगती है। यह तो परम पवित्र (पावन) रज है। भगवान् के चरणों के सम्बन्ध से ही इस धूलि की महिमा है। कस्तुरी की तरह इस केवल रज का स्वरूप से कोई महत्व नहीं है। उनके चरणों (चिन्हों) को अक्रूरजी ने ऐसे देखा मानों उन्हें कोई निधि मिल गई हो।

भगवान् के उन चरणों को अक्रूरजी ने पद्म, यव, अङ्कुश आदि असाधारण रेखाओं से पह-चान लिया। भगवान् की सेवा आसानी से की जा सकती है और फल देनेवाले हैं। यह चरण में

सम्पत्याकार रेखा से सूचित होता है, जौ की रेखा कीर्ति को प्रकट करती है। तथा उसी मदोन्मत्त हाथी को वश में करने के लिए अङ्कुश की रेखा है। इसी प्रकार ध्वजा आदि की रेखाएँ भी प्रभु के चरणों में हैं। ऐसे अपने दुर्लभ चरणों को भगवान् ने पृथिवी पर रख जो प्रकट करने-क्षिति कौतुक-के लिए और यहां रहनेवाले जीवों के हृदयों में भक्ति की सिद्धि के लिए प्रकट किया है। जो यहां थोड़े से रजरूप स्थान में स्थित रहकर भी बड़े से बड़े फलों को देने वाला है ॥२५॥

लेख:--पदानि-इत्यादि श्लोक की व्याख्या में-निधान प्राप्ति -पद का अभिप्राय यह है कि जैसे पृथिवी पर चरण धरे, वैसे मुग्ध-अक्रूर- पर भी स्थापन करेंगे ॥२५॥

श्लोक—तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः ।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति ॥२६॥

श्लोकार्थः—उन चरण चिन्हों को देखते ही दर्शन के आनन्द की उमड़ से अक्रूरजी रथ से उतर पड़े और झपटकर—"अहो' ये मेरे प्रभु के चरणों की रज है"-यह कहते हुए उसी भक्ति से गद्‌गद् होकर उसी स्थान पर लोटने लगे। प्रेम के प्रभाव से अक्रूरजी के शरीर में रोमाञ्च हो आए और आंखों में आनन्द के आंसू भर आए।२६।

सुबोधिनी:—भक्तस्य दर्शने यदुचितं तत् कृतवानित्याह **तद्दर्शनेति,** भगवदीयशरीरजनकास्ते रेणवः, तेषां दर्शने पूर्वस्थितदेहादीनां निवृत्तिर्वक्तव्या, तत्र भक्तिरसस्तस्मिन् निविष्टः स्वधर्मप्राकट्येन तद्धर्मान् दूरीकृतवान्, तदाह **तेषां पदानां दर्शनेन यो जातो महाह्लादः तेन विवृद्धः सम्भ्रमो यस्य,** मानसो धर्मो व्याकुलता निरूपिता, **प्रेम्णा ऊर्ध्वानि रोमाणि यस्य,** दैहिको धर्मो निरूपितः, **अश्रुकलाभिराकुले ईक्षणे यस्ये-**तीन्द्रियधर्मा निरूपिताः, ततः पूर्वधर्माणां गतत्वात् संघातस्तेषु पतित इत्याह **रथादवस्कन्द्येति, अवस्कन्दनमचेतनानां,** तथा स पतित इत्यर्थः, ततो रजःप्रभावत् सः प्रसिद्धः अक्रूरो जातः, अन्तर्देहो भगवदीयो जातः, बहिर्देहस्यापि तथात्वाय **तेषु रेणुषु अचेष्टत** लुठनं कृतवान्, बहिस्तथा सवेदनाभावात् चेष्टामात्रमाह, ननु लुठने को हेतुर्वारंवारं तत्राह तद्गतमभिप्रायं **प्रभोरिति,** एतावत्कालं शास्त्रांशत्वेन ईश्वरत्वेन महत्त्वेन सम्बन्धित्वेन वा ज्ञातवान्, इदानीं शुद्धः स्वयं सेवको जातः, भगवांश्च प्रभुः, तथा सति तस्य परमदुर्लभान्यङ्घ्रिरजांसि कथमेवं भूमौ स्थातुमुचितानि भवन्तीति स्वशरीरे तानि सर्वाण्येव योजयितुं यावत् तानि रजांसि सर्वाणि प्रविशन्ति तावत् लुठनं कृतवान् किञ्च, आश्चर्यरसाविष्टोपि जातः, अहो इति, महात्म्यमनेन सूचितम् ॥२६॥

व्याख्यार्थः—भगवान् के चरणों का दर्शन होने पर भक्त की जैसी दशा होनी चाहिए, अक्रूरजी की वैसी ही स्थिति का वर्णन-इस 'तद्दर्शनाह्लाद' श्लोक से करते हैं। शरीर को भगवदीय बना देनेवाली उस रेणु के दर्शन होते ही शरीर की पूर्व स्थिति-लौकिकता-दूर होकर उनमें भक्ति रस प्रविष्ट हो जाता है। उस भक्ति रस ने अक्रूर की देहादि में अपने-भक्ति रस के धर्मों को प्रकट करके प्राकृत देह के धर्मों को दूर कर दिए। यह ही बतलाते हैं कि उन श्री चरणों के दर्शन से उत्पन्न हुए परम आह्लाद से उत्कण्ठा रूप मानसिक धर्म बढ़ गया, प्रेम से रोमाञ्चित रूप दैहिक धर्म तथा नेत्रों

... अवस्थाओं से भर आना रूप इन्द्रिय धर्म के निरूपण से मन देह इन्द्रियों के प्राकृत धर्म दूर होकर पुलक-उत्कण्ठा वृद्धि, रोमाञ्च और प्रश्रु रूप धर्म प्रकट हो गए।

तब तो वे अचेतन से हो रथ से पृथिवी पर गिर पड़े और भगवच्चरण रज के प्रभाव से वे प्रसिद्ध अक्रूर बन गए। उनका वासनात्मक आभ्यन्तर शरीर भगवदीय बन गया और अपने बाह्य शरीर को भी भगवदीय करने के लिए वे श्री हरि के उस चरण रज में बार बार लोटने लगे। उन्हें अब देहानुसन्धान नहीं रहा, केवल चेष्टा मात्र करते रहे। अब तक तो वे भगवान् को शास्त्रार्थ रूप से ईश्वर, महा पुरुष अथवा अपना सम्बन्धी बान्धव ही जान रहे थे; किन्तु अब वे अपने को शुद्ध सेवक और श्रीकृष्ण को अपना स्वामी मानने लगे। इस स्वामी सेवक भाव के उदय होने पर वे सोचने लगे कि यह परम दुर्लभ चरण रज यों पृथिवी पर ही क्यों पड़ी रहे ? उनके मन में यह भावोदय हुआ कि यह सारी धूलि मेरे शरीर में प्रविष्ट हो (समा जाय) इसीलिए वे उनमें तब तक लोटते ही रहे, जब तक वह सारी रज उनके शरीर में प्रविष्ट नहीं हो गई। वे चरण रज का माहात्म्य जानकर आश्चर्य रस में मग्न भी हो गए ॥२६॥

श्लोक—देहं भृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्।
सन्देशाद् यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः ॥२७॥

श्लोकार्थः—प्राणियों के देह धारण करने की सफलता इसी में है कि वे छल, भय, शोक आदि को छोड़कर अक्रूरजी की तरह स्वाभाविक निष्काम भक्ति से आनन्द पूर्वक-संदेश, दर्शन, श्रवण आदि के द्वारा श्रीहरि का भजन और सेवा करे ॥२७॥

सुबोधिनीः—एवं तस्य कृतमुक्त्वा फलमाह देहं भृतामिति, यदस्य जात इयानेव देहं भृतामर्थः पुरुषार्थः जन्मसाफल्यम्, उत्पन्नेन हि परमः पुरुषार्थः साधनीयः स च भगवदीयभावः, तथा यत्नः कर्तव्यः यथा स भवति, ज्ञानादिस्तु अवान्तरफलरूपः, मोक्षादपि स्वभावत एवायं भावोधिकः, तदुपपादित 'भगवदीयत्वेने'त्यत्र, अत इयानेव पुरुषार्थ इति युक्तमिति हि-शब्दः, देहसङ्ग्रहणं क्लेशात्मकं तदपि कृत्वा यदि परमपुरुषार्थं न साधयेत् तदा वैयर्थ्यमिति, स कोर्थ इत्याकाङ्क्षायामाह सन्देशादिति, सन्देशमारभ्य हरेर्लिङ्गश्रवणदर्शनादिभिर्योर्थो जातः, अयमेवार्थः सन्देशानन्तरमेव तस्य चित्तं भगवत्परं जातं तद्वर्धमानं भगवदीयत्वं च सम्पाद्य माहात्म्यज्ञानं कारितवत्, लिङ्गानां चिह्नानां भगवत्पदानां प्रथमतो दर्शनं, ततः स्पर्शनं ततस्तत्सायुज्यमिति, ततो भगवदीयत्वं माहात्म्यज्ञानं च, सर्वे च भगवदीया धर्मा संदेशादिति हेतोर्वा, अन्यार्थमपि प्रयुक्तं वाक्यं एतावत्फलं साधयतीति अल्पप्रसङ्गेनाप्येतावत्त्वं महाफलमित्यर्थः, परं तत्र दोषत्रयं परित्यज्यैतत् कर्तव्यमित्याह हित्वेति, दम्भो राजसः भयं सात्त्विकं, शोकस्तामसः, दम्भो बाह्यः, भयं शारीरम्, शोकोन्तःकरणस्य, एतत् सर्वथा त्यक्तव्यम्, अनेनापि त्यक्तमिति, दम्भं कापट्यं त्यक्तवान्, यथा कंसेनोक्तं भयं च त्यक्तवान्, भगवान् किं करिष्यतीति, शोकं च त्यक्तवान्, भगवति तत्र गते कंसः किं करिष्यतीति, भयानन्तरं चैतद्भवतीत्युक्तम्, भगवतो माहात्म्यज्ञानाभावे शोको भवति नान्यथा, एवमन्यैरपि लौकिका अलौकिकाश्चैते भावाः त्यक्तव्याः, अन्यथा एतावत्त्वं न भवेदिति ॥२७॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार अक्रूरजी का भगवान् के चरण चिन्हों से चिन्हित रेणु में लोटने का वर्णन करके इस-देहभृताम्-श्लोक में ऐसा करने के फल का वर्णन करते हैं, जो अक्रूरजी को हुआ। बस देहधारियों का यही पुरुषार्थ-जन्म की सफलता-है। देहधारी को उत्पन्न होकर जन्म ग्रहण करके परम पुरुषार्थ प्राप्त करना चाहिए। वह भगवदीय भाव ही परम पुरुषार्थ है। इसलिए भगवदीय भाव की सिद्धि के लिए तदनुकूल-वैसा ही-प्रयत्न करना ही चाहिए, जिससे उस भाव की सिद्धि हो सके। ज्ञानादि की प्राप्ति तो गौण फल है। मोक्ष की अपेक्षा भी-मोक्ष से भी-भगवदीय भाव-भगदीयत्वेनैव परिसमाप्त सर्वार्थाः- के अनुसार उत्तम है। इसलिए इसी में जन्म की सफलता है, केवल यही पुरुषार्थ की सिद्धि है। क्लेशमय देह को प्राप्त करके यदि परम-पुरुषार्थ का लाभ नहीं किया तो जन्मग्रहण व्यर्थ ही है।

अक्रूरजी को भगवदीय भाव की प्राप्ति में सन्देश ही कारण है; क्योंकि सन्देश लेकर जाने के बाद ही उनका चित्त भगवत्परायण हुआ और बढ़ते बढ़ते उसने आगे भगवदीय भाव को उत्पन्न करके भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान करा दिया। अर्थात् प्रथम भगवान् के चरणों का दर्शन फिर उनके स्पर्श से सायुज्यप्राप्ति और उस स्पर्श से भगवदीय भाव तथा माहात्म्य ज्ञान इस क्रम से ये सब सन्देश के कारण हुए। किसी अन्य के लिए भेजा गया वाक्य भी इतना फल सिद्ध कर देता है। अर्थात् सहज में ही बड़ा भारी फल देनेवाला हो जाता है।

परन्तु मनुष्य को इस भगवदीय भाव रूप परम फल की प्राप्ति में बाधक दोषों-दम्भ, भय, शोक-का सर्वथा त्यागकर देना चाहिए। इनमें दम्भ राजस तथा बाह्यदोष है, भय सात्त्विक तथा शरीर सम्बन्धी और शोक तामस तथा अन्तःकरण का दोष है। अक्रूरजी को भी इन तीनों दोषों का त्याग करने पर ही भगवदीय भावरूप परम पुरुषार्थ सिद्ध हुआ था। उन्होंने कंस के वाक्य को यथावत् कहकर दम्भ (कपट) को सुनकर भगवान् मेरे साथ क्या करेंगे ? ऐसे भय का और भगवान् को लेकर मथुरा जाऊंगा तब कंस क्या करेगा ? इस प्रकार के शोक को भी त्याग दिया था; माहात्म्य ज्ञान न होने तक ही शोक रह सकता है; माहात्म्य ज्ञान हो जाने पर शोकादि कुछ नहीं रहते। इसी तरह परम पुरुषार्थ को पाने के लिए औरों को भी लौकिक तथा अलौकिक ये सारे ही दोष छोड़ ही देने चाहिए ॥२७॥

श्लोकः—ददर्श कृष्णं रामं च व्रजे गोदोहनं गतौ ।
पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बुरुहेक्षणौ ॥२८॥

श्लोकार्थः—व्रज में पहुंचकर अक्रूरजी ने पीताम्बर तथा नीलाम्बर पहने हुए कृष्ण बलदेव को गोदोहनार्थ खिरक-गोशाला-में विराजमान देखा। उनके नेत्र शरत्काल के कमल के समान सुशोभित हैं ॥२८॥

सुबोधिनीः—ततो योग्यशरीरं प्राप्य भगवन्तं दृष्टवानित्याह ददर्शेति, यादृशः सेवकः तादृशं वर्णयित्वा यादृशो भगवान् तादृशं वर्णयति षड्भिः, स्वरूपं च वयश्चैव देहेन्द्रियविचेष्टितम्। शोभास्वरूपं च तथा शोभा तस्याप्यलौकिकी ॥१॥ तत्र प्रथमं परिदृश्यमानं स्वरूपं

[illegible], [illegible] प्रथमं कृष्णं ददर्श [illegible] रामम[illegible], चकाराद्दावपि. व्रजे [illegible] तत्रापि गोदोहनं गतौ गोदोहनस्थाने [illegible] दृष्टवान् [illegible]. [illegible] पीतनीलाम्बरधराविति. भगवान् पीताम्बरधरः रामो नीलाम्बरधर इति, तादृशमेव वस्त्रद्वय [illegible] [illegible] शरत्काले ये अम्बुरुहे [illegible] [illegible] [illegible] गुणा [illegible] [illegible] विपरीतत्वेऽपि [illegible] [illegible] ज्ञानादिसर्वपुरुषार्थान् प्रयच्छतीति ज्ञापितम् ।२८।

व्याख्यार्थः – अक्रूरजी ने भगवद्दर्शन के योग्य उत्तम शरीर हो जाने पर भगवान् के दर्शन किए। यह 'ददर्श' इस श्लोक से कहते हैं। इस प्रकार सेवक के स्वरूप को कहकर अगले छः श्लोकों से भगवान् के स्वरूप का-जिसका अक्रूर को दर्शन हुआ-वर्णन करेंगे। पहले उनके दृश्यमान स्वरूप का वर्णन करते है। आगे के पांच श्लोकों से अवस्था, देह इन्द्रिय की चेष्टा, शोभास्वरूप तथा उनकी अलौकिक शोभा का वर्णन किया जायगा। अक्रूरजी भक्त थे, इसलिए पहले उन्हें श्रीकृष्ण के दर्शन हुए। तदनन्तर आवेशावतार बलदेवजी को देखा। वे दोनों भाई व्रज में और व्रज में भी गोदोहन-जहां गायें दोही जाती है-खिरक-स्थान में विराजमान हुए देखे। श्रीकृष्णजी पीताम्बर और बलदेवजी नीला धौत वस्त्र धारण किए हुए थे। उनके नेत्रों ने शरत्काल के कमलों की शोभा को हर लिया था। दोनों भाईयों के नेत्र शरद् ऋतु के कमलों से सुशोभित थे। तात्पर्य यह है कि वे भगवान् देश काल के विपरीत होने पर भी ज्ञानेन्द्रियादि को अनुकूल शक्ति प्रदान करके ज्ञान आदि सकल पुरुषार्थ का दे देते हैं; क्योंकि कमल शरद् ऋतु में तथा जल में ही सुशोभित रहते हैं; किन्तु यहां भाद्रपद मास में काल की विपरीतता और नेत्र कमल में देश-जल-भी-विपरीत है। तथापि भगवान् ने नेत्र कमल को सुशोभित ही कर दिया ॥२८॥

श्लोकः—किशोरौ श्यामलश्वेतौ श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ ।
सुमुखौ सुन्दरवरौ बालद्विरदविक्रमौ ॥२९॥

श्लोकार्थः—उनकी किशोर अवस्था है, श्याम और श्वेत वर्ण है, बड़ी बड़ी विशाल भुजाएं हैं। दोनों भाई लक्ष्मी के निवास स्थान और त्रिभुवन सुन्दर हैं। उनका विक्रम विचित्र बाल गजराज से भी अधिक है और अत्यन्त मनोहर मुखारविन्द है ॥ २९ ॥

सुबोधिनीः—वयमाह किशोराविति, कैशोरे वयसि विद्यमानौ, एकादशवार्षिकौ, नववर्षोर्ध्व षोडशवर्षपर्यन्तं किशोरावस्था, गोकुलवासिषु विद्यमानः कालः स्वस्मिन् गृहीत इति तं प्रकटयितुं तथावस्थौ जातः, अग्रे प्रयोजनाभावात् कालावस्थां न वक्ष्यति, अत एव ध्याने भक्तकृपया तामवस्थां गृह्णातीति 'सन्तं वयसि कैशोर' इत्युक्तम्, एकः श्यामलः अपरः श्वेतः, कैशोरे वयसि रूपमभिव्यक्तं भवतीति वयःकार्यत्वेन रूपमुक्तम्. श्रीनिकेतौ श्रीवत्साङ्कितौ, असाधारणं भगवच्चिह्नमेतत्, भगवत्त्वज्ञापकं तदपि तदैव प्रकटमिति, भगवतो महती क्रियाशक्तिरिति बृहद्भुजावित्युक्तम्, अव्यवधाय सुमुखाविति, भक्तदर्शनावस्थायां सुमुखत्वे तस्य सर्वपुरुषार्थाः सिध्यन्तीति, सुन्दरवराविति, सुन्दरश्रेष्ठौ. यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्तीति सर्वगुणनिधानावित्यर्थः, बालो यो द्विरदः हस्ती तद्वद्विक्रमौ ययोरिति अमानुषपराक्रमौ निरूपितौ.

व्याख्यार्थः 'किशोरौ' इस श्लोक से उनके अवस्था आदि स्वरूप का वर्णन करते हैं। दस वर्ष से आगे की ओर (पाठदश) सोलह वर्ष तक की किशोर अवस्था है। वे दोनों ग्यारह वर्ष के हैं। गोकुल वासियों में रहे हुए काल को उन्होंने अपने में ले लिया था, इसे प्रकट करने के लिए भगवान् ग्यारह के हो रहे हैं। इसके आगे प्रयोजन के न होने के कारण अवस्था काल का वर्णन नहीं किया जायगा। भक्तों पर कृपा करके श्री प्रभु-सन्त वयसि कैशोरे-किशोर अवस्था को अङ्गीकार करते हैं। इसी अवस्था में रूप प्रकट होता है। इसलिए एक श्याम है और एक श्वेत है। भगवान् का असाधारण चिन्ह श्रीवत्स - जो वस्त्र से ढका नहीं था, उसी समय प्रकट हुआ था—से सुशोभित हैं। उनकी विशाल भुजाएं उनकी क्रियाशक्ति को प्रकट कर रही हैं। दोनों का मुखारविन्द परम सुन्दर और सुशान्त है, जिसका दर्शन करते ही भक्तों के सब पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं।

'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' सुन्दर आकार वालों में अत्यधिक गुण होते हैं - इस नियम से परम सुन्दर वे गुणों के निधि हैं और बाल गजराज के समान पराक्रमी अर्थात् मनुष्यों से अत्यधिक पराक्रम वाले हैं। आपश्री ने यहां व्याख्या में बाल गजराज की समानता द्योतक दो कारिकाएं दी हैं:—

कारिका:—सौन्दर्यं च तथा पुष्टिः प्रदृश्यत्वमसृण्यता ।
निर्भयत्वं स्वतः सिद्धसाधनत्वं च रूप्यते ॥१॥
अरण्य एव तद्वृद्धिः सुखं तस्य गृहं पुनः ।
नान्यत्रेति च बोधाय विदेशक्लेशबाधने ॥२॥

कारिकार्थः—सुन्दरता, स्वानन्दतुन्दिलता, मनोहरता, निरङ्कुशता, निर्भयता, परमुखापेक्षा का अभाव, वन में ही बढना और सुखदायक वन ही घर, ये सारी वस्तुएं अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती हैं। उनका यहां वर्णन भगवान् को गोकुल रूप विदेश में विराजने से उत्पन्न हुए विदेश क्लेश की निवृत्ति के लिए किया गया है। **१-२**

सुबोधिनी:—तद्वत् पराक्रम इति कौतुकार्थं सर्वानेव गोपालान् दूरादेव प्रक्षिपतीति निरूपितम् ॥२९॥

व्याख्यार्थः—ऐसे बाल गजराज के समान पराक्रमी वे दोनों भाई सारे गोप ग्वालों को अपने पास नहीं फटकने देते हैं ऐसा निरूपण किया गया है ॥२९॥

श्लोकः—ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजैश्चिह्नितैरङ्घ्रिभिर्व्रजम् ।
शोभयन्तौ महात्मानौ सानुक्रोशस्मितेक्षणौ ॥३०॥

श्लोकार्थः—महापुरुष वे दोनों भाई ध्वजा, वज्र, अंकुश आदि चिन्हों से माहात्म्य प्रकट करनेवाले चरणों के चिन्हों से व्रज को सुशोभित कर रहे हैं। उनकी दृष्टि से अनुग्रह और मुसकान से प्रसन्नता प्रकट हो रही है ॥३०॥

सुबोधिनी—भगवतो धर्मान् निरूप्य बाह्यानि निरूपयति ध्वजवज्रेति, ध्वजादिभिश्चतुर्भिश्चिह्नैः पुरुषार्थचतुष्टयरूपैः चिह्निता ये अङ्घ्रयः तैर्भूमावुद्गतैः व्रजं शोभयन्तौ शोभायुक्तं कुर्वन्तौ, ये सर्वपुरुषार्थदातारस्ते यत्र शोभाकरा जाताः भगवत्कृपया इतोऽधिकं भगवान् व्रजस्य किं कुर्यात्, **महानात्मा** स्वरूपं ययोः, अयं धर्मिनिर्देशः धर्माणामुत्कर्षस्थापकः, तयोर्माहात्म्यमुक्त्वा कृपामप्याह **सानुक्रोशस्मितेक्षणा**विति, दयापूर्वकं स्मितपूर्वकमीक्षणं ययोः, दीनेषु दया समेषु स्मितमुत्तमेषु ज्ञानमिति, संसारे क्लिष्टेषु दया, ततः कर्मणा परित्यागेन वा क्लिष्टेषु अल्पमोहेन सुखदानम्, ततो भक्तेषु ज्ञानस्थापनमिति एवं प्रत्यक्षतया दयया सुखदानं प्रत्यक्षत एव स्मितेनात्र परमानन्दज्ञानमिति ।३०।

व्याख्यार्थः—भगवान् धर्मों को कहकर अब उनके बाह्य चिन्हों का वर्णन 'ध्वजवज्राङ्कुश' इस श्लोक से करते हैं। चारों पुरुषार्थों के देनेवाले ध्वज, वज्र, अङ्कुश, अम्भोज इन चारों चिन्हों से चिन्हित तथा पृथिवी पर दिखाई देनेवाले वे उनके चरणारविन्द उन्हीं (भगवान्) की कृपा से व्रज की शोभा बढ़ा रहे हैं। भगवान् व्रज का इससे बढ़कर और क्या हित करते। उनका स्वरूप परम महान् है। यह धर्मी-भगवान्-का निर्देश उनके धर्मों के उत्कर्ष का बोधक है।

इस प्रकार उनकी महिमा का वर्णन किया गया। अब आगे उनकी दयालुता का वर्णन करते हैं। उनकी चितवन-अवलोकन-दया और मन्दमुसकान से युक्त है। दीनों पर दया, समानों पर मन्द हास और उत्तमों पर ज्ञानवर्षण करने वाली चितवन है। संसार में दुखियों पर ही दया की जाती है, फिर कर्म से अथवा कर्म का परित्याग करके थोड़े से जगत् में मोह के कारण उन दुखियों को सुख देना, उस सुखदान के द्वारा भक्त जीवों पर माहात्म्य ज्ञान को स्थित करना, इस प्रकार वे प्रत्यक्षरूप से दया के द्वारा ही सुख प्राप्ति और मन्दस्मित के द्वारा ही भक्तों को परमानन्द का ज्ञान का दान कर रहे हैं ॥३०॥

श्लोकः—उदाररुचिरक्रीडौ स्रग्विणौ वनमालिनौ ।
पुण्यगन्धानुलिप्ताङ्गौ स्नातौ विरजवाससौ ॥३१॥

श्लोकार्थः—उनकी क्रीडाएं उदार और मनमोहक हैं। वे कण्ठ में मणियों की माला और वनमाला पहने, अङ्गों में चन्दनादि अंगराग लगाए और स्नानान्तर निर्मल नवीन वस्त्रों से सुशोभित हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—ततो लीलामाह **उदारेति**, उदारा रुचिरा क्रीडा ययोः, भगवल्लीला पात्रापात्रविचारव्यतिरेकेण सर्वेभ्य एव सर्वपुरुषार्थान् प्रयच्छतीति उदारा रुचिरा मनोहरा च, स्वतः फलरूपा क्रीडेति सामान्यापि लीला आभासरूपा लीला न भवतीति, भगवन्तं वर्णयति **स्रग्विणा**विति, शिरसि कण्ठे नानाविधाः स्रजो ययोः, वनमालायुक्तौ च, 'आपादावलम्बिनी माला वनमाले'ति, आगन्तुकैः सहजनिवृत्ति मत्वा वनमाला पृथग् निरूपिता, विरतिवेलेति चन्दनपुष्पवस्त्राभरणान्येवोक्तानि, विरत्यनोदनत्वाद् वा, पुण्येन गन्धेन अनुलिप्तान्यङ्गानि ययोः, एते अभिलेपा एव **पुण्यगन्धाः** स्नानाङ्गभूताः, ततः स्नातौ, ततो नूतननिर्मलवस्त्रपरिधानमिति **विरजवाससौ** ॥३१॥
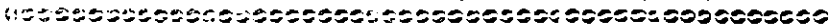
व्याख्यार्थः—अब 'उदाररुचिरक्रीडौ' इस श्लोक में उनकी लीला का वर्णन करते हैं। भगवान् की लीला बड़ी उदार और मनोहर है। वह पात्रता अपात्रता-योग्यता अयोग्यता-का विचार न करके सबको ही सारे पुरुषार्थ दे देती है। भगवान् की साधारण से साधारण लीला भी जिसे लोग समझते हैं -फलरूपा है, वह आभासरूप-मिथ्या-नहीं है।

भगवान् के स्वरूप का वर्णन करते हैं। श्रीहरि ने श्रीकण्ठ में और श्रीमस्तक पर अनेक प्रकार की मालाएं तथा श्रीमस्तक से चरणारविन्द तक लम्बी विविध सुगन्धित पुष्पों की बनी हुई सुन्दर वनमाला "आपादावलम्बिनी माला वनमाला" धारण कर रक्खी है। यहां हीरा, पन्ना, मोतियों की मालाओं पर भ्रमर सहज सुगन्ध न होने से नहीं आते। इसीलिए भौंरों से गुञ्जारित वनमाला का नाम अलग कहा गया है। सायङ्काल विश्राम करने का समय होने से अथवा विश्राम (विराम) का सहायक होने के कारण चन्दन, पुष्प, वस्त्र और आभूषणों का ही यहां वर्णन किया गया है। स्नान से पहले नाना सुगन्धित और उत्तमोत्तम पदार्थों से-जो स्नान के अङ्गभूत हैं—अभिलेप-उबटना करने के बाद स्नान करके अनुलिप्त नवीन निर्मल वस्त्रों से सुशोभित है ॥३१॥

लेख:—उदाररुचिरक्रीडौ-इस श्लोक की व्याख्या में 'विरत्यनोदनत्वाद्वा' ऐसे पाठ के स्थान में लेख में 'वित्यनोदनत्वाद्वा' ऐसा पाठ करके यह अभिप्राय प्रदर्शित किया है कि ज्ञान के वर्धक-बढ़ाने वाले-होने से यहां चन्दन पुष्पादि का ही वर्णन-श्रीअङ्ग की शोभार्थ-किया है, क्योंकि वस्त्र तथा आभूषणों के कारण श्रीअङ्ग के दर्शन ठीक ठीक नहीं होते और चन्दनादि के आभरण से तो ठीक ठीक दर्शन होते रहते हैं।

'अभिलेपा एव' इत्यादि का तात्पर्य यह है कि 'अभिलेप' स्नान के पूर्वाङ्गभूत-स्नान से पहिले और 'अनुलेप' स्नान के उत्तराङ्ग स्नान के पीछे होता है, क्योंकि मूल में 'अनुलिप्तौ' इस विशेषण के बाद 'स्नातौ' स्नान करना वर्णन किया है। अतः स्नान से पूर्व अभिलेप और स्नान कर लेने के बाद अनुलेप किया जाता है, यह ज्ञान होता है ॥३१॥

श्लोकः—**प्रधानपुरुषावाद्यौ जगद्धेतू जगत्पती ।**
अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ ॥३२॥

श्लोकार्थः—अक्रूरजी ने उन श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाईयों के प्रधान पुरुष, आदि पुरुष, जगत् के कारण और जगत् के ईश्वर तथा पृथिवी का भार उतारने के लिए नर रूप से प्रकट हुए के दर्शन किए ॥३२॥

सुबोधिनीः—कथमेवं गोकुलवासिनोर्महतो पूजारम्भतिरिति चेत् तत्राह, **प्रधानपुरुषाविति**, प्रधानपुरुषरूपावुभावपि, कार्यप्रधानपुरुषव्यावृत्त्यर्थमाह आद्याविति, तयोः प्रधानपुरुषत्वे हेतुमाह जगद्धेतु इति, य एव जगत्कारणं स एव प्रथम प्रधानपुरुषरूपो भवतीति प्रधानपुरुषत्वं मुख्यपुरुषत्वं वा, जगत्कारणत्वमपि साधयति जगत्पती इति, यो भर्ता स एव स्रष्टा उत्पत्तिस्थितिलयानामेककर्तृत्वात्, पालकत्वं तस्य सर्वजनीनं, अत एव साम्प्रतं रक्षामाशङ्क्य जगत्यर्थे भूम्यर्थमवतीर्णौ, स्वस्य निजांशेन आनन्दांशेन, उभयोरागमने विशेषकार्यं नाम्नैव निरूपयति, बलः क्रियाशक्तिप्रधानः उत्पत्तिस्थितिलयकर्ता, केशवो मोक्षदाता ब्रह्मादीनामपि ॥३२॥

व्याख्यार्थः—गोकुल में निवास करनेवाले उन राम कृष्ण को इस प्रकार पूजातिशय का कारण 'प्रधान पुरुषौ' इस श्लोक से बतलाते हैं कि वे दोनों ही प्रधान पुरुष हैं। आज कल के प्रधानजी की तरह साधारण प्रधान पुरुष नहीं; किन्तु ये आदि पुरुष हैं। ये जगत् के कारण है। जगत् का कारण ही आदि प्रधान पुरुष होता है, इसीलिये दोनों प्रधान पुरुष किंवा मुख्य पुरुष हैं। ये ही जगत् के स्वामी-भरण पोषण-करनेवाले हैं और जो भरण पोषण करनेवाले हैं, वही एक जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार करता है। भगवान् सबका पालन करते हैं, यह तो सब ही जानते हैं, किन्तु अभी भी ये पृथिवी का भार दूर करने के लिए ही अवतरित हुए हैं, दैत्यों की रक्षा के लिए नहीं। ये व्रज में प्रकट होकर अद्भुत चरित्र करेंगे, यह बात तो इनके नामों से हो रही है; क्योंकि क्रियाशक्ति प्रधान भगवान् बलरामजी उत्पत्ति, पालन और प्रलय कर्त्ता हैं और केशव भगवान् ब्रह्मादि देवों को मोक्ष देनेवाले हैं।॥३२॥

श्लोकः—दिशो वितिमिरा राजन् कुर्वाणौ प्रभया स्वया।
यथा मारकतः शैलो रौप्यश्च कनकाञ्चितौ॥३३॥

श्लोकार्थः—ये दोनों भाई कृष्ण बलदेव अपने तेज के प्रभाव से दिशाओं के अन्धकार को दूर कर रहे हैं और सुवर्ण विभूषित नीलम तथा चाँदी के पर्वत जैसे सुशोभित हो रहे हैं॥३३॥

सुबोधिनी:—तादृशस्यावतारे लोके अभिज्ञापकमाह दिश इति, दश दिशः **स्वया** असाधारण्या **प्रभया वितिमिराः कुर्वाणौ**, कान्तिरेव सूर्याधिका अलौकिकी न शीता न चोष्णा सर्वतापनाशिका सर्वेषां सर्वानन्ददायिनी ब्रह्मत्वबोधिका भवति, **राजन्निति**अलौकिकवस्तुपरिज्ञानार्थम्, अभूतोपमामाह **यथा मारकतः शैल** इति, मरकतमणिनिर्मितः **शैलः** भगवान्, **रौप्यः** कैलासतुल्यो बलभद्रः, उभावपि कनकशृङ्गाङ्कितौ चेत् उपमां प्राप्नुतः सर्वत्र भगवान् धराधरत्वेन वर्ण्यते सर्वाश्रयत्वाय महत्त्वादिधर्मार्थं च॥३३॥

व्याख्यार्थः—इस 'दिशो वितिमिरा' श्लोक से उन भगवान् के प्राकट्य की असाधारण सूचना का वर्णन करते हैं। वे दोनों अपनी लोकोत्तर दिव्य कान्ति से दशों दिशाओं के अन्धकार को दूर कर रहे हैं। उनकी उस सूर्य से भी अधिक अलौकिक कान्ति, जो न ठण्डी, न गरम है और सबके सन्ताप को दूर करके परम आनन्द देनेवाली है, से ही जाना जा रहा है कि ये साक्षात् परब्रह्म हैं। परीक्षित को अलौकिक वस्तु का ज्ञान कराने के लिए मूल में 'राजन्' सम्बोधन का प्रयोग है। उनका अभूत उपमा से वर्णन करते हैं। मरकत मणि का पर्वत भगवान् और कैलाश के समान चाँदी का पर्वत बलदेव, दोनों ही यदि सोने के शिखरों से युक्त हों तो उनकी सी शोभा को प्राप्त हों। भगवान् सबके आश्रय और परम महान् हैं। इसीलिए सभी जगह उनका शैल रूप से वर्णन किया जाता है॥३३॥

श्लोकः—रथात् तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद् रामकृष्णयोः॥३४॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार कृष्ण को देखते ही अक्रूरजी जल्दी ही रथ से उतर पड़े और स्नेह से विह्वल हो उनके चरणों में उन्होंने गिरकर दण्डवत प्रणाम किया।३४।

सुबोधिनी:—एवं भगवन्तं वर्णयित्वा तादृशे स्वामिनि तादृशसेवकस्य कर्तव्यपूर्वकं भगवत्कार्यमाह दशभिः, तत्र द्वाभ्यां तस्य कृत्यम्, अष्टभिर्भगवत्कृत्यमिति, भक्तिप्रपत्ती तस्य, अष्टैश्वर्यादिदान भगवतः, **रथ** इति, आदौ दृष्ट्वा रथे स्थित एव तूर्णमवप्लुत्य, तत उच्चस्थानाद् भूमौ पतित्वा न तूर्णार्थं, स प्रसिद्धः पूर्वं चरणरजस्सु यः पतितः, साक्षाद्दर्शनानन्तरमत्युत्कटो यो जातः स्नेहः तेनापि विह्वलः रामकृष्णयोश्चरणोपान्ते निकट एव पपात, पाते देहादेरविचारार्थमाह दण्डवदिति, अत्र ज्येष्ठानुक्रम उक्तः व्यवहारे वयसो मुख्यत्वख्यापनार्थः ॥३४॥

व्याख्यार्थः—इस प्रकार से भगवान् का वर्णन करके उन ऐसे सर्वशक्तिमान् स्वामी के प्रति अक्रूर जैसे परम सेवक के कर्तव्य को बतलाते हुए आगे दश श्लोकों से सेवक के प्रति भगवान् के कर्तव्य को कहते है। इन दश श्लोकों में प्रथम दो श्लोकों से सेवक अक्रूर की भक्ति और शरणागति का तथा अगले आठ श्लोकों से अक्रूर के लिए भगवान् का आठ प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करने का वर्णन है। 'रथात्' इस श्लोक से कहते हैं कि अक्रूर ने रथ पर बैठे बैठे ही पहले दूर से ही दर्शन किए थे। अब वही अक्रूर-जो अभी पूर्व में भगवच्चरण रज में लौटे थे-ऊंचा स्थान-रथ से-उतरे नहीं, किन्तु उन भगवान् राम कृष्ण के चरणों के निकट ही भूमि पर गिर पड़े। भगवान् का साक्षात् दर्शन करके वे प्रेम से अत्यन्त विह्वल हो गए और देह की सुध भूल गए तथा काष्ठ दण्ड की तरह उनके चरणों में हठात् गिर पड़े। व्यवहार में आयु का विचार मुख्य रूप से रखना चाहिए, इसलिए वे पहले बलरामजी के और पीछे श्रीकृष्णजी के चरणों में गिरे ॥३४॥

श्लोकः—भगवद्दर्शनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
पुलकाञ्चित औत्कण्ठ्यात् स्वाख्याने नाशकन् नृप ॥३५॥

श्लोकार्थः—भगवान् के दर्शन से अक्रूरजी परम आनन्दित हो गए। उनकी आंखों में प्रेमाश्रु भर आए और उनका शरीर रोमाञ्चित हो गया। उत्कण्ठा से उनका कण्ठ रुंध गया और थोड़ी देर तक तो वह अपना परिचय भी नहीं दे सके।३५।

सुबोधिनी:—अकस्मात्पतिते शङ्का भवतीति कथं स्वनाम न गृहीतवान् तत्राह **भगवद्दर्शनेति**, भगवद्दर्शनेन योयं महानाह्लादो जातः तेनान्तः पूर्णेन बहिर्बाष्पतया निर्गतेन पर्याकुले ईक्षणे यस्य, ज्ञानफलेन ज्ञानं तिरोहितमिति तस्य न विचार उत्पन्न इत्यर्थः, नन्वन्यो मास्तु विचारः अयमहमिति अपूर्वदर्शनत्वात् कथं न स्वाभिधानमुक्तवान्, तत्राह **पुलकाञ्चित** इति, सर्वाङ्गे रोमाञ्चः प्रेमातिभरात् जातः तेन विवशत्वात् **स्वाख्याने** अयमहमस्मीति कथनेपि **नाशकत्**, न समर्थो जातः, परिज्ञानार्थं सम्बोधनमादरार्थं वा ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ—अक्रूरजी के अकस्मात् गिर पड़ने और अपना नाम भी न लेने के कारण उत्पन्न हुई शङ्का को निवारण करने के लिए -भगवद्दर्शन- यह श्लोक कहते हैं। भगवान् का साक्षात् दर्शन

...के अक्रूरजी को परम आनन्द प्राप्त हुआ ... आनन्द उनके हृदय में नहीं समाया और नेत्रों के मार्ग से प्रेमाश्रु रूप से बाहर निकल गया; उनकी आँखें आँसुओं से भर आईं। ज्ञान का फल श्रीहरि को पाकर उनका ज्ञान छिप गया, उन्हें कुछ विचार नहीं रहा। उनका सारा शरीर उत्कट प्रेम के कारण रोमान्वित हो गया और उस आनन्द के अतिशय से वे इतने विवश हो गए कि अपना परिचय देना भी वे भूल गए। अपना परिचय भी नही दे सके। राजा इस उत्कट प्रेम की महिमा को जान सके -इसलिए अथवा आदर के लिए मूल में-'नृप'- सम्बोधन पद कहा है ।।३५।।

श्लोकः—भगवांस्तमभिप्रेत्य रथाङ्गाङ्कितपाणिना ।
परिरेभेऽभ्युपाकृष्य प्रीतः प्रणतवत्सलः ।।३६।।

श्लोकार्थः—तब भक्तवत्सल भगवान् ने अक्रूर के आने का अभिप्राय उसके न कहने पर भी स्वयं ही जान लिया और प्रसन्नता पूर्वक अपने रथाङ्ग-चक्रधारण करने वाले श्री हस्त से उठाकर उन्हें गले से लगा लिया ।।३६।।

सुबोधिनी—ततस्तस्य वचनव्यतिरेकेणैव भगवांस्तं ज्ञात्वा कर्तव्यं कृतवानित्याह भगवानिति, भगवत्त्वात् तमक्रूरोयमित्यभिप्रेत्य दुष्टसंसर्गजनितदोषनाशार्थं रथाङ्गेन चक्रेणाङ्कितेन कालात्मकेन तद्दोषं दूरीकृत्य पाणिना तमाकृष्य स्वसमीपे आनीय तस्मिन् स्वप्रवेशे लौकिकं कार्यं सेत्स्यतीति तमेव स्वस्मिन् आनीतवान्, ततः परिरेभे, उभयोरैक्यं सम्पादितवान्, दण्डवत्पातेनैव प्रीतः, नन्वस्य बहवो दोषाः सन्ति संसर्गजाः तत् कथं प्रीत इति चेत् तत्राह प्रकर्षेण नतेषु वत्सलः, वात्सल्ययुक्तः, भक्तकृपालो प्रकर्षेण नतिमात्रेणैव कृपा अभिव्यक्ता भवति, अत आलिङ्गनमुचितमेव, यो भगवता परिगृहीतः यः कृष्णपादाङ्कितेषु लोटनेन भगवदीयत्वं प्राप्तः स भगवति सायुज्यमेव प्राप्तवान्, न स पुनरुद्गतः, भगवता परित्यक्त इति वचनाभावात्, तस्य पूर्वकामितसिद्ध्यर्थं प्रतिकृतिमेव कृत्वा पृथक् कृतवानिति लक्ष्यते, न हि परमप्रेम्णा भगवत्सायुज्यं प्राप्तस्य पुनरुत्थानं सम्भवति, लौकिकन्याये तु भक्तिवृथैव स्यात्, अतो बलभद्रालिङ्गनानुपपत्त्या भगवद्विश्लेषः तस्य कल्पयितुं शक्यः, एवं सति भक्तिमार्गः सफलो भवति, अन्यथा भावान्तरमुत्पादयन् पाक्षिकफलः स्यात् ।।३६।।

व्याख्यार्थः—उनके अपना परिचय न देने पर भी भगवान् ने अक्रूरजी को पहचान लिया और उनके साथ उचित व्यवहार किया-यह इस "भगवान्" इत्यादि श्लोक से कहते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् हैं। इसलिए अक्रूरजी को पहचान कर उनके दुष्ट कंस के संसर्ग से उत्पन्न हुए दोष को भगवान् ने काल रूप चक्र से अङ्कित अपने श्री हस्त के स्पर्श से दूर कर दिया और उनको अपने पास लाकर गाढ़ आलिङ्गन किया। इस प्रकार आलिङ्गन करके अक्रूर में भगवान् प्रविष्ट हो गए और अपने में अक्रूर का प्रवेश कर लिया। दोनों की एकता प्राप्त कर ली। जिससे भगवान् लौकिक जैसा और अक्रूर अलौकिक जैसा कार्य करेंगे।

अक्रूर में संसर्ग से होनेवाले दोष बहुत होने पर भी भक्तवत्सल भगवान् केवल प्रणाम करने मात्र से ही उन पर प्रसन्न हो गए, क्योंकि भक्तों पर कृपा करनेवाले उन परम कृपालु भगवान् को

देता [illegible] अक्रूर के प्रणाम करने [illegible]
अक्रूर का आलिङ्गन [illegible] है। जिसको भगवान् ने अपना कर लिया और [illegible] भगवान् ने [illegible]
[illegible] भगवदीय हो गए थे। वह अक्रूर भगवान् के सायुज्य को प्राप्त हो
हो गया और फिर वह भगवान् से अलग नहीं हुआ; क्योंकि यहां मूल में भगवान् का उनको त्याग देना नहीं कहा है। ऐसा जान पड़ता है कि अक्रूर की पहली इच्छाओं को सिद्ध करने के लिए उसकी सी आकृति वाला पुरुष भगवान् ने अपने से अलग कर दिया है, क्योंकि यह सम्भव ही नहीं है कि अत्युत्कट प्रेम से भगवान् में सायुज्य पाकर फिर वह जीव उनसे अलग हो जाय और यदि अलग हो जाता है तो भक्ती ही व्यर्थ हो जायगी, किन्तु अलग हुए बिना बलदेवजी का आलिङ्गन नहीं हो सकता। इसलिए अक्रूर से भगवान् से अलग होने की कल्पना की जाती है। अक्रूर को सायुज्य-प्राप्ति होने पर ही भक्ती मार्ग सफल होता है। अन्यथा सायुज्य पाकर फिर लौकिक भाव हो जाने पर तो भक्ति मार्ग का परम मुख्य फल सायुज्य नहीं रहेगा अर्थात् पाक्षिक—गौण—फल ही रह जायगा ॥३६॥

लेख—भगवान्-इस श्लोक की व्याख्या में-तस्मिन् स्वप्रवेशे—का तात्पर्य यह है कि अक्रूर में भगवान् का प्रवेश होने पर अक्रूर की तरह उसमें प्रविष्ट भगवान् भी लौकिक कार्य और भगवान् में अक्रूर के प्रवेश होने पर वह भी प्रविष्ट हुए भगवान् की तरह अलौकिक कार्य करने लगेंगे। 'यो भगवता' इत्यादि व्याख्या के पदों का अभिप्राय है कि सारे ही जीव भगवान् में हैं ही। उनमें से किसी वैसे दो स्वभाव वाले जीव को अक्रूर जैसा शरीर धारी करके अलग कर दिया, ऐसा लक्षित होता है। यदि यह कहा जाय कि अक्रूरजी लौकिक प्रकार से आए थे। इसीलिए सायुज्य देकर भी अलग कर दिया; तब तो भक्ति व्यर्थ हो जायगी। इसलिए भक्ति की सार्थकता और अक्रूर की बलभद्रजी को आलिङ्गन करने की इच्छा की सी आकृति वाला करके भगवान् अपने से—भगवान् से—अलग कर दिया—ऐसी कल्पना की जाती है ॥३६॥

श्लोक—सङ्कर्षणश्च प्रणतमुपगुह्य महामनाः।
गृहीत्वा पाणिना पाणि अनयत् सानुजो गृहम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—इसके बाद नम्रता पूर्वक हाथ जोड़े खड़े हुए अक्रूर को—महा मनस्वी बलभद्रजी—हाथ पकड़कर—अपने भाई श्रीकृष्ण के साथ घर ले गए ॥३७॥

सुबोधिनी—सङ्कर्षणोपि प्रणत इति भावरामूटात् सङ्कर्षणोपि तं तथा कृतवानित्याह सङ्कर्षणश्चेति, अत्रापि प्रणतत्वमेव हेतुः, न तु लौकिक इति चकारेणातिदिष्टोप्यर्थः कर्तृधर्मपर इति पुनराह 'प्रणतमिति' महामना इति तस्य लौकिकधर्माभिनिवेशः, ततोयं पितृव्यः समागत इति पाणिना पाणि गृहीत्वा भगवत्सहितः तं गृहमनयत्, कामनासिद्धेति कथनार्थमुच्यते ॥३७॥

व्याख्यार्थ—जब अक्रूर ने भगवान् श्रीकृष्ण के समान ही बलदेवजी को भी प्रणाम किया तब तो बलदेवजी ने भी उनका समान भाव देखकर श्रीकृष्ण की तरह ही अक्रूर का आलिङ्गनादि किया, यह 'सङ्कर्षणश्च' इस श्लोक से कहते हैं। बलदेवजी, महामना—उदार मन वाले हैं। लोक मर्यादा की रक्षा करने में उनका विशेष आग्रह है। इसलिए—ये काका अक्रूरजी आए—यों कहकर

आगे श्रीकृष्ण ने उनका हाथ पकड़कर भगवान् कृष्ण के साथ उन्हें आदर पूर्वक घर में लिवा ले गए। अक्रूर की मार्ग में की हुई कामना सिद्ध हो गई, यह इस श्लोक से कहा है ॥३७॥

श्लोक—पृष्ट्वाथ स्वागतं तस्मै निवेद्य च वरासनम् ।
प्रक्षाल्य विधिवत् पादौ मधुपर्कार्हणमाहरत् ॥३८॥

श्लोकार्थ—बलदेवजी ने उन्हें घर में ले जाकर स्वागत्-सत्कार के बाद उत्तम आसन पर बिठलाया। फिर यथा विधि उनके पांव धोकर मधुपर्क आदि से उनका पूजन किया ॥३८॥

सुबोधिनी—ततो लौकिकवैदिकमार्गेण तं पूजितवानित्याह पृष्ट्वेति, अनामयमारोग्यं पृष्ट्वा उत्कृष्टं तस्य गृहेपि दुर्लभं आसनं निवेद्य, ततः शास्त्रानुसारेण अभ्यागते यथा कर्त्तव्यं तथा पादौ प्रक्षाल्य मधुपर्कसहितमर्हणं पूजां आहरत् ॥३८॥

व्याख्यार्थ—घर में ले जाकर लौकिक वैदिक रीति से वहाँ उनका पूजन किया। यह इस 'पृष्ट्वाथ' श्लोक से कहते हैं। वहाँ उनकी सकुटुम्ब कुशल मंगल पूछने के बाद उन्हें बड़े सुन्दर तथा बहुमूल्य आसन पर बिठलाया। फिर अभ्यागत के उचित शास्त्र विधि से उनके चरण धोकर मधुपर्क आदि उत्तम उत्तम वस्तुओं से पूजन किया। ३८।

श्लोक—निवेद्य गां चातिथये संवाह्य श्रान्तमादृतः ।
अन्नं बहुगुणं मेध्यं श्रद्धयोपाहरद् विभुः ॥३९॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण भगवान् ने फिर अपने अतिथि अक्रूर को एक सब गुणों से युक्त श्रेष्ठ गाय दान दी और तैलाभ्यङ्ग मर्दन आदि से उनके परिश्रम-थकान-को दूर किया। तब बलदेवजी ने अनेक गुणों से युक्त पवित्र अन्न लाकर बड़ी श्रद्धा से अक्रूरजी को भोजन कराया ॥३९॥

सुबोधिनी—निवेद्येति, ततो गां निवेद्य, 'महोक्षं वा महाजं वे' ति स्मृतेः, उत्सर्गपक्ष एव चात्र, यद्यप्ययमभ्यागतः तथाप्यपूर्वं इत्यतिथिरेव, तमर्थं च भगवान् करोति न तु सम्बन्धेनेति ज्ञापयितुं च तथोक्तवान्, अतिथिस्तु गोघ्नो भवतीति हननार्थमेवेति केचित्, चकारात् महाजं च वस्त्रादिकं च, ततः संवाह्य तैलाभ्यङ्गमर्दनादिना सर्वाङ्गश्रमं दूरीकृत्य आदृतो जातः, संवाहे हेतुः श्रान्तमिति, ततो बहुगुणमनेकव्यञ्जनयुक्तमन्नं ओदनं श्रद्धापूर्वमुपाहरत्, मेध्यमिति, तदानीं शुद्धतया निर्मितं रोहिण्या पक्वमित्यर्थः, न तु यथाकथञ्चित् सम्पादितं, तथात्वे श्रद्धा हेतुः, अकालेपि सहसा सर्वसामग्रीसिद्धौ हेतुः विभुरिति, अतिथिधर्मं जानातीत्यक्रूरः सर्वं तथैव कृतवान्, उभावपि भिन्नभावापन्नाविति न किञ्चिद् विरुध्यते ॥३९॥

व्याख्यार्थ - अर्थात् अक्रूरजी अभ्यागत हैं। और जो भी प्रथम आने के कारण भगवान् ने 'महोक्षं वा महाजं वा'- इस स्मृति के अनुसार उन्हें अतिथि मानकर उनको गाय का दान दिया। यह भेंट भगवान् ने धर्म समझकर ही दी, उन्हें अपना सम्बन्धी मानकर नहीं दी। अन्य कोई व्याख्याकार कहते हैं कि अतिथि गोघाती होता है, इसलिए इसी अभिप्राय से गाय भेंट में दी।

तदनन्तर तैल मर्दन उबटना आदि से उनकी थकान को उनके मार्ग में यातायात के परिश्रम को दूर किया। फिर बलदेवजी ने अपनी माता रोहिणीजी से बड़ी पवित्रता से बनाए हुए, अनेक प्रकार के व्यञ्जनों से युक्त अन्न चावल आदि का भोजन किया। बलदेवजी सर्व समर्थ हैं, इसलिए असमय में भी सारी सामग्री का उसी समय सिद्ध हो जाने में कोई आश्चर्य नहीं है। अक्रूर और बलदेवजी दोनों ही अतिथि धर्म के सदाचार को जानने वाले है, अतः बलदेवजी ने धर्मानुकूल आदर सत्कार किया और अक्रूर ने भी अतिथि सत्कार ग्रहण किया। वे दोनों आतिथेय और अतिथि रूप से भिन्न २ भाव वाले हो गए। इसलिए सत्कार और सत्कार्य में कुछ विरोध नहीं रहा ॥३९॥

लेखः—"निवेद्य गां"—इस श्लोक की व्याख्या में 'उभावपि भिन्न भावापन्नौ'—पदों का यह आशय है कि बलदेवजी का लौकिक भाव में आग्रह है और अक्रूर प्रतिकृति रूप है। इसलिए दोनों के पृथक्-पृथक् भावापन्न होने के कारण कोई विरोध नहीं है ॥३९॥

श्लोक—तस्मै भुक्तवते प्रीत्या रामः परमधर्मवित्।

मुखवासैर्गन्धमाल्यैः परां प्रीतिं व्यधात् पुनः ॥४०॥

श्लोकार्थ—जब वह भोजन कर चुके, तब उत्तम धर्म के जानने वाले बलदेवजी ने मुखवास-पान इलायची देकर इत्र फुलेल आदि सुगन्धित द्रव्य लगाया तथा सुरभित माला पहनाकर उन्हें अत्यन्त प्रसन्न किया ॥४०॥

सुबोधिनी—भोजनान्तमेवातिथिकृत्यमिति अग्रिमोपचारं न कुर्यादिति पुनराह तस्मा इति, **भुक्तवते** आतृप्तेः, ततः **परमप्रीत्या मुखवासै**-स्ताम्बूलादिभिः गन्धैश्चतुः समैः माल्यैश्च राजवत् **तस्मै परां प्रीतिं व्यधात्**, अयमसाधारणो धर्मः, अतिथिं स्वसदृशं कुर्यादिति, ततोप्यधिकं कृतवान्, यद्यपि पूर्वं मधुपर्कादिसमये माल्यं दत्तमेव तथापि प्रीत्यर्थं तद्दानमिति **पुनरि**त्यनेनास्य लौकिकत्व-मुक्तम् ॥४०॥

व्याख्यार्थ - भोजन के पश्चात् किए जाने वाले अतिथि के उपचार, सेवादि सत्कार, का वर्णन 'तस्मै'-इस श्लोक से करते हैं। तृप्ति पूर्वक भोजन कर चुकने पर परम धर्मज्ञ बलदेवजी ने बड़े स्नेह से ताम्बूल, पान, इलायची तथा सुगन्धित द्रव्य, माला आदि से उनका राजा की तरह सत्कार करके उन्हें अत्यन्त प्रसन्न किया। अतिथि को अपने सा बना देना, यह भी एक असाधारण धर्म है; किन्तु यहाँ तो उस असाधारण धर्म से भी अधिक सत्कार किया। यद्यपि पहले मधुपर्क आदि के द्वारा सत्कार करते समय माला पहनाना कह दिया है, तो भी प्रेम से फिर माला पहनाने का वर्णन इसके लौकिक भाव को सूचित करता है ॥४०॥

श्लोक--पप्रच्छ सत्कृतं नन्दः कथं स्थ निरनुग्रहे ।
कंसे जीवति दाशार्ह सौनपाला इवावयः ॥४१॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार सत्कार हो चुकने पर नन्दरायजी ने अक्रूरजी से पूछा-हे दाशार्ह अक्रूर निर्दयी कंस अभी जीवित ही है । इसलिए कसाई के घर में पली हुई भेड़ों के समान तुम लोगों को हर घड़ी ही अपने प्राणों का खटका लगा ही रहता होगा । तुम पर आजकल कैसी बीतती है ॥४१॥

सुबोधिनी—ततो ग्रामप्रभुणा असम्मानितश्चेत् लोके बालकैः सम्मानितोपि न परितुष्टो भवेत् इति सम्भाषणात्मकं सम्माननं नन्दकृतमाह पप्रच्छेति त्रिभिः, पूर्वमेव सत्कृत इति पूजामकृत्वैव केवलं पप्रच्छ, प्रश्नमेवाह निरनुग्रे कंसे तस्य समीपे कथं स्थेति, सम्भावितोपद्रवस्थानकुशलप्रश्नोयम्, कंसस्य न केपि गुणाः सन्तीति जीवनमेवोक्तम्, अपकीर्त्या व अजीवति, न हि मृतकस्थाने श्मशाने कश्चित्तिष्ठतीति भावः, दाशार्हेति सम्बोधनं स्वतो वंशतश्च महत्त्वेन स्तोत्रार्थम्, सर्वत्र स्थितौ दोषाः सन्तीति जन्मभूमित्वात् स्थीयत इति चेत् तत्राह सौनपाला इति, सूनापरः सौनः नित्यशमिता मांसविक्रयी, स एव पालो येषां ते च अवयः गतानुगतिकाः, ते यथा अविचार्य तिष्ठन्ति तथा स्थीयत इति स्थितिरनुचितेति भावः ॥४१॥

व्याख्यार्थ– लोक में कोई भी आगन्तुक बालकों के द्वारा किए गए सम्मान को पाकर भी तब तक सन्तुष्ट होता, जब तक ग्रामाधिपति अथवा घर का स्वामी उसका सम्मान नहीं करता। घर या गांव के स्वामी से आदर पाकर अतिथि परम सन्तुष्ट होता है । इस लोक सामान्य रीति के अनुसार–पप्रच्छ–इत्यादि तीन श्लोकों से नन्दरायजी के द्वारा किए गए संम्भाषण रूप–अक्रूर के–सम्मान का वर्णन करते हैं । पहले बालकों ने अक्रूर का यथा विधि भोजनादि पर्यन्त पूजन कर दिया होने से नन्दजी उनका पुनः पूजन न करके केवल उनसे पूछने ही लगे कि निर्दयी कंस के समीप में आप कैसे रह रहे हैं । उस सतत् उपद्रव पूर्ण स्थान में कुशल मङ्गल की सम्भावाना ही कैसे की जाय ? क्योंकि उस दुष्ट कंस में एक भी गुण नहीं है । वह तो अपकीर्ति पूर्वक जी रहा है, जो मरा हुआ ही है । मृतक–मुर्दे–के स्थान श्मशान में कोई नहीं रहता है । आप कैसे रह रहे हैं ?

यदि आप-'जननी जन्म भूमिश्च'-जन्म भूमि होने के कारण ही वहां रह रहे हैं तो आपका यह–भेड़ों की तरह विना विचारे, गतानुगतिक– वहां रहना सर्वथा अनुचित ही है । जैसे किसी नित्य मांस वेचने वाले कसाई के पालन पोषण में पलने वाली और एक के पीछे दूसरी लगकर चलने वाली विचार हीन भेड़ें, एक दिन उसी कसाई के हाथ से मार दी जाती हैं । उन भेड़ों का उस कसाई के पालन पोषण में रहना जैसे सवर्था अनुचित ही है, वैसे ही आपका भी कंस के पास रहना अनुचित है ॥४१॥

श्लोक—योऽवधीत् स्वस्वसुस्तोकान् क्रोशन्त्या असुतृप् खलः ।
किं नु स्वित् तत् प्रजानां वः कुशलं विमृशामहे ॥४२॥

श्लोकार्थ—वह दुष्ट कंस सदा अपने शरीर का ही पालन पोषण करने की चेष्टा में तत्पर रहता है। जिसने अपनी बिलखती हुई दीन छोटी बहिन के निरीह नन्हे बच्चों (पुत्रों) को उसके देखते देखते मार डाला, उसकी प्रजा की कुशल पूछना तो मेरी समझ में व्यर्थ ही है। उसकी प्रजा का तो जीवन भी दुर्लभ होगा ॥४२॥

सुबोधिनी—कंसस्य निर्दयत्वमाह योऽवधीदिति, भागिनेया: अतिमान्या:, तत्रापि बालका:, तत्रापि क्रोशन्त्या: स्वसु: सत्या:, क्रोशन्त्या कन्यया सह वा, ननु क्वचित् कर्मविशेषे पुत्रादयोऽपि हन्यन्त इति किमाश्चर्यं भागिनेयहनने, तत्राह असुतृप्, केवलं प्राणपोषक: तेष्वमारितेषु स्वप्राणा गमिष्यन्तीति, तदपि न सर्वसम्मत्या नापि क्रियादिना, किन्तु खल: दुष्ट:, यत्रैतादृश: प्रभु: तत्र प्रजानां तदधीनानां वो युष्माकं कुशलं किं विमृशामहे किं विचारयाम:, अत: सन्देहे प्रश्न:, अत्र तु विपरीतभाव एव भिन्नतया कुशलप्रश्ने बन्धुविरोधो दुष्टोयमक्रूर इत्युक्तं भवति, अत: कुशलसम्भावनायामपि तथा नोक्तवान् ॥४२॥

व्याख्यार्थ—'योऽवधीत्'-इस श्लोक से कंस की निर्दयता बताते हैं। भानेज-बहिन के पुत्र-अत्यन्त आदरणीय होते हैं। वे भानेज भी अत्यन्त नन्हे बालक-जात मात्र-उनको अपनी बिलबिलाती हुई छोटी बहिन सती देवकी के देखते जिस कंस ने मार डाला। यद्यपि कभी कहीं किसी विशेष कर्म से पुत्रादिक तक मार डाले जाते हैं; फिर भानेजों को मार डालने में आश्चर्य की कोई बात नहीं है; किन्तु उसने तो केवल अपने प्राणों का ही पोषण-रक्षा-करने के लिए भानेजों को मार डाला है, क्योंकि वे नहीं मारे जाते तो उसके अपने प्राण चले जाते। उनका वध जो उसने किया है, वह किसी की सलाह-सम्मति से अथवा किसी कर्म विशेष से नहीं किया है। उसने तो केवल अपनी दुष्टता के कारण ही ऐसा किया है; क्योंकि वह तो महान् दुष्ट है।

जहाँ ऐसा क्रूर स्वामी है, वहाँ उसके अधीन रहने वाली प्रजारूप आपकी कुशलता का क्या विचार किया जाय? इस प्रकार यह सन्देह में प्रश्न है। यहाँ इस प्रकार के सन्देहात्मक प्रश्न से तो विपरीत भावना ही नन्दजी की सूचित होती है, क्योंकि भिन्न रूप से इस प्रकार कुशल प्रश्न में—"बन्धु विरोधी यह अक्रूर दुष्ट है"—ऐसा कहा जा सकता है। इसीलिए कुशल सम्भावना होने पर भी सन्देहात्मक कुशल प्रश्न ही किया। सीधे शब्दों में कुशल नहीं पूछा ॥४२॥

श्लोक—इत्थं सूनृतया वाचा नन्देन सुसभाजितः।
अक्रूरः परिपृष्टेन जहावध्वपरिश्रमम् ॥४३॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार सत्कार के बाद नन्दरायजी ने मीठे वचनों से अक्रूर से उनकी कुशल पूछी। कृष्ण बलराम के सत्कार से अक्रूर के मार्ग का परिश्रम दूर हो गया और वे स्वस्थ हुए ॥४३॥

सुबोधिनी--एताहृश नन्दवाक्यमुपसंहरन् उपसंहरति इत्थमिति, सूनृतया अत्यन्त सत्यरूपया कोमलया सुखदया च वाचा नन्देन सुष्ठु सभाजितः पूजितः अक्रूरः कायिकवाचिकमानसश्रमान् जहौ; सुतरां पृष्ट इति, अन्याभिनिवेशेन स्मृत्या प्राप्तमपि अध्वपरिश्रमं जहावित्यर्थः ।।४३।।

व्याख्यार्थ--इस तरह नन्दरायजी के वाक्यों को कहकर--इत्थं--इत्यादि श्लोक से उपसंहार करते है। इस प्रकार नन्दरायजी की वास्तविक-सच्ची-कोमल और सुख दायक वाणी के द्वारा भली भांति पूजे गए अक्रूरजी के--अन्य किसी आग्रह से अथवा स्मरण से होने वाले मार्ग में कायिक, वाचिक, मानसिक--सारे परिश्रम दूर हो गए और वे सब प्रकार से स्वस्थ हो गए ।।४३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध) ३८वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का ३५वां अध्याय राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण 'यश' निरूपक तृतीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

राग कल्याण

तुम बिन मेरे हितू न कोऊ।
सुन अक्रूर तुरत नृप भाषत नंद महर सुत ल्यावहु दोऊ ।।
सुनि रुचि वचन रोम हरषित गात, प्रेम पुलकि मुख कछु न बोले।
यह आयसु पूरब सुकृत वश, सो काहू पे जाई न तोल्यों ।।
मौन देखि परिहँसि नृप मोनो मनहु सिंह गो आय तुलानो।
वहि कम बिनु द्वै सुत अहीर के, रे कातर तक मन शकांनो ।।
आयसु पाई सुष्ठ रथ कर गहि, अनुपम तुरंग साजि धृत जोह्यो।
सूर श्याम की मिलनि सुरति करि, मनु निरधन धन पाय विमोह्यो ।

राग कहान्रो

आजु जाई देखि हो वे चरण।
शीतल सुभग सकल सुख दाता दुःसह दवन दुःख हरण ।।
अंकुश कुलिश कमल ध्वज चिन्हित अरुण कंज के रंग।
गउ चारत बन जाइ पाइहों गोप सखन के संग ।।
जाको ध्यान धरत मुनि नारद शिव विरंचि सब ईस।
तेई चरण प्रगट करि परसों इन कर अपने शीश ।।
देखि स्वरूप रहि न सकिहौं रथते उतर हों धाय।
सूरदास प्रभु उभय भुजा भरि हँसि भेटि हैं उठाय ।।

मथुरा ते गोकुल नीर पहुँचे सुफलक सुत को साँझ भई ।
हरि अनुराग देह सुधि बिसरी रथ वाहन की सुरति गई ॥
कहां जात कित मोहि पठायो, को हौं मैं यहि सोच परयो ।
दसहूं दिसा स्याम भरि पूरण हृदय हरष आनन्द भरयो ॥
हरि अन्तरयामी यह जानी भक्त वछल बानो जिनको ।
सूर मिले जो भाव भक्त के गहर नहीं किन्हों छिनको ॥

सुफलक सुत हरि दरशन पायो ।
रहि न सक्यो रथ पर सुख व्याकुल भयो उहै मन भायो ॥
भू पर दौरि निकट हरि आयो चरणनि चित्त लगायो ।
पुलक अंग लोचन जलधारा, श्री गृह शिर परसायो ॥
कृपा सिंधु करि कृपा मिले हँसि लियो भक्त उरलाय ।
सूरदास यह सुख सोइ जाने कहौ कहां मैं गाय ॥

श्याम उहै कहिकै उठे नृप हमें बोलाये ।
अतिहि कृपा हम पर करि जो कालि मंगाये ॥
संग सखा यह सुनत ही चकृत मन कीन्हों ।
कहा कहत हरि सुनत हो लोचन भरि लीन्हो ॥
श्याम सखन मुख हेरिकै तब करि सयानी ।
कालि चलो नृप देखिए शंका जिय आनी ॥
हर्ष भए हरि यह कहे मन मन दुख भारी ।
सूर संग अक्रूर के हरि ब्रज पगु धारी ॥

कंस नृप अक्रूर ब्रज पठाए ।
गए आगे लेन नंद उपनंद मिलि श्याम बलराम उन हृदय लाए ॥
उतरि सादर मिल्यो देखि हरष्यो हियो सोच मन यह भयो कहां आयो ।
राज के काज को नाम अक्रूर यह किधौं कर लेनको नृप पठायो ॥
कुशल तेहि बूझि लै गए ब्रज निज धाम श्याम बलराम मिल गये वाको ।
चरण पखराइ कै सुभग आसन विविध भोजन हरषि दियो ताको ॥
कियो अक्रूर भोजन दूहुन संगलै नर नारि ब्रज लोग सबै देखै ।
मनो आए संग देखि ऐसो रंग मनहि मन परस्पर करत भाषै ॥
सारि जेवनार अचवन कै भए शुद्ध दिया तंभोर नंद हर्षि आगे ।
सेज बैठारि अक्रूर सो जोरि कर कृपा करिके तब कहन लागे ॥
श्याम बलराम को कंस बोले मोहि नंद ले सुतन हम पास वेग आवें ।
सूर प्रभु दरशन की साध अति ही मोहि कह्यो समुझाय जिन गहरु लावें ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ३९वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ३६वां अध्याय

राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण

'चतुर्थ अध्याय'

श्रीकृष्ण बलराम का मथुरागमन

कारिका—षट्त्रिंशे भक्तकृपया हरिरूपमदर्शयत् ।
अत्यासक्ति पूर्वसिद्धांत्यक्त्वापीति निरूप्यते ।।१।।

कारिकार्थ—३६वें अध्याय में पहले सिद्ध हुई अत्यासक्ति का त्याग करके भी भगवान् ने भक्त कृपा से अपने स्वरूप का दर्शन कराया ॥१॥

कारिका—अक्रूरेण च संवादो गमनोद्यम एव च ।
गोपिकानां विलापश्च भगवद्रूपवर्णनम् ।।२।।

कारिकार्थ—निरूपित चार पदार्थों को कहते हैं— १-अक्रूरजी के साथ संवाद, २-जाने का उद्यम, ३-गोपियों का विलाप, ४-भगवान् के रूप का वर्णन ॥२॥

कारिका—**मनोरथस्य सिद्धयर्थं उद्यमस्य तथैव च ।**
तत्रागत्यागत्यभावे स भिन्न इति संशयात् ॥३॥

कारिकार्थ—मनोरथ तथा उद्यम की सिद्धि के लिए यहाँ (मथुरा में) आकर फिर व्रज में आकर, दोनों स्थानों पर भाव भिन्न है, यों शङ्का होने पर ॥३॥

कारिका—**चत्वारोर्थाः क्रमादुक्ताः पुरुषार्था यतो व्रजे ।**
सर्वे सिद्धा इति ज्ञाने भक्तो भूयात् तथा परः ॥४॥

कारिकार्थ—ये चारों अर्थ जन्म से कहे, क्योंकि पुरुषार्थ तो व्रज में सर्व सिद्ध होते हैं यों ज्ञान होने पर फिर भक्त पर होता है ॥४॥

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—**सुखोपविष्टः पर्यङ्के रामकृष्णोरुमानितः ।**
लेभे मनोरथान् सर्वान् पथि यान् स चकार ह ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं—महाराज, वहाँ अक्रूरजी सुखपूर्वक पलङ्ग पर बैठ गए । उन्होंने आते समय मार्ग में जो जो मनोरथ किए थे, उन सबको श्रीकृष्ण और बलदेवजी ने भली-भाँति सत्कार करके अच्छी तरह पूर्ण कर दिया ॥१॥

सुबोधिनी - पूर्वाध्याये तस्य मनोरथा निरूपिताः, ते वस्तुतोनभिप्रेता अपि भक्तिमार्गे भक्तेन कृता इति भगवता कृता इति वक्तुमाह **सुखोपविष्ट** इति, नन्दे गृहं गते पश्चात् सुखशय्यायामुपविष्टः, भगवता बलभद्रेण च सम्माननार्थमुपवेशितः, यदि लोके स्वस्मादप्यधिको मानो दत्तस्तदा किं वक्तव्यं किञ्चित् साधयिष्यति नवेति, अतो **मनोरथान् सर्वानेव लेभे,** पुरुषस्य हि सहस्रं कामाः यतः 'काममय एवायं' तेन सर्वे प्राप्ता इत्याशङ्क्य विशिनष्टि, **पथि यान् चकार** हेति, **स** सोक्रूरः पूर्वसिद्धः, हेत्याश्चर्ये, न हि मार्गे जातो मनोरथः कस्यचित् सिध्यतीति ॥१॥

व्याख्यार्थ—गत अध्याय में अक्रूरजी के मनोरथों का निरूपण किया जा चुका है । यद्यपि वे सभी अभिप्रेत तथा आवश्यक नहीं थे, तो भी, वे भक्तिमार्गीय भक्त के किए हुए मनोरथ थे । इस कारण से भगवान् ने सभी पूर्ण कर दिए, यह इस -'सुखोपविष्टः'- श्लोक से कहते हैं, वहाँ से श्री नन्द के चले जाने के बाद श्रीकृष्ण और बलदेवजी ने उन्हें सम्मानपूर्वक पलङ्ग पर बिठलाया और वे बैठ गए । लोक संसार में बड़ा किसी छोटे का सम्मान करता है, तो यह निश्चित है कि वह महापुरुष उस

का स्वयं में कुछ लघु पुरुष था। अवश्य ही हित करेगा — इस नियम से प्रभु ने [illegible] सारे ही मनोरथ पूरे कर दिए, जो उन्होंने आते समय मार्ग में किए थे। यों तो 'काममयोऽयं पुरुषः' पुरुष की हजारों कामनाएँ होती हैं; किन्तु वे कामनाएँ जो -मार्ग में अक्रूरजी ने की थीं- सारी उनकी प्राप्त कर लीं। आश्चर्य इस बात का है कि रास्ते में की गई किसी की कामना सिद्ध नहीं हुआ करती; किन्तु उन पूर्वसिद्ध अक्रूरजी के तो मार्ग में किए मनोरथ भी सिद्ध हो गए ॥१॥

श्लोक—किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने ।
तथापि तत्परा राजन् न हि वाञ्छन्ति किञ्चन ॥८॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मी के स्वामी नारायण के प्रसन्न होने पर कोई भी पदार्थ अलभ्य या दुर्लभ नहीं होता, तो भी भगवान् के भक्त भगवान् से कुछ भी नहीं माँगते ॥२॥

सुबोधिनी—यद्येवं तर्हि सर्वैरेव भक्तैर्भगवत्समीपमेव गमने कामनैव कर्तव्या स्यात् कामनामेव प्रयच्छतीत्याशङ्क्य सकामा नोत्तमा इति शुको निष्कामः तं व्याजेन निन्दन्निवाह **किमलभ्य**मिति, फलं द्विविधं नित्यमनित्यं च, नित्यं षड्गुणात्मकं, अनित्यं लक्ष्म्याधीनम्, कृष्णस्तु भगवान् लक्ष्मीपतिश्च, स चेत् प्रसन्नः तदधीनं किं वा अलभ्यं भवेत्, प्रसादो हि प्रवृद्ध आत्मानमपि यच्छति, परं प्रसाद एव दुर्लभः, न तु प्रसन्ने किञ्चित्, अप्रसन्ने तु न किञ्चित् फलं भवति, अतः प्रसादहेतुं प्राप्य कामनां चेत् कुर्यात् तदा भ्रान्त एव स इति वक्तुं तथाभूता न कामयन्त इत्याह **तथा**पीति, यतस्तत्पराः न तु विषयपराः, अयं तु मध्ये संसर्गात् मध्यमाधिकारं प्राप्त इति कामनां कृतवान्, न तु सर्वैरेवोत्तमैः काम्यते, तथा सत्ययं मार्गः नोत्तमो भवेत्, राजन्निति स्नेहेनाप्रतारणार्थं सम्बोधनम्, यतस्तत्पराः, अत एव किञ्चनापि न वाञ्छन्तीति युक्तमेव। १॥

व्याख्यार्थ—यदि भगवान् भक्तों की यात्रा में की हुई कामना को ही पूरा करते हैं, तो फिर, सब को, सब भक्तों को भगवान् के समीप जाते समय ही, रास्ते में कामना ही करनी चाहिए।

ऐसी आशङ्का में निष्काम, उत्तम, भक्त श्री शुकदेव मुनि -'किमलभ्यं'- इस श्लोक से हीन सकाम भक्त अक्रूर की व्याजपूर्वक निन्दा करते हुए कहते हैं। नित्य फल तो ऐश्वर्य, वीर्य आदि छः गुण रूप हैं, और नित्य फल अनित्य फल-भेद से दो प्रकार का है। उनमें अनित्य फल लक्ष्मी के आधीन है। श्रीकृष्ण तो भगवान् षड्गुण सम्पन्न तथा लक्ष्मी के पति हैं। इसलिए नित्य, अनित्य–सभी फल देने में समर्थ हैं। उनके प्रसन्न हो जाने पर–उनके अधीन सारी वस्तुएँ ही हैं–उनमें से कोई सी भी वस्तु अलभ्य नहीं है। अति प्रसन्न हुए श्रीकृष्ण तो अपने आपको भी भक्तों के अधीन कर देते हैं। अपने आपको भी दे देते हैं।

परन्तु उनकी प्रसन्नता ही दुर्लभ है, उनके प्रसन्न होने पर तो कुछ भी दुर्लभ नहीं है। उनके अप्रसन्न हो जाने पर तो कुछ भी फल नहीं मिलता है। इसलिए प्रसन्नता के कारण रूप भगवान् को प्राप्त करके यदि कोई भक्त उनसे कुछ मांगता है तो वह बड़ी भूल करता है। क्योंकि भगवत्परायण भक्त उनसे किसी प्रकार की कामना नहीं करता। कामना करने वाले भक्त तो, विषयपरायण ही होते

है। पहले तो ये अक्रूरजी भी, भगवत्परायण ही थे, किन्तु बीच में दुष्ट कंस के संसर्ग से मध्यमाधिकारी हो गए। इसीलिए उन्होंने भगवान् से कामना कर ली, उत्तमाधिकारी तो आगे कुछ भी कामना नहीं करते। यदि सारे ही उत्तमाधिकारी भी कामना करने लग जायेंगे तो यह भक्ति मार्ग सर्वोत्तम ही नहीं रहेगा। यह मार्ग इसीलिए सबसे उत्तम है, क्योंकि भगवत्परायण भक्त उनसे किसी प्रकार की मांग नहीं करते। स्नेह वश अथवा निष्कपट भाव प्रकट करने के लिए मूल में, राजन् सम्बोधन पद दिया है।।२।।

श्लोक—सायन्तनाशनं कृत्वा भगवान् देवकीसुतः।
सुहृत्सु वृत्तं कंसस्य पप्रच्छान्यच्चिकीर्षितम् ।।३।।

श्लोकार्थ—सायङ्काल का ब्यालू करके देवकीनन्दन भगवान् कृष्णचन्द्र अक्रूरजी के पास आकर बैठ गए और उनसे पूछने लगे कि कंस अपने जाति भाईयों तथा बन्धु बान्धवों के साथ कैसा व्यवहार करता है?।।३।।

सुबोधिनी—एवं भक्तानां कामनानिर्णयमुक्त्वा, कामिविशेषं वक्ष्यमाणः सम्भावनयापि सिद्धवदुक्तं समर्थयन्नाह सायन्तनाशनमिति, यावन्नन्देन सह वार्ता तस्मिन् शय्यायां सुप्ते वा पश्चाद् यशोदागृहे सायंकालभोजनं कृत्वा कंसस्य वृत्तं पप्रच्छेति सम्बन्धः, पश्चाद् भोजने बन्धनश्रवणानन्तरं प्रतीकारमुद्योगं वा अकृत्वा भोजनमनुचितमिति भुक्त्वा पृष्टवान्, यशोदायाः सन्तोषार्थं वा तया भोजनार्थं सम्पादितमिति, यद्यपि भगवान् जानाति न वा तस्य लौकिकेन किञ्चित् कार्यं तथापि देवकीसुत इति भक्तार्थमेवाविर्भूत इति पश्चादेव पृष्टवान्, देवकीपुत्रत्वादेव वसुदेवादयः सुहृदः, तस्य कदाचित् सुहृत्सु दैत्यावेशाभावे वृत्तं समीचीनमेव श्रूयते, अतः सन्देहात् प्रश्नः, अक्रूरस्य तथा ज्ञापनार्थः, मानुषभावं ज्ञात्वा कदाचिदन्यथापि वदेत् अतो गोपीकावदेवायं परीक्षणीय इति, अन्यत् अन्येष्वपि उदासीनेष्वपि चिकीर्षितं कृतं करिष्यमाणं चेत्यर्थः, अन्यथा समागतः को वेद वक्तुं शङ्केतेति अर्थात् कृतं बन्धनादिकं चिकीर्षितं नयनमिति, भक्तस्य तस्य स्वतः कथने दोष इति भक्तानां बुद्धिग्रहणार्थं शुकस्तथोक्तवान् ।।३।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार पूर्व श्लोक से भक्तों के कामना विषयक निर्णय को कह कर, कामना के द्वारा भी निश्चय रूप से कहे हुए कामना के अङ्गभूत का वर्णन करते हुए, इस -'सायन्तनाशनं'- श्लोक से उसको समर्थनपूर्वक कहते हैं। श्री नन्द के साथ बातचीत कर चुकने और उनके शैय्या पर सो जाने अथवा यशोदाजी के घर पर चले जाने के बाद सायङ्कालिक भोजन (ब्यालू) करके कंस के व्यवहार को पूछा। ब्यालू के पश्चात् कंस का, देवकीनन्दन का, वसुदेव आदि बन्धु-बान्धवों के साथ व्यवहार पूछने के दो कारण हैं। एक तो यह, कि भोजन से पूर्व यदि कंस का व्यवहार, सुहृदों का बन्धन आदि सुनते और उसका निवारण या निवारणार्थ कोई उद्योग न करने तक भोजन करना अनुचित था और दूसरा यह कि माता यशोदा ने भोजनार्थ सिद्ध किए व्यञ्जनों को माताजी के संतोष के लिए भी ब्यालू पहले करके फिर उसके व्यवहार को जानने की बात पूछी।

यद्यपि भगवान् सब जानते ही हैं तथा लौकिक से उन्हें कोई काम भी नहीं है तो भी, उनका

अवतार ही, भक्तों के लिए ही हुआ है, इसलिए [illegible] का प्रश्न किया। जब [illegible] नहीं रहता है, तब उसका व्यवहार जाति भाई तथा परिवार के साथ अच्छा सुना जाता है। इसलिए सन्देह से प्रश्न किया है, अक्रूर को भी यह बात बतलानी है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं। यह उनका मानुषभाव ही जान कर विपरीत न कह दे, इसलिए, गोपिकाओं की जैसे परीक्षा ली वैसे ही इनकी भी परीक्षा लेने के लिए ही इस प्रकार सन्देहात्मक प्रश्न किया। इसी तरह अन्य उदासीन साधारण जनता के साथ भी उसने जो कुछ किया अथवा अब वह करना चाहता है- सब पूछा। प्रश्न इसलिए किया गया कि कदाचित् आगन्तुक वह कहने में शङ्का (सङ्कोच) कर जाए अर्थात् बन्धुओं के बन्धन आदि को, जिसे वह कर चुका हो और आगे करने (मथुरा ले चलने) की बात को सङ्कोचवश न कहे, बिना पूछे स्वयं कहने में भक्त अक्रूर का दोष माना जाता। इसलिए श्री शुकदेवजी ने भक्तों की बुद्धि का ग्रहण करने के लिए इस प्रकार से कहा है ॥३॥

श्रीभगवानुवाच--

श्लोक—तात सौम्यागतः कच्चित् स्वागतं भद्रमस्तु वः ।
अपि स्वज्ञातिबन्धूनामनमीवमनामयम् ॥४॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा—हे सौम्य! चाचाजी! आप भले पधारे। आपका कल्याण हो। आपके यहाँ सब कुशल तो है न ? आप के सुहृज्जन, ज्ञाति वाले और बन्धु बान्धव तो सुखी हैं ? वे शरीर से तो निरोग हैं ? ॥४॥

सुबोधिनी—भगवतो वाक्यान्याह चतुर्भिः, तस्य तत्सुहृदां च पश्चात्तापोनुमोदनम्, आदौ कुशलं पृच्छति तातेति, यः शब्दस्तेन मनोरथे निरुक्तः स एव भगवतोक्तः, सौम्येति तव न कोपि दोष इति दोषपरिहारार्थं सम्बोधनम्, स्वागतं यथा भवति तथा समागतः कच्चित्, महोपद्रवे समागतः आहोस्वित् अनुपद्रव इति सन्देहात् क्रियाविशेषणम्, अन्यायार्थमागत इति स्ववृत्तान्तं न कथयेदिति तस्य निर्भयत्वाय समाश्वासनमाह भद्रमस्त्विति, समागमनमात्रेणैव सर्वेषामेव भद्रं भविष्यतीति बहुवचनेनोक्तम्, लोकवत् पृच्छति अपीति, स्वा भक्ताः, ज्ञातयो गोत्रजाः, बान्धवा संबन्धिनः, अक्रूर एव वा देहपुत्रादयः स्वशब्देनोच्यन्ते, स्वकीया वा ये भवन्त इति प्रश्ने हेतुरुक्तः, द्वयं पृच्छति अनमीवमनामयमिति, कंसनिकटे स्थितानां ब्रह्महत्यादिपापानि प्रत्यहं सम्भवन्तीति अमीवानां पापानां अभावः प्रष्टव्यः, संसर्गमात्रेणापि चिरकालदुःखदा आधिव्याधयो भवन्तीति आमयाभावोपि प्रष्टव्यः ॥४॥

व्याख्यार्थ—इन आगे के चार श्लोकों से भगवान् के वाक्यों का वर्णन करते हैं। जिनमें क्रम से, -तस्यतत्सुहृदां चैव पश्चात्तापोऽनुमोदनं- अक्रूरजी का, उनके मित्रों का कुशल मङ्गल प्रश्न पश्चात्ताप (कंस के कार्यों के लिए) और अक्रूरजी के आगमन का अनुमोदन किया गया है। उनमें इस -'तात'-प्रथम श्लोक से कुशल पूछते हैं, अक्रूरजी ने अपने मनोरथ के लिए जिस 'तात' शब्द का प्रयोग किया था, भगवान् भी उसी 'तात' शब्द को प्रयुक्त करके पूछते हैं, कि हे तात! हे निर्दोष! तुम, जैसे सुखपूर्वक आया जाता है, उसी प्रकार सुख से आए हो न ? हे सौम्य! इस सम्बोधन से यह सिद्ध होता

है कि इसमे अक्रूर का कोई दोष नहीं है। निर्दोषता को सूचित करने के लिए यह सम्बोधन है। विघ्नपूर्वक आए हो अथवा बिना किसी विघ्न के ही आए हो ? इस प्रकार के सन्देह में 'स्वागतं' इस क्रिया विशेषण का प्रयोग किया है।

उन्हें कंस ने किसी दूसरे काम के लिए भेजा हो, जिससे वे सङ्कोचवश सारी बातें न कह सके। इसलिए उन्हें निर्भय करने के लिए भली-भाँति आश्वासन देते हुए भगवान् कहते हैं कि तुम्हारा कल्याण हो। श्लोक में 'वः' (तुम्हारा कल्याण हो) यह बहुवचन बतलाता है कि भगवान् के समीप केवल आ जाने मात्र से ही सब लोकों का शुभ मङ्गल हो जाएगा।

इस श्लोक के उत्तरार्ध में भगवान् प्रश्न करते हैं कि स्व-भक्तों का, अक्रूरजी के देह पुत्रादिकों की, अथवा स्वकीय प्राप लोगों की जाति-सगोत्री–भाईयों की और बन्धु, सगे-सम्बन्धियों–की निष्पापता तथा निरोगता तो है न ? अर्थात् आप सब पापों से तथा रोगों से रहित हो न ? दो बातें -पापों का तथा रोगों का अभाव- पूछी हैं; क्योंकि दुष्ट कंस के पास रहने वालों के ब्रह्म हत्यादि पाप भी प्रतिदिन हो सकते हैं और दुष्ट के संसर्ग मात्र से ही सदा बने रहने वाले मानसिक (आधि) तथा शारीरिक (व्याधि) रोग भी हो ही सकते हैं। इसीलिए सबका पापाभाव और रोगाभाव पूछा है, जो दोनों ही पूछने योग्य हैं ॥४॥

श्लोक—किं तु नः कुशलं पृच्छे एधमाने कुलामये।
कंसे मातुलनाम्न्यङ्ग स्वानां नस्तत्प्रजासु च ॥५॥

श्लोकार्थ—अथवा रोग के समान यदुकुल को पीड़ा देने वाले हमारे मामा कंस का जब अभ्युदय है, तब आपकी, आपके आत्मियों की तथा उसकी प्रजा की कुशल पूछना व्यर्थ ही है ॥५॥

सुबोधिनी – कथं द्वयमेव पृच्छ्यते कुशलादिकं कथं न पृच्छ्यत इत्याशङ्क्य तत्र विपरीतनिश्चय एवेत्याह किं तु न इति, तुशब्दः कुशलपक्षं व्यावर्तयति, नोस्माकं, सर्वेषामेव बन्धुत्वस्यापनाय पित्रादीनात्मत्वेनैव निरूपितवान्, सर्वतः अकुले कुलस्यैवामयरूपे सर्वग्रासकमहाव्याधौ प्रत्यहमेधमाने सति प्रतीकारमकृत्वा किं कुशलं पृच्छे इत्यर्थः, रोगान्तरशङ्काव्यावृत्त्यर्थं नाम गृह्णाति कंस इति, तर्हि कथमेतावत्कालं शान्त्वोपेक्षेति चेत् तत्राह मातुलनाम्नीति, अमारणार्थं रोगे मातुलसंज्ञा जाता, यथा शत्रुर्ब्राह्मण इति, अङ्गेति सम्बोधनमप्रतारणार्थम्, अतः स एव चेदुद्यमं कुर्यात् तदा निवारणे न कोपि प्रयास इति सूचितम्, स्वानां नो बन्धूनां तत्प्रजासु च कुशलं चकारात् कंसप्रजासु ॥५॥

व्याख्यार्थ--अक्रूर से सब की कुशल न पूछ कर केवल पापों,अभाव तथा निरोगता का ही प्रश्न करने का अभिप्राय यह है कि भगवान् को सारे बन्धुओं का कंस से अनिष्ट होने का तो निश्चय हो ही रहा था। इसी को -'किं तु नः'- इस श्लोक से कहते हैं। मूल में 'तु' शब्द का तात्पर्य यह है

कि कुशल प्रश्न नहीं करना चाहिए । कुशल पूछने से रोकता है । [illegible] सब [illegible] है । [illegible] वसुदेवजी आदि को तो आत्मा रूप से ही निरूपण किया है । सारे कुल को ही -अकुल- नष्ट कर देने वाले, सबका नाश कर देने वाले, महा रोग के प्रतिदिन बढ़ते रहते उसका प्रतीकार (नाश) न करके क्या कुशल पूछी जाए ?

कोई दूसरा रोग नहीं, यह कंस ही महान् रोग-रूप है, जो प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। इस रोग को अब तक बढने देने (उपेक्षा करने), नष्ट न कर देने का कारण यह है, कि इस रोग का 'मामा' नाम है। जैसे शत्रु का ब्राह्मण नाम हो और ब्राह्मण के नाते मारने योग्य नहीं माना जाता, वैसे ही मामा नाम नामधारी इस सबका क्षय कर देने पर भी रोग की उपेक्षा ही की जा रही है। 'अङ्ग' यह सम्बोधन वास्तविकता (सत्यता) का सूचक है, इससे यह सूचित किया है कि भगवान् स्वयं तो इस रोग को दूर करेंगे नहीं, परन्तु यदि वह मामा नाम का कंस रूप रोग ही कुचेष्टा करेगा तो उसे मिटा देने -नष्ट कर देने- में (मुझे) भगवान् को कोई थोड़ा भी प्रयास नहीं होगा। सहज ही मार दिया जाएगा। इसलिए अभी उस महा रोग के रहते हुए अपने आत्मीय बन्धु-बान्धवों, बान्धवों की प्रजा तथा उस कंस की भी प्रजाओं की कुशल क्या पूछूं ? अर्थात् उन पर तो आपत्तियों के बादल सदा ही मँडराते रहते होंगे ।।५।।

श्लोक—अहो अस्मदभूद् भूरि पित्रोर्वृजिनमार्ययोः ।
यद्धेतोः पुत्रमरणं यद्धेतोर्बन्धनं तयोः ।।६।।

श्लोकार्थ—अहो मेरे ही कारण, निरपराधी माता-पिता को अब तक अनेक कष्ट मिले और मिल रहे हैं। मेरे ही कारण उनके पुत्र मारे गए और जिससे वे स्वयं बन्धन में पड़े ।।६।।

सुबोधिनी—एवं सिद्धवत्कारेण बन्धूनामनिष्टं सम्भाव्य विशेषतः प्रश्ने अप्रश्ने च तस्य मनसि वैमनस्यं मत्वा कृतं वधादिकमनुशोचन्निवाह अहो इति, अन्यथा देवकीवसुदेवयोः उपेक्षां करोतीति दुःखं स्यात्, अन्यनिमित्तमन्यस्य दुःखं भवतीत्याश्चर्यम्, यतः अस्मन्निमित्तं पित्रोर्महद्वृजिनमभूत्, तौ वस्तुत आर्यौ अपराधरहितौ, अतोऽस्माभिरेव तेषामुपद्रवः कार्यत इत्युक्तं भवति, तद्वृजिनं भूरि, सम्भाव्यमानमल्पं भविष्यतीति गणयति, यद्धेतोः पुत्रमरणमिति, तयोरष्टमः पुत्रो मारयिष्यतीति मद्धर्मं श्रुत्वा निष्कारणमन्ये पुत्रा मारिताः, तयोश्च बन्धनमहं पुत्र इति आद्यन्ते च ।।६।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कंस के राज्य में बन्धु-बान्धवों का अवश्य पीड़ित होना निश्चित करके कोई विशेष प्रश्न नहीं किया जाएगा तो अक्रूर के मन में दुःख होगा -ऐसा मानकर- कंस के द्वारा किए गए वध, बन्धनादि के विषयों की चिन्ता सी करते हुए -'अहो'- इस श्लोक से कहते हैं। भगवान् यदि कंस के द्वारा किए गए वध, बन्धनादि का शोक न करते तो, देवकीजी तथा वसुदेवजी के विषय की तो इन्हें कुछ चिन्ता नहीं है, अक्रूरजी को ऐसा दुःख होता।

आश्चर्य तो यह है कि अन्य एक के कारण से दूसरों को दुःख उठाना पड़ रहा है; क्योंकि मेरे कारण से ही माता-पिता जो वास्तव में आर्य हैं, निरपराधी हैं, अत्यधिक दुःख उठा रहे है। इससे यही कहा जा सकता है कि मैंने ही उनका दुःख उत्पन्न किया। शब्दों के द्वारा सम्भावित वह अत्यधिक कष्ट थोड़ा सा ही होगा -यों न जान लिया जाए- इसलिए -'यद्धेतो पुत्र मरणम्'- इन पदों से उसकी गणना करते हैं। इनका आठवाँ पुत्र मुझे मारेगा, इस प्रकार से मेरे गुण को सुन कर व्यर्थ में ही उनके पुत्रों को मार दिया। मैं उनका पुत्र हूँ, इसी कारण से पहले और अन्त में उन्हें बन्धन में डाल दिया गया ॥६॥

श्लोक—दिष्ट्याद्य दर्शनं स्वानां मह्यं वः सौम्य काङ्क्षितम् ।
सञ्जातं वर्ण्यतां तात तवागमनकारणम् ॥७॥

श्लोकार्थ—हे सौम्य! अहो भाग्य है, जो आज हमें अपने आत्मीय बान्धव आपके दर्शन हुए। मैं भी बहुत दिनों से दर्शन की अभिलाषा कर ही रहा था। हे तात! अब आप कृपा करके अपने आने का कारण कहिए ॥७॥

सुबोधिनी—एवमनुतापमुक्त्वा तस्यागमनाभिनन्दनपूर्वकमागमनप्रयोजनं पृच्छति **दिष्ट्येति**, **स्वानां यदद्य दर्शनमकस्माज्जातं** तद्दिष्ट्या भाग्येन भक्तानां भगवद्दर्शनं भाग्येनेति, लौकिकभाषा चैषा, यतः हे **सौम्य मह्यं** ममैवोपकाराय मत्फलाय वा लोकोक्त्या ममैव चिरकाङ्क्षितं कदा वा दर्शनं भविष्यतीति, **सौम्येति** सम्बोधनात् सत्त्वमुभयत्र हेतुरुक्तः, एवमभिनन्दनं कृत्वा पृच्छति **सञ्जातं वर्ण्यतामिति**, यद्वृत्तं साम्प्रतं तद्वर्ण्यताम्, **तातेति** सम्बोधनमभयदानाय, तवागमने किं कारणं तदपि वर्णय, द्वयं पृष्टम् ॥७॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार शोक प्रकट कर के इस -'**दिष्ट्याद्य**'- श्लोक से उनके आने पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए, भगवान् उनके आगमन का प्रयोजन पूछते हैं। आज सौभाग्य से ही अचानक आत्मीय आपके दर्शन हुए; क्योंकि भक्तों को भगवान् के दर्शन भाग्य से ही होते हैं। यह लौकिक भाषा है, (भागवत में समाधि भाषा ही प्रमाण है, यह ध्यान में रखना चाहिए) इसी लिए भगवान् लोक मत के अनुसार मेरे भाग्य से मुझे आप (अक्रूर) के दर्शन हुए, यों कह रहे हैं, किन्तु यह कहना कि भगवान् के भाग्य से भगवान् को किसी के दर्शन हो, तो, सर्वथा अनुचित ही है तो भी लौकिक भाषा होने के कारण लोक मत का अनुसरण करके ही ऐसा कहा गया है। वास्तव में तो भगवान् के दर्शन भक्तों को भाग्य से ही होते हैं, ऐसा कहना ठीक है और इसी लिए इस श्लोक के प्रथम चरण का अर्थ यहाँ उक्त प्रकार से सङ्गत किया गया है।

हे सौम्य! (सज्जन) आपके दर्शन लोक रीति (लोक दृष्टि) से ही मेरा उपकार करने के लिए मुझे फल देने के लिए तथा जिसको मैं ही बहुत समय पहले से चाह रहा था कि कब दर्शन होंगे, आज सौभाग्य से प्राप्त हुए हैं। मूल में दिया है 'सौम्य' इस सम्बोधन से सूचित होता है कि दर्शन की इच्छा रखना और दर्शन होना दोनों का कारण सत्व है। इस प्रकार से अक्रूर का अभिनन्दन कर के

[illegible] पूछते हैं। [illegible] कि आजकल से [illegible] तथा [illegible] है और दूसरी बात यह कि आप के यहाँ आने का प्रयोजन कहिए कि आप किस कारण से यहाँ (गोकुल में) आए हो ? ॥७॥

श्रीशुक उवाच –

श्लोक—पृष्टो भगवता सर्वं वर्णयामास माधवः ।
वैरानुबन्धं यदुषु वसुदेववधोद्यमम् ॥८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं, राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण के यों पूछने पर मधुवंशी अक्रूर ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। उसने यह भी कहा कि कंस यादवों से घोर वैर बाँधे हुए है और अभी-अभी वह वसुदेवजी को मार डालने को भी उतारु हो गया था ॥८॥

सुबोधिनी—तदा आमूलं सर्वमेवोक्तवानित्याह पृष्ट इति. भगवता हि पृष्टं अन्तर्यामित्वाद् वक्तव्यमीश्वरत्वाद् वक्तव्यं सर्वज्ञत्वाद् वक्तव्यं आत्मत्वाच्च वक्तव्यमिति, यतोयं माधव इति मधुवंशोत्पन्नः, भक्तत्वेनापि गोत्रत्वेनापि सर्वथा वक्तव्यमेवेति, तदाह वैरानुबन्धमिति, वैरमनुबध्यतेनेनेति दृढद्वेष्यत्वम्, ततो वसुदेवस्यापि बधार्थमुद्यमः ॥८।

व्याख्यार्थ—भगवान् के यों पूछने पर अक्रूर ने मूल से आरम्भ करके सभी समाचार कह सुनाए, यह इस -'पृष्टः'- श्लोक से कहते हैं। भगवान् ने पूछा है, जो अन्तर्यामी, सब ईश्वर, सर्वज्ञ तथा सब आत्मा है और इसलिए अक्रूर स्वयं मधुवंशी है, भक्त है तथा समान गोत्री है, इसलिए भी, सब कह देना ही चाहिए। इस कारण से, उसने कहा कि कंस का यादवों के साथ घोर विरोध और वसुदेवजी को मार डालने तक उद्योग करना भी कह सुनाया ॥८॥

श्लोक—यत्सन्देशो यदर्थं वा दूतः संप्रेषितः स्वयम् ।
यदुक्तं नारदेनास्य स्वजन्मानकदुन्दुभेः ॥९॥

श्लोकार्थ—नारदजी उससे कह गए हैं कि आप -श्रीकृष्ण- वसुदेवजी के ही पुत्र हैं। इसके बाद कंस का संदेशा, उसका बुरा विचार तथा इसीलिए कृष्ण, बलदेव और नन्द आदि को -उसकी आज्ञा से- अपने साथ लिवा ले जाने के लिए दूत बनकर व्रज में आना आदि सब बातें अक्रूर ने कह सुनाई ॥९॥

सुबोधिनी—स्वस्य प्रेरणे प्रकारश्च, य एव सन्देशो यस्य व्याजेनानेय इति यदर्थं वा स्वयं दूतः तेनैव संप्रेषितः अनिष्टभावनया सभाकारणार्थमिति, एतस्य सर्वस्यापि मूलं नारदवाक्यमित्याह यदुक्तमिति, नारदोक्तमेव वदति, आनकदुन्दुभेः सकाशात् स्वस्य भगवतो जन्मेति, अस्य भगवतः

स्वस्य देहस्य वा, आनकदुन्दुभिसदन हेतुपूर्वकं सर्वमुक्तवानिति, इय गक्षान दूतागमनकारणं | हेतुरितिरवाश्यमिति पदाः॥

व्याख्यार्थ—स्वयं को कंस के द्वारा भेजे जाने का प्रकार भी कहा। वह सन्देशा, जो कंस ने कहा था अर्थात् भगवान् को मुख (यज्ञ) दर्शन के बहाने से लिवा ले जाना और जिस कार्य के लिए कंस ने अक्रूर को दूत बना कर भेजा था अर्थात् भगवान् का अनिष्ट विचार कर बुला लाने का प्रयोजन भी कह दिया। इनके अतिरिक्त इन सबका मूल कारण नारदजी के जो वाक्य कंस से कहे गए थे कि आनकदुन्दुभि (वसुदेवजी) से भगवान् का प्राकट्य हो गया अथवा भगवान् की देह का जन्म आनकदुन्दुभि से हुआ था, यह सब कह दिया। आनकदुन्दुभि शब्द से सूचित किया गया है कि भगवान् के जन्म का कारण बतलाकर सब कह दिया। दो कार्यों का होना आठवें श्लोक से कहा और अक्रूर के आने का प्रयोजन तथा इन सबका मूल कारण भूत नारदजी के वाक्यों का वर्णन इस श्लोक से अक्रूरजी ने कर दिया॥९॥

श्लोक—श्रुत्वाक्रूरवचः कृष्णो बलश्च परवीरहा।
प्रहस्य नन्दं पितरं राज्ञादिष्टं विजज्ञतुः॥१०॥

श्लोकार्थ—अक्रूर के ये वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण तथा शत्रु वीरों का संहार करने वाले बलदेवजी हँसे और कंस की वह आज्ञा अपने पिता नन्दजी को सुना दी॥१०॥

सुबोधिनी—श्रुत्वेति, एवं पञ्च पदार्थान् **श्रुत्वा कृष्णः** कालात्मा **बलश्च** क्रियाशक्तियुक्तः एतदर्थमेवावतीर्णौ, परस्य शत्रोर्वीराणां हन्ता आवेशी यदस्माभिः कर्तव्यं तदनेनैव कृतमिति **प्रहस्य** गोप्यं गोप्यमेव विधाय अन्यथा भीतो नन्दो गन्तुं न प्रयच्छेदिति पितृत्वं तस्मिन् स्थापयन्नेव, **राज्ञा आदिष्टं** कौतुकदर्शनार्थमागन्तव्यमिति व्यजिज्ञपत् ज्ञापयामासतुः॥१०॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार अक्रूर के द्वारा कहे गए उपर्युक्त पाँचों विषयों को सुन कर, कंस का काल-रूप श्रीकृष्ण और शत्रु के वीरों का नाश करने वाले क्रियाशक्ति युक्त तथा काल का आवेश वाले बलदेवजी जिनने इसीलिए अवतार लिया है, दोनों मुस्कराए। हँसने का कारण यह था कि जिस काम को ये दोनों भाई करते, उसे इस कंस ने ही कर दिया। उस हँसी को दोनों ने नन्दरायजी से छिपाया। नन्दजी से छिपाकर उनके पिता-भाव-पन की रक्षा की; क्योंकि यदि उनसे उस अपनी हँसी को नहीं छिपाते तो, कदाचित् भयभीत नन्दजी जाने की अनुमति नहीं देते। फिर उन्होंने कंस राजा की-मल्लों की क्रीड़ा देखने के लिए बुलाना रूप-आज्ञा को नन्दरायजी से कहा। १०॥

श्लोक—गोपान् समादिशत् सोपि गृह्यतां सर्वगोरसः।
उपायनानि गृह्णीध्वं युज्यन्तां शकटानि च॥११॥

श्लोकार्थ—[illegible] कि गोरस तथा भाँति-भाँति की भेंटे लेकर सब अपने-अपने छकड़े तैयार करो ॥११॥

सुबोधिनी– भगवदिच्छया पूर्वं शङ्कितोपि कंसकृतोत्साहं द्रष्टुं सामग्रीं च सम्पादयितुं सोपि नन्दोपि गोपान् समादिशत्. अस्ति कश्चिद् ग्रामे वाक्यवक्ता तद्द्वारा समादिशदित्यग्रिमवाक्यादवगन्तव्यम्, तस्याघोषवाक्यान्याह षट्. गृह्यतामित्यादि, सर्वोपि गोरसः, दधिदुग्धात्मकः गृह्यतामिति, नयनार्थं पृथक् क्रियताम्, यत प्रथमतः कर्तव्यं तदुच्यते, अन्यथा रात्रिशेषे दध्नो मन्थनं स्यात्, दुग्धानां च यथेष्टं विनियोगः, एते गोपालाः प्रत्येकं समर्थाः मण्डलाधिपतय इव महाराजाः, न केवल गोरसमात्रं ग्राह्यं उपायनान्यपि गृह्णीध्वमभीष्टानि वस्त्राभरणानि यानि भगवदर्थं युज्यन्ते, तान्येतद्द्वारा नीतानीति तदर्थमेवमुद्यतः, एवं पदार्थसम्भृतिमुक्त्वा, साधनसम्भृतिमाह युज्यन्तां शकटानीति, यानि शकटानि गमनयोग्यानि स्वतः वाहनतश्च योजनं सज्जीकरणं चकारात् रथाश्वादिकं च ॥११॥

व्याख्यार्थ—नन्दजी को पहले कंस की तरफ से शङ्का थी ही, किन्तु फिर भी भगवान् की इच्छा से उन्होंने भी कंस के उस खेल के आयोजन को देखने तथा सामग्री तैयार करने के लिए गोप जनों को आज्ञा दे दी अर्थात् व्रज की रखवाली करने वाले अधिकारी कोतवाल के द्वारा नन्दजी के छ वाक्यों की घोषणा करा दी । (१) सारा ही दूध दही रूप गोरस ले चलने के लिए अलग ले लो । यह पहली घोषणा इसलिए कर दी गई कि महान् राजा की तरह सभी गोप, प्रत्येक समर्थ तथा मण्डलाधिपति हैं । अतः बड़े सवेरे ही दही का मन्थन तथा इच्छानुसार सभी दूध का उपयोग न कर दें । (२) सारा गोरस ले लो, इतना ही नहीं किन्तु भेंटें भी लो । अत्यन्त सुन्दर प्यारे-प्यारे वस्त्रों तथा आभूषणों को, जो भगवान् के उपयोग में लिए जा सकें तथा जो मानों कंस के द्वारा भगवान् के लिए ही मँगाए हैं, भेंट रूप से ले चलने की नन्दजी ने घोषणा कराई । (३) इस प्रकार साथ ले चलने के पदार्थों को इकट्ठा करने की घोषणा के बाद इन पदार्थों को ले चलने के साधनों की भी घोषणा कराई कि सुन्दर तथा मजबूत गाड़े (छकड़े) तथा बड़े तेज चलने वाले वाहन, जो सब सामग्री को ले जा सकें, तैयार करो, साथ ही रथ, घोड़े आदि को भी सजाओ ॥११॥

श्लोक—**यास्यामः श्वो मधुपुरीं दास्यामो नृपते रसं ।**

द्रक्ष्यामः सुमहत् पर्व यान्ति जानपदाः किल ।

एवमाघोषयत् क्षत्त्रा नन्दगोपः स्वगोकुले ॥१२॥

श्लोकार्थ—नन्दरायजी ने अपने गोकुल गाँव में घोषणा करवा दी कि राजा कंस धनुष यज्ञ कर रहे हैं । उन्होंने उसमें हम सबको बुलावा भेजा है । सवेरे गोरस और भेंटें लेकर हम लोग वहाँ चलेंगे । धनुष यज्ञ का उत्सव देखने के लिए अन्य-अन्य गाँवों और प्रान्तों के लोग भी जा रहे हैं, हम लोग भी वहाँ चलेंगे ।

सुबोधिनी—एवं सम्भारस्य प्रयोजनमाह यास्याम इति, श्व एव मथुरां यास्यामः, तर्हि स्वभोजनपर्याप्तमेव गोरसादिकं ग्राह्यमित्याशङ्क्याह दास्यामो नृपते रसमिति, रक्षकाय ह्यवश्यं देयं षष्ठो भागस्तस्यैवेति, अतो नृपतेरित्युक्तम्, पूर्वम् साध्यबुद्धया रसा न दत्ताः, अधुना तु क्रौर्यं परित्यज्य उत्सवार्थमाकारयतीति साध्यतापरिज्ञानम्, ननु निर्बन्धाभावात् शङ्कायास्त्वविद्यमानत्वात् किमिति गन्तव्यमिति चेत्तत्राह द्रक्ष्यामः सुमहत् पर्वेति, इयं चतुर्दशी महत् पर्व, भाद्रपदकृष्णाष्टम्यामेकादशवर्षा जाताः, तत्र च धनुर्यागो जायते [illegible] प्रमाणमाह यान्ति जानपदा इति, तत्रापि प्रमाणं किलेति प्रसिद्धि, इदं सप्तमं वाक्यं प्रमाणत्वाद् भिन्नमुक्तम्, प्रत्येकं गृहे यथेयं वार्ता श्रुता भवति तथा अघोषयदित्याह एवमाघोषयदिति, क्षत्रा अन्तःपुराध्यक्षेण स हि रहस्यवेत्ता भवति, अथवा गोपान् समीपे समागतानेवमादिशत्, स्वगोकुले तु क्षत्रा समादिशदिति, एवं सर्वत्र श्वो भगवान् गमिष्यतीति प्रकारान्तरेण ज्ञापनमुक्तम्, सर्वेषां प्रीत्याधिक्याय ॥१२॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार सब सामग्री को एकत्रित करने और छकड़े, रथ, घोड़े आदि सजाने (तैयार करने) का प्रयोजन 'यास्यामः'- श्लोक से कहते हैं। (४) हम सब सवेरे ही मथुरा चलेंगे और वहाँ राजा कंस के लिए गोरस देंगे; क्योंकि राजा के लिए-जो रक्षा करता है-छठा भाग अवश्य देना चाहिए। इसलिए (५) भोजन के उपयोग में हम लोग जितना गोरस ले सकेंगे, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक गोरस इकट्ठा करके ले चलें, जो राजा कंस के लिए भी भेंट कर सकें। इसी अभिप्राय से मूल श्लोक में नृपति पद कहा है।

अब तक पहिले उसके लिए गोरस आदि न देने का कारण तो यह था कि वह हम लोगों से बैर करता था, किन्तु अब उसने क्रूरता का त्याग कर हमें भी उत्सव में बुलवाया है। इसलिए अब वह अपने अनुकूल हो गया है, ऐसा जान पड़ता है। (६) कंस ने कोई विशेष आग्रह तो किया ही नहीं है। साधारण बुलावा भेज दिया है, ऐसी दशा में उससे भय न रहने पर भी मथुरा कैसे चला जाय? इसके उत्तर में कहते है कि वहाँ चल कर बहुत बड़ा उत्सव देखेंगे। यह चौदस बड़ा पर्व है। भाद्रपद कृष्ण अष्टमी को भगवान् पूरे ग्यारह वर्ष के हुए हैं और वहाँ (मथुरा में) धनुष यज्ञ हो रहा है, तो हमें इस अवसर पर अवश्य चलना चाहिए। इसमें कंस का कोई छल-कपट नहीं है; क्योंकि सभी गाँवों और जनपदों के लोग (जनता) वहाँ जा रहे हैं। यह निश्चय ही प्रसिद्ध है, यह सातवाँ वाक्य प्रमाण रूप से कहा गया है, इसलिए इसको अलग कहा है।

नन्दजी ने यह घोषणा इस तरह कराई कि हर एक घर में यह बात सुन ली जाए। यह घोषणा सारे रहस्य को जानने वाले, जनानी ड्योढ़ी के दारोगा से करवाई अथवा सब गोप जनों को अपने पास बुलाकर स्वयं ने और अपने गोकुल में अन्तःपुर के अध्यक्ष के द्वारा घोषणा कर दी। भगवान् में सबकी अत्यधिक प्रीति है ही। इसलिए भगवान् सवेरे मथुरा पधारेंगे, ऐसी घोषणा न कर के, हम सब चलेंगे, ऐसी अन्य प्रकार से ही घोषणा करवाई ॥१२॥

श्लोक—गोप्यस्तास्तदुपश्रुत्य बभूवुर्व्यथिता भृशम् ।
रामकृष्णौ पुरीं नेतुमक्रूरं व्रजमागतम् ॥१३॥

श्लोकार्थ— राम कृष्ण को मथुरा ले जाने के लिए अक्रूर आए हैं। यह घोषणा सुनते ही गोपियाँ अत्यन्त व्याकुल हो उठीं ॥१३॥

सुबोधिनी— अतस्तथैव गोपिकानां जातमित्याह गोप्य इति, ताः पूर्वोक्ताः तद् भगवान् गमिष्यतीति, यद्यपि लोकानां स्थाने न कोऽप्युक्तवान् तथापि लोकानामेव घोषात् श्रुतमित्याह उपश्रुत्येति, श्रवणमात्रेणैव भृशं व्यथिता बभूवुः, केवलं न निष्प्रपञ्चाः किन्तु भगवदर्थं, तद् भगवति प्रचलिते स्वकृतं व्यर्थमिति युक्तमेवोक्तं बभूवुर्व्यथिता इति, यथा महति पीडायां प्राणस्य क्लेशेषूपस्थितेषु मूर्च्छिता भवन्ति तथा जाता इत्यर्थः, कदाचित् कंसः व्याजेनाकारयतीति ज्ञात्वा व्यथिता भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तत्परिहारार्थं निमित्तमनुवदति रामकृष्णाविति, सर्वासामेवोपद्रवार्थमुभयोर्ग्रहणम्, अन्यतरस्याप्यत्र स्थितौ भगवानागच्छेदित्युभयोर्ग्रहणम्, पुरीं गतस्य न शीघ्रमागमनमिति, सत्यं न भविष्यतीत्याशङ्क्य हेतुमाह **अक्रूरं व्रजमागतमिति**, अक्रूरमिति, **अक्रूर** इति नाम्ना प्रवेशं प्राप्तवान्, एकविधास्तु मूर्च्छिता एव जाताः, सर्वथा अनिर्वृता वा ॥१३॥

व्याख्यार्थ—उस घोषणा को सुनकर गोपी जनों की वही दशा हुई अर्थात् उनकी भगवान् में प्रीति अत्यधिक बढ़ गई, यह -'गोप्यः'- इससे आरम्भ करके छ श्लोकों से कहते हैं। वे गोपियां -यह सुनकर कि भगवान् मथुरा जाएँगे- अत्यन्त दुःखित हो उठीं। यद्यपि उनके पास जाकर किसी ने उन से नहीं कहा था; क्योंकि उसके पास उस स्थान में उनसे कहने वाला नहीं था, तो भी लोगों की बातचीत से ही इसको सुनकर वे अत्यन्त व्यथित हो गईं। वे अभी पूर्ण रूप से प्रपञ्च का त्याग नहीं कर सकी थीं, केवल भगवान् के लिए ही उनने प्रपञ्च का त्याग किया था। इसलिए भगवान् के गोकुल से पधार जाने पर तो उनका किया प्रपञ्च त्याग व्यर्थ हो जाएगा। इसलिए उनका दुःखित होना उचित ही है। जैसे घोर क्लेशों के आ जाने पर भारी सन्ताप से प्राणों को अत्यधिक पीड़ा से कोई मूर्च्छित हो जाता है, वैसी ही उनकी दशा हो गई।

कंस ने उन्हें छल से बुलाया हो, यह सोचकर वे दुःखी नहीं हुईं, वे तो सारी ही राम कृष्ण दोनों का ही गोकुल से जाना सुनकर ही व्याकुल थीं; क्योंकि दोनों में से किसी एक (बलदेवजी) के गोकुल में रह जाने पर तो भगवान् का पीछा आ जाना सम्भव भी है, किन्तु दोनों को ही वह तो लिवाने आया है। इसलिए वे सबकी सब ही अत्यन्त व्यथित हो गईं, उनके शीघ्र वापस आ जाने की सम्भावना नहीं है; क्योंकि नगर में चले जाने वाले शीघ्र वापस नहीं आते हैं।

भगवान् के गोकुल से चले जाने की घोषणा झूठी तो नहीं हो सकती; क्योंकि उन्हें ले जाने के लिए अक्रूर आया है। वह अपने इस अक्रूर (क्रूर नहीं) नाम से ही व्रज में आ सका है, अन्यथा वह व्रज में प्रवेश ही न कर पाता। भगवान् के वहाँ से चले जाने की बात को सुनकर उनमें से एक प्रकार की गोपियां तो मूर्च्छित ही हो गईं अथवा पूर्णतया दुःखित हो गईं ॥१३॥

श्लोक—काश्चित् तत्कृतहृत्तापश्वासम्लानमुखश्रियः।
स्रंसद्दुकूलवलयकेशग्रन्थ्यश्च काश्चन ॥१४॥

श्लोकार्थ—कई गोपियों के मुख कमल उस शोक से उत्पन्न हुए सन्ताप की गर्म साँसों से मुरझा गए। कई गोपियाँ ऐसी शिथिल हो गई कि उनको अपने दुपट्टे और कङ्कणों के गिर जाने तथा वेणी के खुल जाने तक की भी सुध नहीं रही ॥१४॥

सुबोधिनी--अन्यासां वृत्तिमाह काश्चिदिति, त्रिगुणा एताः गुणातीता ज्ञानप्रधाना भक्तिप्रधानाश्चेति पञ्चविधाः, तत्र राजस्यो व्यथां प्राप्तवत्यः, सात्त्विक्यस्तु श्रवणकृतो योयं हृत्तापः तेन सहितो योयं श्वासः तेन म्लाना मुखश्रीर्यासाम्, यद्यपि पूर्णज्ञानाः तथापि सगुणत्वात् बलिष्ठोयं विषय इति हृत्ताप उत्पन्न एव, तस्यावान्तरकार्यं श्वासः परमकार्यं म्लानतेति, अन्याः पुनः श्रुत्वा क्षीणा एव जाताः, महाभये शुष्कदेहाः, अतः स्रंसद्दुकूला जाताः स्रवद्वलयाश्च, केशेषु ग्रन्थयोपि स्रंसन्तो जाताः, एता अन्तर्भयेनैव शुष्काः, सर्वाङ्गे न त्वेकदेश इति, एता एव सात्त्विक्य इति केचित् ॥१४॥

व्याख्यार्थ--'काश्चित्' इस श्लोक से अन्य गोपियों की दशा का वर्णन करते है। ये सारी गोपियाँ–(१) तामसी, (२) राजसी, (३) सात्त्विकी, (४) ज्ञान प्रधान गुणातीता तथा (५) भक्ति प्रधान गुणातीत भेदों से–पाँच प्रकार की हैं। उनमें राजसी (रजोगुणवाली) गोपियों को-जिनका वर्णन ऊपर के १३वें श्लोक में किया गया है -व्यथा हुई- सात्त्विक गोपी जनों की स्थिति का वर्णन इस श्लोक में करते हैं, उनमें सात्त्विक गोपी जनों के मुख कमल भगवान् के मथुरा जाने के समाचार सुन कर होने वाले हृदय के ताप के कारण गरम-गरम साँसों से मुरझा गए। यद्यपि ये पूर्ण ज्ञानवाली -ज्ञान प्रधाना-थीं, तो भी ये थी तो (सात्त्विकी) गुण वाली ही। इसलिए भगवान् के पधार जाने की घोषणा से उत्पन्न हुए अत्यधिक (बलिष्ठ) हृदय के सन्ताप के कारण उनके साँस गरम हो गए और जिससे उनके मुखों पर म्लानता (मुरझाहट) छा ही गई।

कई अन्य गोपियाँ भगवान् का पधार जाना सुनकर अत्यन्त भयभीत हो गई और भय के कारण उनके शरीर सूख गए। उनके मन में उत्पन्न हुए महान् भय से ही सारा शरीर क्षीण हो गया, ऐसा शिथिल हो गया कि उन्हें अपने वस्त्रों और कङ्कण आदि आभूषणों के गिरने तथा वेणियों की गाँठों के खुलने तक की भी सुधी नहीं रही।

अन्य कई व्याख्याताओं के मत से ये गोपी जन सात्त्विकी हैं। श्रीमदाचार्यचरणों ने तो तमोगुण से होने वाले महा भय के कारण उनके देहों का सूखना वर्णन करके उनको तामसी गोपीजन कहा है ॥१४॥

श्लोक—अन्याश्च तदनुध्याननिवृत्ताशेषवृत्तयः।
नाभ्यजानन्निमं लोकमात्मलोकं गता इव ॥१५॥

श्लोकार्थ—कई व्रज बालाएँ भगवान् श्रीकृष्ण के ध्यान में ऐसी लवलीन हो गईं कि उनकी सारी इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो गईं, उनकी सारी क्रियाएँ रुक गईं। उन्हें आत्म

[illegible] लोक के चले गए [illegible] इस लोक का भौतिक भान नहीं रहा ॥१५॥

सुबोधिनी- ज्ञाननिष्ठा अन्याश्चेति, तस्य भगवतः **अनुध्यानेन** स्मरणानन्तरं प्राप्तेन ध्यानेन निवृत्ताः अशेषाणामिन्द्रियान्तःकरणदेहानां **वृत्तयो** यासाम्, ततः सुषुप्ता इव **इमं लोकं** नाभ्यजानन्, आत्मैव लोकः अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छन्तीति' श्रुतेः वस्तुतस्त्वेता समाधिस्थिता इति. असम्प्रज्ञातत्व यत्तु सुषुप्तिर्दृष्टान्तीकृता ॥१५॥

व्याख्यार्थ—'अन्याश्च' इस श्लोक से ज्ञाननिष्ठ—ज्ञान में श्रद्धा रखने वाली—व्रजाङ्गनाओं का वर्णन करते हैं। उन्हें भगवान् का स्मरण हो आया और भगवान् के अत्युत्कट ध्यान से उनकी इंद्रियों, अन्तःकरण तथा देहों के सारे व्यापार (सारी ही चेष्टाएँ) रुक गए। वे गाढ़ी निद्रा में सोई सी हो गईं। उन्हें इस लोक का भान नहीं रहा।(अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छन्ति ८/३/२)(प्रतिदिन ब्रह्म लोक को जाते हैं) इस छान्दोग्य उपनिषद की श्रुति के अनुसार आत्मा ही लोक है। वास्तव में ये गोपीजन समाधि में ही स्थित हैं। यह असम्प्रज्ञात समाधि है, जिसमें अपना भी भान (देहानुसन्धान) नहीं रहता है। इसलिए यहां (व्याख्या में) गाढ़ निद्रा का दृष्टान्त दिया गया है ॥१५॥

श्लोक—स्मरन्त्यश्चापराः शौरेरनुरागस्मितेरिताः ।
हृदिस्पृशश्चित्रपदा गिरः संमुमुहुः स्त्रियः ॥१६॥

श्लोकार्थ—कई गोपियाँ श्रीकृष्ण की अनुराग भरी मुस्कान के साथ कहे गए मन को हर लेने वाले मीठे प्रेम भरे शब्दों से युक्त वचनों को याद करके मोहित (अचेत) हो गईं ॥१६॥

सुबोधिनी—भक्तास्तु मूर्च्छिता जाता इत्याह **स्मरन्त्य** इति, **अपराः** कदाचिदपि परभावं नापन्नाः सेवकीभूताः, **च**काराद्धृदये पश्यन्त्योपि, अत एव **अनुराग**पूर्वक**स्मितेन** मन्दहासेन **ईरिताः** प्रेरिताः, भक्तानां परमानन्दं दातुं महाननुरागः भेदेन रसग्रहणार्थं स्मितमिति तेन स्वस्थानात् चालिताः, भगवत एता **हृदिस्पृश** इति तथाकरणे हेतुः, गिरां वा विशेषणम्, पूर्वं भगवता परमसौख्यार्थं या गिर **ईरिताः** ताः स्मरन्त्यः **संमुमुहु**रिति, **चित्राणि** विचित्राणि **पदानि** यासु, कदापि न त्यक्ष्यामि त्वं प्राणभूतेत्यादीनि पदान्येव न तु वाक्यानि वाक्यार्थाभावात्, तदानीं पदार्थस्मारकत्वेन पदान्येव तानि गिरः स्मृत्वा संमुमुहुर्मूर्च्छिताः, भगवान् गच्छतीति श्रुत्वा पूर्ववचश्च न गमिष्यामीति स्मृत्वा उभयोर्विरोधे निर्धारार्थं यतमानाः अनिश्चयात् मूर्च्छिता एव जाता इत्यर्थः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—उनमें जो भक्त थीं, वे तो मूर्च्छित हो गईं। यह इस 'स्मरन्त्यः'- श्लोक से कहते हैं। अपर (अन्य) गोपीजन जिन्होंने किसी समय कभी दूसरे के साथ प्रेम नहीं किया था और जो भगवान् की सेवक ही रही थीं तथा अपने हृदय में भगवान् के दर्शन भी कर रही थीं, वे तो मूर्च्छित हो गईं; क्योंकि वे भगवान् के अनुराग भरे मन्दहास से प्रेरित होकर अपनी वास्तविक स्थिति में विचलित हो गईं, अपने आपको भूल गईं। भगवान् का भक्तों में महान् अनुराग उनको परम आनंद

मन के लिए होता है और मन्दहास से वे अलग-अलग रस उत्पन्न करते हैं ।

ये गोपीजन भगवान् के हृदय का स्पर्श करने वाली परम प्रिया है । इसलिए उन्हें रसदानार्थ भगवान् मन्दस्मित अनुराग पूर्ण करते हैं अथवा 'हृदिस्पृशः' (हृदय को छूने वाली) यह पद वाणी का विशेषण है । मैं तुम्हें नहीं छोड़ूंगा, तुम मेरे प्राण भूत हो, इस प्रकार भगवान् ने पहले जो विचित्र पदवाली वाणियाँ कही थी; उन्हें स्मरण करके वे मूर्च्छित हो गई । भगवान् के ऐसे वचनामृत पद रूप थे । वे वाक्य नहीं थे; क्योंकि पदों के अर्थों का स्मरण कराने वाले पद ही होते है । वाक्यार्थ के न होने से वे वाक्य नहीं होते हैं । इस समय भगवान् जा रहे है, ऐसा सुनकर और पहले की "मैं नहीं जाऊँगा।" ऐसी वाणी को याद करके जब दोनों विरोधी वचनों का निर्धार करने का प्रयत्न करने पर भी वे कुछ निश्चय नहीं कर सकीं, तब एकाएक मूर्च्छित ही हो गई, यह तात्पर्य है ॥१६॥

श्लोक—गतिं सुललितां चेष्टां स्निग्धहासावलोकनम् ।
शोकापहानि नर्माणि प्रोद्दामचरितानि च ॥१७॥
चिन्तयन्त्यो मुकुन्दस्य भीता विरहकातराः ।
समेताः संघशः प्रोचुरश्रुमुख्योच्युताशयाः ॥१८॥

श्लोकार्थ—मुकुन्द भगवान् नन्द नन्दन की सुललित चाल और चेष्टा, स्नेहपूर्ण हँसी और चितवन, शोक को हरने वाली हास-परिहास की बातें और उदार चरित्र आदि जो अब उनके मथुरा चले जाने पर नहीं मिलेगी का स्मरण करने वाली तथा एक मात्र भगवान् में मन लगाए हुई वे व्रज बालाएँ भावी वियोग से दुःखित और भय से व्याकुल हो गई तथा सभी इकट्ठी होकर यों विलाप करती हुई आँसू बहाने लगीं ॥१७-१८॥

सुबोधिनी—अन्याः पुनः सर्वा मिलिताः जीवनार्थं विरहवाक्यान्युक्तवत्य इत्याह गतिमिति द्वाभ्याम् विषयक्रियाभ्यां, स्वसमीपे समागच्छतो भगवतः गतिं चिन्तयन्त्यः, ततः सुष्ठु ललितां चेष्टां समाश्लेषादिरूपां ततः स्निग्धो योयं हासपूर्वावलोकः कन्दर्पलीलायां, एवं कृत्वा कियत्कालवियोगानन्तरं पुनरागतस्य पूर्वं विरहकृतः योयं शोकः तद्दूरीकरणसमर्थानि नर्माणि परिहासवाक्यानि, ततो मत्तगजवत् प्रकर्षेण उद्दामानि गतशृङ्खलारूपाणि यानि चरितानि स्वच्छन्दलीलारूपाणि, चकारादन्यान्यप्यवान्तररूपाणि ॥१७॥

नन्वेताः असत्य इव निषिद्धविषयपराः किमिति निरूप्यन्त इत्याशङ्क्याह मुकुन्दस्येति, मोक्षदातुः मोक्षसिद्ध्यर्थमेता लीलाः, ततः पूर्वावस्था सर्वरवरूपा गतेति अत्यन्तं भीताः, धैर्याभावार्थमाह विरहकातरा इति, अल्पविरहेप्यत्यन्तं दीनाः शीतभीता इव ततः समानशीलव्यसनाः सर्वाः प्रत्येकं मिलिताः समूहभेदेन जाताः विंशतिभेदाः परमप्रेमयुक्ताः तद्भावाभिव्यञ्जकाश्रुमुचः, कामव्याप्तचित्ता अपि तथा भवन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह अच्युताशयाः सत्यः प्रोचुः, अन्योन्यजीवनार्थम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ – फिर अन्य सारी ही गोपियाँ इकट्ठी हो कर अपने जीवन के निर्वाह के लिए विरह भरे वाक्य बोलने लगीं, यह विषय और क्रिया के भेद से 'गति स्मिता'- इत्यादि दो श्लोकों में कहते है। पहले सत्रहवें श्लोक में उनके वाक्यों का विषय और अठारहवें श्लोक में उनकी क्रिया, तदनन्तर उन्होंने जो कुछ किया उसका वर्णन है।

भगवान् को उनके पास आते समय की चाल, आलिङ्गन करना आदि उनकी मनोहर चेष्टा, कामलीला में हासपूर्वक रसवर्धक चितवन, उन्हें कुछ समय का वियोग देकर-बिछुड़ कर-फिर आकर उस प्रथम विरह जनित उनके शोक को दूर करने के लिए कहे गए परिहास-हँसी खुशी-के वाक्य, मदोन्मत्त हाथी की तरह उच्छृङ्खल (मर्यादा रहित), स्वच्छन्द लोला चरित तथा अन्यान्य लीलाओं का चिन्तन करती हुई वे सब एक जगह इकट्ठी हो गई ॥१७॥

शङ्का—व्यभिचारिणियों के समान शास्त्र निषिद्ध आचरण वाली इनका निरूपण क्यों किया जाता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वह तो अपने मोक्ष प्राप्ति के लिए मोक्षदाता मुकुन्द भगवान् की लोलाओं का चिन्तन है। फिर भगवान् का मथुरा पधारना सुनकर अपनी पहली, सब सुख मूल, सर्वस्व धन रूप स्थिति का नाश होना समझ कर वे अत्यन्त भयभीत हो गईं। धीरजता आदि के न रहने से थोड़े से विरह में भी शीत से व्याकुल को तरह अत्यन्त दीन हो गईं। फिर एक से स्वभाव वाली और समान दुःख वाली वे सब एक-एक मिलीं तथा समूह के भेदों से बीस प्रकार की व्रजबालाएँ एक टोली में इकट्ठी हो कर अपने उत्कट प्रेमपूर्ण भाव को दिखाती हुई रोने लगीं। कामातुरों की भी ऐसी अवस्था हो जाती है, किन्तु वे तो एक मात्र भगवान् में ही चित्त लगाए हुई थीं। वे अपने एक दूसरे के जीवन निर्वाह के लिए कहने लगीं ॥१८॥

लेख--'चिन्तयन्त्य'इस श्लोक की व्याख्या में,'विंशति भेदा:'इस पद का अभिप्राय है कि अठारवें अध्याय में बतलाए हुए उन्नीस भेदों में कहा -तामस तामसी- गोपी जनों के न होने से उन्नीस भेद कहे थे। यहाँ इन ब्रज बालाओं में -तामस तामसी- के भी होने से बीस भेद हैं।

गोप्य ऊचुः —

श्लोक—अहो विधातस्तव न क्वचिद् दया संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः।
तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकं विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा ॥१९॥

श्लोकार्थ—गोपियाँ बोली—अहो विधाता तू बड़ा ही निष्ठुर है। तेरे में जरा भी दया नहीं है। तू देहधारियों को पहले प्रेम की डोर में बाँध कर फिर उन्हें कृतार्थ नहीं होने देता, उनकी अभिलाषा पूरी नहीं होने नहीं पाती और पहले ही अकारण ही उन्हें अलग-अलग कर देता है। लड़कों के खेल को तरह तेरे भी काम निरर्थक हो हैं ॥१९॥

सुबोधिनी—एव [illegible] भगवच्चरित्रं स्पष्ट-मिति न पुनर्निरूप्यते, निरोधान्ते युगलरूपा द्वादश निरूपिताः, तथैवैता इति, ताभिर्द्वादशधा वचनान्युच्यन्ते, अत्रोपालम्भ्याः प्रथमतो ब्रह्मा [illegible] भगवानपि [illegible] अक्रूरः, साधारण्येन सर्वे, ततो बान्धवाः, ततः स्वात्मैव इति एवं षड्विधाः, तत्र प्रथमं त्रिभिर्ब्रह्मण उपालम्भमाहुः अहो इति ॥१९॥

व्याख्यार्थ—यहां इन गोपियों के वाक्यों से भगवान् का चरित स्पष्ट ज्ञात हो जाता है, इसलिए वह यहां दुबारा नहीं कहा गया। तामसों के निरोध की समाप्ति में, दशम पूर्वार्ध के बत्तीसवें अध्याय में दो-दो के रूप में बारह प्रकार के गोपीजन श्लोक बोलने वाली बतला आए हैं। ये भी वैसी ही हैं। इसलिए इनके वाक्य भी बारह श्लोकों में (१९ से ३० तक) कहे गए हैं। यहां उपालम्भ के पात्र छ गिनाए गए हैं। उनमें (१) पहला ब्रह्मा है; जिसके कहने से भगवान् भू-तल पर पधारे, (२) भगवान्, (३) अक्रूर, (४) साधारण रीति से सारे ही, फिर, (५) सगे-सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव और (६) स्वयं गोपीजनों की आत्मा। उनमें 'अहो' इस श्लोक से आरंभ कर तीन श्लोकों से ब्रह्माजी को उपालम्भ देती हैं ॥१९॥

कारिका—**अविवेको दुरात्मत्वं दत्तापहरणं तथा।**
त्रिदोषं ब्रह्मणः प्राहुर्व्यवहाराद् यतः कृतम् ॥१॥

कारिकार्थ—(१) अविवेक (१९) और (२) दुष्टता (२०) और (३) दी हुई वस्तु को वापस ले लेना (२१) इसमें ब्रह्मा के तीन दोष गोपियों ने कहे हैं। इन दोषों को ब्रह्माजी ने अपने कर्त्तव्य से प्राप्त किए हैं ॥१॥

सुबोधिनी—आदावविवेकमाहुः **अहो** इत्या-श्चर्ये, जगत्कर्तुर्वेदगर्भस्याप्यविवेक इति, ननु मया संयोजनमेव कृतं वियोगकर्ता त्वन्य एवेति चेत् तत्राहुः **विधातरि**ति, सर्वं विदधातीति अविशेषाद् वियोजकोपि त्वमेव, तर्हि युक्तमेवेति चेत् तत्राहुः **तव न क्वचिद् दयेति**, उत्पादितेषु स्वापत्यरूपेषु शिक्षार्थं दण्ड्येष्वपि क्वचिद् दया भवति, कश्चित् शरीरमेव छिनत्ति कश्चित् द्रव्यं कश्चिदिहलोकपर-लोकौ कश्चिद् विषयानिति, अस्माकं तु भगवान् सर्वमेवेति केनाप्यंशेन दया चेत् तदंशस्थापनार्थं वा भगवन्तं स्थापयेत्, तदभावात् क्वचिदपि न दयेति, ननु भवदहष्टादेव भगवान् मिलितः तदप-गमे गच्छतीति चेत् तत्राहुः, **संयोज्य मैत्र्येति**, भगवता सह जीवानां योगे नादृष्टं कारणं वियो-गजनितत्वात्, सोन्तर्याम्यात्मा च, तं प्रार्थयित्वा बहिराविर्भावयित्वा सहजसम्बन्धव्यतिरेकेणैव **मैत्र्या संयोज्य तान्** पुनर्जीवान् भगवत्संयुक्तफला-भावात् **अकृतार्थान् वियुनङ्क्षि** वियोजयसि, स यदि 'पितृलोककामो भवती'त्यादिश्रुतौ सर्वका-मनासिद्धिरुक्ता, पुनरावृत्त्यभावश्च, 'आनन्दमय-मात्मानमुपसंक्रम्ये'त्यादावपि तथा, अत्र तु न कोपि मनोरथोतः परं सेत्स्यति, आवृत्तिश्च भवि-ष्यतीति सर्वप्रकारेणामिलितभगवद्वियोगादकृ-तार्थान् एव जीवानस्मान् वियुनङ्क्षि वियोजयसि, भवेदप्येतदेवं यदि वियोजने तव वा कश्चित् पुरु-षार्थः सिध्येत्, अतस्ते विक्रीडितं विशेषक्रीडारूप-मेतत् **अर्भकचेष्टितप्रायं जातम्**, अलौकिकमपि कृत्वा उत्तमामपि प्रतिमां मृदादिनिर्मितां क्षणा-देव दूरीकुर्वन्तीति, ब्रह्मणोप्यविवेकः ॥१९॥

व्याख्यार्थ- इन दोनों में पहले -'अहो'- इस श्लोक से ब्रह्मा के अविवेक का वर्णन करते हैं। यहां आश्चर्य है कि जगत के रचने वाले वेदगर्भ ब्रह्मा भी अविवेकी हैं ; जिनके द्वारा मिला कर भी विछोह करा दिया जाता है। जैसे संयोग कराना तुम्हारा काम है, ऐसे ही वियोग कराना भी तुम्हारा ही काम है, क्योंकि तुम विधाता हो, सब कुछ कर देने वाले हो, इसलिए संयोग की तरह वियोग भी तुम ही कर देते हो।

तुम्हारा यह काम उचित नहीं है। तुम्हें किसी पर भी दया नहीं आती है। स्वयं उत्पन्न किए हुए अपने सन्तान रूप बालकों को शिक्षा के लिए दण्ड भी दिया जाता है, फिर भी उन पर कुछ दया नहीं की जाती है। उन दण्डनीय बालकों में से भी किसी के हाथ-पाँव ही काट दिए जाते हैं, किसी का धन छीन लिया जाता है, किसी के 'यह' और 'पर' दोनों लोक हर लिए जाते हैं और किसी के आनन्ददायक पदार्थों को नष्ट कर दिया जाता है, किन्तु सर्वस्व का तो अपहरण नहीं किया जाता है। थोड़ी सी तो दया आती है। हमारा तो सब कुछ ही भगवान् है। यदि तुम्हें किसी अंश में थोड़ी सी भी दया आती तो उस अंश को बचाने के लिए भगवान् को हमारे पास ही रहने देते, परन्तु तुम तो भगवान् को हमारे पास ही रहने नहीं देते हो, इसलिए तुम में किसी अंश में भी दया नहीं है।

यदि यह कहा जाए कि तुम्हारे (गोपियों के) अदृष्ट से भगवान् तुम्हें प्राप्त हुए और अब उस अदृष्ट के न रहने से भगवान् जा रहे हैं, तो इसके उत्तर के लिए -संयोज्य मैत्र्या- ये पद दिए हैं। भगवान् के साथ जीवों का संयोग होने का कारण अदृष्ट नहीं है। संयोग तो वियोग की स्फूर्ति से ही होता है। भगवान् अन्तर्यामी और आत्मा हैं। उनसे प्रार्थना करके, उनका यहाँ आविर्भाव करा कर, किसी प्रकार का सहज सम्बन्ध न होते हुए भी उन भगवान् को मित्रता द्वारा जीव के साथ मिलाकर और संयोग का फल न मिलने से कृतार्थ -सफल- नहीं हुए ही उन जीवों का भगवान् से विछोह करा देते हो -'स यदि पितृलोक कामो भवति'- (छान्दो० ८/२/१/)(यदि वह पितृ लोक की कामना करता है) इत्यादि श्रुति के अनुसार सारी कामनाओं की प्राप्ति कही गई हैं और -'आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य'- ३/१०/४/ (आनन्दमय आत्मा को प्राप्त करके) इत्यादि श्रुति के अनुसार फिर संसार में आवागमन नहीं होना फल बतलाया है, परन्तु यहाँ तो भगवान् से बिछुड़ने पर कोई फल भी नहीं होगा और संसार में आना भी पड़ेगा। इसलिए हमारे परम चाहे हुए भगवान् का वियोग करा कर अकृतार्थ फल को बिना प्राप्त किए हुए ही हमको भगवान् से अलग कर देते हो।

यदि भगवान् से हमारा विछोह करने से तुम्हारा कोई प्रयोजन (फल) सिद्ध होता है तो वियोग करा देना भी उचित है, किन्तु तुम्हारी (ब्रह्मा की) यह चेष्टा तो बालक जैसी बेसमझी की ही है। जैसे कोई बालक मिट्टी आदि का कोई अलौकिक बड़ा सुन्दर खिलौना बना कर, मूर्ति बना कर भी उसे क्षण भर में तोड़ देता है, वैसे ही तुम्हारा भी यह कार्य है। इस प्रकार से ब्रह्माजी का भी अविवेक प्रदर्शित किया है।

लेख— 'अहो' इस श्लोक की व्याख्या में 'वियोगजनितत्वात्' इस पद का अभिप्राय यह है कि संयोग वियोग की स्फूर्ति होने से होता है। यहाँ यह क्रम है कि शरण मंत्र के उपदेश से भगवान् में प्रेम होता है। उस प्रेम से यह ज्ञान जीव को हो जाता है कि मैं भगवान् से इतने लम्बे समय से

बिछुड़ा हुआ है। [illegible] वियोग [illegible] हुए तो, [illegible] और आनन्द का तिरोभाव [illegible] वह जीव, उस आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्नपूर्वक उस तिरोहित हुए आनन्द को फिर से प्राप्त करा देने में समर्थ, आनन्द रूप भगवान् श्रीकृष्ण के लिए, अपना सर्व समर्पण करता है। भगवान् का सहज दास जीव, तब अपने भूले हुए दास भाव को, फिर से स्मरण कर लेता है। इसीलिए जब जीव पहले से ही दास, भगवदीय था ही और तब देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और इसके सारे धर्म भी इसके नहीं थे (भगवदीय ही थे)। उन देह, इन्द्रियादि का समर्पण मुख्य है। इसी से आत्मा के साथ इन देहादि सब का समर्पण करके सब प्रकार से भगवान् का होकर रहता है। तभी स्वरूप प्राप्त करने योग्य होता है और फिर भगवान् की कृपा से जीव का भगवान् के साथ संयोग होता है। प्रलय में जीव का भगवान् में ही लय होता है। इस बात को सूचित करने के लिए काल में, वर्ष मासादि का विभाग बतलाया गया है। भगवान् पधारेंगे और हम भी फिर आ जाएँगी, यह तात्पर्य है।

'अभिलषित भगवद्वियोगात्' इस कथन का अभिप्राय यह है कि जो भगवान् हमारे अभिलषित (जिनको हम चाहती) हैं, उनके वियोग हो जाने से हम कृतार्थ (सफल मनोरथ वाली) नहीं हो पाई। पितृ लोक आदि हमारे अभीष्ट नहीं हैं। हमारे तो भगवान् की ही एक मात्र चाहना है और उनसे ही तुम हमारा विछोह कराते हो, इस कारण से हमारी कोई भी कामना सफल (फलीभूत) नहीं होगी।

श्लोक—यस्त्वं प्रदर्श्यासितकुन्तलावृतं मुकुन्दवक्त्रं सुकपोलमुन्नसम्।
शोकापनोदस्मितलेशसुन्दरं करोषि पारोक्ष्यमसाधु ते कृतम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—काली-काली अलकों से अलंकृत और सुन्दर नासिका तथा कपोलों से सुशोभित एवं शोक को मिटाने वाली मन्द मुस्कान से मनोहर मुकुन्द भगवान् का मनोहर मुखारविंद पहले दिखाकर अब उसे अदृश्य (हमारी आँखों से ओझल) किए देता है, सो अच्छा नहीं कर रहा है। तेरा यह कार्य निंदनीय (दुष्टतापूर्ण) है ॥२०॥

सुबोधिनी—किञ्च, नाविवेकमात्रं किन्तु असमीचीनमेव करोतीत्याहुः **यस्त्वमिति**, त्वं ह्यस्मदुपकारार्थं शोकापनोदार्थं मोक्षार्थं वा भगवन्मुखारविन्दं प्रदर्शितवान्, तदप्रदर्शनदशायां अल्पमेव शोकादिकं स्थितम्, साम्प्रतं त्वधिकं जायत इति यदपि त्वया कृतं तदप्यसाध्वेव कृतं, यथा मोहकः समीचीनमिव **प्रदर्श्या**समीचीनं करोति, तथात्वमुपपादयन्ति, प्रथमतो **मुकुन्द**स्य मोक्षदातुर्वक्त्रं प्रधानभूतं यतो मोक्षो भवत्येव तदपि बहुभिरेव सर्वशैरावृतम्, तदाह **असितैः कुन्तलैरावृतमिति**, नीलालकावृतत्वेन स्वस्यानधिकारेऽपि तत्प्राप्तिः सूचिता, कामरस एवायं परितो वेष्टितः तिष्ठतीति, ततः **सुकपोलं** रसानुभवयोग्यम्, ऊर्ध्वा नासिका यस्मिन्निति पूर्णरसत्वेन प्रफुल्लरूपं,शोकादिनिवृत्तिस्तु तद्धर्मलेशेनापि भवतीत्याहुः, **शोकापनोदनं करोति स्मितस्य लेश एव**, तादृशोऽप्यत्र सौन्दर्य एवोपक्षीयते, एतादृशं मुखं सर्वदा दर्शनयोग्यं **पारोक्ष्यं करोषि** परोक्षस्य धर्मयुक्तं करोषि, न ह्यपरोक्षैकस्वरूपं भगवन्मुखारविन्दं स्वतः परोक्षतामापद्यते, त्वं पुनरव्यक्तमपि व्यक्तं करोषीतीदमपि विपरीतं करोषि, तत्तु सर्वोपकारीति ते कृतं साधु भवति, इदं त्वसाधु, किं बहुना ते तवाप्यसाधु, अनेन कर्मणा तवापि नेष्टं सेत्स्यतीति भावः, अत एव भगवान् न ब्रह्मलोकमार्गेण गतः ॥२०॥

व्याख्यार्थ- ब्रह्मा ने केवल उपकार ही नहीं किया, पर तो अयोग्य (दुष्ट काम) भी कर रहा है, यह इस 'दत्तं' श्लोक से कहते है। ब्रह्माजी, तुमने तो हमारे ऊपर उपकार करने के लिए हमारे शोक को दूर करने तथा हमारा मोक्ष होने के लिए भगवान् के मुखारविन्द के दर्शन हम सब को कराए है; क्योंकि तुम्हारी प्रार्थना से ही भगवान् यहाँ भूतल पर पधारे हैं, किन्तु पहले जब तक उनके दर्शन नही हुए थे तो हमें थोड़ा सा ही शोक आदि था और अभी तो अत्यधिक शोक हो रहा है, इस लिए तुमने यह जो कुछ भी काम किया है, वह भी दुष्ट कार्य ही किया है। यह तुम्हारा कार्य तो मोह कराने वाले उस नट के समान है, जो पहले तो मोह उत्पन्न कर देने वाली अच्छी-अच्छी वस्तुएँ दिखाता है, फिर अयोग्य कर देता है। तुमने भी हमारे साथ ऐसा ही अनुचित कार्य किया है।

देखिए, तुमने भी पहले तो मोक्षदाता मुख्य मुकुन्द कृष्ण का मुखारविन्द, जिस के दर्शन से मोक्ष प्राप्ति होती ही है और फिर वह भी अनेक सर्व ज्ञानियों से घिरे हुए काले-काले केशों (अलकों) से घिरे हुए का दर्शन कराया। काले केश काम रस को उत्पन्न करते है। इसलिए श्री मुख काली अलकों से घिरा होने पर इनके श्री मुख को प्राप्त करने का अधिकार नहीं होते हुए भी प्राप्त हो जाता हैं, यह सूचित किया है; क्योंकि चारों तरफ से मुखारविन्द को घेर कर के रहने वाली ये अलकें-केश-कामरस ही है।

फिर जो मुखारविन्द सुन्दर कपोल वाला अर्थात् रस का अनुभव करने योग्य है और ऊँची नासिका से सुशोभित होने के कारण, रस से पूर्णतया भरा हुआ (परिपूर्ण) हो कर फूल रहा है। जिसके मन्द -स्मित-(हास्य) का लेश भी (थोड़ा सा गुण) शोक को दूर कर देता है और उस मन्दहास्य की परिसमाप्ति (सारा कार्य) भगवान् के जिस मुखारविन्द की शोभा को ही बढ़ाना है। उस सदा दर्शन करने के योग्य भगवन् मुखारविन्द को तुम ही पारोक्ष्य[1] कर देते हो। भक्तों को सदा दर्शन देना ही एकमात्र स्वभाव वाला भगवन्मुखारविन्द अपने आप अदृश्य नहीं हो सकता है। अर्थात् जिस श्री मुख का -भक्तों को सदा दर्शन देते रहना- यही एक स्वरूप (स्वभाव) है; वही अपने आप अदृश्य हो कर दर्शन न देने वाला कैसे बन जाएगा ? इसलिए यह काम तो तुम्हारा ही है।

तुम ही अव्यक्त[2] को प्रकट करते हो और व्यक्त[3] को नहीं दिखाई देने वाला करते हो। तुम्हारा पहला काम, अप्रकट को प्रकट करना तो, सब पर उपकार करने वाला होने से अच्छा है; किन्तु यह भगवान् के मुखारविन्द को अदृश्य कर देना रूप दूसरा काम तो दुष्टता पूर्ण ही है। ब्रह्माजी! हम अधिक क्या कहें ? देखो, यह कार्य तो तुम्हारे लिए भी दुष्ट ही है अर्थात् इस से आप का मनोरथ भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि भगवान् भूतल से निज धाम में पधारे तब प्रभासीय लीला में पधारे हैं। ब्रह्मलोक के मार्ग से नहीं पधारे, जो भाग० ११/३१वें अध्याय के ६ से १० श्लोकों में स्पष्ट है, इसलिए ब्रह्माजी का भी मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ यह भाव है ॥२०॥

श्लोक— क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म नश्चक्षुर्हि दत्तं हरसे बताज्ञवत् ।
येनैकदेशेऽखिलसर्गसौष्ठवं त्वदीयमद्राक्ष्म वयं मधुद्विषः ॥२१॥

१- अदृश्य, २- अप्रकट, ३- प्रकट

श्लोकार्थ—[illegible] हमें श्रीकृष्णचन्द्र के शरीर के एक ही भाग में तेरी सारी सृष्टि की सुन्दरता को देख पाती थी, उन आँखों को मूर्खों की तरह हर रहा है ॥२१॥

सुबोधिनी— नन्वक्रूर एव नयति भगवन्तं किमित्यहमुपालभ्य इति चेत् तत्राहुः **क्रूर** इति, न हि त्वया समानीतः त्वद्वाक्येन समागतः अक्रूरेण नेतुं शक्यः, अतस्त्वमेव भगवन्नयनात् क्रूरात्मापि सन् **अक्रू**रोऽहमिति विपरीत नाम धृत्वा भद्रामङ्गलवारवत्, अन्यथा प्रवेशो न भविष्यतीति,लोकापवादव्यावृत्त्यर्थं तेन रूपेण हरसे, 'चक्षुषश्चक्षुरि'ति श्रुत्या भगवांश्चक्षुषश्चक्षुः, युक्तश्चायमर्थः प्रामाणिकत्वात्, इदं पुनश्चक्षुर्न सर्वजनीनं किन्तु त्वयैवास्मभ्यं विशेषाकारेण **दत्तम्**, न हि **दत्तं चक्षुः** देवादिभिरपि ह्रियते अन्येनापहृतं पर प्रयच्छन्ति, **बतेति** खेदे, एतदभावे सुतरामन्धत्वमेव, प्राकृतं चक्षुस्तु एतत्प्राप्त्या निवर्तितम्, अतोऽत्यन्तमपकाररूपत्वान्न हर्तव्यमिति भावः, ननु ये यत् कर्तुं प्रवृत्तास्ते तत् करिष्यन्त्येवेत्युपालम्भो निरर्थक एवेति चेत् तत्राहुः **अज्ञवदिति**, अत्रार्थे विमर्शकारित्वाभावात् विवेको बोधनीय इत्युपालम्भ उचित इत्यर्थः, किञ्च, तवाप्यनेन चक्षुषा महानुपकारः सिध्यतीत्याहुः **येनैकदेश** इति, त्वया हि सौन्दर्यं सृष्टं कश्चित् प्रकाशनीयं, तत् समुदायेन सर्वस्यापि भगवदवयवे एव भवति, तन्मूलकत्वादेव तस्य सौन्दर्यस्य, 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमि'ति वाक्यात्, एकांश एव जगत् तत्राप्येकदेशे सौन्दर्यमिति, रूपग्रहणार्थमेव हि चक्षुषो निर्माणं, रूपं त्वत्रैव, व्यवहारस्त्वन्धानामपि सिध्यति, अत एव येन चक्षुषा **तवैवाखिलसर्गसौष्ठवं वयमद्राक्ष्म, वयं च** श्रुतिरूपाः, अन्यथा त्वत्कृतमप्रामाणिकमेव स्यात्, **मधुद्विष** इति, तवाप्युपकारकर्ता भगवान्, सोत्र रमते, तत्प्रतिबन्धोपि तवानुचित इत्यर्थः ॥२१॥

व्याख्यार्थ— भगवान् को अक्रूर ही ले जा रहे हैं। मुझे -ब्रह्मा को- उपालम्भ देने (बुरा भला कहने) से क्या लाभ है ? इसके उत्तर में 'क्रूरस्त्वम्' यह श्लोक कहती है। ब्रह्माजी, भगवान् को तुम ही यहाँ भूतल पर लाए हो उन्हें क्रूर नहीं ले जा सकता। तुम ही भगवान् को ले जा रहे हो। तुम बड़े क्रूर हो। तुमने सोचा कि इस क्रूर नाम से मुझे कोई व्रज में (गोकुल में) नहीं आने देगा। इसीलिए क्रूर तुमने अपना विपरीत (अक्रूर) नाम बदलकर ही तुम यहाँ प्रवेश पा सके हो। अन्तःकरण तो तुम्हारा क्रूर है, फिर भी अक्रूर नाम धर कर ही बेरोक टोक यहाँ आ सकने के लिए ही आए हो और दूसरी बात यह भी है कि यह अक्रूर नाम धरकर इस रूप से भगवान् को ले जाने में लोक निन्दा से भी बच जाओगे; किन्तु तुम्हारा यह नाम तो भद्रा और मंगलवार की तरह सुनने में अच्छा-शुभ सा लगता है। वास्तव में तो जैसे भरणी और मंगलवार अपशुकन अनिष्ट कारक ही है, वैसे ही तेरा अक्रूर यह नाम भी सुनने में अच्छा (प्रिय) लगता है; किन्तु हो तुम बड़े दुष्ट ही।

चक्षुषश्चक्षु—भगवान् इस श्रुतिप्रमाण से आँख की आँख है। यह चक्षु सब को आँख नहीं है; किन्तु तुम ने ही विशेष रूप से हमारे लिए दी है। अरे स्वयं दी हुई चक्षु को तो छोटे देवता ही नहीं हरते हैं। वे तो किसी और के द्वारा छीनी हुई आँख को वापस दे देते हैं, परन्तु खेद है कि तुम अपनी दी हुई ही हमारी चक्षु को स्वयं छीन रहे हो। देखो, इस आँख के न रहने पर तो हम लोग सर्वथा ही अन्धे हो जाएँगे; क्योंकि इस दिव्य आँख के मिल जाने से हमारी प्राकृत चक्षु तो नष्ट हो ही गई है। इसलिए इस आँख को ले जाने पर तो हमारा बड़ा अपकार होगा। अतः इस हमारी

चक्षु (भगवान्) को मन में जो, यह दोषभाव है [illegible] कोई काम भी करने लगते है वह तो उस को करते ही हैं। तब उपालम्भ-उलाहना देना व्यर्थ ही है, तो उस के उत्तर में कहते हैं कि-अज्ञवत्-अज्ञानी की तरह बिना विचारे काम करने वाले को ज्ञान (भला-बुरा) समझा देना उचित ही होता है, इसलिए उपालम्भ देना अनर्थक-निरर्थक नहीं है। देखो ब्रह्मा! इस आँख से तो तुम्हारा भी बड़ा उपकार सिद्ध होता है; क्योंकि जगत् में सारी सुन्दरता को रचने वाले तुम ही हो और उस को तुम ही कहीं-कहीं थोड़ी-थोड़ी ही प्रकट दिखाते हो। 'विष्टभ्याहमिदकृत्स्न' (मैं इस सारे जगत् को अपने एक भाग (अवयव) में धारण किए हूँ।) और इस गीतावाक्य के प्रमाण से उस सारी सुन्दरता का मूल भगवान् ही है और यह सारा जगत् भगवान् के एक ही अवयव में स्थित है। इस सारे जगत् में भी कहीं-कहीं रहने वाली उस सुन्दरता को अलग-अलग देखने के लिए जनता जगह जगह भटकती न फिरे। उस सारे सौन्दर्य को सभी लोग एक साथ ही भगवान् के एक अवयव में ही देख सकें, इसीलिए तू ने आँखें बनाई है, क्योंकि सौन्दर्य-रूप को देखना आँखों का ही काम है और तभी तेरा आँखें बनाना (रचना) भी सफल है; क्योंकि शरीर के अन्य व्यवहारों को तो अन्धे भी कर ही लेते हैं। रूप को तो केवल आँखें ही देख सकती हैं। इसलिए जिस "चक्षुषश्चक्षु" आँख की आँख से हम तेरी सारी सृष्टि की सुन्दरता को देख रही थीं, उसी को तू ले जा रहा है।

देखो, हम श्रुतिरूपा गोपिकाएं हैं। यदि हम श्रुतिरूप होकर भी, तुम्हारे बनाए कार्य (सौन्दर्य) को नहीं देख सकेंगी तो तुम्हारा यह सृष्टि की रचना करना आदि सारा काम अप्रामाणिक ही होगा। मधु राक्षस के मारने वाले वे भगवान् तुझ ब्रह्मा का भी उपकार करने वाले हैं और वे यहाँ ब्रज में रमण (विहार) करते हैं। उनके रमण में विघ्न करना भी (तेरा) अनुचित ही है, ऐसा अर्थ है ॥२१॥

श्लोक—न नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः समीक्षते नः स्वकृतातुरा बत ।
विहाय गेहान् स्वजनान् सुतान् पतीन् स्वदास्यमद्धोपगता नवप्रियः ॥२२॥

श्लोकार्थ—कई दिनों की मित्रता को क्षण भर में तोड़ देने वाले और नवीन से प्रेम करने वाले वे नन्दनन्दन अपने लिए ही व्याकुल बनी हुई तथा अपने लिए ही घरबार, पति, पिता, पुत्र और सारे परिवार को छोड़कर अपनी ही दासी बनी हुई हमारी ओर देखते भी नहीं हैं ॥२२॥

सुबोधिनी—एवं ब्रह्माणं उपालम्भमुक्त्वा स्वतन्त्रो भगवान् ब्रह्माणं न मन्यत इत्याशङ्क्य भगवत उपालम्भनमाहुः **न नन्दसुनुरिति** चतुर्भिः, यद्यपि भगवान् मार्गान् विधाय स्वयमुदासीन एव तिष्ठति, दूरे स्थित्वा च किञ्चित् करोति न तु सर्वथा, तथापि प्रपत्तिमार्गे न किञ्चित् कृतवान् नापि शास्त्रं न वा साधनानि प्रमाणतान्येपि 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' इति प्रमेयबलमेवोक्तवान्, अत उपालम्भयो भवत्येव, किञ्च, **नन्दसुनुः**, भक्तकृपया भक्तिमार्गेपि नन्दस्य पुत्रो जातः, यत्रैतावद् भवति अप्रयोजके तदास्मासु मनोरथार्थमेव कथं न विलम्बं करोतीति, अत

एव प्रार्थनायामनिवेशो अत उत्पाहु: क्षणभङ्गसौहृद इति, क्षणेनैव भङ्गो यस्य तादृशं सौहृदं यस्येति, अन्यथा विचारयेद् वा, अत एव न समीक्षते सम्यक् पश्यत्यपि न, न हि गतसौहृदा दृश्यन्ते, द्रष्टव्या इत्यत्र हेतुमाहुः स्वकृतातुरा इति, स्वकृते भगवदर्थमेवातुरा दीनाः, वतेति खेदे, कर्ममार्गेऽपि लौकिकेऽपि स्वकृतातुरेषु समीक्षा क्रियते, ज्ञानमार्गे तु आत्मत्वेनैव नित्यप्रकाश इति बहिराविर्भावात् स पक्षो भगवतैव त्यक्तः, स्वस्य प्रपत्त्यधिकारित्वमाहुः विहायेति, 'सर्वधर्मान् परित्यज्ये'त्यर्थः, गृहत्यागेन तद्धर्मत्याग उक्त एव, बाह्याश्चत्वारः आन्तराश्च तथा, बाह्यानां परित्याग एव, आन्तराणां तु वाक्यार्थे व्याख्यानमिति, बाह्यानि गणयन्ति स्वजना बान्धवाः, सुताः स्वस्मादुत्पन्नाः, पतयो नियामकाः, विशिष्टत्वात् बाधकत्वात् स्वतन्त्रत्वात् स्वस्यैव भोक्तृत्वाभिमानाच्च आन्तरत्वं नैषां दास्योपयोगः, अतस्त्यक्तव्या एव, स्वदास्यमित्येकशब्दार्थ उक्तः, न तु देशादिसहितस्य, तदप्यद्धा साक्षात् न तु नामादिद्वारा, एवमुपगतानपि न समीक्षते विचारयत्यपि न, अतः केवलं खेद एव कर्तुमुचितः, असमीक्षायां हेतुं कल्पयन्ति नवप्रिय इति, असमीचीनमपि नवमेव प्रियं मन्यते, अयमप्येकः स्वभावः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार ब्रह्मा को उपालम्भ[1] देकर वे गोपीजन यों सोच कर कि भगवान् तो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। वे ब्रह्मा की बात को नहीं मानते होंगे, साक्षात् भगवान् को ही 'नन्द सूनुः' इत्यादि चार श्लोकों में उपालम्भ देती है, भगवान् को उपालम्भ देना वे-स्वयं-अयोग्य मान कर और शास्त्र रीति से उपालम्भ का दिया जा सकने को उचित समझ कर ही वे कहने लगीं।

यद्यपि भगवान् ने अपनी प्राप्ति के लिए अनेक मार्ग बनाए हैं और स्वयं तटस्थ ही रहते हैं। दूर रह कर भी उनके लिए पूरा पूरा नहीं, किन्तु कुछ न कुछ करते तो रहते हैं। तो भी शरण मार्ग में तो उन्होंने कुछ नहीं किया, न कोई शास्त्र ही किया और न कोई साधन ही बनाए। प्रमाण वाक्य में भी सत्य ज्ञान कराने वाले प्रमाण मार्ग, मर्यादा भक्ति मार्ग में भी, "अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि" (मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा) केवल प्रमेय (भगवान् का बल) ही बतलाया है, इस लिए वह उपालम्भ के पात्र हैं ही।

वे नन्द के पुत्र हैं, भक्त नन्द के ऊपर कृपा करके भक्तिमार्ग में भी नन्दराय के पुत्र हुए हैं। जब प्रेम में प्रवृति नहीं कराने वाले अप्रयोजक-नन्द पर इतना कर देते हैं। पुत्र तक बन जाते हैं, तो फिर वे हम पर हमारे मनोरथ को सिद्ध करने के लिए ही मथुरा जाने में विलम्ब क्यों नहीं कर रहे हैं ? इनके यहाँ से शीघ्र चले जाने के लिए तैयार होने से ज्ञात होता है कि इनकी आसक्ति किसी दूसरे में हो गई है। ये तो क्षण में भी भङ्ग हो जाने वाला प्रेम करते हैं। इनकी मित्रता तो क्षणिक है। यदि टिकाऊ होती तो ये अपना कुछ विचार तो करते। ये हम लोगों को अब भली-भाँति देखते भी नहीं हैं। यह ठीक ही है; क्योंकि जिस में रही हुई मित्रता का नाश हो जाता है, उसे फिर कोई नहीं देखते ।

१- उलाहना।

[illegible] हो आतुर (दीन) बनी हुई हैं । मूल में 'बत' शब्द खेद प्रकट करने के लिए कहा गया है ।

धर्ममार्ग में भी और लौकिक में भी, अपने लिए व्याकुल रहने वाले की ओर अच्छी तरह से ही देखा जाता है । ज्ञानमार्ग में तो भगवान् सब की आत्मा होने से, सदा 'प्रकाश' ही रहते हैं और इस समय भगवान् का स्वयं बाहर प्राकट्य (आविर्भाव) हो रहा है, इसलिए इस पक्ष-मार्ग-का त्याग तो भगवान् ने कर दिया है ।

'सर्व धर्मान् परित्यज्य' (सब धर्मों को त्याग कर इस गीता १८/६६) में भगवान की आज्ञानुसार घर बार, सगे सम्बन्धी, पुत्र और पतियों का त्याग करके आने वाली ये गोपियां स्वयं शरण-मार्ग की अधिकारिणी हैं । घर का त्याग कहने से घर के सारे धर्मों का त्याग भी कह ही दिया गया । बाह्य धर्म और आभ्यन्तर धर्म भेद से धर्म दो प्रकार के हैं । उन में बाह्य धर्म चार प्रकार (गेह, स्वजन, पति और पुत्र) का है और आभ्यन्तर धर्म भी -देह इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण धर्म भेद से- चार प्रकार का है । इन में बाह्य धर्मों का तो त्याग कर देना ही आवश्यक है और आन्तर धर्मों की दास्य भाव के लिए रक्षा करना आवश्यक है ।

उन बाह्य धर्मों के त्याग को गिनाती है । घर बार और उन के धर्मों का छोड़ना ऊपर कह ही दिया गया है । स्वजन- सगे सम्बन्धी, पुत्र जो हम से ही उत्पन्न हुऐ हैं पति जो हमें अपने अधीन रखते हैं । इन चारों का दास्य भाव में आन्तर धर्मों के उपयोग की तरह उपयोग नहीं है; क्योंकि ये चारों क्रम से १, विशिष्ट, २. बाधक, ३. स्वतन्त्र और ४. अपने आप में भोक्तापने का अभिमान रखने वाले हैं । इसी लिए इन का त्याग आवश्यक है ।

यहाँ मूल में 'त्वदास्यम्' (आप का ही दास भाव) पद से 'मामेकं' (अकेला मुझ को ही) एक (अकेला) शब्द का अर्थ सूचित किया है । हमें तो केवल आप का ही दास भाव वाञ्छित है । देश काल आदि रस वर्धक सामग्री साथ में रखने वाले आप से काम नहीं हैं । केवल आप से ही काम है और वह भी अद्धा-साक्षात-आप से ही काम है; क्योंकि हम साक्षात् भगवान् के स्वरूप के ही शरण आई हुई हैं । नाम मंत्रादि द्वारा हम शरण में नहीं आई हैं । इस कथन से गोपियों ने अपना अधिक अधिकार सूचित किया है । इस प्रकार दास भाव को प्राप्त करने वाली हम हैं । जिनका भी भगवान् कुछ भी विचार नहीं कर रहे हैं । इसलिए केवल खेद ही करना उचित है । वे उन की ओर (भगवान् के) नहीं देखने के कारण की कल्पना करती हैं कि भगवान् को नई वस्तु अच्छी (प्यारी) लगती है । अयोग्य भी हो, परन्तु नई हो, तो उसी को वे प्यारी समझते (मानते) हैं; यह भी एक प्रकार का स्वभाव ही है ।।२२।।

लेख—नन्दसूनु—इस श्लोक की व्याख्या में दिष्ट सभी वाक्यों का स्पष्ट अर्थ लेखानुसार भी अनुवाद में हो गया है । फिर भी यहाँ लिखा जाता है कि भगवान् को उपालम्भ देने को अनुचित मान कर वे स्वयं ही यद्यपि इत्यादि पदों से समर्थन करती हैं कि भगवान् ने लौकिक कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग आदि अपने बनाए हुए सभी मार्गों में शास्त्र, साधन आदि सब कुछ बतलाए हैं और भक्ति में तो कुछ भी नहीं बतला कर केवल एकमात्र प्रमेय बल ही बतलाया है, इसलिए वे उपालम्भ के पात्र हैं ।

[illegible] है, स्वदास्य पद से नामिक इस एक शब्द का अर्थ सूचित किया है, न तु देशादि-सहितत्व-का अभिप्राय यह है कि केवल भगवान् में ही तात्पर्य है, रस को उद्दीपन करने वाली देशादि सामग्री में तात्पर्य नहीं है।

आभास—नवप्रियत्वेन सूचितं भावं प्रकटीकुर्वन्ति त्रिभिः।
नूतनं त्रिविधं भवतीति, सुखं प्रभातेति॥

आभासार्थ—नवीन तीन प्रकार से होता है। भगवान् के-नव प्रिया-इस विशेषण से सूचित हुए भाव को –सुखं प्रभाता– इस श्लोक से आरम्भ कर के तीन श्लोकों में कहती हैं।

श्लोक—**सुखं प्रभाता रजनीयमाशिषः सत्या बभूवुः पुरयोषितां ध्रुवम्।**
याः संप्रविष्टस्य मुखं व्रजस्पतेः पास्यन्त्यपाङ्गोत्कलितस्मितासवम्॥२३॥

श्लोकार्थ—आज निश्चय ही मथुरा नगरी की कामिनियों के लिए सुप्रभात होगा, उनकी सभी कामनाएँ पूरी होंगी; क्योंकि जब नन्दनन्दन उस नगरी में प्रवेश करेंगे, तब वे कटाक्षों से युक्त उनकी अमृतमयी मुस्कान को नेत्रों के द्वारा जी भर पिएँगीं।२३।

कारिका—**राजसस्तामसश्चैव सात्त्विकश्चेत्यनुक्रमः।**

कारिकार्थ—राजस, तामस और सात्त्विक–इस प्रकार से तीन भावों का अनुक्रम हैं।

सुबोधिनी—इयं रजनी **अस्मत्प्रतिपक्षाणामेव सुखं प्रभाता रजनी न** त्वस्माकम्, **आशिषश्च** मनोरथाः ब्राह्मणैर्निरूपिता या तासामेव **सत्या बभूवुः**, यतस्ताः, **पुरयोषितः** चतुराः, अन्यथाग्रे-वागच्छेयुः, अत एवास्माकं गमनमपि तत्र बाधितम्, सम्प्रतीनामयमवसर इति, अस्मद्भोगकालापेक्षया तासामुत्तमो भविष्यति, देशश्चोत्तमः, अतः पुरवासिन्यः भाव्यर्थं परिज्ञाय स्थिरा जाताश्चतुरा एव, अतः **ध्रुवमेव** महोत्सवो भविष्यति, उत्सवमाहुः **याः संप्रविष्टस्येति**, सम्यक् **प्रविष्टस्य व्रजस्पतेः** गोकुलस्वामिनो गोविन्दस्य स्वस्थानं प्रविष्टस्य **मुखं पास्यन्ति**, प्रभोर्मुखे परकीये च महानानन्दो भवतीति, तस्मिन् मुखे तासां मधुपानमपि भविष्यति, न केवलं लावण्यामृतपानमिति विशेमाहुः **अपाङ्गेन** उत्कलितं यत् स्मितं तत्सहितमधरामृतं तदेव देहादिविस्मारकम्, अनेन तासां पूर्वदुःखस्मरणाभावात् साम्प्रतमानन्दानुभवाच्च तासामेव महद्भाग्यं न त्वस्माकम्॥२३॥

व्याख्यार्थ—वे कहती हैं कि हमारी विरोधिनी मथुरावासिनियों के लिए आज ही यह रात शुभ सवेरा वाली रात है, किन्तु हमारे लिए यह रात उन जैसी नहीं है और ब्राह्मणों के द्वारा

धन्याए हुए आशीर्वाद और मनोरथ उनके ही सफल हुए हैं, क्योंकि वे शहर [illegible] हैं [illegible] वे चतुर नहीं होतीं तो भगवान् के दर्शन करने यहाँ ही आतीं। वे चतुर हैं, इसीलिए हमारा वहाँ जाना भी निष्फल है, क्योंकि यह अपनी सौतों (शहर की स्त्रियों) का अवसर है। हमारे भोग काल की अपेक्षा उन का भोग काल और देश भी उत्तम होगा; क्योंकि वे आगे के (भगवान् के वहाँ पधारना आदि) बनाव को पहले से ही जानकर वहाँ ही घर कर के स्थिर रहने लग गईं, वे बड़ी ही चतुर हैं। इसलिए अवश्यमेव उनको भारी (महान्) उत्सव होगा।

उत्सव का वर्णन करती हैं कि वे नगर की स्त्रियाँ उनके स्थान में भली-भाँति पधारे हुए व्रज के स्वामी गोकुलनाथ, गोविन्द के मुख का पान करेंगी, क्योंकि प्रभु के मुख का और पति से अतिरिक्त किसी दूसरे के मुख का पान करने में महान् आनन्द होता है। भगवान् के मुखारविन्द में उनको केवल लावण्यरूप अमृत का पान ही मिलेगा; किन्तु उसके साथ-साथ मधुपान भी(अमृत का पान भी) प्राप्त होगा। उस अमृत के मुख्य चिन्ह को बतलाती हुई कहती हैं कि कटाक्ष पूर्वक मन्दमुस्कान से युक्त वह अधरामृत है और वह भी देहादि की विस्मृति कराने (भुला देने) वाला है। तात्पर्य यह है कि उन मथुरावासिनियों को पहले के दुःख का स्मरण न रहने के कारण और अभी भगवन्मुखारविन्द के दर्शन से उत्पन्न आनन्द के अनुभव के कारण वे ही बड़ी भाग्यशालिनी हैं। बड़ भागिनी हैं। हमारा वैसा बड़ा भाग्य नहीं है ॥२३॥

श्लोक—तासां मुकुन्दो मधुमञ्जुभाषितैर्गृहीतचित्तः परवान् मनस्व्यपि ।
कथं पुनर्नः प्रतियास्यतेबला ग्राम्याः सलज्जस्मितविभ्रमैर्भ्रमन् ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे अबलाओं, हे बहिनों ! उन पुरनारियों के मधुर वचन श्रीकृष्ण के हृदय को हर लेंगे और उन ललनाओं के लज्जा और मुसकान से सुललित हाव-भावों में उनका चित्त फँस जाएगा। तब धीर और पिता आदि के अधीन (परतन्त्र) होने पर भी वे -श्रीकृष्ण- हम गँवारियों के पास फिर कैसे लौट कर आवेंगे ॥२४॥

सुबोधिनी—नन्वस्तु तासामद्य श्वः परश्वो वा भगवानत्रायास्यतीति अस्माकमेव सुखं भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः तासामिति, स हि मोक्षदाता अस्माकं मुक्तिमेव दास्यति शास्त्रसिद्धां, तासां वा मधु स्वादिष्ठं मञ्जु मनोहरं ग्रहणे पर्यवसाने चोत्तमं यत् भाषितम्, एकेनापि कार्यसिद्धौ बहूनि तानि अतो गृहीतचित्तः चित्ताधीनश्च पुरुषः, ननु नन्दोस्ति सङ्गे भगवांस्तु जितेन्द्रियः पराधीनतयैव प्रवर्तते न तु स्वत इति चेत्, सत्यम्, यद्यपि परवान् यद्यपि मनस्वी तथापि नः अस्मान् प्रति कथं प्रतियास्यति, एकदा अयं रसो मुक्त इति उद्धता इतिवत्, यथा नन्दाधीनः तथान्याधीनोपि भविष्यति, यथा वयं तथा अन्या अपीति, अबला इति सम्बोधनं सम्मत्यर्थमुपायाभावार्थं च, ग्राम्या इति स्वस्मिन् बाधको धर्मः, यद्यपि ग्राम्यः प्राथमिको भवति रसः, अतः सम्भावना, तथापि नागरिकादीनां सर्वेषामेवोपभोगे महानेव कालो भवतीति पुनरावृत्तिर्भवति न वेति कथमिति प्रकारप्रश्नः, प्रथमप्रवृत्तौ लज्जा ततः स्मितं, ततो विभ्रमाः, तैस्तत्रैव भ्रमन् पुनस्तास्वेव मण्डल-

[illegible] कथं प्रतिवारयति, न [illegible] मुकुन्द [illegible] ॥२४॥
[illegible] गमनमार्गस्यापि विस्मृतत्वात् भ्रमण् ।

व्याख्यार्थ --ग्राज उन मथुरावासियों को भले ही सुख हो, कल या परसों, जब भगवान् यहाँ वापस पधारेंगे, तब हमें भी सुख हो जाएगा, ऐसी शंका में -'तासां'- यह श्लोक कहती हैं। भगवान् मुकुन्द मोक्ष देने वाले है. इसलिए वे हमें शास्त्रानुसार मुक्ति ही देवेंगे और उन नगर की स्त्रियों को तो मीठी-मीठी, मनोहर तथा अन्त में अच्छी उत्तम अनेक वाणियाँ होंगी; जिन की एक वाणी भी काम को पूरा कर सकती हैं, वहाँ तो बहुत सी वाणियाँ होंगीं। वे भगवान् के चित को हर लेंगीं और चित के आधीन ही पुरुष हो जाया करते है, इसलिए भगवान् वहाँ नगर में ही रहने लग जाएँगे।

यद्यपि नन्दरायजी भगवान् के साथ है, इसलिए वे पराधीन हैं। अर्थात् दूसरे की (स्त्री की) इच्छा से ही भोग में प्रवृति करते हैं अथवा बालक होने के कारण नन्दरायजी के आधीन रह कर ही प्रवृति करते हैं। किसी काम में लगते हैं और वे स्वयं भी चतुर तथा जितेन्द्रिय हैं, तो भी वे हमारे पास कैसे लौट आवेंगे, क्योंकि हम लोग तो पहले एक बार इस रस का भोग कर चुकी हैं और मोक्ष प्राप्त कर चुकी जैसी हैं, अतः अब वे लौट कर हमारे पास नहीं आवेंगे। भगवान् भी जैसे अभी नन्दजी के आधीन हैं, वैसे ही किसी और के भी आधीन हो जाएँगे और इसी तरह हमारी जैसी भी बहुत सी स्त्रियाँ और भी हैं ही।

मूल में-अबला-यह सम्बोधन सुनने वाली हमारी सब की इस विषय में सम्मति को अथवा इस विषय का हमारे पास कोई उपाय नहीं है, इन दोनों अर्थों को सूचित करता है, क्योंकि हम तो अबला हैं, कुछ कर ही नहीं सकती और हम तो ग्राम्या हैं, (गुंवारिया,गाँवडियाँ) हैं। इस कारण से भी भगवान् फिर हमारे पास नहीं आएँगे।

यद्यपि ग्राम (गाँवड़े) का रस मुख्य होता है। इस ग्राम्य रस के कारण भगवान् के पीछे पधारने की सम्भावना तो की जा सकती है, तो भी सब को ही नगर की स्त्रियों का उपभोग करते हुए बहुत समय (कई दिन) बीत जाएँगा। तब रस को छोड़ कर भगवान् पीछे पधारेंगे या नहीं, ऐसी शङ्का के रहने से पीछे कैसे पधारेंगे, इस प्रकार पीछे आने के प्रकार संबन्धी प्रश्न किया है।

प्रेम में प्रथम प्रवृति होने पर लज्जा होती है, फिर मन्द-मन्द मुसकराहट होती है और तदनन्तर विलास होते हैं। इन को पाने के लिए इनमें ही भ्रमण करता रहता है। अर्थात् नगर की स्त्रियों के गोल (मंण्डल) में भ्रमण करते रहने वाले भगवान् फिर हमारे पास काहे-को आवेंगे, क्योंकि भ्रम उत्पन्न हो जाने पर बाहर निकलने का मार्ग ही नहीं सूझता। भ्रम शब्द के दो अर्थ हैं १. गोल मण्डल में फिरते रहना और (२) मन का स्थिर नहीं रहना-भटकते फिरना-। यहाँ इस-भ्रम-शब्द का इन दोनों अर्थों में ही प्रयोग है, जो भ्रम भगवान् के योग्य तो नहीं हैं, फिर भी वे भ्रमण करते हुए भगवान् हमारे पास क्यों आवेंगे? नहीं आएँगे, यह भाव प्रतीत होता है ॥२४॥

श्लोक—अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते दाशार्हभोजान्धकवृष्णिसात्वताम्।
महोत्सवः श्रीरमणं गुणास्पदं द्रक्ष्यन्ति ये चाध्वनि देवकीसुतम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—आज दाशार्ह, भोज, अंधक, वृष्णि और सात्वत वंश के यादवों के नेत्रों को परम आनन्द प्राप्त होगा; क्योंकि वे मार्ग में लक्ष्मी के पति और गुणों का स्थान देवकी नन्दन के दर्शन करेंगे ॥२५॥

सुबोधिनी—ननु भगवान् भक्तवत्सलः समायस्यतीति चेत् तत्राहुः अद्येति, भक्ता अपि तत्र बहवः, अतस्तेषां **दाशार्हभोजान्धकवृष्णिसात्वतां** पञ्चविधानां कुकुरादीनामपि सग्राहकाः तथापि सत्त्वप्रधाना एव गणिताः, तेषां **दृशो महोत्सवो भविता**, शोभा हि द्रष्टव्या, लक्ष्म्यधीना च शोभा, तस्या अपि **रमण** इति, किञ्च, **ये चाध्वनि,** देवकीसुतत्वात् तद्धितार्थं गच्छन्तं ये मार्गे द्रक्ष्यन्ति तेषामपि **दृशो** भविष्यति **महोत्सवः**, ननु दर्शनमात्रेण कथमिष्टसिद्धिरिति चेत् तत्राह **गुणास्पदमिति**, अनन्तगुणानामास्पदत्वात् दर्शनानन्तरं गुणास्तत्रैव समायास्यन्ति, अतो महानेवोत्सवः फलपर्यवसायी, त्रिविधा अपि गणिताः । ॥२५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् भक्तों पर दया करने वाले हैं; वे स्वयं ही पधारेंगे, ऐसी शङ्का होने पर कहती हैं कि उन के भक्त भी वहां मथुरा में बहुत हैं। इसलिए दाशार्ह, भोज, अंधक, वृष्णि और सात्वत, इन पांचों प्रकार के भक्तों की दृष्टि को वहां अब आनन्द प्राप्त होगा। उन के नेत्रों को महान् उत्सव होगा। शोभा ही देखने की वस्तु है और वह शोभा लक्ष्मी के अधीन है। भगवान् तो उस लक्ष्मी के भी पति हैं।

भगवान् देवकी के पुत्र हैं। इसलिए उन देवकी का हित करने के लिए पधारने वाले भगवान् का मार्ग में जो दर्शन करेंगे, उन की दृष्टि को भी आज महान् उत्सव होगा। वे गुणों के धाम (स्थान) हैं। उन में असंख्य गुण हैं, इसलिए उनके दर्शन करने मात्र से ही दर्शन करने वालों में वे गुण आजावेंगे और उनके सारे मनोरथ पूर्ण हो जाएंगे। अतः आज उनको फल प्राप्ति के साथ-साथ बड़ा आनन्द प्राप्त होगा। इस प्रकार से इन तीन (२३, २४, २५ वें) श्लोकों से क्रम से नवीन प्रिय-शब्द से बताए राजस, तामस और सात्विक भावों को गिनाया गया है ॥२५॥

श्लोक—मैतद्विधस्याकरुणस्य नाम भूदक्रूर इत्येतदतीव दारुणः ।
योसावनाश्वास्य सुदुःखितं जनं प्रियात् प्रियं नेष्यति पारमध्वनः ॥२६॥

श्लोकार्थ—अहो! ऐसे करुणा रहित क्रूर पुरुष का नाम अक्रूर नहीं होना चाहिए था। यह बड़ा ही दारुण है; क्योंकि यह हम दुःखित जनों को आश्वासन दिए बिना ही प्राण प्यारे श्रीकृष्ण को इतनी दूर ले जाने को उद्यत है ॥२६॥

सुबोधिनी—एवं चतुर्धा भगवन्तगुणालभ्य अक्रूरोपालम्भनमाह **मैतद्विधस्येति**, संज्ञा छन्दयोचिता, क्रौर्योदयस्त्वन्तःकरणधर्मः, अतः अविचार्यैव नामकरणं कृतमिति, **अक्रूर इत्येत**नामास्य **मा भूत्**, यस्तु सर्वमारकः स कथमक्रूर इति, यतोयमतीव **दारुणः**, अतः आक्रूर उचितः, ननु कार्यार्थं सोपि समागतः किं कुर्यादिति चेत् तत्राहुः **अनाश्वास्येति**, **सुदुःखितं** गोपीजनं, तेषां

सर्वस्वभूत ताननाश्वास्य नयतीति, आश्वासन हि भगवन्तमानीय केनचिद्रूपेण वा अत्र स्थापयित्वा समागमिष्यामीति वाग्बन्धं वा कारयित्वा पश्चात् नयनमुचितम् न तु धनादिदानं, यतो भगवान् प्रियान् प्राणादपि प्रियः आत्मनोपि, नयनं च न गोचारणवत्, किन्त्वध्वन पारं, यत्र गतः तस्मिन् दिवसे नायाति ॥२६॥

व्याख्यार्थ—इस तरह चार प्रकार से भगवान् को उपालम्भ देकर इस 'मैतद्विधस्य'-श्लोक से अक्रूर की निन्दा करती हैं। नाम तो सब के अपने-अपने गुणों के अनुसार ही रक्खे जाने चाहिए। कठोर, निर्दयता आदि धर्म तो अन्तःकरण के हैं। इसलिए बिना विचारे ही इन का यह नाम रक्खा है। इसका अक्रूर नाम नहीं होना चाहिए था। अरी, जो सब को मारे डालता है, उस का नाम अक्रूर क्यों होना चाहिए ? सब का संहार करने वाले का नाम तो "आक्रूर" (पूर्णतया क्रूर) होना ही उचित है; क्योंकि यह तो अत्यन्त ही दारुण है।

वह तो (बेचारा) काम के लिए आया है। इसलिए वह क्या करे ? उसे तो अपने स्वामी कंस का काम करना ही चाहिए, ऐसी शंका के उत्तर में कहती हैं कि देखो, यह तो अत्यन्त दुःखी हम गोपीजनों को बिना किसी तरह का आश्वासन दिए ही, हमारे सर्वस्वभूत भगवान् को दूर ले जा रहा है। इसको तो भगवान् को पीछा लाकर किसी भी प्रकार से, मैं भगवान को तुम्हारे पास रखूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा, स्वयं करके अथवा मैं तुम्हारे पास पीछा लौट आऊँगा ऐसी प्रतिज्ञा भगवान् से वाणी द्वारा करा कर, फिर ले जाना उचित था। इसने तो ऐसा कुछ नहीं किया और बिना आश्वासन दिए ही, ले जा रहा है। गोपीजनों को धन आदि देने से आश्वासन नहीं मिल सकता; क्योंकि उन्हें तो भगवान् प्राण से ही नहीं, आत्मा से भी अधिक प्यारे हैं, भगवान् जैसे गोचारण-गाएँ चराने-को जाते हैं, वैसा अक्रूर का ले जाना नहीं है, यह तो भगवान् को इतनी दूर ले जा रहा है, जहाँ जाकर उसी दिन वापस नहीं आया जा सकता है! ॥२६॥

श्लोक—अनार्द्रधीरेष समास्थितो रथं तमन्वमी च त्वरयन्ति दुर्मदाः ।
गोपा अनोभिः स्थविरैरुपेक्षितं दैवं च नोद्य प्रतिकूलमीहते ॥२७॥

श्लोकार्थ—देखो, पत्थर का सा कठोर हृदय वाला यह रथ पर चढ़ रहा है। साथ ही ये अज्ञानी गोप भी छकड़े जोतने की जल्दी कर रहे हैं और बूढ़े-बूढ़े लोग भी इनको जाने से नहीं रोक रहे हैं। आज हमारा दैव ही हमसे प्रतिकूल है ॥२७॥

सुबोधिनी—सर्वनिवेदनालम्भे अनार्द्रधीरेष इति, गोपिकाव्यतिरिक्तानां सर्वेषामेव महानुत्साहः, अतः सर्वे प्रातरेव भुक्त्वा अक्रूरव्यतिरिक्ता रथारूढा जाताः, शकटारूढाश्च, भगवानपि यशोदादिभिरभ्यनुज्ञातः सम्यगेवास्थितो रथं, अस्मिन्नपि समये अस्मद्विचारं न कृतवानिति अनार्द्रधीरेष कृष्णो दृश्यते, न तु सोस्मान् पश्यति किञ्च, तमनु यावन्तो गोपाः ते सर्वे दुर्मदाः विचाररहिताः, परघातेपि क्लेशरहिताः, अमी त्वरयन्ति यतस्तथैव दृश्यन्ते, चकारादक्रूरोपि, ते च शकटारूढा इति तेषां चलनक्लेशाभावश्च, पश्चात् स्थितशकटानुरोधेन गन्तव्यं पततीति अनोभिः

आभर्तोऽ[illegible] ननु [illegible] नन्दादयो वृद्धा [illegible] इति चेत् तत्राहुः स्थविरैरुपेक्षितमिति. यथा निचारेण तथा गोप्यस्तथा नागर्यस्तथैव नन्दादयस्तथैव वसुदेवादय इति, नन्वदृष्टं प्रार्थयन्तु यथा [illegible] [illegible] [illegible] दैवं चेति, चकारात् कालादयः सर्व एव प्रतिकूलमीहन्ते ॥२७॥

व्याख्यार्थ –'अनार्द्रधी' इस श्लोक से सब को ही दोष देती है। गोपिकाओं के अतिरिक्त सब ही को मथुरा जाने का बड़ा उत्साह है। इसलिए सब ही सवेरे ही भोजन कर के अक्रूर के बिना रथों और छकड़ों पर सवार हो गए है। भगवान् भी यशोदाजी आदि की मथुरा जाने के लिए अनुमति पर रथ पर भली-भांति विराज गए हैं। भगवान् ने इस समय भी हमारा कुछ विचार नहीं किया। इसलिए ये श्रीकृष्ण कठोर हृदय वाले मालूम पड़ते हैं, ज्ञात होता है कि हम लोगों को तो वे देखते भी नहीं।

यहां जितने भी गोप हैं, वे सारे ही विचार हीन और दूसरों की हत्या होते देख कर दुखित नहीं होने वाले ही दिखाई देते हैं; क्योंकि वे भी जाने की जल्दी मचा रहे हैं। वैसे ही अक्रूर भी जाने की जल्दी कर रहा है। पैदल चलने के क्लेश से बचने और पीछे बचे हुए रथों, छकड़ों से पीछे जाना पड़ने के भय से ही सारे ही गोप सवार हो गए हैं। ये सब गाड़ों से-जाने के साधनों से-जाने की जल्दी कर रहे हैं। इस समय उपनन्द आदि वृद्ध गोपों से भगवान् को रोकने-मथुरा न जाने देने-की प्रार्थना करना अनुचित है। उन्होंने भी उपेक्षा कर ली है; क्योंकि उनकी दृष्टि में तो जैसी गोपियां हैं वैसी, ही मथुरा की स्त्रियां हैं और नन्द आदिक भी वैसे ही हैं जैसे वसुदेव आदि हैं। भगवान् के पधारने में विघ्न हो जाए, अथवा कोई अड़चन हो जाए इसके लिए अपने अदृष्ट से प्रार्थना करो, ऐसा कहा जाए तो इस के उत्तर में वे कहती हैं कि अपना दैव तथा काल देश आदि आज अपने विपरीत काम करने वाले हैं ॥२७॥

श्लोक—निवारयामः समुपेत्य माधवं किं नोऽकरिष्यन् कुलवृद्धबान्धवाः।
मुकुन्दसङ्गात् निमिषार्धदुस्त्यजाद् दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—चलो, हम सब मिलकर श्रीकृष्ण को न जाने दें (रोक दें), ये कुल के बड़े-बूढ़े और बन्धु-बान्धव हमारा क्या कर लेंगे ? हम आधे पल के लिए भी श्रीकृष्ण का साथ नहीं छोड़ सकतीं। दुर्दैव के कारण आज वही हम से बिछुड़ रहे हैं ॥२८॥

सुबोधिनी – स्वप्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वेन बान्धवानुपालगन्त्यः तानवगणयन्ति निवारयाम इति, सर्वाभिः सम्भूय भगवान्निवारणीयः तथा सति बान्धवाः कोपं करिष्यन्तीति चेत् तत्राहुः किं नोऽकरिष्यन्निति, नोऽस्माकं किमकरिष्यन्निति किं पूर्वं कृतवन्तः, करिष्यन्ति वा, ते हि कुलस्यैव वृद्धा बान्धवाः कुलापेक्षायां सत्यां कुले स्थापयन्ति तदतिरिक्तं किञ्चित् कुर्वन्ति, भगवतः कुलस्य च तारतम्ये विचार्यमाणे कुलं बन्धकं भगवान् मुकुन्दः, किञ्च, तस्य सङ्गः साक्षात् स तु निमिषा-

धर्मोऽपि दुस्त्यजः, तस्मादृतो दैवेनैव स्वाग्रहेणैव विध्वंसिताः अत एव दीनचेतसः, तेषां कुलस्यैनं किञ्चित् कर्तुं शक्यते, यदि ते भगवते दद्युः तर्हि कुर्युरेव, तत् तु न कुर्वन्तीति, प्रतिबन्धकत्वान्न न तैः किञ्चित् कार्यं, अपकारश्चेत् अस्माकं स्वत एव सिद्धः पिष्टपेषणं तैः किं कर्तव्यमिति, ननु निवारणे किं भविष्यति यदि नागमिष्यति तत्राहुः माधवमिति, स हि लक्ष्म्या बलात् तस्या गृहीतस्तदधीनो जातः एवमस्माकमपि भविष्यतीति, यत्ने कृते तु नास्माकं बुद्धिदोषः अकृते तु पश्चात्तापो भविष्यतीति भावः, पश्चात्तापाभावार्थमेव-मुद्यमः न तु कार्यं भविष्यतीति, तथापि न सर्वासां सम्मतिरिति लौकिकालौकिकपरमार्थ-दृष्टियुक्ताभिरप्रवृत्तमिति ॥२८॥

व्याख्यार्थ—'निवारयामः' इस श्लोक से अपने काम में बाधा करने वाले बन्धुबान्धवों को दोष देती हुई उनकी अवगणना (अवहेलना) करती हैं कि हम सब मिल कर भगवान् को जाने से रोक दें, चलो। यदि ऐसा करने से हमारे कुल के बड़े-बूढ़े रोष करेंगे भी तो वे हमारा क्या कर लेंगे ? उन्होंने हमारा पहले क्या कर लिया और अब भी क्या कर लेंगे; क्योंकि वे तो अपने कुल के ही वृद्ध बान्धव हैं। वे तो कुल की अपेक्षा होने पर हमें अपने कुल में ही रख सकते है, इस से अधिक कुछ नहीं कर सकते।

भगवान् तथा कुल की तुलना का विचार करने पर कुल तो बन्धन करने वाला है और भगवान् मुकुन्द मोक्ष देने वाले हैं। यदि उनका साक्षात् सङ्ग होता है तो वह तो हम से आँख से आधे पलक पर भी नहीं छोड़ा जा सकता है; क्योंकि मुकुन्द के संग के लिए ही हमारे दुर्दैव ने हमें कुल से नीचे गिरा दिया है। इसलिए मुकुन्द भगवान के सङ्ग में विघ्न (विछोह) करने वाला अपना दैव (अदृष्ट) ही है और इसी से हम लोगों का चित्त दुःखित है। इसका कोई भी उपाय अपने कुल में रहने वाले बन्धु बान्धव कोई करने वाले नहीं हैं; क्योंकि यदि वे हमारे लिए भगवान् को दें तो कुछ किया भी माना जाए।

परन्तु वे ऐसा नहीं करते हैं, वे तो उल्टे हमारी प्रवृति को रोकने वाले हैं। हम से उनका कोई प्रयोजन नहीं है। हम मरें या जीवें,वे तो हमारा अपकार करना चाहते हैं,जो उनके द्वारा ही किया जा रहा है। अब फिर अपकार करना तो पीसे धान्य का दुबारा पीसना जैसा ही है। वह निरर्थक है, इसलिए कुल के बड़े बूढ़ों से कुछ भी अच्छी आशा नहीं करनी चाहिए।

यदि भगवान् हमारे पास नहीं आवेंगे तो यहां हमारा उनको रोकने से भी क्या लाभ हैं ? ऐसी शंका के उत्तर में कहती हैं कि वे माधव हैं। उन लक्ष्मीपति भगवान् को लक्ष्मीजी ने बलपूर्वक पकड़ लिया है और वे (भगवान्) उन (लक्ष्मीजी) के बन गए -आधीन हो गए- हैं। इसी तरह से वे (रोकने पर) हमारे भी हो जाएँगे, उनको रोकने का प्रयत्न कर लेने पर हमारी बुद्धि का दोष मिट जाएगा और प्रयत्न ही न करेंगी तो फिर पश्चाताप ही करना होगा, यह अभिप्राय है। पीछे पछताना न पड़े, इसीलिए यह साहस करना चाहती हैं। काम सिद्ध हो, इसलिए नहीं, यह तात्पर्य है। तो भी भगवान् के रोकने में सबकी सम्मति न होने से लौकिक, अलौकिक तथा परमतत्व में दृष्टि वाली गोपिकाओं ने भगवान् को नहीं रोका ॥२८॥

श्लोक—यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्रलीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम्।
नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्तरम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—राम [illegible] मनोहर बातचीत, [illegible] तिरछे कटाक्ष और आलिङ्गन के सुख से इतनी बड़ी रातें एक क्षण के समान बीत गई, उन-श्रीकृष्ण-के बिना हम कैसे जी सकेंगी ? हे गोपियो ! उस अपार विरह के दुःख को हम कैसे सहेंगीं ?॥२९॥

सुबोधिनी—ततो निराशा आत्मानमेवोपालभन्ते द्वयेन, दुःखाभावं सुखं च स प्रयच्छतीति तदभावे कथं दुःखनिवृत्तिः, कथं वा अनिवृत्तौ सत्यां जीविष्यामः मरणे वा भगवन्तं न प्राप्स्याम इति किं वा भविष्यामः, यस्यानुरागेति, अनुरागादयो भगवदीयाः, अनुरागपूर्वकं यत् स्मितं तत्पूर्वका ये वल्गुमन्त्रा गुह्यभाषणानि तत्सहिता लीला तत्पूर्वकोयमवलोकः ततोधिकरसोद्गमार्थं परिरम्भो रासश्च एतेषां या गोष्ठीसमूहः, अवसरो देशकालसहितः, तस्यां क्षणदा रात्रयः क्षणमिव नीताः, नात्र विविच्य प्रमाणं वक्तव्यं स्मेति प्रसिद्धिः सर्वगोपिकानुभवसिद्धम्, या रात्रयः अन्येभ्यः क्षणं प्रयच्छन्ति अतस्ता बहुक्षणा भवन्ति, ता अपि क्षणमिव नीताः, अतः परं तं विना तदीयसर्वसामग्र्यपगमे चन्द्रादीनामप्यपगमात् तम एव निश्चलं स्थास्यति, तत् कथं तरेमेति एकापि रात्रिर्न गमिष्यतीति भावः, वस्तुतः कृष्णत्रयोदशीयम्, अतोन्धकारः सिद्धः आन्तरोपि ॥२९॥

व्याख्यार्थ—दुःख का अभाव और सुख वे भगवान् ही देते हैं । इसलिए उनके बिना अपना दुःख दूर कैसे होगा ? दुःख दूर -सुख नहीं हो; तो जीवन कैसे होगा ?- कैसे जीवेंगी अथवा भगवान् के न मिलने पर अपनी कैसी दशा होगी ? इस प्रकार से निराश होकर वे अपने आपको 'यस्य' इन दो श्लोकों से दोष देती हैं । वे कहती हैं कि अनुराग-प्रेम-आदिक भगवान् के हैं । प्रेम पूर्वक हास्य, हास्य सहित गुह्य भाषण, गुह्य भाषणों के साथ भाँति-भाँति की विविध लीलाएँ, लीला पूर्वक सरस चितवन और फिर अत्यधिक रस उत्पन्न होने के लिए आलिङ्गन तथा रास क्रीड़ा इन सबका समूह एवं इन सबके साथ-साथ उस देश काल में भगवान् का पधारना इत्यादि अवस्था में क्षणदा-रात्रियाँ-क्षण मात्र जैसी बिताई । इस विषय का विशेष विवेचन करके प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि मूल में -'स्म'- शब्द के द्वारा इसकी प्रसिद्धि बतादी गई है अर्थात् 'स्म' शब्द इसका सूचक है, यह सारी बात गोपिकाओं के अनुभव से सिद्ध हुई, हुई हैं ।

जो रात्रियाँ औरों को बहुत आनन्द (क्षण) देती हैं । इसी से वे 'बहुक्षणा' बहुत क्षण (सुख) वाली होती हैं । वे ऐसी भी रात्रियां हम लोगों ने एक क्षण जैसी ही बिताई थीं । अब उन-भगवान्-के बिना उनकी ऊपर कही सारी सामग्री के चले जाने पर चन्द्रमा आदि के भान रहने से अन्धकार ही स्थिर रहेगा । उस घोर अन्धकार को हम लोग कैसे पार करेंगी ? अभिप्राय कहने का यह है कि एक भी रात नहीं बीतेंगी, (भगवान् के बिना एक भी रात नहीं बीता सकेंगी) । वास्तव में तो उस दिन कृष्ण पक्ष की तेरस थी । इसलिए अन्धकार हो ही रहा था और गोपीजनों के हृदयों में भी अंधेरा हो गया ॥२९॥

श्लोक—योह्नः क्षये व्रजमनन्तसखः परीतो गोपैर्विशत्खुररजश्छुरितालकस्रक् ।
वेणुं क्वणन् स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन चित्तं क्षिणोत्यमुमृते न कथं भवेम ।३०।

श्लोकार्थ— संध्या के समय गायों के खुरों से उड़ कर पड़ी हुई धूल से सनी अलकों और मालाओं से सुशोभित, जो अनन्त के मित्र नन्दनन्दन गोपों के साथ वेणु बजाते और मन्द हास्य पूर्वक मनोहर कटाक्षों से युक्त दृष्टि के द्वारा अमृत की वृष्टि करते हुए व्रज में प्रवेश कर हमारे चित्त को चुराते हैं, उनके बिना हम कैसे जीवित रह सकती हैं ॥३०॥

सुबोधिनी—किञ्च, अन्धकारेपि केचित् जीवन्ति अस्माकं तु जीवनमपि न भविष्यतीत्याह, योह्नः क्षय इति, अह्नः क्षये सन्ध्यायां, क्षयशब्दप्रयोगोह्नो द्विष्टत्वज्ञापकः, अनन्तो बलभद्रः, अनेन कालस्यापि तदनुगुणत्वमुक्तम्, गोपैः परीत इति सर्वैः सहितोऽस्मत्कार्यमेव करोतीत्याहुः, किञ्च, यदपि कृतं तदप्यस्मदर्थमेवेति वर्णयन्ति, विशत्खुररजश्छुरितालकस्रगिति, व्रजं विशन्ति या गावः तासां खुररजसा छुरिता अलकाः स्रजश्च, एके ज्ञानरूपाः अन्ये भक्तिरूपाः, उभयत्रापि धर्मसम्बन्धः सूच्यते, उभयविधा एवं क्लेशेनाप्युद्धियन्त इति ज्ञापयितुं, ततो रसानुद्बोधयितुं वेणु क्वणन् तान् पुष्टिकरिष्यन् स्मितपूर्वकं यत् कटाक्षनिरीक्षणं तेनास्माकं चित्तं क्षिणोति पीडयति, काममुद्बोधयित्वा पश्चात् रमते, एवं सर्वत्र सौख्यदातारं विना कथं भवेम कामवस्थां प्राप्स्यामः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—अँधेरे में भी कई लोग जीते रहते हैं, परन्तु हमारा तो जीवन भी नहीं रहेगा। यह इस -'योऽह्नः'- श्लोक से कहती हैं। दिन का क्षय अर्थात् सन्ध्या समय में दिन हमारा बैरी है, ऐसा सूचित करने के लिए 'क्षय' शब्द का प्रयोग मूल में किया है। 'अनन्तसुखः' बलदेवजी के मित्र बताकर यह कहा है कि काल भी भगवान् के अनुकूल है। गोपों से घिरे हुए भगवान् इस विशेषण से गोपीजन यह कहती हैं कि सबको साथ रख कर भगवान् हमारा काम ही करते हैं और उन्होंने जो कुछ भी किया है, वह भी हमारे लिए ही किया है। यह वर्णन करती हैं कि संध्या को व्रज में आने वाली गऊओं के खुरों से उड़ी हुई धूल से सनी हुई ज्ञान रूप, भक्ति रूप (जो दोनों ही धर्म से सम्बन्ध रखते हैं और दोनों प्रकार के ही भक्त दुःख से छुड़ाए जाते हैं) अलकों और माला से सुशोभित भगवान् रसों को जागृत करने के लिए वेणुनाद करते हुए उन रसों को परिपुष्ट करने की इच्छा से मन्दहास सहित कटाक्ष भरी चितवन से हमारी ओर देखते हैं, इस कारण से वे हमारे चित्त को पीड़ा देते हैं। काम को जागृत करके फिर रमण करते हैं। इस प्रकार सब जगह सुख देने वाले (भगवान्) के बिना हम लोग कैसे रहेंगी? अर्थात् हमारी अपनी क्या दशा होगी ? ॥३०॥

लेख—'योऽह्नः क्षये' इस श्लोक की व्याख्या में 'एके ज्ञान रूपा अन्ये भक्ति रूपाः' पदों का अभिप्राय यह बतलाया है कि अलकें ज्ञान का निरूपण करने के कारण ज्ञान रूप हैं और कीर्ति रूप होने से भक्ति रूप हैं।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः ।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं गोविन्द दामोदर माधवेति ॥३१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे राजन्! कृष्ण में जिनका मन लगा हुआ है, वे गोपियाँ विरह की चिन्ता से अत्यन्त व्याकुल और कातर होकर लोकलाज को छोड़कर ऊँचे स्वर से "हे गोविन्द! हे दामोदर! हे माधव!" कह कर विलाप करने लगीं ।।३१।।

सुबोधिनी—एवमुपालम्य पूर्वं रोदने प्रादुर्भूत इति रोदनं कृतवत्य इत्याह, **एवमिति**, अयमेकः प्रकारो निरूपितः, एवमनन्तप्रकारेण **ब्रुवाणा** जाताः, विरहेण भावनया **आतुराश्च** जाताः, यतो **व्रजस्त्रियः** सदानन्दासक्तचित्ताः, न विषयैः परितुष्यन्ति, ततो लज्जां **विसृज्य सुस्वरमुच्चै रुरुदुः**, शास्त्रतो देवादिभिः कृतं भक्तिवशादस्माभिः कृतं लोकतः स्वकृतं सर्वमेव भगवान् दूरीकरोतीति सम्बोधनत्रयम्, गोविन्दोऽभिषिक्तः दामोदरो वशीकृतः लक्ष्मीपतिश्च माधवः, एते धर्माः प्रायेण भगवता विस्मृता इति दयासिद्ध्यर्थं रोदनपूर्वकमुच्चारितवत्यः ।।३१।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार दोष देकर पहले भी (२९ अ. १-२) भगवान् रुदन करने पर प्रकट हुए थे, इसलिए वे रोने लगीं। यह इस -'एवं ब्रुवाणा'- श्लोक से कहते हैं। इस तरह यह उपालम्भ देने का एक प्रकार कहा है। ऐसे ही वे गोपियाँ अनेक भाँति से बोलने लगीं और विरह की भावना से दुःखित हुईं; क्योंकि वे व्रज बालाएँ थीं। उनका चित्त सदानन्द भगवान् में आसक्त(लगा हुआ)था। उन्हें विषयों से सन्तोष नहीं हो सकता था। सांसारिक कोई भी विषय उनको सन्तुष्ट नहीं कर सकता था, इसलिए वे लाज छोड़ कर ऊँचे स्वर से रुदन करने लगीं। शास्त्र के प्रमाण से जो देवताओं ने किया, भक्ति के कारण जो हम गोपियों ने किया और लोक प्रमाण जो भगवान् ने स्वयं किया, इस सारे को ही भगवान् दूर कर देते हैं। इसी से मूल में यहाँ तीन सम्बोधन कहे गए हैं। गोविन्द कामधेनु द्वारा अभिषेक किए गए, दामोदर वश में किए गए और माधव लक्ष्मी के पति हुए। इन अपने तीनों धर्मों को अधिकांश में भगवान् भूल गए थे, इसलिए भगवान् की कृपा को प्राप्त करने के लिए गोपियों ने रुदन करते समय उक्त तीन धर्मों को सूचित करने वाले तीन सम्बोधनों का उच्चारण किया ।।३१।।

श्लोक—स्त्रीणामेवं रुदन्तीनामुदिते सवितर्यथ।
अक्रूरश्चोदयामास कृतमैत्रादिको रथम् ।।३२।।

श्लोकार्थ—गोपियाँ विलाप कर रही थीं, इतने में सवेरा हो गया, (सूर्योदय हो गया)। अक्रूर ने भी शौचादि से निवृत्त होकर, रथ को हाँक दिया।।३२।।

सुबोधिनी—स्त्रीणामिति, स्त्रीणां रोदने न गमिष्यतीति अभिप्रेत्य सूर्योदये जाते कालातिक्रमं च ज्ञात्वा स्वयमक्रूरः वसुदेवादिकार्यसाधकः कंसस्यापि मित्रकार्यं करिष्यन् कृतमैत्रः कृतसन्ध्यावन्दनः कृतावश्यकोवा, 'तिष्ठेदासूर्यदर्शना'-दिति सूर्योदयपर्यन्तं कर्मैव कृतवानिति लक्ष्यते, अग्निहोत्रादिसमयेषु वा न गन्तव्यमिति ज्ञापनार्थम्, अथ भिन्न प्रक्रमेण गोकुलवासनां परित्यज्य भिन्न वासनायामभिनिविष्टचित्तं रथं प्रेरयामास ।।३२।।

व्याख्यार्थ—स्त्रियों के रुदन करने से भगवान् मथुरा नहीं जाएँगे, ऐसा मानकर दुःखित हो जाने पर गोकुल से निकल चलने का समय हो गया, ऐसा जानकर वसुदेव आदि का कार्य सिद्ध करने वाले 'कृतमैत्रः' कंस का भी, मित्र का भी, कार्य करने की इच्छा वाले अथवा सन्ध्यावन्दन अथवा अवश्य करने के काम को पूरा कर लेने वाले अक्रूरजी स्वयं रथ को हाँकने लगे।

'तिष्ठेदासूर्य दर्शनात्' (याज्ञ. १-२५) सूर्योदय होने तक प्रातः सन्ध्या में पूर्व में मुख करके बैठा रहे, इस प्रमाण से यह भी जाना जाता है कि वह -अक्रूरजी- सूर्योदय होने तक कर्म ही करते रहे अथवा अग्निहोत्र आदि करने के समय में (जो अग्निहोत्रादि करने का शास्त्रोक्त समय है, उसमें) यात्रा नहीं करनी चाहिए। अतः अब दूसरे प्रकार से, गोकुल में रहने की वासना का त्याग करके अन्य, मथुरा जाने की वासना में चित्त लगा देने वाले अक्रूरजी रथ को हाँकने लगे ॥३२॥

लेख—'स्त्रीणां' इस श्लोक की व्याख्या में -'वा'- पद से सन्ध्यावन्दन का कार्य सर्वदा करने का नहीं होने से दूसरा पक्ष किया है। 'कृतमैत्रः' गुदा इन्द्रिय का देवता मित्र है, इसलिए उस गुदेन्द्रिय का कार्य मैत्र अवश्य करने का है। वह मैत्र कार्य जिसने सबसे पहले कर लिया है, यह कृतमैत्र शब्द का अर्थ है। ऐसा अर्थ प्रथम स्कन्द में -इस शब्द का- किया है। उसी के अनुसार मैंने (लेखकार ने) बतलाया है।

श्लोक—गोपास्तमन्वसज्जन्त नन्दाद्याः शकटैस्ततः ।
आदायोपायनं भूरि कुम्भान् गोरससम्भृतान् ॥३३॥

श्लोकार्थ—नन्द आदि गोप भी उनके साथ ही अनेक तरह भेंटें और गोरस के मटकों को छकड़ों में लाद कर चल दिए ॥३३॥

सुबोधिनी—ततो गमनोत्सवो जात इति वक्तुमाह गोपा इति, तं भगवद्रथं अनु असज्जन्त, ततः एव हेतोः ततो गोकुलाद्वा, उपायनं गोरससम्भृतान् कुम्भांश्चादाय, अवश्यगमने अत्यासक्तौ च तेषाः हेतुरुक्तः, भगवत्परिपालितानां रसो भगवतैव भोक्तव्य इति ॥३३॥

व्याख्यार्थ—फिर मथुरा जाने का उत्सव हुआ, यह इस -'गोपाः'- श्लोक से कहते हैं। भगवान् के रथ के पीछे सब ही गोपों ने अपने-अपने रथ जोत दिए (ततः) इसी कारण से अथवा गोकुल से चलने लग गए। भेंटों और गोरस से भरे हुए घड़ों-कलशों से छकड़े भर लिए। इस कथन से उनका मथुरा अवश्य चले जाना तथा भगवान् में अत्यन्त आसक्ति प्रदर्शित होती है; क्योंकि उन गायों के -जिनका भगवान् ने भली-भाँति पालन किया है- गोरस का भोग तो भगवान् को ही करना चाहिए, इस विचार से ही गोरस के कलश -भगवान् के भोग के लिए- साथ लेकर चले ॥३३॥

श्लोक—गोप्यश्च दयितं कृष्णमनुव्रज्यानुरञ्जिताः ।
प्रत्यादेशं भगवतः काङ्क्षन्त्यश्चावतस्थिरे ॥३४॥

श्लोकार्थ—दुःखित नारियाँ उस स्थान पर गईं और प्रियतम श्रीकृष्ण की प्रेम भरी चितवन से अनुराग वाली होकर उनके सन्देश की प्रत्याशा में खड़ी रहीं ॥३४॥

सुबोधिनी—ततो गोपिकारोदने पूर्ववद् भगवानन्त. प्रकट इति विशेषमनुक्त्वा पूर्ववदेव सिद्धत्वात् अग्रिमवृत्तान्तमेवाह गोप्यश्चेति चतुर्भिः. गोप्यश्च भगवत्सङ्गे गताः सूक्ष्मरूपाः. स्थूलास्तु दयितं भर्तारं कृष्णं सदानन्दमनुव्रज्य कियद्दूरे सङ्गे गताः, ततो भगवता अनुरञ्जिताः स्वरागेण रक्ताः मध्यप्रदेशे प्रत्युत्तरं भगवतः काङ्क्षन्त्यः किमस्माभिरागन्तव्यं स्वामिना वा आगन्तव्यमिति नान्यः प्रकारोऽस्ति निस्तार इति अवतस्थिरे तथैव स्थिताः ॥३४॥

व्याख्यार्थ—गोपियों के रुदन करने पर भगवान् जैसे पहले अन्तर्गृहगता के प्रसङ्ग में हृदय में (अन्तः) प्रकट हुए थे, उसी प्रकार से भीतर हृदय में प्रकट हुए। भगवान् मे सूक्ष्म व्रज भक्तों का स्थूल गोपिकाओं से सायुज्य रूप विशेष भी यहाँ भी पहले जैसा ही सिद्ध है, इसलिए उस विशेष को न कह कर आगे का (रथ को हाँकने का) वृत्तान्त ही -'गोप्यश्च'- इत्यादि चार श्लोकों से कहा जाता है। सूक्ष्म रूप गोपीजन तो भगवान् के साथ ही चली गई और स्थूल रूप तो स्वामी सदानन्द श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे थोड़ी दूर तक गईं। फिर वे भगवान् के प्रेम से अनुरक्त होकर, क्या हम लोग साथ आवें अथवा स्वामी ही वापस पधार आवेंगे? क्योंकि जीवन के निर्वाह का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस प्रकार से भगवान् के उत्तर की आशा रखती हुई गोकुल और मथुरा के बीच के स्थान में उसी प्रकार (चित्र लिखी सी) खड़ी रहीं ॥३४॥

लेख—'गोप्यः' इस श्लोक की व्याख्या में -'पूर्ववत्'- पद का अर्थ अन्तर्गृहगता के प्रसङ्ग की तरह का है। -'इति'- इस हेतु से पहले की तरह से ही सूक्ष्म गोपीजनों का सायुज्य प्राप्ति रूप विशेष स्थूल गोपियों से सिद्ध ही है, इसलिए उस सायुज्य प्राप्ति रूप विशेष पूर्व वृत्तान्त को न कह कर रथ को हाँकने के बाद वृत्तान्त ही कहा गया है, यह भाव है।

-'गोप्यः'- (गोपियाँ) शब्द का सम्बन्ध -'अन्वसज्जन्त'- (पीछे तैयार हुईं) शब्द के साथ है, यहाँ उसका विवरण करते हुए -'च'- (और) शब्द से उन सूक्ष्म रूप और स्थूल गोपीजनों का -भेद- जो ऊपर बता दिया है का -विवरण- सूचित किया गया है। -'भगवत्सङ्गे'- (भगवान् के सङ्ग चली गई) तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म रूप गोपियों -जो दूसरा दल विरह का अनुभव करने में समर्थ नहीं थीं अर्थात् जिन्हें भगवान् ने अलौकिक सामर्थ्य रूप मुख्य फल (प्राप्त नहीं कराया) नहीं दिया था- ने उनके भीतर हृदय में प्रकट हुए भगवान् में सायुज्य प्राप्त कर लिया और वे तो भगवान् पधारे तब उनके साथ ही चली गई। उनकी देह आदि में कोई प्रकार का अनिष्ट न हो, इसलिए और शरीर सम्बन्धी उनके सारे व्यवहार चलते रहे, इसलिए भी भगवान् ने उनके पाँच भौतिक शरीर में कोई दूसरा जीव स्थापित कर दिया था, ऐसा जान लेना चाहिए। 'स्थूलास्तु' और -जिनको भगवान् ने अलौकिक सामर्थ्य (प्रदान) दे दी थी, वे तो विरह का अनुभव करने (सहने) में समर्थ थीं, वे तो अपने प्रियतम के मार्ग में कुछ आगे तक चलीं गईं और उत्तर की आशा से बीच में खड़ी भी रह सकीं।

श्लोक—तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः।
सान्त्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः ॥३५॥

[illegible]

कहला भेजा कि "दुःखित मत होना, मैं जल्दी ही लौट आऊंगा" ॥३५॥

सुबोधिनी—ततो भगवता यत्कृतं तदाह ता इति, याः स्थिताः याश्चनाविर्भूतस्वरूपाः तासामर्थे तथा सन्तापयुक्तानीक्ष्य स्वप्रस्थानमेव निमित्तमिति यदुराजसिंहः यादवकार्यमपि कर्तव्यमिति सम्प्रेष्यैरुत्तमदूतैः अहमेवागास्य इति दौत्यकैर्दूतवाक्यैः, सान्त्वयामास, अत्र तासां वाक्ये भ्रमो जातः भगवांस्तु दूतनामवद्वारा शब्दार्थरूपः ज्ञानरूपो वा आगमिष्यामीत्युक्तवान् दौत्यकैरागास्य इति, ताः पुनः इदानीमेतदेव वचनं दूतकार्यमिति ज्ञातवत्यः, इदं भगवच्चरित्रमेव, अन्यथा न वक्तव्यं स्यात् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—तदनन्तर भगवान् ने जो कुछ किया, उसका वर्णन, 'तास्तथा' इस श्लोक से करते हैं। जो सन्देश चाहने के लिए वैसे ही खड़ी रहने वाली (स्थूल गोपीजन) तथा स्वाभाविक स्वरूप-सायुज्य में उपयुक्त स्वभाव वाली (सूक्ष्म गोपीजन) गोपियों के लिए अपने उत्तम दूतों के द्वारा कहलाया—कि "मैं ही आऊंगा" क्योंकि वे यदुराजसिंह हैं। अतः यादवों का काम भी करना ही चाहिए। इस कारण दूतों के वाक्यों से आने का आश्वासन देकर उन्हें अपने गोकुल से चले जाने के कारण ही अत्यन्त सन्तप्त देखा था। इसलिए-मैं दूत वाक्यों से आऊंगा–इस प्रकार उन्हें विश्वस्त किया; किन्तु उनको भगवान् के इस वाक्य में भ्रम हो गया। भगवान् ने तो दूतों द्वारा यह कहलाया कि–दौत्यकैः–दूत के वाक्यों से अर्थात् शब्दों के अर्थ रूप अथवा ज्ञानरूप मैं आऊंगा और वे समझी कि–'अभी' यह वचन कहा यही दूत का कार्य है तथा भगवान् स्वयं ही पधारेंगे। गोपियां विपरीत समझी, यह भगवान् का ही चरित्र है। यदि भगवच्चरित्र नहीं होता तो शुकदेवजी के कहने योग्य नहीं होता ॥३५॥

श्लोक—यावदालक्ष्यते केतुर्यावद् रेणु रथस्य च।
अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिताः ॥३६॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के साथ ही गोपियों के चित्त भी चले गए। वे जब तक उनके रथ की ध्वजा और पहियों की धूल के दर्शन होते रहे, तब तक चित्र लिखी सी वहीं खड़ी रहीं और उधर ही देखती रहीं ॥३६॥

सुबोधिनी—तास्तथोक्ता अपि भगवत्सम्बन्धदर्शनार्थं तथैव स्थिता इत्याह यावतेति, शब्दादयो महान्तिति अर्थसम्बन्धार्थं तथा कथनम्, यावता कालेन केतुर्ध्वजः लक्ष्यतेपि सम्भावनयापि दृश्यते यावद् वा रथस्य रेणुरपि तावत्पर्यन्तं भगवत्सङ्गे अनुप्रस्थापितान्तःकरणाः आधिदैविकरूपाः जीवस्यरूपा वा शरीरमात्रेण लेख्यानीव उपलक्षिताः प्रतिमायां चलनं भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमुक्तम्, आकृतिमात्रं तत्र स्थितं स्वरूपं तु भगवता सह गतमिति वा ॥३६॥

[illegible]
सम्बन्ध को दिखाने के लिए वेग हो यहाँ–यही यह इस [illegible] –श्लोक में कहते हैं। सन्देश शब्दों से भेजा है, जो शब्द मात्र है और शब्द की अपेक्षा अर्थ बहुमूल्य होता है। इसलिए सन्देश में भगवान् के सम्बन्ध की विशेषता के कारण जब तक उनके रथ की ध्वजा के दर्शन तथा दिखाई देने की सम्भावना भी होती रही और जब तक रथ की उड़ती हुई धूल भी दीखती रही, तब तक अपने अन्तःकरणों को अथवा आधिदैविक जीव स्वरूपों के भगवान् के साथ ही भेज देने वाली ये केवल शरीर से ही चित्र लिखी स्त्री दिखाई दीं। हलन-चलन तो चेतन प्रतिमा (मूर्ति) में होती है। वे तो अचेतन सी हो गई थीं। इसीलिए मूल में–लेख्यानीव–चित्र लिखी सी–ऐसा कहा है। अथवा इस कथन से यह भी सूचित किया है कि वे केवल आकृति मात्र से वहां रहीं। उनका स्वरूप तो भगवान् के साथ ही चला गया था ॥३६॥

लेख:—इसी स्कन्ध के तीसवें श्लोक आरम्भ में दी हुई–अत्रैव लौके प्रकट माधि दैविक मुत्तामम् - कामाख्यं सुख-मुत्कृष्टं कृष्णो भुङ्क्ते न चापरः। (इसी श्लोक में ही प्रकट हुए उत्तम आधिदैविक-कामनाम के उत्तम सुख का भोग श्रीकृष्ण करते हैं, अन्य कोई नहीं करता) पांचवीं छठी कारिका के अनुसार इस श्लोक की व्याख्या में कहे गए आधिदैविक जीव स्वरूप है। जिन्होंने अपनी आत्मा को भगवान् के पीछे (साथ-साथ भेज दिया है, और ऐसी वे सूक्ष्म रूप गोपीजन ही बतलाई है। इसी को निश्चित किया हुआ विकल्प मानना चाहिए।

यद्यपि ऊपर सूक्ष्मरूप और स्थूलरूप गोपिकाओं का परस्पर भेद कहा गया है; किन्तु उस भेद प्रदर्शन का कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता है। सूक्ष्मरूप गोपियों को तो सायुज्य प्राप्त हो जाने से वे तो भगवान् में लीन हो गईं। इसलिए उन्हें तो दूत के द्वारा सन्देशा भेजना ही नहीं था। स्थूल गोपियों को ही सन्देश कहलाना था। इसलिए उनकी ही स्थिति को इस श्लोक में बतलाया है। उनमें से कितनीक गोपिका ने अपने अन्तःकरण को और किन्हीं ने अपने आधिदैविक प्रकार के जीवों को भगवान् के साथ भेज दिया, तब वे चित्र लिखीं सीं खड़ी रहीं, अर्थ प्रतीत होता है।

श्लोक—ता निराशा निववृतुर्गोविन्दविनिवर्तने।
विशोका अहनी निन्युर्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम् ॥३७॥

श्लोकार्थ— जब श्रीकृष्ण के पीछा पधार आने की आशा नहीं रही, तब वे अपने-अपने घर लौट आईं और अपने प्रियतम के चरितों को गा-गाकर शोक रहित होकर विरह के दिन रात बिताने लगीं ॥३७॥

सुबोधिनी ततोपि दूरं गते निवृत्ता जाता इत्याह **ता निराशा** इति, निवृत्ताशा जाताः केनचित् निमित्तेनाप्येव भगवान् निवर्तिष्यत इति, ततः कथं जीवितवत्य इत्याशङ्क्याह **प्रियचेष्टितं गायन्त्यः**, भगवद्गुणा अपि भगवानेवेति तेनैव **विशोका अहनी निन्युः**, रात्रिचरित्रगानेन रात्रिं दिवसचरित्रगानेन दिनमिति विशेषं वक्तुं **अहनी** इति द्विवचनेन निर्देश उक्तः, अनेन भगवतः भक्तोपेक्षादोषोपि निवारितः, भगवदनागमनेपि दोषाभावश्च, **अहनी** इति जात्यभिप्रायः, गानेन-

व्याख्यार्थ—जब भगवान् के रथ की ध्वजा तथा उड़ती हुई धूल भी नहीं दीखने लगी और वहां से भी बहुत दूर पधार गए, तब वे पीछी लौटीं-यह—"ता निराशा" इस श्लोक से कहते हैं। किसी भी कारण से भगवान् आज ही वापस पधार आवेंगे—ऐसी आशा उनको नहीं रही। फिर वे कैसे जी सकीं ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि प्रिय के चरित्रों को गाती हुई वे जीवित रहीं, क्योंकि भगवान् के गुण भी भगवान् ही हैं। इसी से वे भगवान् के गुणों का ज्ञान करके शोक रहित होकर दिन रात बिताने लगीं। उनके रात के चरित्रों को रात में और दिन के चरित्रों को दिन में गाकर दिन-रात काटने लगीं—इसी विशेषता को कहने के लिए मूल में-अहनी-द्विवचन (वाले शब्द) का निर्देश किया है।

इस-विशोका-(शोक रहित हुई) कथन से-भगवान् भक्तों की उपेक्षा करते हैं, अर्थात् भक्तों की परवाह नहीं करते-यह दोष भी नहीं रहता और भगवान् के वापस न आने का भी उन्हें (भगवान् को) कोई दोष नहीं होता। भगवद्गुण गान से एक रात्रि की तरह सारी ही रात्रियां बीत गईं-ऐसा भी बतलाने के लिए (अहनी) रात्रि दिवस शब्द का जाति के अभिप्राय से (जाति को लक्ष्य में रखकर) प्रयोग किया गया है ॥३७॥

लेख—ता 'विशोकाः' इस श्लोक की व्याख्या में "अनेन भगवत उपेक्षादोषो निवारितः"-पदों का अर्थ यह है कि इस-विशोकाः—शोक रहित करने के कथन से भगवान् पर (गोपियों की उपेक्षा कर दी)ऐसा उपेक्षादोष नहीं रहता है; क्योंकि भगवान् ने तो उन्हें अलौकिक सामर्थ्य देकर शोक रहित किया तथा शृङ्गारस का द्वितीय दलविरह के अनुभव की शक्ति दी। इस प्रकार उनके लिए महान् फल का दान करने के बाद ही भगवान् वहां से पधारे।

श्लोक—भगवानपि सम्प्राप्तो रामाक्रूरयुतो नृप ।
रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—इधर भगवान् श्रीकृष्ण भी बलदेवजी और अक्रूरजी के साथ हवा की तरह उड़ कर चलने वाले रथ से पापनाशिनी यमुना के किनारे पहुँच गए ॥३८॥

सुबोधिनी—यदा ता विशोका जाताः तदा भगवान् गोकुलवृत्तान्तमविचार्य अग्रे गत इत्याह **भगवानपीति**, यद्यप्यत्रैव स्थित्वा कंसं मारयितुं शक्तः गोपिकाश्च सङ्गे नेतुं, एकेन रूपेण स्थित्वा रूपान्तरेण वा गन्तुं, तथापि मथुरामेव गत इत्य**पिशब्दः**, **रामाक्रूराभ्यां** सहित एकस्मिन् रथे स्थितः, तयोरप्रधानत्वाय तथोक्तिः, **नृप** इति सम्बोधनं राजलीलेयमिति ज्ञापयितुं, **वायुवेगेन** रथेनेपि योजनत्रयं चतुष्टयं वा घटिकामात्रेण समागत इति, सर्वे गोपाला नन्दादयः पश्चादेव स्थिताः, किञ्चित् प्रदर्शयितुं परं भगवानेव समागतः, अन्तर्वेद्यां गोकुलं वृन्दावनं गोवर्द्धन इति विमर्शः, कल्पादौ तदीया भागाः सांप्रतमन्यत्र जाता इति न प्रत्यक्षविरोधः, अन्या तु कल्पना न युक्ता, सारस्वतकल्पानुसारिणी चेयं कथा, एतावद्दूरमन्तर्वेद्यामेवागत्य मथुरानिकटे मथुरातः

कोशद्वये सर्वत्रानिम्ना यमुना ह्रदेष्वेव गम्भीरा । अघनाशिनीतीर्थे समागत इति साधारण्येन सर्वत्र दा कालिन्द्या विशेषणम्, अक्रूरस्य [illegible] भगवत्स्वरूपदर्शनयोग्यतासिद्ध्यर्थम् ॥३८॥

व्याख्यार्थ - जब वे शोक रहित हो गई, तब भगवान् ने गोकुल का निवास-गृहस्थान- छोड़ दिया और वे आगे पधारे-यह इस-भगवानपि--श्लोक से कहते हैं । यद्यपि यहां गोकुल में विराजे विराजे ही कंस का वध कर सकते है, गोपिकाओं को मथुरा भी ले जा सकते हैं अथवा एक रूप से गोकुल में रहकर दूसरे रूप से मथुरा भी जा सकते थे तो भी आप मथुरा ही पधारे-यह श्लोक में दिए गए-अपि-शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है ।

बलदेवजी और अक्रूरजी के साथ भगवान् एक ही रथ मे विराजे । वे दोनों मुख्य नही थे । मथुरा जाने में प्रधानता भगवान् की थी । वे दोनों तो गौण-थे; क्योंकि 'सहार्थेऽप्रधाने'—व्याकरण के नियमानुसार-रामा क्रूराभ्यां (राम और अक्रूर के साथ) यह तृतीया विभक्ति अप्रधान (गौण) मे ही होती है । इसलिए पधारने के काम को करने वाले भगवान् मुख्य थे, वे दोनों गौण थे-ऐसा बतलाने के लिए ही मूल में-राम और अक्रूर के साथ यह कहा गया है । यह राजलीला है-ऐसा प्रदर्शित करने के लिए मूल में नृप (हे राजन्) यह सम्बोधन किया है ।

भगवान् एक घड़ी में ही तीन अथवा चार योजन (१२ अथवा १६ कोस) पहुँच गए, यह इस—वायु का वेग वाले रथ से—रथ के विशेषण से ज्ञात होता है । नन्दजी आदि सारे गोप पीछे ही रह गए, परन्तु अक्रूर को कुछ चमत्कार दिखाने के लिए केवल भगवान् ही कालिन्दी पधारे । गोकुल, वृन्दावन और गोवर्धन ये गंगा, यमुना के बीच में थे—ऐसा निर्णय होता है । अब कलियुग के आरम्भ में उनके भाग दूसरे स्थानों में भर गए हैं । इसलिए इस समय प्रत्यक्ष देखकर पहले के—पुराने—कथन से विरोध नहीं है; क्योंकि यह कथा सारस्वत कल्प के अनुसार कही गई है । दूसरा—इससे भिन्न निर्णय (कल्पना) करना उचित नहीं है । गंगा और यमुना के बीच में ही इतनी दूर पधार कर मथुरा के समीप, मथुरा से दो कोस कालिन्दी के किनारे पहुँचे । यमुनाजी सब जगह गम्भीर, (गहरी) नहीं है, किन्तु जहां दह है, उसी जगह गहरी है । अक्रूर के पापों का नाश होकर वह मेरे स्वरूप के दर्शन कर सकने की योग्यता प्राप्त करले, इसीलिए भगवान् "अघनाशिनी" के तीर्थ पर पधारे अथवा "अघनाशिनी-(पापहारिणी) यह कालिन्दी का विशेषण—जहां—जहां भी कालिन्दी बहती है, वहां-वहां कालिन्दी का सामान्य विशेषण है ॥३८॥

श्लोक—तत्रोपस्पृश्य पानीयं पीत्वा मृष्टं मणिप्रभम् ।
वृक्षखण्डमुपव्रज्य सरामो रथमाविशत् ॥३९॥

श्लोकार्थ—वहाँ दोनों भाईयों ने स्नान करके मोती जैसा निर्मल और मीठा पानी पीलिया फिर वृक्षों की छाया में खड़े (ठहरे) हुए रथ पर जाकर विराज गए ॥३९॥

सुबोधिनी—ततः प्रातःकाले भुक्तमिति तत्रागत्य यत् कृतवांस्तदाह तत्रोपस्पृश्येति, तत्र कालिन्द्यां स्वयमुत्तीर्य लीलया उपस्पृश्य स्नानं त्वा पानीयं पीत्वा मृष्टमुज्ज्वलं विरजस्त्वात् स्वान्तःस्थितमप्यक्रूरं पावयित्वा अन्यानप्यपेक्षितान्, मणिप्रभमिति, इन्द्रनीलश्यामं सर्वप्रकाशकमन्तः

[illegible] कृष्णः [illegible] तीति ज्ञापयितुम्, ततो वृक्षखण्डं वृक्षसमूहं वैष्णवच्छायां समाश्रित्य बलभद्रसहितः पुनः रथारूढो [illegible] उपविष्ट इत्यर्थः ॥३९॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने सवेरे ही भोजन (गोकुल में) कर लिया था। यमुना के तट पर पहुँच कर उनके कार्य का वर्णन इस -'तत्रोपस्पृश्य'- श्लोक से करते है। वहाँ कालिन्दी के जल में भगवान् ने स्वयं उतरकर लीलापूर्वक स्नान किया और उसका निर्मल जल पी लिया। उस जल में रज मिली हुई नहीं थी, स्वच्छ था। इसलिए उसे पीकर अपने भीतर रहने वाले ही अक्रूर को तथा औरों को भी, जिनको पवित्र करने की इच्छा थी, भगवान् ने पवित्र किया। इन्द्रनीलमणि की तरह श्याम और सबका प्रकाश कर देने वाले वह जल भगवान् के उदर में प्रवेश करके वहाँ रहने वाले सारे ही जीवों को जैसे शुद्ध करता है, वैसे ही ज्ञान भी उत्पन्न करता है। इसी अभिप्राय से मूल में -'मणिप्रभं'-मणि जैसी कान्ति वाला -यह जल का- विशेषण दिया है। फिर वृक्षों के समूह में छाया का -'वैष्णवा वै वृक्षाः'- वैष्णवों का आश्रय लेकर फिर भी भगवान् बलदेवजी के साथ रथ पर विराज गए। यहाँ भविष्य में कुछ करना है, इसलिए छाया में ठहरे हुए रथ पर बैठ गए, यह अर्थ है॥३९॥

श्लोक—अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य निवेश्य च रथोपरि।
कालिन्द्या ह्रदमागत्य स्नानं विधिवदाचरत् ॥४०॥

श्लोकार्थ—अक्रूरजी दोनों भाईयों को रथ पर बिठाकर फिर उनसे आज्ञा लेकर यमुना के तट पर आए और वहाँ उन्होंने विधिपूर्वक स्नान किया ॥४०॥

सुबोधिनी—ततोक्रूरः प्रत्यहं नद्यामागन्तुमसमर्थः दुर्लभत्वाद् यमुनायाः तत्र स्नात्वा गमिष्यामीति स्नानार्थं प्रवृत्त इत्याह **अक्रूर** इति, तौ रामकृष्णौ **आमन्त्र्य** स्नानार्थं गमिष्यामीति प्रार्थयित्वा बालकाविति इतस्ततः क्रीडन्तौ **रथोपरि निवेश्य** उपवेश्यैवात्र स्थातव्यमित्युक्त्वा कालिन्द्यास्तीरे पुनः समागत्य **विधिवत्** मृत्तिकास्नानं पुनः कर्तुं प्रवृत्तः, प्रातःकाले मृत्तिकास्नानस्य निषिद्धत्वात् ॥४०॥

व्याख्यार्थ—प्रतिदिन नदी में स्नान करने में असमर्थ अक्रूरजी ने यमुना को दुर्लभ मान कर उसमें स्नान करके आगे जाऊँगा—इस विचार से वहाँ स्नान करने की प्रवृत्ति की। -यह- 'अक्रूरस्तौ' इस श्लोक से कहते हैं। उन दोनों -बलदेवजी और श्रीकृष्ण- को यह सोचकर कि दोनों बालक हैं, कहीं इधर-उधर खेलते फिरेंगे, इसलिए, रथ पर बिठला कर और उनसे यह कह कर कि रथ में ही विराजे रहना, 'मैं (अक्रूर) स्नान करने जाता हूँ', ऐसी उनसे प्रार्थना करके फिर कालिन्दी के तट पर आए। प्रातःकाल में मृत्तिका स्नान का शास्त्र में निषेध होने से फिर दुबारा वहाँ आकर उन्होंने मृत्तिका स्नान विधिपूर्वक किया ॥४०॥

श्लोक—निमज्ज्य तस्मिन् सलिले जपन् ब्रह्म सनातनम्।
तावेव ददृशेक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ ॥४१॥

श्लोकार्थ—स्नान करके मध्याह्न सन्ध्या की । अक्रूरजी जब जल के भीतर डूब कर सनातन ब्रह्म का—गायत्री मन्त्र का—जप करने लगे तब उनको जल के भीतर वे दोनों भाई साथ-साथ रथ पर बैठे हुए दिखाई पड़े ॥४१॥

सुबोधिनी- तत्राघमर्षणजपः जले निमज्ज्य कर्तव्यः 'हिरण्यशृङ्ग' मित्यादि, जले **निमज्ज्य तस्मिन् सलिले सनातन** वेदात्मकं ब्रह्म जपन् तेन शुद्धान्तःकरणः तावेव रामकृष्णौ ददृशे, **समन्वितौ** मिलितौ, यथा जलमध्यस्थाः पदार्थाः दृश्यन्ते तथा तावपि दृष्टवान्, तस्मिन् स्थाने माया उद्घाटितेति सानुभाव भवति स्थानं, भगवांश्च पुनः सर्वत्रैव वर्तते देशादिदोषान्न प्रतीयते, प्रदर्शितवांश्च तस्य सन्देहव्यावृत्त्यर्थम् ॥४१॥

व्याख्यार्थ—'हिरण्यशृङ्गम्' इत्यादि (नारायणोपनिषद्) सुवर्ण के सींग वाले वरुण के मैं शरण जाता हूँ, इत्यादि अघमर्षण-पाप दूर करने वाले-मंत्रों का जप वहां जल में डूब कर करना चाहिए। इसलिए उस जल में डुबकी लगाकर वहां सनातन वेदात्मक ब्रह्म का अक्रूरजी जप करने लगे। जप करने से उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। तब उन्होंने जल के भीतर उन दोनों भाई राम कृष्ण को एक साथ देखा। जल में रहने वाले पदार्थ जैसे दीख पड़ते हैं। वैसे उनको भी देखा। उस स्थान से भगवान् ने अपनी माया दूर कर दी थी, इसलिए वह स्थान दिव्य प्रभावशाली हो गया था। भगवान् तो सदा ही सब ही स्थान में विराजते ही हैं, किन्तु देश, काल आदि के दोष से सब जगह उनके दर्शन नहीं होते हैं। अतः अक्रूर के सन्देह को दूर करने के लिए भगवान् ने उसे वहां भी अपने दर्शन कराए ॥४१॥

श्लोक—तौ रथस्थौ कथमिह सुतावानकदुन्दुभेः ।
तर्हि स्वित् स्यन्दने न स्त इत्युन्मज्ज्य व्यचष्ट सः ॥४२॥

श्लोकार्थ—उन्होंने अपने मन में विचारा कि वसुदेवजी के दोनों पुत्र तो रथ पर बैठे हैं, फिर यहाँ कैसे आए ? और यदि यहाँ आए हैं तो रथ पर नहीं होंगे। तब उनने (जल से ऊपर आकर) रथ की ओर देखा ॥४२॥

सुबोधिनी—तत्र तौ दृष्ट्वा सन्देहात् विचारयति तौ रथस्थाविति, भगवतः सर्वात्मत्वं भगवत्त्वं च विस्मृत्याह **आनकदुन्दुभेः सुतौ तौ** मया **रथस्थौ** कृतौ **कथमिह** दृश्येते, कथं वा समागताविति, यदि केनचित् प्रकारेण मय्यन्यचित्ते समागतौ **तर्हि स्यन्दने न** भविष्यतः, इति विचार्य **उन्मज्ज्य व्यचष्ट** दृष्टवान् द्रष्टा स एवेति अभिज्ञानार्थमाह ॥४२॥

व्याख्यार्थ—वहां जल में दोनों भाईयों को देख कर अक्रूरजी को सन्देह हो गया और विचार करने लगे, यह इस 'तौ रथस्थौ' श्लोक से कहते हैं। भगवान् सबकी आत्मा हैं तथा षडैश्वर्य सम्पन्न सर्वशक्तिमान हैं। अक्रूरजी भगवान् के इन धर्मों को भूल कर मन ही मन कहने लगे कि आनक दुन्दुभि (वसुदेवजी) के दोनों पुत्रों को तो मैं रथ पर बिठाकर आया हूं। वे यहां जल में कैसे दीख

[illegible] किसी दूसरी जगह चला गया हो और मेरा ध्यान न रहा हो, तब यहां आ गए होंगे तो अब रथ पर नहीं होंगे, ऐसा सोच कर वे जल से ऊंचे उठकर उन्हें रथ पर देखने लगे । अक्रूरजी स्वयं ही देखने वाले थे, इसलिए देख भाल करने के लिए (मध्य में ही) मूल में—'आ' शब्द का प्रयोग है ॥४२॥

श्लोक—तत्रापि च यथापूर्वमासीनौ पुनरेव सः।
न्यमज्जद् दर्शनं यन् मे मृषा किं सलिले तयोः ॥४३॥

श्लोकार्थ—अक्रूर ने रथ की ओर देखा तो वहां तो दोनों भाई पहले जैसे बैठे हुए देख पड़े । उन्होंने यह विचार किया कि क्या उनको जल के भीतर देखना मेरा भ्रम था ? यह सोच कर फिर उन्होंने जल के भीतर डुबकी मारी ॥४३॥

सुबोधिनी—ततोऽत्रापि दृष्टवानित्याह **तत्रापि चेति**, **यथापूर्वं** यथा रथापितौ तथैव दृष्टवान् तस्य पुनरेव जिज्ञासा उत्पन्नेत्याह **पुनरेव स इति**, निमज्ज्य **मे** सतः **यत्** भगवतोः **दर्शनं** तत् किं **मृषे**ति, अर्थाद् विमर्शोयम् ॥४३॥

व्याख्यार्थ—फिर अक्रूरजी ने वहां रथ में भी दोनों को बैठे देखा, यह इस 'तत्रापि' श्लोक से कहते हैं । यथापूर्व अक्रूरजी उनको जिस तरह से रथ में बिठला गए थे, वैसे ही उन्हें रथ में बैठे देखा । उनके मन में फिर जानने की ईच्छा हुई और उन्होंने फिर जल में डूब कर सोचा कि मैंने—जब मैं जल में पहले डूब रहा था, तब—भगवान् के दर्शन जल में किए थे, क्या वह असत्य दर्शन था ? वास्तव में उन्हें इस प्रकार का सन्देह हुआ ॥४३॥

श्लोक—भूयस्तत्रापि सोऽद्राक्षीत् स्तूयमानमहीश्वरम् ।
सिद्धचारण गन्धर्वैरसुरैर्नतकन्धरैः ॥४४॥
सहस्रशिरसं देवं सहस्रफणमौलिनम् ।
नीलाम्बरं विसश्वेतं श्रृङ्गैः श्वेतमिव स्थितम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—फिर जल में देखा । अब की बार उनको जल के भीतर विचित्र ही दृश्य देख पड़ा । वहाँ शेषनाग विराजमान हैं । सिद्ध, सर्प और असुर गण सिर झुकाए हुए उनकी स्तुति कर रहे हैं ॥४४॥

शेषनाग के हजार सिर थे । हजार फणों में हजार मुकुट और कमल नाल के समान श्वेत शरीर में नीलाम्बर शोभायमान है । हजार शिखर वाले कैलाश के समान अनन्त देव का श्रीअङ्ग (कलेवर)—देख पड़ता था ॥४५॥

सुबोधिनी—ततो भूय निमज्ज्य दृष्टवानित्याह भूय इति, प्रथमपर्याये भगवतो माहात्म्याज्ञानात् कल्पयित्वा शास्त्राप्रामाण्य पुनरुन्मज्ज्य दृष्टवान्, ततोनुभवात् प्रामाण्यमपि कृत्वा पुनर्द्रष्टुं प्रवृत्त इति नास्य लौकिकालौकिकप्रमाणेषु प्रतिष्ठेति भगवान् विचार्य तं बोधयितुं स्वमाहात्म्यं प्रकटितवानित्याह भूयस्तत्रापीति, स एवाक्रूरो भूयो दृष्टवान्, तत्रापीत्यपिशब्देन बहिर्जलमध्येपि, अथवा, तत्रापि दर्शने विशेषं दृष्टवान्, यः सङ्कर्षणः तं शेषत्वेन दृष्टवान् भगवन्तं तु शेषशायिनम्, तस्य नारायणत्वेनैव ज्ञानं युक्तं भवतीति न तु पुरुषोत्तमत्वेन, सन्देहनिवारणार्थमेवं प्रदर्शयत इति सिद्धादिभिः स्तूयमानं च दृष्टवान्, सिद्धाः सर्वे शेषाविष्टसङ्कर्षणसेवकाः तथा षष्ठे निरूपिताः, भुजङ्गानां सर्पाणां ये पतयः वासुकिप्रमुखाः तैरपि, असुराणामपि ये पतयः कालनेमिप्रमुखाः [illegible] सर्वे एव सङ्कर्षणस्य भक्ता इति सर्वे दैत्याः ससेवकाः प्रतरो [illegible] भगवतीति प्रथमकक्षायामेव भयाभावो निरूपितः ।४४।

सङ्कर्षणं वर्णयति सहस्रशिरसमिति, रूपान्तरे प्रतीतिर्दृढा न भवतीति स्वरूपेणैव प्रकटितवान्, सहस्रं शिरांसि यस्य, दैत्यानां कामरूपो तथा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं देवमिति, सर्वत्र शिरसि फणाः मुकुटानि च, एतादृशं शेषस्यैव रूपं भवति, अन्यदपि ध्यानार्थमाह नीलाम्बरमिति, तस्य ह्यावरणं कालरूपमिति, पुनस्तम इति विसश्वेतता,शीतलं चिक्कणं श्वेतं बिसमिति, अन्यधर्मार्थमेव श्वेतता निरूपिता, वर्णनार्थं तु फणैः कृत्वा श्वेताद्रिं कैलासमिव शृङ्गैः सहितं दृष्टवान्, स्थितमिति फणभागे उच्चत्वात् उत्थित इव दृष्टः ।।४५।।

व्याख्यार्थ—फिर उन्होंने गोता लगा-जल में डुबकी मार-कर देखा। यह इस 'भूयस्तत्रापि' श्लोक से कहते हैं। पहली बार (जब जल में भगवान् के दर्शन हुए तब) अक्रूरजी को भगवान् का माहात्म्य ज्ञान न होने के कारण से उन्होंने शास्त्र-प्रमाण सच्चा नहीं है, ऐसी मन में कल्पना करके फिर जल में से ऊपर आकर रथ में भगवान् को बैठे देखा। तब इस प्रत्यक्ष अनुभव से शास्त्र को प्रमाण मान कर भी उन्होंने फिर भी डूब कर जल के भीतर भगवान् को देखना चाहा। इस कारण से अक्रूर की लौकिक अथवा अलौकिक प्रमाण में दृढ़ श्रद्धा नहीं सोच कर भगवान् ने उसे बोध कराने के लिए अपना माहात्म्य प्रकट किया, यह इस श्लोक से कहते हैं।

उसी अक्रूर ने फिर से दर्शन किए। तत्रापि (वहाँ भी), इस अपि (भी) शब्द से यह कहा गया है कि जल के बाहर भी और भीतर भी भगवान् को देखा, अथवा (वहाँ भी) दर्शन में भगवान् के विशेष -मुख्य- चिह्न के दर्शन किए। जो सङ्कर्षण थे, उनको शेष रूप से और भगवान् को शेषशायी (शेष पर शयन करने वाले) रूप से देखा; क्योंकि उसे नारायण रूप से ही दर्शन होना योग्य था, पुरुषोत्तम रूप से दर्शन होना उचित नहीं था। अक्रूर के सन्देह को दूर करने के लिए ही इस प्रकार से दर्शन कराना था, इसलिए सिद्ध आदि के स्तुति किए जा रहे सङ्कर्षण के दर्शन किए। सारे ही सिद्ध शेष के आवेश वाले सङ्कर्षण के -छठे स्कन्ध में कहे अनुसार- सेवक हैं। वासुकि आदि जो साँपों के अधिपति हैं ।।४३।।

कालनेमि आदि असुरों के स्वामी हैं। ये सब ही अपने-अपने सेवकों सहित सङ्कर्षण के भक्त हैं, इसलिए उनका भगवान् को भय क्यों हो ? इस प्रकार पहली कक्षा में ही भगवान् को भय नहीं है, यह निरूपण किया ।।४४।।

[illegible] दूसरे [illegible] होने से ज्ञान दृढ़ नहीं होता है, इसलिए अपना रूप ही प्रकट किया। वह रूप एक हजार सिर वाला था। दैत्य भी अपनी इच्छानुसार रूप धारण कर लेते हैं, उनमें से वह एक हजार माथे वाला वह किसी दैत्य का रूप नहीं था, वह तो देव का रूप था। उनके प्रत्येक मस्तक पर फरण और मुकुट थे। ऐसा रूप शेषजी का ही होता है। ध्यान करने के लिए (नीलाम्बर, काले वस्त्र वाले) विशेषण देते हैं कि उनका वस्त्र -आवरण- श्याम रङ्ग का है। आवरण से पदार्थ छिपा दिया जाता है। वह सङ्कर्षण का आवरण -ढ़क देने वाला- काल रूप है, जो उनका दर्शन नहीं होने देता, ऐसा अर्थ प्रतीत होता है।

(बिसश्वेत) फिर वह रूप तमोरूप होने से कमल की नाल की तरह श्वेत,शीतल और चिकना था; क्योंकि कमल की डण्डी ठण्डी, चिकनी और सफेद होती है और वह आधिदैविकतम सफेद होता है, इसलिए सङ्कर्षण का स्वरूप भी सफेद था। इसलिए शीतलता अपि अन्य गुणों को बतलाने के लिए ही श्वेत रूप कहा है और यहाँ फणों से शिखरों सहित श्वेत पर्वत कैलास की तरह वह रूप बतलाया है, यह तो वर्णन के लिए कहा गया है। स्थितम् (रहा हुआ) शब्द से यह कहा गया है कि फणों के भाग के ऊँचे होने के कारण वह भाग अक्रूर ने ऊँचा उठा हुआ सा देखा ॥४५॥

लेख—'बिसश्वेतं' की व्याख्या में 'पुनस्तम्' पदों का वह स्वरूप तमोरूप था, यह अर्थ है। तम का आधिदैविक रूप सफेद होता है, इसलिए सङ्कर्षण का सफेद स्वरूप है, जिसका वर्णन शीतलता आदि दूसरे धर्मों को कहने के लिए किया है।

श्लोक—**तस्योत्सङ्गे घनश्यामं पीतकौशेयवाससम्।**
पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ॥४६॥

श्लोकार्थ—उन शेषजी की गोद में एक पीताम्बरधारी पानी भरे मेघ के समान श्याम शरीर वाले चतुर्भुज पुरुष की शान्त मूर्ति विराजमान थीं। उनके नेत्र कमल दल के समान अरुण और विशाल थे ॥४६॥

सुबोधिनी—ततो दृष्टं भगवन्तं वर्णयति **तस्योत्सङ्ग** इति, उत्सङ्गे काये कोमलत्वात् समत्वात् क्रमेण वर्तुलत्वेन सूक्ष्मत्वात् सर्वस्यैव शरीरस्योत्सङ्गतुल्यता, सुखशयनार्थं तथोक्तवान्, अन्यथा सर्पे शयनं भयानकं भवतीति उत्सङ्गपदं, **घनश्याम**मिति, तप्तानां तापनाशकं, यथा आकाशे मेघः स्वाधार एव भवति तथा भगवानपि, पीतं यत् कौशेयं पट्टाम्बरं तदेव वस्त्रं यस्य, एतेषां स्वरूपं प्रयोजनं च पूर्वमुक्तं, **पुरुषं** पुरुषाकारं, चत्वारो भुजा यस्य, **शान्तं** गुणातीतं, उत्पत्तिस्थितिलयानां तद्दर्शनेनैव सिद्धत्वात्, **पद्मगर्भवत्** अरुणे ईक्षणे यस्य, मेघतुल्यतया प्रयोजनं निरूपितं, वासः प्रमाणं, **पुरुष** इति मूलरूपता, 'पूर्वमेवाहमिहास'मिति निरुक्त्या, पुरुषार्थचतुष्टयं दातुं चतुर्भुजाभिव्यक्तिः, अन्तःकरणादिदोषाभावाय शान्तिः, दृष्ट्यैव तापहारित्वाय अरुणवर्णेक्षणत्वं, कंसवधार्थं च, गर्भपदेन व्याजेनैव मारयिष्यति न प्राकट्येनेति निरूपितं, एवं षड्गुणा निरूपिताः ॥४६॥

व्याख्यार्थ—[illegible] तस्योत्सङ्गे [illegible] इस [illegible] पद [illegible] दर्शन किए, उन भगवान् का वर्णन करते हैं। उनकी काया पर शयन करते हुए भगवान् के दर्शन किए। शेषजी का सारा शरीर अत्यन्त कोमल, एक समान, धीरे-धीरे कुण्डलाकार–गोल–होता हुआ सूक्ष्म हो गया था। इसलिए वह पलङ्ग सा था। सुख से पोढ़ने के लिए शेषजी के शरीर को पलङ्ग के समान कहा है। ऐसा–पलङ्ग के तुल्य–नहीं कहते तो सांप पर शयन करना तो भय दायक होता है। इसीलिए उत्सङ्ग–गोद–पद मूल में कहा है।

मेघ के समान श्याम अर्थात् सन्तप्तों–दुःखितों के ताप–दुःख–को दूर करने वाले तथा आकाश में जैसे मेघ अपने ही आधार वाला होता है, वैसे ही भगवान् भी अपने आप पर ही आधारित रहने वाले तथा पीला रेशमी वस्त्र धारण किए हुए भगवान् के दर्शन किए। इन घनश्याम तथा पीताम्बर का स्वरूप तथा प्रयोजन पहले १०/३/९ की (श्री सुबोधिनी) व्याख्या में कह दिया गया है। भगवान् पुरुष–पुरुष का सा आकार वाले– चतुर्भुज तथा परम शान्त हैं; क्योंकि जगत् की उत्पति, स्थिति तथा संहार तो उनके अंशों से ही होता है (वे तो गुणातीत हैं)।

कमल के मध्य भाग की तरह लाल नेत्र वाले भगवान् के दर्शन किए। यहां (१) घनश्याम पद से प्रयोजन-फल- का वर्णन किया है, (२) वस्त्र वेद रूप होने से प्रमाण है (३) पुरुष–पहले हीं मैं यहां था, ऐसी व्युत्पत्ति वाले शब्द से मूलरूपता (प्रमेयरूपता) कही है। (४) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थ का दान करना बतलाने के लिए चतुर्भुज रूप से प्रकट हैं: (५) भगवान् के दर्शन से अन्तःकरण आदि के दोष दूर हो जाते हैं, इसलिए 'शान्त' विशेषण दिया है। (६) वे अपनी दृष्टि से ही दुःखों का नाश करने वाले तथा आगे कंस का वध करेंगे, यह बतलाने के लिए लाल रङ्ग के नेत्र वाले कहे गए है। यहां गर्भ शब्द कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् किसी उपाय से बालक रूप से ही कंस का वध करेंगे, परन्तु प्रसिद्ध मूलरूप से प्रकट होकर नहीं मारेंगे। इस प्रकार से इस श्लोक में दिए गए छः विशेषणों से भगवान् के छः गुणों का निरुपण किया है ॥४६॥

लेख— 'तस्योत्सङ्गे'–श्लोक की व्याख्या में 'मेघतुल्यता' (मेघ की समानता से) इत्यादि पदों का अभिप्राय कहते हैं कि भगवान् को मेघतुल्य कहने से फल, वस्त्र–वेदरूप–होने से प्रमाण, मूल-रूप–प्रमेयरूप और चतुर्भुज पद से चारों पुरुषार्थ के देने वाले कह कर साधन रूप है। इस प्रकार से फल, प्रमाण प्रमेय तथा साधन रूप भगवान् ही हैं। (गर्भ पदेन) गर्भ पद का तात्पर्य यह है कि अपने मूलरूप से प्रकट होकर कंस को नहीं मारेंगे, बालक के रूप से ही मारेंगे।

श्लोक—चारुप्रसन्नवदनं चारुहासनिरीक्षणम् ।
सुभ्रून्नसं चारुकर्णं सुकपोलारुणाधरम् ॥४७॥

श्लोकार्थ—उनका मुख प्रसन्न भाव से युक्त तथा परम सुन्दर था। मन्द हँसी से युक्त चितवन अत्यन्त मनोहर थी। नाक और भौहें ऊँची और सुडौल थी। सुवर्ण के कुण्डल कानों की अपूर्ण शोभा बढ़ा रहे थे। सुन्दर गोल कपोल और लाल-लाल होंठ दर्शनीय थे ॥४७॥

सुबोधिनी—[illegible] स्वरूपतः फलतश्च सर्वसुखदायि चारु यस्य हासः तत्पूर्वकं निरीक्षणं यस्य, भक्तिज्ञानयोरुत्कर्षः सफलो निरूपितः. शोभने भ्रुवौ यस्य, ऊर्ध्वा नासिका च. कालप्राणयोः बहिरन्तःकार्ये निरू-[illegible] चारु कर्णौ यस्य, सर्वत्र भगवानुत्तम इत्युक्तम्. सुष्ठु कपोलौ अरुणवर्णौ अधरौ यस्येति कामलोभावुत्तमौ निरूपितौ ॥४७॥

व्याख्यार्थ—सुन्दर और प्रसन्न अर्थात् स्वरूप से और फल से भी, सबको सुखदाई मुखारविन्द वाले तथा मनोहर हास्य से युक्त चितवन वाले, भगवान् के दर्शन किए। इस विशेषण से भक्ति (हास्य) और ज्ञान (दृष्टि) की उत्तमता को फल सहित सूचित किया है। वे भगवान् सुन्दर भौंहें और ऊंची नासिका वाले हैं। काल रूपी भौंहों से बाहर का और प्राणन्य–प्राण–रूपी नासिका से भीतर के कार्य का निरूपण किया है। ये सब भगवान् में स्थित हैं, यह बतलाने के लिए इस प्रकार निरूपण करते हैं। उनके सुन्दर कान हैं. इस कथन से भगवान् की सारे श्रीअंग में उत्तमता प्रदर्शित की। वे सुन्दर गोल कपोल और लाल-लाल होंठ वाले हैं, इस विशेषण से उत्तम काम (कपोल) और लोभ (अधर) का निरूपण किया गया है ॥४७॥

श्लोक—प्रलम्बपीवरभुजं तुङ्गांसोरःस्थलश्रियम् ।
कम्बुकण्ठं निम्ननाभिं वलिमत्पल्लवोदरम् ॥४८॥

श्लोकार्थ—उनकी भुजाएँ लम्बी और मोटी थीं। दोनों कन्धे ऊँचे थे। वक्षस्थल में लक्ष्मी देवी का निवास था। शङ्ख के समान सुन्दर कण्ठ, नाभि गम्भीर और उदर त्रिवलि से युक्त तथा पीपल के पत्ते के समान आकार वाला था ॥४८॥

सुबोधिनी—प्रकर्षेण प्रलम्बाः पीवराः स्थूला भुजा यस्य. दूरस्थाः स्थूलदृष्टयोऽपि पुरुषार्थान् प्राप्स्यन्तीति ज्ञापयुतं तुङ्गावसावुरःस्थलं च तत्र श्रीर्यासां सर्वेषामेव सर्वं भारमूढ्वा सर्वं प्रयच्छतीति, सर्वविद्यात्मकं त्रिवलीयुक्तं कण्ठस्थानमिति कम्बुवत् कण्ठो यस्य, निम्ना नाभिर्यस्येति जगत्कर्तृत्वमस्य गूढमिति सुलक्षणत्वं च निरूपितं, त्रिवलीयुक्तं पत्रवदश्वत्थपत्रवत् उदरं यस्य कोमलता किञ्चिदुन्नतत्वं च निरूपितं, येन तद्वर्तिनः सर्वे सुस्था इति ॥४८॥

व्याख्यार्थ—बड़ी लम्बी और मोटी भुजाएँ वाले भगवान् के दर्शन हुए। लम्बी और मोटी भुजाओं के कहने का तात्पर्य यह है कि वे दूर रहने वालों तथा मन्द बुद्धि वालों को भी भगवान् अपने पास से चारों पुरुषार्थ प्राप्त करा देंगे। ऊंचे दोनों कन्धे और उन्नत वक्षःस्थल जिसमें लक्ष्मीजी विराजमान हैं, उन्नत स्कन्ध के कहने से सब का सब भार सहन करने तथा लक्ष्मी युक्त वक्षःस्थल के कथन से सब पदार्थों का दान करते हैं, यह सूचित किया है।

सारी विद्याओं का मूल तथा त्रिवलि से युक्त (भगवान् का) शङ्ख की तरह श्री कण्ठ है। नाभि को नीची तथा गम्भीर विशेषण से यह सूचित किया है कि भगवान् का जगत् का कर्तापन अत्यन्त गूढ है तथा वे सुन्दर शुभ लक्षणों से परिपूर्ण हैं, भगवान् के उदर का निरूपण त्रिवलि से सुशोभित

[illegible] सूचित [illegible] बतलाया कि भगवान् के उदर में रहने वाले सभी सुखी हैं ॥४८॥

लेख--प्रलम्ब-इत्यादि इस श्लोक की व्याख्या में सर्व भारमुद्रा-इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है कि कन्धों को ऊंचा वर्णन करके सब के सारे भार की सहन शीलता तथा लक्ष्मी सहित कहकर दानशीलता का वर्णन किया है ।

श्लोक—बृहत्कटितटश्रोणिकरभोरुद्वयान्वितम् ।
चारुजानुयुगं चारुजङ्घायुगलसंयुतम् ॥४६॥

श्लोकार्थ—कमर और नितम्ब विशाल थे । ऊरुयुगल हाथी की सूंड जैसे थे । दोनों घुटने और जांघें सुन्दर थीं (भगवान् के दर्शन किए) ।

सुबोधिनी- बृहत् स्थूलः कटितटो यस्य, श्रोणिरपि तथा, ततोधोभागः स्त्रीणां नितम्बस्थानीयः, ततोप्यधस्तात् करभवत् ऊरुद्वयेनान्वितमिति, अनेकपादत्वं व्यावर्तयति, भूमिः कटितटरूपेति आधारबाहुल्यं निरूपितं, ततोधस्तात् सर्वाङ्गेषु सौन्दर्यं निरूपयन् तथा वर्णयति, सर्वाङ्गेषु तस्य दृष्टिः पतितेति, **चारु जानुयुगं** यस्य, तथा जङ्घायुगेन च संयुतमेकस्यां जङ्घायामपरां स्थाप्य तिष्ठतीति, अन्यथा विश्लेषे भक्तानां गतिर्भिन्ना भवतीति ॥४६॥

व्याख्यार्थ—कटि (कमर) प्रदेश और श्रोणि (नितम्ब) भाग,जो स्त्रियों की कमर के नीचे नितम्ब भाग होता है, दोनों बड़े विशाल थे । श्रोणि भाग के नीचे हाथी की सूंड जैसे उरुयुगल वाले भगवान् थे । इस कथन से अनेक (दो से अधिक) चरणारविन्द न होना सूचित किया है । भूमि भगवान् का कटि प्रदेश रूप है, इसलिए आधार की बहुलता-विशालता-(भगवान् सबके आधार हैं) बतलाई है ।

अक्रूरजी की दृष्टि भगवान् के सभी अङ्गों पर गिर गई थी । उन्होंने भगवान् के सारे ही गात्र के दर्शन कर लिए थे । इसलिए नितम्ब –श्रोणि– के नीचे सारे अङ्गों की सुन्दरता का निरूपण करते हुए वैसा वर्णन करते हैं । दोनों घुटने बड़े सुन्दर थे । (दोनों घुटनों के नीचे का भाग) दोनों जङ्घाएँ बड़ी मनोहर थीं । भगवान् एक जङ्घा पर दूसरी जङ्घा को रखकर खड़े रहते हैं, क्योंकि यदि भगवान् दोनों जंघाओं को अलग–अलग रखते हों तो भक्तों की गति जुदी-जुदी हो जाए । इसलिए सभी भक्तों को एक सी गति प्रदान करने के लिए भगवान् दोनों जंघाओं को (ऊपर नीचे) मिलाकर ही खड़े रहते हैं ॥४६॥

श्लोक—तुङ्गगुल्फारुणनखव्रातदीधितिभिर्वृतम् ।
नवाङ्गुल्यङ्गुष्ठदलैर्विलसत्पादपङ्कजम् ॥५०॥

श्लोकार्थ—दोनों चरणतल कुछ ऊँचे थे । गुल्फ (पैरों के गट्टे), नई कलियों की

[illegible] अंगुलियां, अंगूठे और सुहावने [illegible] के [illegible] का [illegible] दोनों चरणारविन्द परम मनोहर थे ॥५०॥

सुबोधिनी—तुङ्गौ गुल्फौ अरुणा नखास्तेषां व्रात समूहः तस्य दीधितिभिः कान्तिभिर्वृतं, नखकान्तयः सर्वाङ्गं व्याप्य तिष्ठन्तीति, नवा अङ्गुलयः अङ्गुष्ठौ च कमलदलप्रायाः तैर्विलसत् शोभायुक्त पादपङ्कजं यस्य, सुसेव्यत्वाय चरणौ तथा निरूपितौ ॥५०॥

व्याख्यार्थ—पांवों की दोनों ऊँची गांठें-(गुल्फ), लाल-लाल सारे नखों की कान्ति जो भगवान् के सारे श्रीअंग में फैल रही थीं तथा कमल के पत्तों के समान नई अङ्गुलियां और अंगूठों से सुशोभित हुए चरणकमलवाले भगवान् के दर्शन अक्रूर को हुए। भगवान् के चरण सुसेव्य-सहज-सेवा किए जाने योग्य हैं, यह प्रदर्शित करने के लिए चरणों को कमल दल सा कहा है ॥५०॥

श्लोक—सुमहार्हमणिव्रातकिरीटकटकाङ्गदैः ।
कटिसूत्रब्रह्मसूत्रहारनूपुरकुण्डलैः ॥५१॥

भ्राजमानं पद्मकरं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥५२॥

श्लोकार्थ—उनके अङ्गों में किरीट, कटक (कड़े), भुजबंध, करधनी, जनेऊ, हार, नूपुर, कुण्डल, अँगूठी आदि अनेक आभूषण शोभायमान थे और उनमें बहुमूल्य मणि, माणक जड़े हुए थे। चारों कमल से कोमल श्री हस्तों में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और वक्षःस्थल में श्रीवत्स तथा कौस्तुभमणि और श्रीकण्ठ में वनमाला विराजमान थी ॥५१-५२॥

सुबोधिनी—एवं सर्वाङ्गवर्णनमुक्त्वा आभरणानां वर्णनमाह कटिसूत्रेति. कटिसूत्रं काञ्चिदाम रूपमर्यादानिमित्तं, ब्रह्मसूत्रं यज्ञोपवीतं नामगर्यादानिमित्तं, हारो मुक्तानां हृदये शोभाकरः, मुक्तान् जीवान् हृदये स्थापयतीति ज्ञापयितुम्, नूपुरं पादे, कुण्डले कर्णयोः, भक्तिशास्त्रं योगज्ञाने च समलङ्कृते, एतैर्भ्राजमानं, आयुधानि वर्णयति पद्मकरमिति, एकस्मिन् करे पद्ममेतत् सर्वायुधरूपं, अतः सर्वबुद्धिभ्रामक इति, ततः शङ्खः अपां तत्त्वं, पृथ्वी पद्ममिति, तेजश्चक्रं, गदा मातन्यरूपेति, एतानि बिभर्तीति तथा, लक्षणान्तराण्याह श्रीवत्सो दक्षिणावर्तरोमरेखा वक्षसि यस्य, इदमसाधारणं लक्षणं, भ्राजत् कौस्तुभरत्नं यस्य, शुद्धा जीवाः कण्ठे स्थिता इति, वनमालायुक्त इति कीर्तियुक्तम् ॥५१-५२॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् के सारे अङ्गों का वर्णन करके, कटिसूत्र इत्यादि श्लोक से उनके आभरणों का निरूपण करते हैं। कटिसूत्र-सुवर्ण की करधनी-जो रूप की पराकाष्ठा का
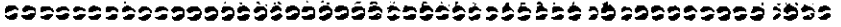
चिन्ह है - ब्रह्मसूत्र-(यज्ञोपवीत) जो नाग की मर्यादा का द्योतक चिन्ह है, भगवान् के श्रीअंग में सुशोभित है। हृदय पर मोतियों का हार विराजमान हो रहा है, जो यह सूचित कर रहा है कि (मुक्ता मोती और मुक्त जीव) मुक्त जीवों को भगवान् अपने हृदय पर रखते हैं। नूपुर चरणों में और दो कुण्डल दोनों कानों में यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि भक्तिशास्त्र को (चरण) और योग तथा ज्ञान (दोनों कान) को सुशोभित कर रहे हैं। इन आभूषणों से शोभायमान हो रहे भगवान् के दर्शन किए।।५१।।

अब भगवान् के आयुधों का वर्णन करते हैं। भगवान् के एक श्री हस्त में कमल है; जो सभी अन्य आयुधों के समान है और इसीलिए वह (कमल) सब की बुद्धि को भ्रम कराने वाला है। पृथिवी कमल, जल का तत्व शङ्ख, तेज का तत्व चक्र और गदा प्राणरूप है। इस प्रकार भगवान् पृथिवी, जल, तेज और वायु के तत्वों को धारण करते हैं, इसलिए इस प्रकार से वर्णन है।

आगे भगवान् के दूसरे (अन्य) चिन्हों को बतलाते हैं, भगवान् के वक्षःस्थल में दाहिनी तरफ बढ़ती हुई-उभरी हुई-बालों की पंक्ति-रेखा-(श्रीवत्स) विराजमान है। जो भगवान् का असाधारण-दूसरों में नहीं मिलने वाला-चिन्ह है। भगवान् का श्रीकण्ठ शुद्ध जीवों के निवास का स्थान है, इसलिए तेजस्वी कौस्तुभमणि से तथा कीर्ति को फैलाने-विस्तार करने वाली-वनमाला से भगवान् अलंकृत हैं।।५२।।

श्लोक—सुनन्दनन्दप्रमुखैः पार्षदैः सनकादिभिः।
सुरेशैर्ब्रह्मरुद्राद्यैर्नवभिश्च द्विजोत्तमैः।।५३।।

प्रह्लादनारदवसुप्रमुखैर्भागवतोत्तमैः।
स्तूयमानं पृथग्भावैर्वचोभिरमलात्मभिः।।५४।।

श्लोकार्थ—निर्मल अन्तःकरण वाले सुनन्द, नन्द, सनक आदि पार्षद, ब्रह्मा, रुद्र आदि देवता मरीचि आदि नौ श्रेष्ठ ब्राह्मण और प्रह्लाद, नारद, वसु आदि उत्तम भगवद्भक्त भिन्न-भिन्न भाव भरे वाक्यों से उनकी स्तुति कर रहे थे।।५३-५४।।

सुबोधिनी - एवं लक्षणानि निरूप्य सेवकान् निरूपयति सुनन्देति,सुनन्दनन्दादयः अष्टौ द्वाःस्थाश्च सनकादयः आधिदैविका भक्ताः, सुरेशादयः इन्द्रप्रमुखाः अष्टौ लोकपालाः ब्रह्मा रुद्रश्च प्राद्यो येषामेते ह्युत्तमसेवकाः, मनुष्यान् देवान् निरूप्य ऋषीन् निरूपयति नवभिश्चेति, मरीच्यादयो नव ब्राह्मणश्रेष्ठा भगवत्कर्मपराः।।५३।।

भगवद्भक्ता अप्याधिदैविकास्तत्र दृष्टा इत्याह प्रह्लादेति, दैत्येषु प्रह्लादः श्रेष्ठः, नारदो देवेषु, वसुः भीष्मो मानुषेषु, त्रिविधा एव जीवाः, तत्र भक्ता एव मुख्या इति एतत्प्रमुखैर्भागवतोत्तमैः स्तूयमानं दृष्टवान्, तत्र स्तोत्रे सात्त्विकराजसतामसभावाः वक्तृनिष्ठा इति पृथग्भावैः स्तोत्राणि, स्तोत्रमपि न तथानोमेव फलपरित्वा कथनरूपं

किन्तु वचोभिः पूर्वसिद्धैः गद्यपद्यादिरूपैः, ननु वैकुण्ठे भगवत्सन्निधाने वा परमानन्दानुभवोस्तीति भोगं विहाय किमिति स्तोत्रं कुर्वन्तीत्याशङ्क्याह अमलात्मभिरिति, निर्मलान्तःकरणास्ते भगवत्पराः न तु भोगपराः ॥५४॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार से भगवान् के दिव्य चिन्हों का निरूपण करके –'सुनन्दनन्द प्रमुखैः'– इन दो श्लोकों से सेवकों का वर्णन करते हैं। सुनन्द नन्द आठ, द्वारपाल, सनक सनन्दन आदि आधिदैविक भक्त,इंद्र आदि आठ लोक पाल तथा ब्रह्मा शिव आदिप्रधान देवगण उनका गुणगान कर रहे थे।

मनुष्यों और देवों का वर्णन करके ऋषियों का निरूपण करते हैं। निरन्तर ही भगवान् के कार्य में तत्पर रहने वाले मरीचि आदि नौ उत्तम ब्राह्मण(ऋषि)भगवान् की स्तुति कर रहे थे।

भगवान् की स्तुति करते हुए आधिदैविक भगवद्भक्तों को भी अक्रूरजी ने देखा। उनमें दैत्यों में मुख्य प्रह्लाद, देवों में श्रेष्ठ नारद और मनुष्यों में उत्तम भक्त भीष्म थे। तीन ही प्रकार के जीव हैं और उनमें भी भगवद्भक्त ही होते हैं। इस लिए प्रह्लादादि श्रेष्ठ भगवद्भक्तों के द्वारा स्तुति किए जा रहे भगवान् के दर्शन अक्रूर को हुए। वे भगवद्भक्त अपने भिन्न-भिन्न सात्विक, राजस, तामस भावों से स्तुति करते हुए देखे गए। वे स्तोत्र भी जिन से वे भगवद्भक्त भगवान् की स्तुति कर रहे थे; उनके उसी समय जोड़ कर-कल्पना करके-कहे हुए नहीं थे; किन्तु पहले से ही निश्चित किए हुए गद्य पद्य रूप वाणी से कहे गए थे।

शङ्का—वैकुण्ठ में अथवा भगवान् के सानिध्य (पास) में तो परम आनन्द का अनुभव है, फिर वे उस परमानन्द के भोग को छोड़कर स्तुति करने में ही क्यों लगे रहे? इसके उत्तर में कहते हैं कि (अमलात्मभिः) निर्मल अन्तः करण वाले उन भक्तों की भगवान् में ही आसक्ति थी, भोग में नहीं थी, इसलिए वे परमानन्द के अनुभव को भी त्याग कर उनकी ही स्तुति करते रहे ॥५३-५४॥

श्लोक—श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया ।
विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम् ॥५५॥

श्लोकार्थ—श्री,पुष्टि, वाणी, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा,विद्या,अविद्या,शक्ति और माया, ये बारह शक्तियाँ उनकी सेवा कर रहीं थीं ॥५५॥

सुबोधिनी—ततो भगवतः सर्वकार्यसाधिका द्वादश शक्तयः ता अपि दृष्टवानित्याह श्रियेति, श्रीर्लक्ष्मीः, श्र्यादिभिर्निषेवितम्, पुष्टिर्नाम यया सर्वे पुष्टा भवन्ति सा यत्र न प्रविशति ते बह्वाहारा अपि न पुष्टा भवन्ति, एवं सर्वत्र, गीः सरस्वती प्रसिद्धा, कान्तिः काचित् प्रभा राज्याभिषेकादिषु प्रकटा जायते,अलङ्करणानि तच्छेषाण्येव, कीर्तिः प्रसिद्धाः, सा यत्र न प्रविशति तत्र सगानकर्मणापि न कीर्तिर्भवति, तुष्टिः सन्तोषात्मिका, यदभावे महानपि तृणवद् भवति, इला भूमिः, ऊर्जा सर्वसामर्थ्यरूपा, विद्या ज्ञानरूपा मोक्षदायिनी, अविद्या बन्धिका,निद्रादयोपि तद्भेदा एव, केचन मायाभेदा इत्याहुः, शक्तिः इच्छाशक्तिः, एषा सर्वनियामिका, माया सर्वभवनसामर्थ्य व्या-

मोहिका नेति उभयविधादि परिगृहीता चकारेण, अनेन सर्वत्र सर्वे भेदाः परिगृहीताः, तेन मुख्या द्वादश, अवान्तरभेदा असङ्ख्याता एव भवन्तीति निरुक्तं भवति ॥५५॥

व्याख्यार्थ--तदनन्तर अक्रूर ने सारे ही कार्यों को सिद्ध कर देने वाली भगवान् की बारह शक्तियों को भी देखा यह इस 'श्रिया पुष्ट्या' श्लोक से कहते है। भगवान् की 'श्री' आदि बारह शक्तियां हैं। अक्रूर ने देखा कि वे बारह शक्तियाँ भी भगवन् की सेवा कर रहीं हैं। (१) श्री अर्थात् लक्ष्मी, (२) पुष्टि, वह जो सब को पुष्ट करती है। जिन में पुष्टि प्रवेश नहीं करतीं, वे अधिक आहार करते हुए भी पुष्ट नहीं होते हैं। इसी तरह (यही बात) सारी शक्तियों के सम्बन्ध में जान लेनी चाहिए। (३) (गीः),सरस्वती जो प्रसिद्ध है। (४) कान्ति-कोई दिव्य प्रभा-जो राज्याभिषेक आदि के समय प्रकट होती है। आभूषण उस कान्ति के ही अङ्ग (आधीन) है। (५) कीर्ति प्रसिद्ध ही है। जिस में कीर्ति प्रवेश नहीं करती, उसकी कीतिमान् पुरुषों के समान वही काम करने पर भी कीर्ति नहीं होती है। (६) तुष्टि सन्तोषरूप है, जिसके न होने पर बड़े से बड़ा भी तिनके के जैसा होता है। (७) इला भूमि और (८) ऊर्जा सब सामर्थ्य रूप है। (९) विद्या; मोक्ष देने वाली ज्ञानरूप तथा (१०) अविद्याबन्धन कराने वाली है। निद्रा आदि भी इस अविद्या के भेद हैं। कोई निद्रादि को अविद्या के भेद न कह कर माया के भेद कहते हैं। (११) शक्ति इच्छा शक्ति जो सारी शक्तियों को वश में रखने वाली है। (१२) माया (सर्वभवनसामर्थ्य) सब होने की शक्ति और (व्यमोहिका) अत्यधिक मोह करा देने वाली। मूल में दिये 'च' अक्षर से माया में दोनों प्रकार की माया का समावेश है। इन कथन से यह बतलाया है कि सारी शक्तियों के अन्यान्य भेदों का भी उन-उन शक्तियों में समावेश (प्रवेश) कर देना चाहिए। इससे ऐसा कह सकते हैं कि बारह शक्तियां तो मुख्य हैं और इनके अवान्तर (गौण) भेद असंख्य ही हो जाते हैं ॥५५॥

कारिका—**आधार एव रूपं च आकारोङ्गानि चैव हि।**
अलङ्करणचिह्नानि सेवका द्विविधा अपि।
शक्तयश्चेति भगवान् सप्तधा विनिरूपितः ॥१॥५५॥

कारिकार्थ—आधार अहीन्द्र शेषजी के (४४-४५), रूप के (४६), आकार के (४७-४८), श्रीअङ्गों के (४९-५०), अलङ्कारों तथा चिह्नों के (५१-५२), ज्ञानी और भक्त दो प्रकार के सेवकों के (५३-५४) और शक्तियों के (५५) वर्णन से सात प्रकार से भगवान् का निरूपण किया है ॥१॥५५॥

श्लोक—**विलोक्य सुभृशं प्रीतो भक्त्या परमया युतः।**
हृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचनः ॥५६॥

श्लोकार्थ—अक्रूरजी इस प्रकार से भगवान् के दिव्य और अद्भुत दर्शन करके बहुत प्रसन्न हुए। परम प्रेम से उनके शरीर में रोमाञ्च हो आया; आँखों में आनन्द के

आँसू भर आए और भक्ति भाव से हृदय गद्गद् हो गया ॥५६॥

सुबोधिनी—एवं दृष्टवतो यत् जातं तदाह **विलोक्येति**, आदौ तादृशं दुर्लभं दृष्ट्वा **सुभृशं प्रीतः** ततः **परमया भक्त्या युतः**, ततो **हृष्यत्तनूरुहः**॥५६।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार के दर्शन करने वाले अक्रूर की उस समय की दशा का वर्णन इस 'विलोक्य' श्लोक से करते हैं। इस प्रकार भगवान् के दुर्लभ दर्शन करके अक्रूर अत्यन्त प्रसन्न होकर परम भक्त भाव से पूर्ण हो गए और हर्ष के मारे उनका सारा शरीर रोमाञ्चित हो गया ॥५६॥

कारिका—**अन्तस्तोषस्तया भक्तिर्भक्तिचिह्नानि चैव हि।**
दृष्टे भगवति ह्यासन् भक्तस्येति निरूपितम् ॥१॥

कारिकार्थ—भगवान् के दर्शन करके भक्त (अक्रूर) के हृदय में प्रसन्नता, भक्ति के चिन्ह भी प्रकट हो गए, यह निरूपण किया है ॥१॥

सुबोधिनी—भावेन **क्लिन्नमन्तःकरणं लोचने** च यस्य, प्रेमोद्गमलक्षणमेतत्, ततो वैकल्यमर्थादुक्तं भवति ॥५६॥

व्याख्यार्थ—भक्ति भाव से उनका हृदय प्रेमार्द्र हो गया और नेत्र प्रेमाश्रुओं से भर आए। ये सब प्रेम के उत्पन्न होने के चिन्ह हैं। ऐसी दशा हो जाने के बाद विकल होना तो सहज ही कहा जा सकता है।

श्लोक—**गिरा गद्गदयास्तौषीत् सत्त्वमालम्ब्य सात्वतः।**
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलिपुटः शनैः ॥५७॥

श्लोकार्थ—तब अक्रूरजी ने सात्त्विक भाव को धारण करके भगवान् को सिर झुका कर प्रणाम किया; फिर वे सावधान होकर हाथ जोड़ कर गद्गद् वाणी से भगवान् की (यों) धीरे-धीरे स्तुति करने लगे ॥५७॥

सुबोधिनी—ततो यत् कृतवांस्तदाह **गिरेति**, गद्गदया वाण्या **अस्तौषीत्**, **सत्त्वमालम्ब्येति** निर्गुणावस्थां दूरीकृत्य सत्त्वावस्थावलम्बनं कृतवान्, यतः **सात्वतः** वैष्णवः ततः साष्टाङ्गं **प्रणम्य** वैकुण्ठ एवाभिव्यक्त इति जलाद्यभावात् **अवहितः** सावधानो भूत्वा मनः सुस्थिरं विधाय **कृताञ्जलिपुटो** भूत्वा चिरकालं तूष्णीं स्थित्वा, अल्पोद्गमसामर्थ्येऽपि स्तोत्रं कृतवानिति वक्तुमाह **शनैरिति**, स्तोत्रे हि कृते भगवता प्रदर्शितं तस्य हृदयारूढं जातमिति ज्ञायते नान्यथेति सर्वत्र स्तोत्रव्यवस्था ॥५७॥

व्याख्यार्थ—तदनन्तर अक्रूर जी के कर्तव्य का वर्णन इस 'गिरा' श्लोक से करते हैं। तब अक्रूर ने अपनी निर्गुण स्थिति को दूर करके सात्त्विक स्थिति का ग्रहण किया और गद्गद् वाणी से भगवान् की स्तुति करना आरम्भ किया, क्योंकि वे वैष्णव (सात्वतः) थे। फिर उन्होंने भगवान् को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। वहाँ भगवान् ने वैकुण्ठ के ही दर्शन कराए थे, इसलिए वहाँ जल आदि के न होने से वे और भी सावधान हो गए और अपने मन को ठीक स्थिर करके दोनों हाथ जोड़ कर बड़ी देर तक चुपचाप खड़े रहे। जब काम करने की थोड़ी सी शक्ति हुई, तब धीरे धीरे भगवान् की स्तुति करने लगे और सभी (स्तुति करने पर ही) उनके हृदय में भगवान् का वह स्वरूप (जो भगवान् ने उनको दिखलाया था) आरूढ़ हो गया, ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि स्तुति किए बिना भगवान् का स्वरूप स्थिर हृदयारूढ़ नहीं होता, इसीलिए सभी जगह स्तुति करने की व्यवस्था (नियम) है।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध) ३९वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण ऐश्वर्य निरूपक चतुर्थ अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

राग बिहागरौ

व्याकुल भये ब्रज के लोग ।
श्याम गन नहि नेक आनन ब्रह्म पूरन जोग ॥
कौन माता पिता को है कौन है पति नारि।
हसत दोउ अक्रूर के संग नवल नेह बिसारि ॥
कोउ कहति यह कहां आयो क्रूर याको नाम।
सूर प्रभु लै प्रात जैहै और संग बलराम ॥

राग कान्हरो

चलत जानि चितवति ब्रज जुवती मानहु लिखी चितेरे।
जहां नंद सुत तहां एक टक जोवति फिरत न लोचन फेरे ॥
बिसरि गई गति भांति देह की सुनत न श्रवणनि टेरे।
मिलि जु गये मानो पय पानी निरवत नहीं निवेरे ॥
लागे संग मदोनमत्त के ज्यों घिरत न कैसे हूं घेरे।
सूर प्रेम अंकुश आशा तजि बाहिन इत उत हेरे ॥

राग सोरठ

जशोदा वार वार यों भाषै।
है कोऊ ब्रज हितू हमारा चलत गोपाल हि राखै।।
कहा काज मेरे छगन मगन को नृप मधुपुरी बुलाये।
सुफलक सुत मेरे प्राण हरन को काल रूप ह्वै आये।।
बरु यह गोधन कंस लेइ सब मोहि बंदि लै मेलै।
इतनो मांगति कमल नैन मेरी अंखियनि आगे खेलै।।
को कर कमल मथानी गहि है को दधि माखन खैहै।
बहुरयो इन्द्र बरषि है ब्रज पर कोन मेरु कर लैहे।।
वासर रैनि बिलोके जीऊं संग लागि हुलराऊं।
हरि बिछुरत असु रहै कर्म वस तो किहि कंठ लगाऊं।।
टेरि टेरि घर परति जशोदा अधर बदन बिलखानी।
सूर सुदशा कहां लागे बरनौ दुखित नंद की रानी।।

राग बिलावल

आतुर रथ अक्रूर चढ़े।
तब रसना हरि नाम भाषिकै लोचन नीर कढ़ै।।
महरि पुत्र कहि सोर लगायो तरु ज्यों घरनि लुढाई।
देखति नारि चित्रसी ठाढ़ी चितये कुंवर कन्हाई।।
इतनेहि में कह दियो सबनिसों मिलो हैं अवधि बिताई।
तनक हंसे हरि मन जुवतिन को निठुर ठगोरी लाई।।
बोलत नहीं रही सब ठाढ़ी श्याम ठगी व्रज नारि।
सूर तुरत मधुवन पगु धारे धरनी के हितकारी।।

राग नट

तब न विचारी री यह बात।
चलत न फेंट गही मोहन की अब कहरी पछतात।।
निरखि निरखि मुख रही मौन ह्वै चकित भई बिलखात।
जब रथ भयो दृष्ट अगोचर लोचन अति अकुलात।।
सबइ अजान भई वहि औसर अति ढ़िग गहि सुत गात।
सूरदास स्वामी के बिछुरे कौड़ी भरि न बिकात।।

———

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४०वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ३७वां अध्याय

राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण

'पञ्चम अध्याय'

अक्रूरजी द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति

कारिका—**सप्तत्रिंशे तु सन्तुष्टः स्तोत्रं चक्रे मनोहरम् ।**
चतुर्धा ज्ञातमाहात्म्य इति सिद्धान्त ईर्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस सैंतीसवें अध्याय में अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा भगवान् के माहात्म्य से परिचित हुए अक्रूरजी नीचे बताए जाने वाले चार प्रकार से भगवान् की सुन्दर स्तुति करने लगे, यह सिद्धान्त कहा जाता है ॥१॥

कारिका—**स्वरूपेण प्रमाणेन युक्त्या वस्तुस्वरूपतः ।**
अवतारफलैश्चैव सर्वस्यैव विनिर्णयः ॥२॥

कारिकार्थ—स्वरूप से, प्रमाण से, वस्तु के स्वरूपानुकूल युक्ति से तथा अवतारों और फल के द्वारा सब का ही निर्णय किया जाता है ॥२॥

लेख—'स्वरूपेण' पहले श्लोक से स्वरूप का, तीसरे से ग्यारहवें तक नौ श्लोकों से प्रमाण का, बारहवें से पन्द्रह तक चार श्लोकों से युक्ति का और सोलहवें श्लोक से अध्याय की समाप्ति तक अवतार तथा फल के निर्णय का विभाग है ।

कारिका—**राजसे स्तोत्रकर्तायं मध्यमो विनिरूप्यते ।**
उत्तमे नारदो वक्ता वसुदेवादयस्तथा ॥३॥

कारिकार्थ—राजस स्तुति में यह अक्रूरजी मध्यम स्तुति करने वाले का निरूपण है और उत्तम स्तुति में वक्ता (स्तुति करने वाले) नारदजी तथा वसुदेवजी आदि भी उत्तम स्तुति करने वाले हैं ॥३॥

कारिका—**यस्य यस्य यथा भावस्तेन तादृक् निरूप्यते ।**
सर्वं युक्तं भगवति न सर्वः सर्व एव च ॥४॥

कारिकार्थ—जिन जिन का जैसा जैसा भाव है, उन उन ने भगवान् का वैसा ही निरूपण किया है। भगवान् में सब ही उचित हैं; क्योंकि भगवान् सर्व रूप हैं, नहीं भी हैं और हैं भी (सर्व रूप)॥४॥

लेख—'यस्येति' भिन्न भिन्न भक्तों की, की हुई स्तुति में इस प्रकार विभेद होने के कारण यह कहा है। भगवान् की स्तुति कोई अनुचित प्रकार से करे तो उसे दोष लगे क्या? इस शङ्का के उत्तर में कहा है कि ऐसी शङ्का करना उचित नहीं है; क्योंकि भगवान् सबसे उत्तम हैं, इसलिए सर्व रूप नहीं भी हैं और सर्व रूप है भी। इस कारण से उनकी सब तरह की स्तुति निर्दोष ही है।

अक्रूर उवाच—

श्लोक—**नतोस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुं नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम् ।**
यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद् ब्रह्माविरासीद् यत एष लोकः ॥१॥

श्लोकार्थ—अक्रूर ने कहा—हे श्रीकृष्ण, मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप आदि पुरुष, सब कारणों के कारण, अविनाशी और नारायण हैं। आपकी नाभि से उत्पन्न कमल से जगत् की सृष्टि करने वाले ब्रह्माजी उत्पन्न हुए हैं ॥१॥

सुबोधिनी- तत्र प्रथमं स्वरूपं कीर्तयन् नमस्करोति नतोऽस्म्यहमिति, त्वां साक्षादग्रे आविर्भूतं, कनिष्ठशङ्का तु नास्त्येव, यतोखिललोकस्यापि जगतस्त्वं हेतुः, अखिलहेतुत्वे उपपत्ति प्रमाणं चाह नारायणमिति; आदौ ब्रह्माण्डे नारायणादेव सर्वं जातमिति सर्वलोकप्रसिद्धं श्रुतिश्च, 'पुरुषो ह वै नारायणोकामय'तेति, तथा पुरुषसूक्ते, तदर्थमेव पुरुषमित्याह, नैतावन्मात्रपरत्वमिति वक्तुमाद्यं पुरुषमिति, प्रकृतिभर्तारम्, तस्यापि मूलभूतमिति वक्तुमव्ययमक्षररूपं निरूपयति, अथवा, ब्रह्माण्डमध्यस्थितजगत एव कारणत्वेन भगवान् निरूप्यते, तादृशमेव रूप प्रकटितमिति, तत्रैवाद्यता व्यष्ट्यपेक्षया मूलरूपता अविनाशित्वं च, लोके कर्तृत्वादिधर्माः तथा भवन्तीति क्षीणत्वादिव्यावृत्त्यर्थं अक्षयबीजत्वार्थं वा अव्ययपदम्, जगत्कर्तृत्वमेव येन प्रकारेण तमाह यन्नाभिजातादिति, यस्य भगवतो नाभेर्जातात् अरविन्दकोशात् कमलमुकुलात् पश्चाद् विकसितात् तत्र स्थितो भ्रमर इव आविरासीत् ब्रह्मा, यतो ब्रह्मणः सकाशात् एष लोकः सर्वोपि प्रपञ्चः । ॥१॥

व्याख्यार्थ—उनमें से पहले भगवान् को (स्वरूप का वर्णन पूर्वक) -'नतोऽस्म्यहं'- इस श्लोक से नमस्कार करते हैं। मेरे सामने साक्षात् प्रकट हुए, आपको मैं नमस्कार करता हूँ। मेरे सामने प्रकट होने से आप मेरे से छोटे हैं, ऐसा प्रश्न हो ही नहीं सकता; क्योंकि आप तो सारे ही जगत् (लोक) के भी कारण हैं। इसमें युक्ति और प्रमाण यह है कि आप नारायण हैं और यह सभी लोकों में प्रसिद्ध है कि पहले नारायण से ही ब्रमाण्ड में सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। पुरुष (नारायण) ने कामना की (नारायणोपनिषद्) श्रुति और नारायण में ही सब की उत्पत्ति हुई है (ऋग्वेद १०-९०) पुरुष सूक्त में भी ऐसा ही कहा है कि सारा विश्व आपसे ही उत्पन्न हुआ है। इसीलिए -पुरुषं- आप पुरुष हैं, ऐसा मूल में कहा है। आप केवल पुरुष ही नहीं हैं; किन्तु मूल पुरुष हैं, प्रकृति के भर्ता हैं। आप अविकारी अर्थात् विकार रहित, मूल पुरुष के भी मूल अक्षर ब्रह्म रूप हैं; इसी अभिप्राय को मूल में अव्यय शब्द सूचित करता है।

अथवा अक्रूरजी यहाँ ब्रह्माण्ड के भीतर रहने वाले जगत् का कारण रूप से ही भगवान् का वर्णन करते हैं; क्योंकि भगवान् ने वैसा ही रूप प्रकट किया है। वह रूप ही सब पदार्थों (व्यष्टि) का मूल होने से मूल रूप, आदिम और अविनाशी है। लोक में तो कर्त्ता-किसी काम को करने वाला-क्रम से धीरे धीरे क्षीण होता जाता है; किन्तु आप तो अव्यय-अक्षय बीज रूप-हैं। जिस प्रकार से आप जगत् के कर्त्ता हैं, उसे वर्णन करते हैं कि भगवान् की नाभि से उत्पन्न हुए और फिर विकास को प्राप्त हुए कमल के अङ्कुर से -उसमें बैठे हुए भौंरे के समान- ब्रह्माजी का आविर्भाव हुआ और उन -ब्रह्माजी-से इस सारे ही लोक की उत्पत्ति हुई है ॥१॥

श्लोक—भूस्तोयमग्निः पवनः खमादिर्महानजनादिर्मन इन्द्रियाणि ।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः ॥२॥

श्लोकार्थ—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, महत्तत्त्व, प्रकृति और पुरुष, मन,

दसों इंद्रियां, इन्द्रियों के रूप रस आदि सारे विषय तथा इनके अधिष्ठाता सूर्यादि देवता, जिनको जगत् का कारण कहा जाता है, ये सब आपके अङ्ग में से उत्पन्न हुए हैं ॥२॥

सुबोधिनी— एवं जगत्कारणत्वमुपपाद्य कार्यकारणयोर्वैलक्षण्यसिद्धयर्थं भगवतो नित्यमुक्तत्वं जीवानां तत्कृपया तथात्वमिति वक्तुं कार्यभूतप्रपञ्चस्य स्वरूपमाह **भूस्तोयमिति**, एतस्य वा मूलभूतत्वख्यापनाय तत्त्वान्येतस्मादेवोत्पन्नानीत्याह भूस्तोयमिति, मूलभूतानि चेत् एवं परमिति ज्ञातव्यम्, एवं क्रमस्तत्र न विवक्षितः प्रथमपक्षे तु विवक्षित इति गणनार्थं वा स्थूलात् सूक्ष्मे बुद्धिनिवेशनार्थं स्वान्तानि पञ्चभूतानि, **आदिरहङ्कारः**, **महान्** महत्तत्वं, **अजा** प्रकृतिः, **आदिः** पुरुषः, ततो मनः, मनसा पुरुषः सर्वं करोतीत्याधिदैविकमनो विवक्षया व्युत्क्रमेणापि निरूपितम्, **इन्द्रियाणि**, चकाराद् बुद्धिः प्राणश्च, ततः **सर्वेन्द्रियार्था** गन्धादयः वागादयश्च, चकारात् तदवान्तरभेदाः स्त्र्यादयश्च, किं बहुना सर्व एव विषयाः घटादयः स्रगादयश्च, चकारात्तज्जनितानि सुखादीनि, एते हि सर्वे यद्यपि जगतो हेतवः तथापि ते **अङ्गाज्जाताः**, अक्षरात्, तस्यैवाङ्गत्वश्रुतेः'ब्रह्म पुच्छ'मित्यादौ, अतः कारणात् त्वमेव जगद्धेतुरिति स्वरूपेण माहात्म्यमुक्तम् ॥२॥

व्याख्यार्थ— इस प्रकार से भगवान् जगत् के कारण हैं, यह सिद्ध किया। अब कार्य कारण के भेद को सिद्ध करने और भगवान् नित्य मुक्त हैं और जीव उनकी कृपा से मुक्त होते हैं, यह बतलाने के लिए 'भूस्तोयमग्निः' इस श्लोक से कार्य रूप जगत् के स्वरूप का वर्णन करते हैं। अथवा ये श्रीकृष्ण ही सबके वास्तविक मूल हैं, यह बतलाने के लिए -भगवान् श्रीकृष्ण से ही सारे तत्त्व उत्पन्न हुए हैं, ऐसा इस श्लोक से कहते हैं। जब जगत् के कारण भूत सारे ही तत्त्व भगवान् से उत्पन्न हुए हैं, तब तो इस रूप को सबसे उत्तम मानना ही चाहिए। इस प्रकार दूसरे -पक्ष- अर्थ में तो पहले पीछे का क्रम वाञ्छित नहीं है। प्रथम -पक्ष- अर्थ में क्रम बतलाने की इच्छा है, इसलिए अथवा तत्त्वों की गणना हो सकेगी, इसलिए और स्थूल तत्त्वों से सूक्ष्म तत्त्वों में बुद्धि स्थिर हो सकेगी, इसलिए भी आकाश पर्यन्त (तक) पाँच महा भूतों को पहले कहा गया है।

(आदि) अहङ्कार, (महान्) महत्तत्त्व, (अजा) प्रकृति, (आदि) पुरुष और मन, यह क्रम मूल श्लोक से बतलाया है। पुरुष मन के द्वारा ही सब कुछ करता है। यहाँ आधिदैविक मन से तात्पर्य है और इसी अभिप्राय से मूल श्लोक में पहले मन को न लिखकर पुरुष को पहले कहा है अर्थात् मन को पहले लिखकर पीछे पुरुष को नहीं बतलाया; व्युत्क्रम से कहा है।

ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां,बुद्धि, प्राण और उन इन्द्रियों के भोगने योग्य रूप रसादि, वाणी आदि तथा स्त्री, माला, घट आदि सारे उपयोगी पदार्थ और उनसे उत्पन्न होने वाले ये सारे ही; जो जगत् के कारण हैं; आपके अङ्ग अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न हुई हैं। 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (ब्रह्म का पिछला भाग प्रतिष्ठा है, तै. उप. २-४) श्रुति में अक्षर ब्रह्म को अङ्ग कहा है। इस कारण से आप ही जगत् के कारण हैं। इस प्रकार भगवान् के स्वरूप का वर्णन करके उनका माहात्म्य कहा है ॥२॥

लेख—'भूस्तोयं' इसकी व्याख्या में 'मूल भूतानि चेत्' इत्यादि पदों का अर्थ यह है कि यदि ये

सारे जगत के मूल कारण भूत भगवान् से ही उत्पन्न हुए हैं तो यह रूप सबसे उत्तम ही है ॥२॥

श्लोक:—नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते ह्यजादयोनात्मतया गृहीताः ।
अजोनुबद्धः स गुणैरजाया गुणात् परं वेद न ते स्वरूपम् ॥३॥

श्लोकार्थः—ये प्रकृति आदि सब जड़ तत्व आत्मा रूप आपके स्वरूप को नहीं जान सकते । जीव भी—चेतन होने पर भी माया के गुणों से आवृत होने के कारण आपके निर्गुण स्वरूप को नहीं जान पाता ॥३॥

सुबोधिनी—प्रमाणेन वक्तव्यमित्याकाङ्क्षायां वेदातिरिक्तं प्रमाणं नास्तीति वक्तुं ब्रह्मादीनामपि इदमित्थतया ज्ञानाभावमाह **नैते स्वरूपमिति**, अथवा, **एते** तव पुत्राः पौत्रा वा कथं न मुक्ताः, यद्येते एवामुक्ताः कथमन्यो मुक्तो भविष्यतीत्याशङ्क्य तेषाममुक्तौ अभिमानादज्ञानं कारणमित्यभिप्रायेणाह **नैते स्वरूपं विदुरिति**, अवश्यं ज्ञातव्यमिति बोधनार्थं **आत्मन** इति, यद्यपि त्वमात्मा तथापि आत्मत्वेन त्वां न गृहीतवन्त इति **अनात्मतया गृहीताः** कर्तरि क्तः, ते वा त्वया कृपया आत्मत्वेन न गृहीता इति, **अजादयः** अक्षरादयः पुरुषादयो वा ते रूपं न विदुः, ब्रह्मादयो हि प्रमाणपरा ज्ञास्यन्तीति विज्ञाय तेषामपि ज्ञानाभावमाह **अजोनुबद्ध** इति, **अजो** ब्रह्मा, **अजायाः** प्रकृतेः सृष्टिरूपायाः, **गुणैः** कर्तृत्वादिधर्मैः सत्वादिभिर्वा, **अनुबद्धः** स्वासक्त्या बद्धोपि भगवदिच्छया वा पुनस्तैरनुबद्धः, अतो **गुणात् परं** पृथग्भूतं गुणनियामकं वा ते रूपं **न वेद**, न हि गृहे बद्धः गृहादन्यत्र स्थितं परिपश्यति, अतः परिच्छिन्नमेव मन्यते तस्मान्न मोक्ष इति, यदि तेपि न जानन्ति कथमन्यो ज्ञास्यतीति, अतो यः कश्चनैवं भविष्यति स न ज्ञास्यति, यः पुनस्त्वत्कृपया त्वां ज्ञास्यति स एव कृतार्थो भविष्यतीति नालौकिकं किञ्चित् ॥३॥

व्याख्यार्थः—भगवान् के स्वरूप का वर्णन प्रमाण पूर्वक करना चाहिए और वेद ही प्रमाण है; वेद से भिन्न और कोई प्रमाण नहीं है; क्योंकि ब्रह्मादि को भी जिन्हें प्रमाण रूप से माना जाए तो आपके स्वरूप का इदमित्थतया (यह ऐसा है) यथार्थ ज्ञान नहीं है, यह 'नैते स्वरूपं' इस श्लोक से कहते हैं ।

अथवा— ये आप—(भगवान्) के पुत्र पौत्र आदि भी मुक्त क्यों नहीं हुए और जब इनकी भी मुक्ति नहीं हुई तो दूसरों की मुक्ति कैसे होगी ? इस शङ्का के उत्तर में इस 'नैते स्वरूपं' श्लोक से उनकी मुक्ति न होने का कारण उनका [illegible] कहते हैं । इस अभिप्राय से यह श्लोक [illegible]

[illegible] इसीलिए मूल में आत्मनः (आत्मा [illegible] [illegible] अनात्मतया गृहीताः) [illegible] कर्ता अर्थ में [illegible] इनको [illegible] रूप से स्वीकार नहीं किया है, यह शब्दार्थ है । अक्षर ब्रह्म आदि अथवा पुरुष आदि कोई आपके स्वरूप को नहीं जानते है ।

ब्रह्मा आदि जो प्रमाण परायण–प्रमाण में ओतप्रोत हैं आपके स्वरूप को जानते होंगे ? इसलिये कहते हैं कि उन्हें भी आपके स्वरूप का ज्ञान नहीं है; क्योंकि ब्रह्मा भी अपनी आसक्ति के कारण आपकी इच्छा से प्रकृति के कर्तापन अथवा सत्व, रज आदि गुणों से बँध रहे हैं। इसलिए वे गुणों से पर–अलग–रहने तथा गुणों को अपने वश में रखने वाले आपके स्वरूप को नहीं जानते हैं, क्योंकि घर मे बँधा हुआ व्यक्ति घर के बाहर के पदार्थों को नहीं देख सकता। इस से वे आपके स्वरूप को–जो अपरिच्छिन्न (असीम) है, परिच्छिन्न (सीमा वाला) मान रहा है। इनकी मुक्ति न होने का यही कारण है। जब ब्रह्मा आदि भी आपके स्वरूप को नहीं जान सकते तो और तो कैसे जान सकते हैं,यह अभिप्राय है।

इस लिए प्रकृति गुणों से बँधा हुआ तो कोई भी आपके स्वरूप को जान ही नहीं सकता; किन्तु आपकी कृपा से ही जो कोई भी आपके स्वरूप को जानलेगा, वही कृतार्थ होगा। आपकी कृपा के बल से ही जीव कृतार्थ होता है, यह एक सामान्य सिद्धान्त है ॥३॥

श्लोकः—त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा महापुरुषमीश्वरम् ।

साध्यात्मं साधिभूतं च साधिदैवं च साधवः ॥४॥

श्लोकार्थ—योगी लोग तथा साधुजन साक्षात् ईश्वर और महापुरुष आपको अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव का साक्षी, अन्तर्यामी तथा नियन्ता जान कर भजते हैं ॥४॥

सुबोधिनी—तर्हि कथं ज्ञानोपाय इति चेत् तत्रोच्यते, अज्ञात्वापि यथारुचि शास्त्रानुसारेण भगवान् सेव्यः, ततो ज्ञापयिष्यतीत्यभिप्रेत्य सर्व एव त्वां स्वाधिकारानुसारेण तद्रूपं सेवन्त इत्याह **त्वां योगिन** इति षड्भिः सप्तभिर्वा, विशेषसामान्यप्रकारेण, तत्रादौ योगिनः सर्वोपेक्षिणः मोक्षपरा इति तान् गणयति, यद्यपि योगे चित्तवृत्तिनिरोधे आत्मस्फूर्तिः फलमिति [illegible] अतो देहादिभिर्न व्यवहिताः, तेषां मते पुरुष ईश्वरः साकारः सर्वजीवविलक्षणः, अस्तीति नास्त्यत्र साङ्ख्ययोगयोरीश्वरस्य साकारत्वं निराकारत्वं च स्थापितं, तदाह **महापुरुषमीश्वर**मिति, अन्तर्बहिर्नियामकं च, साधवः पुनः सदाचाराः स्मार्तधर्मपराः भगवन्तमाश्रयरूपं मन्यमानाः आध्यात्मिकादिभेदत्रयं तदधीनमेवेति त्रितयसहित एव भगवानित्याहुः [illegible]

[illegible] कहते हैं कि भगवान् के स्वरूप को [illegible] अनुसार शास्त्र में बतलाई हुई रीति से सेवा तो करनी चाहिए । फिर भगवान् अपने स्वरूप का ज्ञान कृपा करके करा ही देंगे ।

इसी अभिप्राय से सारे ही अपने २ अधिकार के अनुसार भिन्न भिन्न रूपों की सेवा करते हैं। यह इस 'त्वां योगिनः' श्लोक से आरम्भ करके आगे के छः श्लोकों से विशेष प्रकार और आगे एक श्लोक से सामान्य प्रकार से, इस प्रकार विशेष तथा सामान्य रीति से सेवा करने का सात श्लोकों से वर्णन करते हैं। उन सब सेवकों में सारे ही जगत् से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखने वाले, केवल मोक्ष की कामना वाले योगी लोग हैं, इस लिए पहले उन्हें ही गिनते हैं। यद्यपि चित्त की वृत्तियों का निरोध (रोकना) रूप योग में आत्मा की स्फूर्ति होना फल है और उसका भगवान् के रूप का ध्यान में ही उपयोग किया जाता है, फिर भी (योगी) भगवान् के उपासक नहीं हैं। अथवा योग शास्त्र में ईश्वर के ध्यान की आवश्यकता नहीं है, तथा आत्मा की स्फूर्ति से विपरीत अंश को (योग में), छोड़ देना भी कहा है, तो भी योग में आत्मा की स्फूर्ति के अङ्ग (सहायक) रूप से ईश्वर का ध्यान करना कहा है। इस लिए योगी भी–प्रकारान्तर से–आपकी ही पूजा करते है। वे आपको अद्धा-साक्षात्-पूजते हैं; क्योंकि वे देह के भीतर उपासना करते हैं। इसलिए उनकी देह आदि भी आपसे व्यवहित–दूर–नहीं है।

उनके सिद्धान्त में, ईश्वर साकार और सारे जीवों से विलक्षण पुरुष विशेष है और ऐसा नहीं है। इसलिए यहाँ सांख्य और योग में ईश्वर साकार तथा निराकार है, ऐसा निर्णय किया है। यह महापुरुष और ईश्वर शब्द का अर्थ है, जिनका अभिप्राय भीतर से तथा बाहर से वश में रखने वाले हैं।

साधु–सदाचारी–पुरुष स्मार्त–स्मृतियों–में कहे हुए धर्मों का आचरण करने में तत्पर रहते हैं। वे भगवान् को ही अपना आश्रय मानते हैं और आध्यात्मिक आदि तीनों भेद भगवान् के ही आधीन हैं; इसलिए भगवान् इन तीनों–साध्यात्मं (अर्थात् आत्मा में) 'साधिभूतं' भूतों में और साधिदैवं (देवों में) रूपों में रहने वाले हैं। यदि भगवान् इन तीनों रूपों के साथ रहने वाले न हों तो कर्म से बन्धन ही होता रहे। इस प्रकार इन तीनों रूपों के साथ कारण, कर्ता और प्रेरक रूप से भगवान् के रहने के कारण में तीनों ही भगवान् के आधीन हैं। भगवान् की आज्ञानुसार ही बर्ताव करते है, इसलिए जीव का कोई अपराध नहीं होता ॥४॥

इस प्रकार अत्यन्त आवश्यक अन्तर्बाह्य धर्मों में ही निरन्तर लगे रहने वाले स्मार्तों का निरूपण किया। अब इस 'त्रय्या च विद्यया' नीचे के श्लोक से श्रौतों (वैदिकों) का निरूपण कहते हैं—

श्लोक- त्रय्या च [illegible]

यजन्ते [illegible] ॥५॥

श्लोकार्थ—कोई [illegible] वेदों की विद्या के द्वारा आदि अनेक रूपों और नामों से उनके लम्बे २ यज्ञ करके आपका ही भजन–पूजन करते हैं ॥५॥

सुबोधिनी—एवमपेक्षितमान्तरबाह्यधर्मपरान् स्मार्तान् निरूप्य श्रौतान् निरूपयति त्रय्येति, श्रुतौ पक्षत्रयं काण्डत्रयभेदात्, तत्र कर्ममार्गे त्रयी प्रधानं, उपनिषदो ज्ञानमार्गे, उपासनायां तु प्रणवादिमन्त्राः, तत्क्रमेण त्रयमाह, सर्वेषामेव भगवज्ज्ञानोपयोग इत्यवोचाम्, मन्त्रभेदेन वेदानां त्रैविध्यं ऋचः सामानि यजूंषीति, तदुपयोगि ब्राह्मणं च, बाह्यक्रिया वा यजुषा क्रियते आन्तरी साक्षाद्देवतायै द्रव्यसमर्पणादिरूपा ऋचा क्रियते, ततो देवतायाः फलदानार्थं हविर्ग्रहणार्थं च साम्ना स्तूयते, एवं प्रकारेण वैतानिकाः यज्ञवितानपराः यज्ञरूपं त्वां विततैः विस्तीर्णैः सहस्रसंवत्सरान्तैः नानाविधैर्यज्ञैः यजन्त इति सर्वत्र सम्बन्धः, चकारादङ्गोपाङ्गादिभिः सह, ज्ञानेनापि सहेति, केचिद् द्विजा इति जन्मकर्मावदाताः श्रोत्रियाः न तु सर्वेषां तत्राधिकार इति, ननु तत्रेन्द्रादय एवेज्यन्ते न तु भगवानित्यभिप्रेत्याह नानारूपेति, नानाविधानि रूपाणि येषाममराणामिन्द्रादीनां तेषामाख्यया, आधिदैविकत्वात् भगवत एव तन्नामेति वा, तेषामाख्यया भगवानेवेज्यते, वस्तुतस्त्वङ्गप्रायास्ते, यथा राज्ञः मुकुटोष्णीषादिनिर्माता सेवक एव भवति यद्यपि शिरस एव परिचर्यां करोति, एवं कर्णादिष्वपि, तथापि राजसेवक एवोच्यते न त्वङ्गसेवक इति, तथा प्रकृतेपि, इन्द्रादयो बाहव इत्यादिभिरङ्गत्वश्रुतेः अतो भगवानेवेज्यते ॥५॥

व्याख्यार्थ—वेद में तीन काण्ड होने के कारण तीन पक्ष हैं। उनमें कर्म मार्ग में तीनों ही वेद प्रधान हैं। ज्ञान मार्ग में उपनिषदों की और उपासना मार्ग में तो प्रणव आदि मंत्रों की प्रधानता है। इस क्रम से तीन प्रकार के पूजा करने वालों-पूजकों–का वर्णन करते हैं, क्योंकि सब ही का भगवान् का ज्ञान प्राप्त करने में उपयोग है, ऐसा ऊपर के श्लोक की व्याख्या में कहा जा चुका है।

मंत्रों के भेद से वेदों के ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद ये मंत्र, ब्राह्मण, उपनिषद, तीन प्रकार के हैं। उन मंत्रों के उपयोगी–वेद के मंत्रों का भिन्न २ यज्ञों में उपयोग करने की विधि को बताने वाले–वेद भाग को ब्राह्मण कहते हैं। अथवा बाहरी कार्य यजुर्वेद के और देवता को साक्षात् द्रव्य-(पदार्थ)–समर्पण करना आदि अन्दर का कार्य ऋग्वेद के मन्त्रों से किया जाता है। फिर देवता से फल देने तथा आहुति को ग्रहण करने की प्रार्थना करने के लिए सामवेद के मंत्रों से देवता की स्तुति की जाती है। इस प्रकार से लम्बे समय तक चलते रहने वाले यज्ञों में आसक्त हुए याज्ञिक लोग विभिन्न–एक हजार वर्षों में पूरे होने वाले–लम्बे यज्ञों से यह रूप -आप (भगवान्)- की पूजा करते हैं। यह भगवान् की पूजा करने का सम्बन्ध सब जगह ही समझ लेना चाहिए। अर्थात् अङ्गों, उपाङ्गों तथा ज्ञान के भी सहित तीनों वेदों की विधा और यज्ञों से आपकी ही पूजा करते हैं। मूल श्लोक में 'केचिद् द्विजाः' कितने ही ब्राह्मण, कहने का अभिप्राय यह है कि जन्म और कर्म से शुद्ध श्रोत्रिय ब्राह्मण ही ऐसा करते हैं, सभी ब्राह्मणों को ऐसा करने का अधिकार नहीं है। उन यज्ञों में तो इन्द्र, अग्नि आदि देवता ही पूजे जाते हैं। उनमें भगवान् की पूजा तो नहीं की जाती। इसके [illegible] कहते है कि विभिन्न रूप वाले देवों के नाम से इत्यादि शब्दों का प्रयोग है। अनेक प्रकार [illegible] वाले जो इन्द्रादि देव है, उन देवों के नाम से अथवा भगवान् ही आधिदैविक रूप से उन देवों [illegible] है। इस कारण से भी ये नाम भगवान् के ही नाम हैं, इसलिये इन्द्रादि के नाम से वे भगवान् का पूजन व यजन करते है।

वास्तव में तो ये सभी देवता भगवान् के अङ्ग रूप हैं। जैसे राजा के मुकुट, पगड़ी, कुण्डल

बनाने वाले सेवक यद्यपि राजा के उत्तमाङ्ग की, कान आदि की भिन्न भिन्न सेवाएं करते हैं, तो भी वे सिर, कान, आदि की सेवा करने वाले न कहलाकर राजा के सेवक ही कहे जाते हैं । इसी प्रकार से यज्ञ यागादि के प्रसङ्ग में भी 'इन्द्रादयो बाहव' इन्द्रादि भगवान् की भुजाएं हैं, इत्यादि वाक्यों से देव भगवान् के अङ्ग हैं, ऐसा ज्ञान होता है । इसलिए उनकी पूजा से भगवान् की ही पूजा होती है ॥५॥

श्लोक—एके त्वाखिलकर्माणि संन्यस्योपशमं गताः ।
ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति ज्ञानविग्रहम् ॥६॥

श्लोकार्थ—इसी प्रकार कई एक ज्ञानी लोग कर्मों के त्याग से शान्ति को प्राप्त करके ज्ञान रूप विग्रह वाले आप की ही आराधना करते हैं ॥६॥

सुबोधिनी—एकेति, अन्ये पुनः सर्वकर्माणि त्यक्त्वा **उपशमं गताः** चित्तस्य परमां शान्ति प्राप्य **ज्ञानिनो** भूत्वा ब्रह्मात्मत्वस्फूर्तियुक्ताः आत्मयाजिनो भूत्वा ज्ञानरूपमेव यज्ञं कुर्वन्तः ज्ञानयज्ञो नाम आत्मानमेव चिद्रूपं यज्ञरूपेण परिकल्प्य भगवते समर्पयन्ति, भगवत्प्रीतिसाधकत्वाद् वा ज्ञानमेव यज्ञशब्देनोच्यते, अथवा, जरामर्यादादिप्रकाराः ज्ञानयज्ञाः, तत्र इज्योऽपि ज्ञानरूप एवेत्याह ज्ञानविग्रहमिति ॥६॥

व्याख्यार्थ—कितने लोग कर्मों का त्याग करके चित्त की शान्ति को प्राप्त करते हैं । वे चित्त की अत्यन्त शान्ति को पाकर ज्ञानी आत्मा ब्रह्म ही है, ऐसी स्फूर्ति रख कर आत्मा का पूजन करने वाले–आत्मयाजी–बनकर ज्ञान रूप ही यज्ञ करते हैं । चिद् (ज्ञान) रूप आत्मा को ही–यज्ञ रूप से कल्पना करके–भगवान् के समर्पण करना, अथवा ज्ञान भगवान् की प्रसन्नता को प्राप्त कराने का साधन है, इसीलिए ज्ञान को ही यज्ञ शब्द से कहा गया है, अथवा जिनके करने से बुढ़ापा और मरण आदि न हो, ऐसे यज्ञों को ज्ञान यज्ञ कहते हैं । इन तीनों प्रकार के भी ज्ञान-यज्ञों में जिनका पूजन किया जाता है, वह भी ज्ञान रूप ही है, यह ज्ञान विग्रहम् (ज्ञान रूप विग्रह वाले) इस विशेषण से कहा है ॥६॥

श्लोक—अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते ।
यजन्ति तन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् ॥७॥

श्लोकार्थ—पवित्र अन्तःकरण वाले कई लोग वेदोक्त मार्ग के अनुसार तन्मय होकर मत्स्य, कच्छप आदि अनेक रूपों से एक ही स्वरूप वाले आप का ही पूजन करते हैं ॥७॥

सुबोधिनी—औडुलोमिवत् उपासकानाह अन्ये चेति, ते हि स्वात्मानं भगवन्तं च भिन्नमभिन्नं च मन्यन्ते 'नादेवो देवमर्चयेत्' इत्यादिवाक्यैः. अत आह अन्ये भिन्नाश्चकारादभिन्ना अपि,

संस्कृतात्मानो दीक्षादिभिः आश्रितसङ्कल्पाः, गुरुभिः अभिहितेन मार्गेण, ते प्रसिद्धाः तत्तत्प्रकारेणैव तत्तद्देवतामन्त्रोपासकाः, ततस्तन्मया भूत्वा उपास्यदेवतया आत्मस्वरूपा भूत्वा त्वामेव, एवं निश्चयेन नात्र तिरोहितमिव, बहुमूर्त्या मत्स्यकूर्मादिरूपैः एकमूर्तिकं एकस्वरूपमेव यजन्ति, सर्वे हि विष्णूपासका इति, अत्र शैवादयोऽपि भगवच्छ्रद्धा एवेति ज्ञातव्याः, उपासनायां हि मन्त्र एव प्रधानं, स मन्त्ररूपः यज्ञवदेक एव इन्द्रादिवत् तत्तदभिमानिन्यो देवता इति, ततः पञ्चविधः अनेकविधैर्वा मन्त्रैः उपासनामार्गसिद्धो भगवानेव एकोपास्यते क्षुद्रोपासकांश्चाग्रे वक्ष्यते भिन्नप्रकारसिद्धांश्च ।७।

व्याख्यार्थ—'अन्ये च' इस श्लोक से औडुलोमि ऋषि के मतानुसार उपासना करने वालों का वर्णन करते हैं। 'नारुद्रोरुद्रमर्चयेद्' जो रुद्र न हो, उसे रुद्र की पूजा नहीं करनी चाहिए, इत्यादि वाक्यानुसार वे औडुलोमि के मतावलम्बी उपासक स्वयं को और भगवान् को भिन्न भी तथा अभिन्न भी मानते है। दीक्षा संस्कार आदि के द्वारा शुद्ध की हुई देह वाले वे भी उनके गुरुओं के बतलाए हुए मार्गानुसार भिन्न-२ रीति से अलग-अलग देवों के मन्त्रों के उपासक नाम से प्रसिद्ध होकर, तन्मय बन कर तथा अपने उन उपास्य देवों का अपनी देह में आवेश करा कर आपका ही पूजन करते है, यह निश्चित तथा स्पष्ट ही है।

वे मत्स्य, कच्छप आदि अनेक रूपों से एक स्वरूप वाले आपका पूजन करते हैं; क्योंकि सारे ही विष्णु की उपासना करते हैं। इन उपासकों में शैव आदिकों को भी भगवान् में ही श्रद्धा वाले समझना चाहिए; क्योंकि उपासना में मन्त्र ही प्रधान है और यज्ञ में जैसे विभिन्न आकारवाले इन्द्रादि अभिमानी देवों के भिन्न-भिन्न होते हुए भी मन्त्र रूप भगवान् एक ही हैं, वैसे ही अनेक रूपों से भी एक रूप वाले आपका ही पूजन किया जाता है, (इसलिए पाँच प्रकार के अथवा अनेक प्रकार के मन्त्रों के द्वारा उपासना, मार्गानुसार प्रसिद्ध एक ही भगवान् की उपासना की जाती है। हीन तथा भिन्न प्रकार से प्रतिष्ठापित देवों के उपासकों का निरूपण आगे किया जाएगा ॥७॥

श्लोक—त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम् ।
बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते ॥८॥

श्लोकार्थ—हे भगवान्! इसी तरह शैव लोग भी शिवोक्त विधि के अनुसार शैव, पाशुपत आदि सम्प्रदाय भेद से शिवरूप आप की ही भली-भाँति उपासना करते हैं ॥८॥

सुबोधिनी—किञ्च, शिवरूपोपि त्वमेवेति शैवा अपि त्वामेवोपासत इत्याह त्वामेवेति, अन्ये उपासकेभ्यो भिन्नाः शिवशास्त्रानुसारिणः तामसे कल्पे शिवरूपेण विष्णुस्तिष्ठतीति शैवास्तमेव पक्षमाश्रित्य स्वभावरुच्या तथोपासते, शिवोक्तो मार्गः शैवपञ्चरात्रे पाशुपतादौ च प्रसिद्धः, तत्र शिवरूपी विष्णुरेव, केचिदावेशिनमाहुः, तत्र बह्वश्चाचार्याः महापाशुपतपाशुपतादिभेदभिन्नाः, भगवन्निति सम्बोधनात् यदा वैराग्यगुणप्राधान्येन कार्यं करोषि तदा शिवरूपो भवसीति ज्ञापितं, सम्यगेवोपासत इति ॥८॥
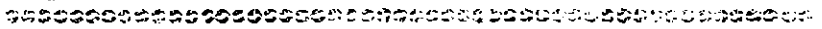
व्याख्यार्थ – शिवरूप भी आप ही हैं। इसलिए शैव भी आपकी ही उपासना करते हैं, यह इस 'त्वामेवान्ये' श्लोक से कहते हैं। ऊपर बताए हुए उपासकों से अन्य उपासक शिव शास्त्र के अनुसार आपकी उपासना करते हैं; क्योंकि आपस कल्प में विष्णु शिव रूप से रहते हैं। इसलिए शैव उसी ऊपर के श्लोक में प्रदर्शित सर्वरूप के पक्ष का आश्रय करके अपनी स्वाभाविक रुचि के अनुसार उस तरह से शिवरूप की उपासना करते हैं।

शिवजी के द्वारा कहा हुआ शैव मार्ग शैव पञ्चरात्र और पाशुपत आदि में प्रसिद्ध है। उस मार्ग में शिवरूपी विष्णु ही हैं। कई एक विष्णु का शिव में आवेश हुआ कहते हैं। उस शैव मार्ग में महा-पाशुपत, पाशुपत आदि भेदों से भिन्न भिन्न बहुत आचार्य हैं। हे भगवन् ! इस सम्बोधन से यह बतलाया है कि जब आप अपने (श्रीकृष्ण) वैराग्य गुण को मुख्य रख कर कार्य करते हैं; तब आप शिवरूप होते हो। इसलिए वे शैव भी भलीभाँति आपकी ही उपासना करते हैं।

श्लोकः— **सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् ।**
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥ ९ ॥

श्लोकार्थः—हे नाथ ! जो लोग अन्य अनेक देवताओं के भक्त हैं और सब देवताओं को अलग अलग समझते हैं; वे भी वास्तव में आप ही की पूजा करते हैं क्योंकि सर्व देवमय ईश्वर आप ही हैं। तात्पर्य यह है कि उनकी उपासना में केवल बुद्धि का ही भेद है, वस्तु का भेद नहीं है ॥९॥

सुबोधिनी—एवं षड्विधान् निरूप्य सामान्येन क्षुद्रोपासकानाह **सर्व एवेति**, किं बहुना क्षेत्रपालाद्युपासका अपि त्वामेवोपासते, यतस्त्वं **सर्वदेवमयः** तेषामपीश्वरः, 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च'ति वाक्यात्, सर्वदेवमयश्चासावीश्वरश्चेति, ननु बुद्धिस्तेषां न भगवत्परेति कथं सर्वेषां भगवदुपासकत्वमित्याशङ्क्याह **येऽप्यन्यदेवताभक्ता** इति,वयमात्मव्यतिरिक्तस्य विष्णुव्यतिरिक्तस्य च देवतान्तरस्योपासका इति यद्यप्येषामन्यबुद्धिः तथापि उपास्यो महानिति मत्वा हि तं उपासते न त्वस्मदुपास्यो न किञ्चित्कर इति, अन्यथा नोपासीरन्, न हि कश्चिद्दीनप्रयोजकं ज्ञात्वा काञ्चनोपास्ते, परं भ्रमादुपासना भवति, भ्रमे तु भगवद्धर्मा एव तत्रारोपिता इति भगवानेव सेव्यते, आरोपस्त तुल्यत्वात्,अबुद्धिपूर्वकोयमिति विशेषः, योपि भ्रमाद् रजतं जानाति सोपि रजतज्ञानवानेव, अन्यथा अनुव्यवसायोपि भ्रान्तः स्यात्, यदुक्तं भगवता 'न तु मामभिजानन्ती'ति तद्बुद्धिपरत्वेन, 'अविधिपूर्वक' मिति वचनात्, प्रतिमादावपि भगवानारोप्यते तद्वदिह च, तथा तत्तदुपासका अपि स्वसेव्ये भगवत्त्वं तद्धर्मांश्चारोपयन्ति परं विध्यभावात् न तस्य ज्ञानजनकत्वं किन्तूद्देश्य फलमेव, अतो भगवदज्ञानात् तेषां संसार एव स्थितिरिति वदता भगवता विधिमार्गो मुख्यतया स्थापितः न त्वविहितो मार्गो निन्दितः, अन्यथा 'मामेव यजन्ति', 'अहं हि सर्वयज्ञानां', 'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तानि' ति न वदेत्, तस्मात् विधिस्तुतिपरमेवैतद्वाक्यं, अतः सुष्ठूक्तं **येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः** तथापि **त्वामेवोपासते** इति, नन्वेवं श्रमं भगवानुत्पाद्य किमित्येवं फलं प्रयच्छति कथं सर्वानेव नैकविधान् करोतीत्याशङ्क्याह **प्रभो** इति, स हि सर्वप्रकारसमर्थः, तथापि च करोत्येव स नाना प्रकारान् ॥९॥

व्याख्यार्थ--इस प्रकार छः प्रकार के विशेष उपासकों का वर्णन करके 'सर्व एव' इस श्लोक से सामान्य रीति से साधारण देवों की उपासना करने वालों को बतलाते है। इस विषय में अधिक क्या कहें ? क्षेत्रपाल आदि के उपासक भी आप ही की उपासना करते हैं; क्योंकि 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता', 'सर्वदेवमयश्चासावीश्वरश्च' (सारे यज्ञों का भोक्ता मैं ही हूं) इस वाक्य से आप सर्व देव-मय और देवों के भी ईश्वर हो। जो सर्व देवमय और ईश्वर होता है, उसे ही सर्व देवमयेश्वर कहा जाता है।

उन विभिन्न देवों के उपासकों की ऐसी बुद्धि तो भी हम भगवान् की उपासना कर रहे हैं, नहीं होती, तब वे सारे ही भगवान के ही उपासक कैसे कहे जा सकते है ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'ये प्यान्य देवता भक्ता' यद्यपि वे यह समझते है कि हम आत्मा तथा विष्णु से भिन्न किसी अन्य देवता की ही उपासना करते हैं; तो भी वे अपने उपास्य देव को सबसे बड़ा मान कर ही उसकी उपासना करते हैं। वे ऐसा मान कर कि हमारा उपास्य देव निर्बल है, कुछ नहीं करता है तो उसकी उपासना नहीं करते। यदि वे उसे ऐसा समझलें तो उसकी उपासना करना ही छोड़ दें; क्योंकि दीन, निर्बल जान कर उसकी आराधना को भी नहीं करता। इसलिए निर्बल को बड़ा मान लेना रूप भ्रम से ही वे उन उन की उपासना करते रहते हैं और भ्रम में भगवान के धर्मों का ही उन क्षुद्र देवों में आरोप किया जाता है। इसलिए भगवान् की ही सेवा होती है; क्योंकि भगवान् की उपासना में और साधारण देव को भगवान् मानकर की जाने वाली (उसकी) उपासना में भगवान् के गुणों का आरोप तो समान ही होता है; किन्तु भेद इतना सा है कि क्षुद्र देव को भगवान् मान कर उसकी उपासना में किया जाने वाला आरोप अज्ञान से किया हुआ है।

जैसे जो कोई सीप को भ्रम से चांदी समझ लेता है, उसे चांदी का ज्ञान तो है ही। यदि वह कोई चाँदी को ही नहीं जानता हो तो (यह वह चाँदी है) उसका यह निर्णय भी भ्रमात्मक ही हो। चाँदी का ज्ञान हीन, चांदी का निर्णय नहीं कर सकता। 'वे मुझे तत्व से नहीं जानते'(गीता ९।२४) भगवान् ने जो यह कहा है, वह भी वे अविधिपूर्वक मेरा यजन करते हैं' (गीता ९।२३) इस वाक्य से विधि को लक्ष्य में रख कर ही कहा है, और जैसे प्रतिमा आदि में भगवान् का तथा उनके गुणों का आरोप किया जाता है, वैसे ही वे भिन्न भिन्न देवों के उपासक भी अपने अपने उपास्य देवों में भगवान् का और उनके गुणों का आरोप तो करते हैं; परन्तु (वेदोक्त) विधिपूर्वक नहीं करते। इसी लिए उन्हें उससे ज्ञान नहीं होता, केवल उनके अभीष्ट फल की प्राप्ति ही हो जाती है और भगवान् के स्वरूप का ज्ञान होने के कारण वे संसार में ही रहते हैं। ऐसी आज्ञा (गीता (९ २४) करके भगवान् ने मुख्य रीति से विधि मार्ग का ही स्थापन किया है। विधिहीन उपासना मार्ग की निन्दा नहीं की है। यदि विधि रहित उपासना की (भगवान्) निन्दा करते होते तो मेरा ही पूजन करते हैं, सब यज्ञों का मैं भोक्ता हूँ--(९।२३, २४) और उन देवों से वे मेरे द्वारा ही निर्माण किये हुए फलों (कामनाओं) को (७।२२) को प्राप्त करते हैं। भगवान् इस प्रकार नहीं कहते, इसलिए यह (९।२३) अविधि पूर्वक उपासना बतलाना केवल विधि की प्रशंसा के लिए ही है। इसलिए 'अन्य देवों के भक्त और अन्य में बुद्धि रखने वाले भी उपासक आपका पूजन करते हैं, यह जो कहा गया है, वह उचित -सत्य- ही कहा है।

भगवान् इस प्रकार भ्रम उत्पन्न करके इस तरह से फल कैसे देते हैं ? सभी जीवों को एक ही

प्रकार के क्यों नहीं करते ? ऐसी शंका के समाधान के लिए ही श्लोक में 'प्रभो' यह सम्बोधन पद दिया है। तात्पर्य यह है कि भगवान् सब प्रकार से सब ही करने में समर्थ हैं। वे यद्यपि सब जीवों को एक ही प्रकार के बनाने, सबसे एक सी ही उपासना कराने और एक सा ही फल प्राप्त करने देने में शक्तिवाले हैं; किन्तु फिर भी विभिन्न प्रकार के जीवों को उत्पन्न करते ही हैं।

श्लोक—**यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यपूरिताः प्रभो।**
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत् त्वां गतयोऽन्ततः ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे भगवान्! जिस तरह पर्वतों से निकली हुई नदियाँ वर्षा ऋतु में जल प्रवाह से परिपूर्ण होकर चारों ओर से आकर समुद्र में ही प्रवेश करती हैं, वैसे ही अन्त में सब सिद्धान्तों का स्थान (केन्द्र) आप ही हैं ॥१०॥

सुबोधिनी—ननु तत्तदुपासकानां तत्तद्देवतासायुज्यस्योक्तत्वात् कथं प्रमेयबलविचारेण तेषां गत्यभाव इति चेत् तत्राह **यथाद्रिप्रभवा** इति. साधनपरं चेतद्वाक्यं, 'आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरं। सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छती'ति वाक्यात्, प्रमेयबले च तेषां भगवत्सायुज्यमेव यदि निष्कामाः,परम्परा कालविलम्बश्च भवति, यथा भूतोपासका भूतसायुज्यं प्राप्नुवन्ति, ततो भूतानि महादेवसायुज्यं महादेवो भगवत्सायुज्यमिति, एवं विहितानामविहितानां वा साक्षात् परम्परया वा भगवत्सायुज्यमेव फलमिति यथा सर्वासामेव पर्वतप्रभवानां नदीनां मेघैरापूर्यमाणानां सिन्धुरेव प्रवेशस्थानं चतुर्दिक्षु न त्वन्यः कश्चित् प्रवेशयोग्यो भवति तद्वदेव नदीप्राया जीवगणाः सहजेन पर्वतजलेनागन्तुकेन वा वृष्टिजलेन पूरिता भवन्ति तथा विधिना अविधिना च पूरिता जीवा जन्मकोटिभिः भगवत्सायुज्यमेव प्राप्नुवन्ति, तथाभूतानामपि फलं साधयतीति ज्ञापनार्थं **प्रभो** इति, **गतयः** फलानि अन्ततः त्वय्येव विशन्ति ॥१०॥

व्याख्यार्थ—अब उन उन विभिन्न देवों के उपासकों को उन उन अपने उपास्य देवों का सायुज्य प्राप्त होना कहा गया है, तब तो उन्हें फिर प्रमेय बल के विचार से फल (भगवान्) की प्राप्ति नहीं (कैसे) होती होगी ? इस शंका के समाधानार्थ यह "यथाद्रिप्रभवा" श्लोक कहते हैं। जैसे आकाश से गिरा हुआ जल सागर में जाता है, वैसे ही सब देवों के लिए किया हुआ नमस्कार केशव को पहुँचता है" इस वाक्य के अनुसार उन उन देवों के उपासकों को उन उन के सायुज्य को प्राप्त होने की बात (गीता ६।५) साधन को ध्यान में रख कर कही गई है। यदि वे उपासक निष्काम होते हैं तो उन्हें तो प्रमेय बल के विचार से भगवान् का सायुज्य ही प्राप्त होता है; किन्तु उसमें जैसे भूतों के उपासक भूतों के सायुज्य को पाकर फिर वे भूत महादेव का सायुज्य और महादेव को भगवान् का सायुज्य होने की परम्परा है,वैसे ही परम्परा तथा समय का विलम्ब होता है।

इस प्रकार विधि से अथवा विधि के बिना भी उपासना करने वाले उपासकों को साक्षात् तथा परम्परा से भगवान् का सायुज्य ही फल मिलता है। जैसे पर्वतों में से निकली हुई और मेघों के जल से परिपूर्ण (उमड़ी) हुई सारी ही नदियों के प्रवेश करने योग्य स्थान चारों दिशाओं में केवल एक समुद्र ही है, किन्तु उनके प्रवेश (समाने) के योग्य दूसरा कोई नहीं है, वैसे ही जीवों के समूह भी

नदियाँ के समान हो है। नदियाँ जैसे पर्वत, के स्वाभाविक जल से अथवा आकर मिले हुए वर्षा के जल से बाढ जाती है, वैसे ही विधि से विधि बिना भी उपासना करने वाले जीव करोड़ों जन्म लेकर भगवान् के सायुज्य को ही प्राप्त (होते हैं) करते हैं। ऐसे उपासक जीवों को भी आप फल प्रदान करते हो, इस बात को बतलाने के लिए मूल में 'प्रभो' यह सम्बोधन दिया है। अन्त में वे आपमें ही प्रवेश रूप फलों को प्राप्त करते हैं ॥१०॥

श्लोक—सत्त्वं रजस्तम इति भवतः प्रकृतेर्गुणाः ।
तेषु हि प्राकृताः प्रोता आब्रह्मस्थावरादयः ॥११॥

श्लोकार्थ:—क्योंकि सत्त्व, रजस्, तमस् आपकी माया के गुण हैं और ब्रह्मा से लेकर तृण तक सब जीव उन्हीं गुणों से ओत-प्रोत (युक्त) हैं। इस प्रकार उपाधि धारी सारे देवगण गुणों में, गुण प्रकृति में और वह प्रकृति आप में प्रविष्ट है ॥११॥

सुबोधिनी—किञ्च, उत्पत्तिविचारेणापि त्वत्त एवोत्पन्ना त्वय्येव विशन्ति त्वमेवेति कथं तेषां त्वत्सायुज्यं न भवेत्, न ह्यन्यः कश्चिदस्ति, तदाह सत्त्वमिति. त्वमेव प्रकृतिः अतो भवतः प्रकृतेस्त्वदीयाया वा **सत्त्वं रजस्तम इति** त्रयो **गुणाः तेषु सर्वं एव प्राकृताः** प्रकृतिप्रकारेणोत्पादिताः तेषु गुणेषु **प्रोताः** ब्रह्मावधिस्थावरान्ताः, अतः सर्वेषामेव गुणे लयः गुणाः प्रकृतौ प्रकृतिस्त्वयि, त्वमेव वा ॥११॥

व्याख्यार्थ—और सब पदार्थों की उत्पत्ति के विचार से भी वे सब आपसे ही उत्पन्न हुए हैं; आप में ही प्रवेश पाते हैं और आप ही हैं। तब वे फिर आपके सायुज्य को प्राप्त कैसे नहीं होते ? क्योंकि आपके बिना कोई दूसरा है ही नहीं, यह इस "सत्त्वं" श्लोक से कहते हैं।

आप ही प्रकृति हो। इसलिए आप प्रकृति के अथवा आपकी प्रकृति के सत्व, रजस और तामस ये तीन गुण हैं। इन तीनों गुणों में प्राकृत (प्रकृति के प्रकार से उत्पन्न हुए) स्थावर से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सारे पदार्थ ओत-प्रोत हैं। इस कारण से सबों का गुणों में लय होता है। गुणों का प्रकृति में और प्रकृति का आप में लय होता है। अथवा आप ही प्रकृति हो ॥११॥

श्लोक—तुभ्यं नमस्तेस्त्वविषक्तदृष्टये सर्वात्मने सर्वधियां च साक्षिणे ।
गुणप्रवाहोयमविद्यया कृतः प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु ॥१२॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार प्रकृति से सम्बन्ध होने पर भी आपकी दृष्टि किसी में आसक्त नहीं होती। आप सब की आत्मा हैं और सब की बुद्धियों के साक्षी हैं। आपको आपकी प्राप्ति के लिए नमस्कार हो ॥१२॥

अविद्या ने किया हुआ यह गुणों का प्रवाह देव, मनुष्य और पशु पक्षियों की देह को धारण करने वाले सभी पर प्रवृत्त हो (चल) रहा है (आप गुणों से परे हैं, आप पर उनका प्रभाव नहीं है)।

सुबोधिनी--एवं युक्तिपूर्वकं प्रमाणं भगवद्विषयकं सफलं निरूप्य प्रमाणतः प्रमेयतश्च महत्त्वं निरूप्य नमस्यति तुभ्यमिति, अन्यथा महत्त्वं हृदयारूढं नेति शङ्का स्यात् तदर्थं माहात्म्यमुक्त्वा नमस्कर्तव्यः, तुभ्यमेतादृशाय नमः, ते तुभ्यं त्वदर्थमेव त्वमेव फलमित्यर्थः, एवं त्वन्नमस्कारे त्वमेव फलं भवसीति प्रार्थयति अस्त्विति, नन्ववतीर्णोहं तद्धर्मैर्व्याप्त इति किं मम नमस्कारेणेत्यत आह अविषक्तदृष्टय इति, न विषक्ता दृष्टिर्यस्य, क्वापि धर्मेषु भगवद्दृष्टिर्न विषज्जते, तत्र हेतुः सर्वात्मन इति, अन्यस्मिन् हि आसक्तिर्भगवतस्तु सर्व एव, आत्मासक्तिरुत्तमैव, अनेन स्वापराधोपि परिहृतः, प्रमाणं चाह सर्वधियां च साक्षिण इति, सर्वबुद्धीनां द्रष्टा, अन्तर्बहीरूपत्वं चोक्तं, चकारादात्मनः प्राणादीनां च, यो हि सर्वात्मा भवति तस्यान्याध्यासो न भवति, यो वा सर्वसाक्षी स कर्ता न भवति, यस्त्वेतादृशः स विषक्तदृष्टिर्न भवति नवापि, अतो भगवति नान्यधर्मसम्बन्धः, अन्यधर्माभावाच्च, तर्हि कस्यापि न स्यादित्याशङ्क्य यस्याविद्या तस्य भवतीत्याह गुणप्रवाह इति, अयं गुणानां प्रवाहः अविद्ययैव देवनृतिर्यगात्मसु त्रिविधेषु सात्त्विकराजसतामसेष्वेव प्रवर्तते न तु गुणातीते ब्रह्मणि, तेषां तु अतकृदेव यावदविद्या न निवर्तत इति ॥१२॥

व्याख्यार्थ--इस प्रकार युक्ति पूर्वक भगवत्सम्बन्धी प्रमाण का फल सहित निरूपण करके तथा प्रमाण और प्रमेय (स्वरूप) से भगवान् सबसे उत्तम है, यह सिद्ध करके इस श्लोक 'तुभ्यनमस्ते' से उनके लिए नमस्कार करते हैं। यदि भगवान् को नमस्कार नहीं किया जाए तो ऐसी शंका हो सकती है कि भगवान् की उत्तमता का ज्ञान अक्रूर के हृदय में दृढ़ नहीं है। इसलिए (भगवान् की) उत्तमता बतला कर ही नमस्कार करना चाहिए। ऐसे सर्वरूप आपको नमस्कार हो। (मुझे) आपकी प्राप्ति हो, इसलिए आपको नमस्कार हो; क्योंकि आप ही फल है। इस प्रकार आपको नमस्कार करने से आप ही फल रूप हो जाते हो। इसलिए प्रार्थना करते हैं कि आपको नमस्कार हो।

भगवान् कदाचित् ऐसी आज्ञा करें कि मैंने तो प्रकृति के गुणों से प्राप्त होकर अवतार (धारण) लिया है, इसलिए प्राकृत मुझे नमस्कार करने से क्या लाभ है? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि आप (भगवान्) की दृष्टि किसी भी पदार्थ में आसक्त नहीं है। भगवान् की दृष्टि सत्व आदि गुणों में किसी भी स्थान पर आसक्त नहीं होती है; क्योंकि वे तो सभी की आत्मा है। वे सर्वरूप सर्वात्मा हैं। इसलिए उनसे दूसरा कोई पदार्थ ही नहीं है, जिसमें उनकी दृष्टि -बुद्धि- आसक्त हो। अपने (आत्मा) आपमें आसक्ति तो उत्तम ही है। इस कथन से अक्रूर ने अपना अपराध भी दूर कर दिया।

इसमें प्रमाण रूप से कहते हैं कि आप सब बुद्धियों के द्रष्टा-देखने-(जानने) वाले हो। भगवान् सबकी बुद्धियों के जानकार है। इस प्रकार से सर्वात्मा और सबकी बुद्धियों के द्रष्टा कह कर भगवान् के भीतरी और बाहरी रूप का वर्णन किया है। भगवान् सब की बुद्धियां और आत्मा तथा प्राणादिकों के भी द्रष्टा (जानकार) हैं; क्योंकि जो सब की आत्मा होता है उसका किसी अन्य पदार्थ में अध्यास (मिथ्या-ज्ञान)नहीं होता, जो सबका साक्षी होता है, वह कर्ता नहीं होता और जो सबका साक्षी-द्रष्टा-

होता है, उसको श्रीर किसी में आसक्त नहीं होती । भगवान् में चूंकि अन्य के धर्म नहीं है, इस कारण से उनका अन्य के धर्मों का सम्बन्ध भी नहीं है ।

तब तो किसी को भी अन्य के अविद्या आदि के धर्मों का सम्बन्ध नहीं होता होगा ? ऐसी बात तो नहीं है, किन्तु जिसमें अविद्या (अज्ञान) होता है, उसीका अन्य के धर्मों का सम्बन्ध होता है। इस लिए यह गुणों का सम्बन्ध देव, मनुष्य और पशु पक्षी आदि सात्विक, राजस तथा तामस जीवों में ही बार बार बना ही रहता है । जब तक अन्य गुणों का सम्बन्ध भी दूर नहीं होता; किन्तु गुणों से पर, परमात्मा में तो अन्य का जरा भी सम्बन्ध नहीं है ॥१२॥

श्लोक—अग्निर्मुखं तेवनिरङ्घ्रिरीक्षणं सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः ।
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोर्णवाः कुक्षिर्मरुत् प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—अग्नि आपका मुख है । पृथ्वी आपके चरण है; सूर्य नेत्र और आकाश नाभि है । सब दिशाएँ आपके कान हैं । स्वर्गलोक आपका मस्तक है । उत्तम देवगण आपकी भुजा और समुद्र कोखें हैं । वायु आपका प्राण और कर्म (आपका) बल है ॥१३॥

सुबोधिनी—एवं निर्दोषत्वं उक्त्वा माहात्म्य निरूप्य नमस्कृत्य अवयवानां स्वरूपमाह अग्निर्मुखमिति, सर्वदेवतात्मको भगवानिति वक्तुं सर्वे अवयवाः देवतात्वेन निरूप्यन्ते यो अग्नि स ते मुखं, या अवनिः भूमिः सा ते अङ्घ्रिः, यः सूर्यः स ते ईक्षणं चक्षुः नभस्त्वाकाशः नाभिः, एतानि महाभूतान्यपि भवन्तीति केवलं देवता एवात्र निरूप्यन्ते, अथो इति दिशस्ते श्रुतिः श्रोत्रम् द्यौः स्वर्गः ते कं शिरः, सुरेन्द्रास्ते बाहवः, अर्णवाः समुद्रा ते कुक्षिः, मरुद् वायुस्ते प्राणः, स्थूलरूप एवायं सूक्ष्मरूप इति ज्ञात्वा तथा निरूपयति न तु पुरुषोत्तमत्वेन जानाति, यत् किञ्चित् प्रकल्पितं लोके कृतिसाध्यं तत् ते बलम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार से भगवान् की निर्दोषता का, महिमा का निरूपण पूर्वक उन्हें नमस्कार करके अब 'अग्निर्मुखं' इस श्लोक से उनके अवयवों का स्वरूप कहते हैं । भगवान् सभी देवता रूप हैं । इसलिए उनके सारे अवयवों का देवता रूप निरूपण किया जाता है । जो अग्नि है, वह आपका मुख है । जो पृथ्वी है, वह आपका चरण है । जो सूर्य है, वह आपकी चक्षु है और आकाश आपकी नाभि है ।

ये अग्नि आदि महाभूत भी हैं । इसलिए आगे केवल देवताओं का ही निरूपण करने के अभिप्राय से मूल में अथो यह व्यवच्छेदक पद का प्रयोग किया है । दिशायें आपके कान हैं । द्यौः -स्वर्ग- आपका मस्तक है, उत्तम देवगण आपकी भुजाएँ और समुद्र उदर है । पवन आपका प्राण है । अक्रूरजी इस स्थूल रूप वाले भगवान् को ही सूक्ष्म रूपवाला जान कर इस प्रकार से निरूपण करते हैं । वह भगवान् को पुरुषोत्तम नहीं जानते हैं । जो कुछ यहां प्रकल्पित कर्म है, वह आपका बल है ॥१३॥

श्लोक—रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः ।
निमेषणं राज्यहनी प्रजापतिर्मेढ्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते ॥१४॥

श्लोकार्थ—वृक्ष और औषधियाँ आपकी रोमावलि रोंगटे हैं। मेघ आपके केश हैं, पर्वत आपकी हड्डियाँ और नाखून हैं, रात-दिन आपकी पलकें खुलना, मूंदना है। सब प्रजापति परब्रह्म आपकी गुप्तेन्द्रिय हैं और वृष्टि आपका वीर्य है ॥१४॥

सुबोधिनी—रोमाणीति, वृक्षौषधयस्ते रोमाणि, मेघाः **शिरोरुहाः**, ननु बाधितोयमर्थः कथमुच्यत इत्याशङ्क्य सर्वसमाधानार्थं च निरूपयति परस्य त इति, त्व परः स्वराट् परं ब्रह्म वा, अद्रयस्ते अस्थिनखानि च, रात्र्यहनी तु प्रजापतेः संवत्सरात्मकस्य कालस्य ते निमेषणं निरीक्षणं, निमीलनं रात्रिरुन्मीलनमहरिति, प्रजापतिस्ते मेढ्रं गुह्यमिन्द्रियम्, वृष्टिस्तु तव वीर्यम्, तुशब्दस्तु केशाम्बुत्वं व्यावर्तयति, ननु कथं साध्यसाधनयोर्विरुद्धरूपत्वमित्याशङ्क्य प्रमाणमाह इष्यत इति, प्रामाणिकानामियमिष्टिः, दिवि चलन्तीति मेघानां केशत्वं, वृष्टेः सर्वोत्पत्तिसाधनमिति रेतस्त्वं तस्य चोच्यते ॥१४॥

व्याख्यार्थ— वृक्ष और औषधियाँ आपके रोम हैं। मेघ आपके केश हैं। यह कथन तो प्रमाण से विरुद्ध है, इसलिए यों नहीं कहना चाहिए। ऐसी शङ्का के तथा यहाँ किए गए सारे वर्णन के समाधान के लिए कहते हैं कि भगवान् पर हैं। आप अपने आप (स्वतः) प्रकाश तथा पर ब्रह्म हो।

पर्वत आपके अस्थि (हड्डियाँ) और नख हैं। रात-दिन सम्वत्सरात्मक कालरूप आपके नेत्रों के पलकों का बन्द करना और खोलना है। पलक का मूँदना रात और पलक का खोलना दिन है। प्रजापति आपकी गुप्त इन्द्रिय है और वृष्टि तो आपका वीर्य है। मूल में 'तु' शब्द से यह बतलाते हैं कि वृष्टि आपके केशरूप मेघों का जल नहीं है।

यद्यपि मेघों से ही वृष्टि होती है, वृष्टिरूप कार्य का मेघ ही कारण है और मेघ भगवान् के केश हैं, तब वृष्टि को केशों का कार्य कहना कैसे सम्भव है? क्योंकि वृष्टि केश का जल है, यह कैसे हो सकती है? इसके उत्तर में कहते हैं कि प्रमाणिक लोगों की -इष्यते- ऐसी ही मान्यता है; क्योंकि मेघ आकाश में चलते हैं,इस कारण से मेघ भगवान् के केश हैं और वृष्टि को सबकी उत्पत्ति का साधन होने के कारण आपका वीर्य कहा है, सर्वथा उचित ही है ॥१४॥

लेख—'रोमाणि' इस श्लोक की व्याख्या में -केशाम्बुत्वं- इस पद का तात्पर्य है कि केशों को मेघ कहने से वृष्टि केशों का जल होना मानी जा सकती है; किन्तु ऐसा नहीं। वृष्टि तो भगवान् का वीर्य है।

**श्लोक—त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे प्रकल्पिता लोकाः सपाला बहुजीवसङ्कुलाः ।
यथा जले सञ्जिहते जलौकसोऽप्युदुम्बरे वा मशका मनोमये ॥१५॥**

श्लोकार्थ- जैसे जल में उत्पन्न हुए असंख्य जल जन्तु, गूलर फल में अनन्त सूक्ष्म जीव और मनोरथ मे असंख्य जीव एक साथ रहते हैं, इसी तरह असंख्य जीवों से भरे हुए -पूर्ण- ये सारे लोक और लोक पाल विकार शून्य आत्म स्वरूप पुरुष आपके श्रीअङ्ग में विराजित है ।।१५।।

सुबोधिनी--एवमवयवान् निरूप्य सर्वलोकाधारत्व निरूपयति त्वय्यव्ययात्मन्निति, एतेषामाधारत्वेन उपचयापचयावाशङ्क्य पुरुषरूपे त्वयि 'पातालमेतस्य हि पादमूल'मिति न्यायेन अव्ययात्मनि सर्वे लोकाः प्रकल्पिताः विशेषेण रचिताः, भगवतो भारमाशङ्क्य दृष्टान्तमाह यथा जले सञ्जिहत इति, जले मत्स्यादिजीवास्तिष्ठन्तीति न तावतापि तस्य कश्चन भारो भवति, एवं भगवत्यपि सर्वे लोकाः सञ्जिहते सहतास्तिष्ठन्ति. अचेतनस्य जलस्य दृष्टान्तो विषम इति चेतनमाह उदुम्बरे वा यथा मशका इति, एकैकस्मिन् फले कोटिशो मशकाः तत्रैवोत्पन्नास्तत्र तिष्ठन्ति, एकत्र बहवश्च भवन्ति, यथा जलौकसां जलमेव स्थानं तथोदुम्बर एव मशकानामपि, एतदपि प्रत्यक्षसिद्धं न भवति को वेदोदुम्बरस्य मशकैः क्लेशोऽस्ति न वेति, शरीरावयवेषु जीवानां स्थितौ तत्रोत्पन्नानामपि क्लेशो भवतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तान्तरमाह मनोमय इति, मनोरथे यथा जीवा विषयाश्च मनसः सुखदा एव भवन्ति न तु भाररूपाः, तथा भगवत्यपि सुखार्थमेव कल्पिताः ते लोकास्तिष्ठन्ति न तु भाररूपा भवन्ति ।।१५।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् के अवयवों (अङ्गों) का वर्णन करके-भगवान् सारे लोकों के आधार है'–यह इस 'त्वय्यव्ययात्मन्' श्लोक से निरूपण करते है। भगवान् यदि इन सब लोकों के आधार हैं तो उन मे वृद्धि-ह्रास (कमी वेशी) होती होगी ?

ऐसी शङ्का करके कहते हैं कि–"पाताल आपके चरण का तलवा है (२।१।२६)" इस न्याय से विकार रहित आत्मा पुरुष रूप आप (भगवान्) मे सारे ही लोक अच्छी तरह रचित-कल्पित-है।

जब इन सब लोकों के आधार भगवान् ही हैं, तो उन्हे इन लोकों का भार लगता होगा ? इस शङ्का का समाधान दृष्टान्तों के द्वारा करते हैं। जैसे जल में असंख्य मछली आदि जल जन्तुओं के रहने पर भी जल को उन का कुछ भार नहीं होता, वैसे ही भगवान् में भी सारे लोक विना भार हुए इकट्ठे रह रहे हैं।

दुःख अथवा भार तो चेतन को ही होता है और जल तो अचेतन है। जड़ को बोझा अथवा दुःख लगता ही नहीं है। इस लिए जल जड़ का दृष्टान्त -विषम योग्य नहीं-है। इस विचार से दूसरा चेतन का दृष्टान्त देते हैं। जैसे गूलर के फल में अनेक प्राणी उत्पन्न होते और उसी में रहते हैं; किन्तु उन प्राणियों का भार अथवा दुःख गूलर को जरा भी नही होता, वैसे ही भगवान् को भी सारे लोकों का भार नहीं लगता है। और जैसे सारे जलचरों का जल ही तथा सारे मच्छरों का गूलर का फल ही एक मात्र निवास स्थान है वसे ही सब लोकों का एक मात्र भगवान् ही आधार हैं।

गूलर के भीतर उत्पन्न होकर उसी में रहने वाले उन असंख्य जीवों का भार लगता है अथवा नहीं होता, यह बात तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं है। शरीर के अवयवों में उन्हीं के भीतर उत्पन्न

हुए जीवों के रहने से भी दुःख तो होता ही है ? ऐसी शङ्का करके दृष्टान्त के द्वारा समाधान करते हैं कि जैसे मनोरथ में जीव और विषय मन को सुख देने वाले ही हैं, कभी सार भूत नहीं होते, वैसे ही भगवान् ने भी सुख के लिए रचना किए हुए, वे लोक रह रहे हैं; किन्तु सार रूप नहीं होते ॥१५॥

श्लोक—यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि ।

तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥१६॥

श्लोकार्थ—पृथ्वी पर क्रीड़ा करने के लिए आप जिन-जिन रूपों से प्रकट होते हो, उनसे लोगों का कल्याण ही होता है । आपके उन अवतारों से लोगों के दुःख दूर हो जाते हैं और वे प्रसन्न होकर आपके पवित्र यश का गान करते हैं ॥१६॥

सुबोधिनी—एवं भगवदवयवानां सर्वाधारत्वं सर्वदेवतारूपत्वं च निरूप्य तादृशस्य महतः लोके जुगुप्सितरूपेणावतरणं न युक्तमित्याशङ्क्य अवतारप्रयोजनमाह **यानि यानीति**, हे भगवन् नानाविधक्रीडार्थं जले स्थले अरण्ये सर्वत्र क्रीडनार्थं मत्स्यादिरूपाणि करोषि, तावतापि न तेषां रूपाणां लोके निन्दा, किन्तु **यानि यानि रूपाणि** त्वं **बिभर्षि, क्रीडार्थं** कृतत्वात् तव नातीवादरः, तथापि तैः रूपैः **आमृष्टशुचः** सर्वतो नाशितशोकाः सर्वं एव **लोकाः ते यशो मुदा गायन्ति**, अतो लोकानां गानार्थं तव चरित्रं तेन च सर्वपुरुषार्थसिद्धिः, सर्वेषां दुःखनाशार्थमवताराणि चेत्युक्तम्, **मुदा गायन्तीत्यनेन** चरित्राणां स्वतः पुरुषार्थता च निरूपिता ॥१६॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् के श्री अवयवों को सब का आधार और सारे देवता रूप बतलाकर ऐसे परम महान् भगवान् का लोक में निन्दनीय रूपों से अवतार लेना उचित नहीं है ? ऐसी शङ्का करके इस 'यानि यानीह' श्लोक से उनके अवतार लेने के प्रयोजन का वर्णन करते हैं । उद्धवजी कहते हैं कि हे भगवान् आप अनेक प्रकार से क्रीड़ा करने के लिए जल-थल और वन में सभी जगह मछली आदि के रूपों को धारण करते हो । आपके उस कार्य से लोक में उन रूपों की निन्दा नहीं होती है; किंतु जिन जिन रूपों को आप धारण करते हो, उन्हे आप क्रीड़ा के लिए ही लेते हो । इस लिये यद्यपि उन रूपों में आप विशेष आदर नहीं रखते हो; तो भी उन रूपों के चिन्तन से लोकों के सभी शोक दूर हो जाते हैं और वे सारे ही लोक प्रसन्न होकर आपके यश को गाते हैं । इस लिए लोकों के गान करने के लिए ही आपके सारे चरित्र हैं और उन्हें आपके चरित्रों के गान से सारे पुरुषार्थ प्राप्त हो जाते हैं । आपके अवतार सब लोकों के सभी दुःखों का नाश करने के लिए है । आनन्द से गाते हैं इस कथन से बतलाया है कि आपके चरित्र स्वतः पुरुषार्थ रूप हैं ॥१६॥

श्लोक—नमः कारणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च ।

हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे ॥१७॥

श्लोकार्थ---आप कारणवश मत्स्य रूप धारण करके प्रलय के समुद्र में विचरते रहे। आपने हयग्रीव रूप धारण किया और मधु तथा कैटभ नाम के राक्षसों को मारा। आपको बारम्बार प्रणाम है ॥१७॥

सुबोधिनी—यद्यप्यनन्तानि रूपाणि तथापि प्रसिद्धानि कानिचित् गणयन् महत्त्वख्यापनाय सर्वत्र नमस्यति नमः कारणमत्स्यायेति, मत्स्याय ते तुभ्यं नमः, ननु निन्दितो मत्स्यः किमिति भगवान् जात इत्याशङ्क्याह कारणेति, यदा मत्स्या जाताः तदा बीजत्वेन कश्चिन्मत्स्यः पूर्वसिद्धः कारणत्वेनाङ्गीकर्तव्यः अन्यथा मत्स्यानामुत्पत्तिर्न स्यात्, उदुम्बरादिषु मांसेषु वा जीवानामुत्पत्तौ कारणभूतरूपस्य तत्र स्थितिरवश्यमङ्गीकर्तव्या, अन्यथा कारणता भज्येत, अनेन जगति यावन्ति रूपाणि तावन्ति रूपाणि भगवतः कारणरूपाणीति न भगवतः कस्मिंश्चिद्रूपे गृहीते विगान भवति, कारणार्थं वा प्रलये सत्यव्रतरक्षा वेदोद्धारश्च कार्यं तदर्थं मत्स्य इति तस्मै नमः, तदपि रूपमुपास्यमिति, प्रलयकालीनो योऽब्धिः तस्मिश्चरतीति चरित्रं सत्यव्रतरक्षात्मकं वेदोद्धारः रूपद्वयेन कृत इति हयग्रीवरूपं च कृतवानित्याह हयशीर्ष्णे इति, हयस्य शिर इव शिरोभाग एव, अङ्गं तु पुरुषरूपमेव,हयग्रीवावतारेण कृतं चरित्रमाह मधुकैटभयोः मृत्युरिति, मधुकैटभौ तेन रूपेण हताविति, मृत्युत्वात् स्वत एवोत्पन्नयोरपि वधे न कश्चिद्दोषः, अन्युपकारित्वात् तस्मै ते तुभ्यं सर्वदा नमोऽस्त्विति प्रार्थयति ॥१७॥

व्याख्यार्थ--यद्यपि भगवान् के अनन्त रूप हैं, तो भी उनमें से कुछ प्रसिद्ध रूपों की गणना पूर्वक उत्तमता बतलाने के लिए 'नमः' इस श्लोक से उन्हें प्रणाम-नमन करते है। आप मत्स्य को नमस्कार हो। मत्स्य तो निन्दित है। भगवान् निन्दित ऐसे मत्स्य क्यों हुए ? ऐसी शंका के उत्तर में कहते है कि भगवान् कारण मत्स्य है। जब मच्छ उत्पन्न हुए, तब उनका बीज रूप से कोई मत्स्य पहले कारण रूप से मानना ही होगा। यदि पहले बीज रूप किसी मत्स्य को आदि कारण नहीं मानेंगे तो मच्छलियों की उत्पत्ति ही नहीं होगी। गूलर के फलों मे अथवा मांस आदि में जहां जीवों की उत्पत्ति होती है, वहां भी उनकी उत्पत्ति के कारण से पहले रहने वाला कोई रूप अवश्य स्वीकार करना ही होगा। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो प्रत्येक कार्य का कारण अवश्य ही होना चाहिए, इस नियम का भङ्ग हो जाएगा।

इसलिए यह मान लेना चाहिए कि जगत् में जितने भी रूप है, उन सबका कारण रूप भगवान् है; क्योंकि श्रुति कहती है कि (स एव सर्वाणिरूपाणि बिभर्ति) वही सब रूपों को धारण करता है। इन नाना रूपों के धारण कर लेने में भगवान् का कुछ भी नहीं बिगड़ता हैं। अथवा भगवान् ने कारण वश मच्छ का रूप धारण किया है अर्थात् प्रलय मे सत्यव्रत राजा की रक्षा और वेदों का उद्धार करना रूप कार्य के लिए मत्स्य बने भगवान् को नमस्कार करते हैं, क्योंकि यह रूप भी उपासना करने योग्य ही है। प्रलय काल के समुद्र मे यह मत्स्य फिरता है, ऐसा उनका राजा सत्यव्रत की रक्षा रूप चरित्र है।

वेदों का उद्धार दो रूपो से किया है। इस लिए हयग्रीवरूप-जिस में केवल सिर ही घोड़े का

ला था और शेष सारा अङ्ग मनुष्य का ही था—वह भी आपने ही धारण किया है और इस हयग्रीव अवतार से आपने मधुकैटभ नाम के दैत्यों का नाश रूप चरित्र किया है। भगवान् मृत्यु (काल) रूप हैं, इस लिए भगवान् के ही काल से उत्पन्न होने वाले भी इन दोनों को मार देने में कोई दोष नहीं है। यह अवतार जगत् का अत्यन्त उपकारक है। इसलिए हयग्रीव रूप आपको सदा नमस्कार हो,प्रार्थना करते हैं ॥१७॥

श्लोक—अकूपाराय बृहते नमो मन्दरधारिणे ।
क्षित्युद्धारविहाराय नमः शूकरमूर्तये ॥१८॥

श्लोकार्थ—अत्यन्त विशाल कच्छप रूप को धारण करके अपनी पीठ पर मन्दराचल को धारण कर लेने वाले आपको प्रणाम हो। पृथ्वी का रसातल से उद्धार करने के लिए ही वराह रूप से क्रीड़ा करने वाले आपको प्रणाम हो ॥१८॥

सुबोधिनी—कूर्मं नमस्यति अकूपारायेति, अकूपाः अनिम्नाः आरा रेखा यस्येति कूर्मः, योगप्राधान्यात् समुद्रवत् कूर्मस्यापि वाचकः अकूपारः शब्दः, समुद्रादप्यधिक इति जलचरत्वदोषपरिहारार्थमाह बृहत इति, अतिस्थूलाय, चरित्रमाह मन्दरधारिण इति, अमृतमथने मग्नं मन्दरं धृतवानिति क्षित्युद्धारार्थमेव विहारो यस्येति वराहरूपत्वेपि न काचित् क्षतिः, अत एव रूपात् प्रथमतः चरित्रमुक्तम्,शूकररूपा मूर्तिर्यस्य ॥१८॥

व्याख्यार्थ—'अकूपाराय' इस श्लोक में कच्छप और वराह को नमस्कार करते हैं (अकूपाः) ऊँची आराः) गतियों वाला अकूपार शब्द का व्युत्पत्ति से कच्छप अर्थ भी होता है और समुद्र अर्थ तो अकूपार शब्द का होता ही है। यह कछुआ तो समुद्र से भी विशाल था, अत्यन्त मोटा था। इस लिए जलचर होने का दोष उस में नहीं था। उसके चरित्र का वर्णन करते हैं कि अमृत के लिए समुद्र का मथन किया तब डूबते हुए मन्दराचल को इस कूर्म रूप ने पीठ पर धारण किया था।

केवल पृथ्वी का उद्धार करने के लिए ही क्रीड़ा करने वाले भगवान् को वराह रूप धारण कर लेने में भी कोई हानि नहीं है। इसी अभिप्राय से मूल श्लोक में रूप का वर्णन पहले न करके चरित्र का वर्णन पहले किया है। वराह (शूकर) के आकार वाली मूर्ति वाले आपको नमस्कार हो ॥१८॥

श्लोक—नमस्तेद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह ।
वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे सत्पुरुषों को निर्भय बनाने वाले भगवान्! आपने अद्भुत नरसिंह रूप धारण करके प्रह्लाद की रक्षा की है। आपको प्रणाम है। वामन अवतार लेकर तीन पेंड़ से त्रिभुवन को नाप लेने वाले आपको नमस्कार है ॥१९॥

सुबोधिनी - नमस्त इति, अद्भुतसिंहोऽसिंहः अर्धं च नरः, वचनप्रामाण्यात् स्तम्भाद् वा निर्गमादद्भुतत्वं, चरित्रमाह सम्बोधनेन, साधुलोकानां प्रह्लादादीनां भयमपहन्तीति, यद्यपि वामनोऽपि नावतारदशायां किन्तूपेन्द्र एव, तथापि कार्यं वामनरूपेण कृतमिति वामनायेत्युक्तम्, क्रान्तानि त्रिभुवनानि पदक्रमैर्येन, चेति बलिबन्धनादिकमपि कृतवान् ॥१९॥

व्याख्यार्थ—अद्भुत सिंह (शरीर का ऊपर का सिंह का सा और नीचे का भाग मनुष्य जैसा) रूप धारण करने वाले अथवा भक्त प्रह्लाद के वचन को सत्य करने के लिए स्तम्भ से प्रकट हुए अद्भुत सिंह रूप लेने वाले आपको प्रणाम है। 'साधु लोग भयावह' इस सम्बोधन पद से चरित्र का वर्णन करते हैं कि आप सज्जनों के भय के दूर करने वाले हो।

अवतार लेने के समय में यद्यपि वामन रूप नहीं था, उपेन्द्र (इन्द्र के छोटे भाई) रूप ही था; तो भी अवतार का कार्य वामन रूप से ही किया था। इसलिए वामन रूप को नमस्कार करते हैं कि वामनजी को प्रणाम हो। उनके चरित्र का वर्णन करते हैं कि आपने तीन पेड़ में तीनों भुवनों को नाप लिया था और बलि राजा का बन्धन आदि भी किया था ॥१९॥

श्लोक—नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे ।
नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च ॥२०॥

श्लोकार्थ—भृगुपति परशुराम के रूप से अहङ्कारी क्षत्रियों के वन को काटने वाले आप को नमस्कार हो और राक्षस रावण का संहार करने वाले रामचन्द्र आप को प्रणाम हो ॥२०॥

सुबोधिनी - नम इति, भृगूणां पतये भार्गवो-त्तमाय परशुरामाय, चरित्रमाह दृप्तं यत् क्षत्रं सदेव दैत्यत्वादतिप्रवृद्धं वनरूपं जातं तत् छिनत्तीति, रघुवर्यः रघुवंशोत्पन्नेषु श्रेष्ठो रामभद्रः, चरित्रमाह रावणस्य अन्तकरायेति, चकारादन्य-दप्यनन्तमेव चरित्रं गृह्यते ॥२०॥

व्याख्यार्थ—भृगुओं के पति अर्थात् भृगुवंश में उत्पन्न होने वालों में श्रेष्ठ परशुराम रूप आपको प्रणाम हो। आप दैत्यों जैसे मदोन्मत्त क्षत्रियों के बढ़ते हुए कुल का नाश करने वाले हो और रघु-वंश में उत्पन्न होने वालों में उत्तम रामचन्द्र रूप से अवतार लेकर रावण का संहार तथा अन्य अनन्त चरित्र करने वाले आपको प्रणाम हो ॥२०॥

श्लोक—नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥२१॥

श्लोकार्थ--भगवान् वासुदेव को नमस्कार हो, संकर्षण को नमस्कार हो। प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा वैष्णवों के स्वामी के लिए नमस्कार हो ॥२१॥
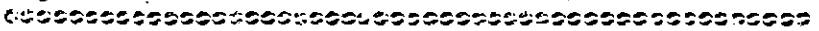
सुबोधिनी- भगवांश्चतुर्मूर्तिरवतीर्ण इति, भगवतः कृष्णस्यावतारे विशेषमाह नमस्ते वासुदेवायेति, अत्रादिमध्यावसानेषु नमनम्, सङ्कर्षण आवेशमपि भगवान् करोतीति तदपि रूपं चकारेण परिगृहीत, चरित्रमाह सात्वतां पतय इति, समस्तभक्तानां पतये सर्वथा रक्षकाय, प्रार्थनाव्यतिरेकेणापि स्वकीयानां सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थमवतार इत्यर्थः ॥२१॥

व्याख्यार्थ— भगवान् (श्रीकृष्ण) ने चार मूर्ति से अवतार लिया है। भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार के सम्बन्ध में 'नमस्ते' इस श्लोक से विशेष चिन्ह का वर्णन करते हैं। इस श्रीकृष्णावतार के सम्बन्ध में पहले, बीच में और अन्त में भी नमस्कार करते हैं। भगवान् अपने आवेश को भी सङ्कर्षण रूप में करते हैं, इसलिए आपने आवेश वाला सङ्कर्षण रूप भी धारण किया है। इस रूप से आप अपने सभी भक्तों की रक्षा करते हो तथा उनकी प्रार्थना के बिना ही उन्हें सारे पुरुषार्थों की प्राप्ति कराने -प्रदान करने- के लिए यह अवतार है ॥२१॥

श्लोक—नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने ।

म्लेच्छप्राय क्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे ॥२२॥

श्लोकार्थ— दैत्यों और दानवों को अपने उपदेश से मोहित करने वाले शुद्ध बुद्ध रूप आपको प्रणाम हो। म्लेच्छ प्राय कलियुगी क्षत्रियों का संहार करने वाले कल्कि रूप आपको प्रणाम हो ॥२२॥

सुबोधिनी—अग्रे जायमानमाह नमो बुद्धायेति, आर्षज्ञानेन यथा यथा पश्यति तथा तथा निरूपयति, भगवान् वा तं प्रति तथा तथा आत्मानं प्रदर्शयति, बुद्धो वेदादिनिन्दया विसदृशो भविष्यतीत्याशङ्क्याह शुद्धायेति, सर्वदोषरहिताय, तर्हि किमर्थं तथोक्तवानित्याशङ्कां परिहरन् चरित्रमाह दैत्यान् दानवांश्च मोहयतीति, दैत्यदानवानां यो मोहः सोऽयं वर्तत इति, अयं चेत् न प्रकटीकुर्यात् तदा मोहो न भवेदिति, मत्वर्थीय इन् प्रत्ययः, कल्किनं नमस्यति म्लेच्छप्रायेति, क्षत्रं रक्षकत्वेन स्थितं हन्तीति क्षत्रघ्नः क्षत्रहन्ता, तदा क्षत्रियाः म्लेच्छरूपा इति म्लेच्छप्रायेत्युक्तं, द्वयं भिन्नतया निरूपितवान् गुणदोषयोर्विपरीतत्वबोधनाय, म्लेच्छा ये सहजदैत्याः ते गुणवन्तोऽपि हन्तव्याः क्षत्रियास्तु दोषवन्त एवेति, एवं प्रयोजनमुक्त्वा पश्चात् स्वरूपमाह कल्किरूपिण इति, कल्कस्येव निष्पीडितरसस्य चतुर्युगात्मकस्य कालस्य स्वरूपमस्मिन् वर्तत इति कल्की, न केवलं तस्यैव रूपं स्वस्मिन् प्रतिबिम्बितं प्रतीयते किन्तु अस्यापि पृथग्रूपत्वमुक्तम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—'नमो बुद्धाय' इस श्लोक से आगे होने वाले अवतार का वर्णन करते हैं। अक्रूरजी ऋषि हैं। इसलिए आर्ष (दिव्य) ज्ञान से वह जैसा जैसा (वहाँ जल के भीतर) देखते हैं, वैसा वर्णन करते हैं अथवा भगवान् अपने उस उस रूप के उन्हें दर्शन कराते हैं। वेद आदि की निन्दा करने वाले बुद्ध रूप की अवतारों में गणना करना तो अयोग्य ही होगा। ऐसी आशङ्का को दूर करने के अभिप्राय से मूल श्लोक में 'शुद्ध' सब दोष रहित, ऐसा विशेषण दिया है। इस बुद्धावतार का चरित्र वेद की निन्दा के वाक्यों से दैत्यों और दानवों को मोह उत्पन्न करना है। उनका यह मोह भगवान् (बुद्ध)

का मोह है। यदि वे अपने मोह को प्रकट नहीं करते तो उन दैत्यों को मोह नहीं होता। [दैत्य दानव मोहिन्] यह अर्थ इस मत्वर्थक 'इन्' प्रत्यय से ज्ञात होता है। अब कल्कि रूप को नमस्कार करते हैं। 'क्षत्र' रक्षक रूप से रहने वाले क्षत्रियों का नाश करने वाले कल्कि अवतार को नमस्कार हो। उस समय क्षत्रिय म्लेच्छों के आकार वाले होंगे। इसलिए म्लेच्छों का नाश करने वाले, ऐसा विशेषण दिया है। क्षत्रिय, गुण वाले होने चाहिए, वे दोष वाले होंगे और म्लेच्छ, दोष वाले होने चाहिए, वे गुण वाले होंगे। इस प्रकार विपरीत भाव बतलाने के लिए दोनों को अलग-अलग (क्षत्रिय और म्लेच्छ) कहा है। म्लेच्छ जो स्वभाव से ही दैत्य है, वे गुण वाले हो, तब भी मारने योग्य है और क्षत्रिय जो दोषयुक्त हो, वे ही नाश करने योग्य होते हैं। दोष रहित क्षत्रिय मारने योग्य नहीं होते।

इस प्रकार से कल्कि अवतार का प्रयोजन कहकर 'कल्कि रूपवाले' शब्द से स्वरूप का वर्णन करते हैं। इस कल्कि में कल्क पीसे हुए रस जैसा चारों युग रूप काल का स्वरूप रह रहा है। इस लिए यह कल्कि कहलाता है। केवल उस (कल्क) काल का रूप ही अपने -कल्कि के- भीतर प्रतिबिम्बित हुआ नहीं दिखलाई देता है; किन्तु अपना कल्कि रूप उस अपने मे प्रतिबिम्बित हुए कल्करूप काल से अलग भी है॥२२॥

श्लोक—भगवन् जीवलोकोयं मोहितस्तव मायया।
अहं ममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु ॥२३॥

श्लोकार्थ—हे भगवान्! यह सारा जीव लोक आपकी माया से मोहित हो रहा है। इसी कारण 'मैं हूँ' 'मेरा है', ऐसा इन दुष्ट पदार्थों में आग्रह करके कर्म के मार्गों में भटक (भ्रमण कर) रहा है॥२३॥

सुबोधिनी--एवं कियन्ति रूपाणि भगवतो नत्वा किञ्चित् प्रार्थयितुं सर्वेषामेव साधारणं दुःखं निवेदयति भगवन्निति, एतादृशेपि त्वयि सर्वदा जागरूके लोकाः त्वन्मायया मोहिता इति दुःखं प्राप्नुवन्ति, अन्यथा कथं दुःखं स्यात्. भगवन्निति सम्बोधनं सर्वसामर्थ्याद, अयं सर्वोपि परिदृश्यमानो जीवलोकः तदैव मायया अनुल्लङ्घ्यया मोहितः, अन्यथा अहं ममेति असति दुष्टे देहादौ ग्राहः आग्रहो यस्य तादृशः कथं भवेत्,अत एव कर्ममार्गेषु उच्चावचेषु श्वयोन्यादिषु भ्राम्यते पुनः पुनः परिभ्रमति, यदि मायया मोहितो न स्यात् तदा सकृत् क्लेशं प्राप्य पुनरहममाभिमानं न कुर्यात् ॥२३॥

व्याख्यार्थ-- इस प्रकार भगवान् के कितने एक रूपों को नमस्कार करके कुछ प्रार्थना करने के लिए -'भगवन्'- इस श्लोक से सब के ही साधारण दुःख को निवेदन करते हैं। ऐसे महान् भी आप सदा सावधान रहते हो, तो भी लोक आपकी माया से मोहित होकर दुःख भोगते है। यदि यह माया से मोहित न हो, तो दुःख क्यो पावें? आप - कर्तुं अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं - सब प्रकार की शक्ति वाले है। इस बात को बतलाने के लिए श्लोक मे 'भगवन्' यह सम्बोधन कहा है। यह चारो तरफ दिखाई देने वाला सारा जीवलोक, नही लाँघी जा सकने वाली -आपकी ही- माया से मोहित हो रहा है।

यदि यह मोहित नहीं हो रहा हूं, तो देह आदि तुच्छ पदार्थों में, मेरा ऐसा आग्रह नहीं करे। इसी-लिए यह कर्मों के मार्गों में ऊंची नीची, कुत्ते आदि की योनियों में बार बार भटकता फिरता है; क्योंकि माया से मोहित नहीं हो तो एक बार दुःख भोगकर फिर 'मैं, मेरा' ऐसा अभिमान नहीं करता ॥२३॥

श्लोक—अहं चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु ।
भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढः सत्यधिया विभो ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे प्रभो! मूढ़ मैं स्वप्न जैसे इन देह, पुत्र, स्त्री, घरबार, धन, सम्पत्ति और अन्यान्य सगे सम्बन्धियों में -इन्हें- सत्य मान कर भटक रहा हूं ॥२४॥

सुबोधिनी—तर्हि तव किमित्याकाङ्क्षायामाह अहं चेति, यथा अन्ये मोहिताः एवं अहमपि मोहितः, किञ्च, मयि विशेषोऽप्यस्तीत्याह आत्मात्मजेति, आत्मा देहः, आत्मजाः पुत्राः, अगारं गृहं, दाराः स्त्रियः, अर्थो धनम्, स्वजनाः बान्धवाः, तेषु सर्वेष्वेव सकृदवगतवैषम्योऽपि पुनः पुनर्भ्रमामि, न वा एते स्वरूपतः सन्तः नापि कात्स्न्येन नाभिव्यक्ताः, अन्यथा तेषां कार्यं आपाततोऽपि प्रकटं स्यात्, यतोऽहं स्वप्नकल्पेष्वपि भ्रमामि न केवलमहन्ताममतामात्रमपि, अतो मूढः सर्वापेक्षयापि, किञ्च, न केवलं भ्रममात्रं किन्तु तेषु सत्यबुद्धिरपि जायते येन विचारेऽपि अन्यथाबोधेऽपि भ्रमो न निवर्तते, प्रभो इति सम्बोधनं त्वं सर्वसमर्थः एतादृशमप्यसाध्यं साधयिष्यतीति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—तब अक्रूरजी तुम्हारी क्या दशा है इस प्रकार की आकाङ्क्षा में 'अहं' यह श्लोक कहते हैं। हे प्रभो ! जैसे और लोग सभी आपकी माया में मोहित हो रहे हैं; वैसे ही मैं भी मोहित हो रहा हूँ। सारे लोगों की अपेक्षा मेरे में विशेषता यह भी है कि मैं तो देह, पुत्र, घर, स्त्री, धन आदि इन सबको एक बार दुःख रूप जानकर भी बार बार इनमें भटकता रहता हूँ। ये सब न तो स्वरूप से सत्य हैं और न पूर्ण रीति से स्पष्ट जाने ही जाते हैं। यदि इन्हें स्पष्ट जानलिया जाय तो इनका कार्य भी उत्तरोत्तर प्रकट होता रहे।

इसलिए मैं ही अहन्ता ममता में फँस रहा हूँ। केवल इतना ही नहीं, किन्तु स्वप्न के समान भी झूठे इनमें भ्रमता ही रहता हूँ। इसी कारण मैं सब से अधिक मूढ़ हूँ। केवल मुझे भ्रम ही नहीं है, मैं तो उन्हें सत्य भी मान रहा हूँ और विचार करने पर भी तथा किसी दूसरे प्रकार (अनित्यता) का ज्ञान होने पर भी मेरा भ्रम नहीं मिटता है। हे प्रभो ! आप सर्व समर्थ हो। मुझ जैसे अधिकार हीन को भी, कभी भी न मिलने योग्य वस्तु को भी प्राप्त करा देते हो। इसी अभिप्राय को प्रकट करने के लिए श्लोक में 'प्रभो' यह सम्बोधन पद दिया है ॥२४॥

श्लोक—अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहम् ।
द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वात्मनः प्रियम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—अज्ञान से अन्धा बना हुआ मैं इन अनित्य, अनात्म पदार्थों को नित्य

तथा आत्मा जान कर दुःख को सुख मान रहा हूं। नाथ! मैं सुख दुःख आदि द्वन्द्व धर्मों में रम रहा हूँ। इसीलिए अज्ञानी, मैं आत्मा के परम प्रिय, परमात्मा, जो आप हैं, उनको नहीं जानता (पहचानता)॥२५॥

सुबोधिनी—ननु शास्त्राद् विवेक उत्पन्ने संसारस्यासारतां ज्ञात्वा स्वयमेव सर्वं त्यक्ष्यसि किं मया कर्तव्यमित्याशङ्कायामाह **अनित्येति**, शास्त्रमप्युल्लङ्घ्य मम बुद्धिर्विपरीता जाता, **अनित्ये** सर्वत्र नित्यबुद्धिः, देहे दैहिके च **अनात्मनि** आत्म-बाधके आत्मबुद्धिः, देहादावेव **दुःखे** विण्मूत्रपूय-स्थितौ सुखबुद्धिः, अतो ज्ञातमपि शास्त्रं नानुभवं बाधते, अतो **द्वन्द्वेष्वेव** सुखदुःखादिषु रागद्वेषादिषु वा **आरामो** यस्य तादृशो जातः, ननु कथमेवं भागस्तत्राह **तमोविष्ट** इति, तमो महामोहः अज्ञा-नमेव वा, तद्ध्वंस्य निवृत्तिः कदेत्याशङ्कायां त्वयि ज्ञाते प्रकाशो भवतीति निश्चित्य त्वज्ज्ञानमेव चक्षुषि विद्यमानतमसा न जायत इत्याह **न जाने** इति, न हि स्वप्रकाशमपि सूर्यमन्धः पश्यति, तथा त्वामपि आत्मानमपि **प्रियं** परमानन्ददातारं सुग-ममपि प्रत्यक्षसिद्धमपि तथात्वेन **न जाने**, **आत्मनः** परमिति वा नियन्तारम् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—शास्त्र से ज्ञान के उत्पन्न होने पर जब संसार की असारता जान लेगा, तब तू (अक्रूर) स्वयं ही सब का त्याग कर देगा। इस में मुझे (भगवान् को) क्या करना है? ऐसा सन्देह होने पर 'अनित्या' यह श्लोक कहते हैं। नाथ! मेरी बुद्धि शास्त्र का भी उल्लङ्घन करके विपरीत हो गई है। यह तो अनित्य (नाश होने वाले) पदार्थ को भी नित्य-सदा रहने वाला-मान रही है और देह तथा देह सम्बन्धी, जो आत्मा से भिन्न हैं, (आत्मा नहीं है) और आत्मा की प्राप्ति में बाधक हैं-विघ्नरूप हैं-उन्हें आत्मा समझ रही है। विष्टा, मूत्र, पूय आदि से भरी हुई दुःखदायी देहादिक में ही मैं सुख मान रहा हूँ। इसलिए उत्पन्न हुआ शास्त्र का ज्ञान भी अनुभव को नहीं दबा रहा है। इसी कारण से मैं सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि परस्पर विरोधी गुणों में ही सुख समझ रहा हूँ। मैं (तमोविष्ट) महामोह अथवा अज्ञान से भरा हुआ हूँ, इसीलिए मुझे ऐसा भ्रम हो रहा है। यह अज्ञान आपको जान लेने पर ही मिट सकता है; क्योंकि आपका ज्ञान होने पर प्रकाश हो जाता है, तब तम, मोह, अज्ञान (अन्धेरा नहीं रहने पाता, दूर हो जाता है); किन्तु आंखों में अँधेरी छाई होने से आपका ज्ञान नहीं होता। जैसे अन्धा पुरुष स्वतः प्रकाशमान सूर्य को भी नहीं देख सकता, वैसे ही मैं आत्मारूप, परम प्रिय, परम आनन्द के देनेवाले, सहज प्राप्त हो जानेवाले और प्रत्यक्ष दर्शन देनेवाले आप को भी इस प्रकार (यथार्थ रूप से प्राण प्रिय) नहीं जानता हूँ, अथवा आप आत्मा से भी परे हो-वश में रखने वाले हो-ऐसे नहीं पहचानता हूँ॥२५॥

श्लोक—यथाबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः।
अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत् त्वाहं पराङ्मुखः॥२६॥

श्लोकार्थ—जैसे कोई मूर्ख मनुष्य जल में ही उत्पन्न हुए घास फूस अथवा काई आदि से ढके हुए पानी को छोड़ कर मृग-मरीचिका के पीछे जल की आशा से भटकता फिरे, वैसे ही अपनी माया के गुणों से छिपे हुए आत्मा रूप आप को छोड़ कर मैं मूढ़

सुख की आशा से देह आदि के लालन पालन में लग रहा हूं, आपसे विमुख हो रहा हूँ ॥२६॥

सुबोधिनी— ननु श्रुत्यनुभवं परित्यज्य युक्तिमान् विवेकी कथं न जानातीत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन स्पष्टयति यथेति, अबुधो मूर्खः जलार्थी सन् जलाशयोपरि तिष्ठन् कमलपत्रादिभिः आच्छन्नं जलं तृणपत्रादि समूहमेव ज्ञात्वा तद्दूरीकृत्य मध्यस्थितं जलमगृहीत्वा दूरे मरुमरीचिकाजलं पश्यन् तदर्थमभिधावति, तद्वदेवान्तःस्थितं भगवन्तं अहङ्कारादिभिस्तद्भूतैराच्छन्नं तद्दूरीकृत्य परमानन्दमननुभूय दुःखात्मके बहिर्विषये अभिधावति तद्वदहं त्वां हित्वा विषयसुखार्थं गच्छामि, अत्र हेतुमाह पराङ्मुख इति. पराक् बहिरेव मुखं यस्येति, मुखमत्र प्रवृत्तिस्वभाव आत्मा तस्य प्रतिनिधिरूपमिदं मुखं यदभिमुखस्तदेव च करोति, अतः शास्त्रादिद्वारा यदा अन्तर्मुखो भवति तदैव निकटे भगवन्तं प्राप्नोति. बहिर्जलप्राप्तिस्तु भगवदिच्छया प्रलय इव सर्वत्र भगवदभिव्यक्तौ भवति यथैव वायं प्रदर्शयति तथैव स गन्यत इति स्वयमपि तथैव त प्रत्यभिव्यक्त इति न काप्यनुपपत्तिः ॥२६॥

व्याख्यार्थ — वेद और अनुभव का आश्रय न लेकर भी तर्क शक्तिवाले और ज्ञानी अक्रूरजी तुम मुझे (भगवान् को) कैसे नहीं जानते ? ऐसी शङ्का में 'यथाऽबुधो' इस श्लोक से भगवान् को न जानने का कारण दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं । जैसे जलाशय के किनारे खड़ा हुआ जल पीने की इच्छा वाला कोई मूर्ख कमल के पत्तों, काई आदि से ढके हुए जल को पास फूस का ढेर ही समझ कर और उस काई को दूर करके वहां के जल को न लेकर (न पीकर) दूरी पर मृग-मरीचिका के जल को देख कर उसे लेने के लिए उधर ही दौड़ता है, उसी प्रकार से शरीर के भीतर रहने वाले और शरीर में ही उत्पन्न होने वाले अहंकार आदि से आच्छादित (ढके हुए) आप भगवान् को (वहीं शरीर मे ही विराजमान को) न जानकर उन अहंकार आदि को दूर न हटाकर परमानन्द का अनुभव न करके दुःखरूप बाहरी पदार्थों की ओर सुख की आशा, अभिलाषा से दौड़ता हो, ठीक वैसे ही मेरी दशा है । आप से बहिर्मुख मैं भी आपको छोड़कर विषय सुख के लिये दौड़ रहा हूँ ।

यहां पराङ्मुख पद में मुख शब्द का अर्थ प्रवृति स्वभाव वाला आत्मा (जीव) है । उसका प्रतिनिधि रूप यह जिस तरफ मुख रखता है (जिधर देखता है), वहीं करता है । इसलिए शास्त्र आदि के द्वारा जब यह (जीव) अन्तर्मुख होता है, तब ही भगवान् के निकट आता है । बाहर जल तो तब मिल सकता है, जब भगवान् की इच्छा से प्रलय काल की तरह सब जगह जल ही जल हो जाए । इसी तरह से भगवान् की बाहर प्राप्ति तो तब ही हो सके, जब वे अपनी इच्छा से सभी स्थान पर प्रकट हो जावे ।

अथवा भगवान् जिस रूप से (जैसे जैसे) दर्शन देते है, अक्रूरजी उन्हें वैसा ही मानते हैं । इसलिए भगवान् स्वयं भी इसी रीति से उस (अक्रूर) के सामने प्रकट होते है । इसलिए इस प्रकार के वर्णन में किसी प्रकार की अनुचितता नही है; सब उचित ही वर्णन है ॥२६॥

श्लोक— नोत्सहेहं कृपणधीः कामकर्महतं मनः ।
रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैर्ह्रियमाणमितस्ततः ॥२७॥

श्लोकार्थ—भगवन्! विषय वासनाओं से मेरी बुद्धि हीन (दीन) हो रही है, इस लिए काम्य कर्मों और कामनाओं से चञ्चल हुई तथा बलवान् इन्द्रियों के द्वारा इधर उधर चलायमान (भटकने वाले) मन का दमन करने में मैं असमर्थ हो रहा हूं।। २७।।

सुबोधिनी—ननु जाते विवेके कथं मोह इति चेत् तत्राह नोत्सहेहमिति, मनो हि द्विस्वभावं क्रियाशक्तियुक्तं च, यथा विवेकेन शास्त्रेण च ज्ञानशक्तिरुत्पद्यते एवं योगेन क्रियाशक्तिरपि चेदुत्पाद्येत तदैकमुखं मनो भवति, अन्यथा बलिष्ठा क्रिया ज्ञानं बाधित्वा स्वकार्यमेव करोति, अत एव केचित् ज्ञानापेक्षया योगमेव प्रशसन्ति, 'ज्ञानिभ्योऽप्यधिको मत' इति भगवानप्याह,ज्ञानेच्छाप्रयत्नानामुत्तरोत्तरप्राबल्यं तथैव मनोवाक्कायानामपि, तत्र कामादयो बाधकाः, तैः संसार एव मनः प्रवर्त्यते, योगादयस्त्वशक्याः, न ह्यन्धकारे महति वायौ वृष्टौ च दीपः स्थापयितुं शक्यते तत्राह कृपणधीरिति, कृपणा दीना बुद्धिर्यस्य, मनसो हि नियामिका बुद्धिः, सैवाद्यो कृपणा दीना विषय परा, न हि चौरेणान्यः सन्मार्गे स्थापयितुं शक्यः, किञ्च, मनः पुनः कामकर्मभ्यां हृतं, उत्कटेच्छा कामः, तदनुगुणं च कर्म, ज्ञान तु दुर्बलमसहायं, कामकर्मभ्यां च हृतं, न तु स्वच्छ, तद्रूपेन तदनुगुणमेव भवति न त्वात्मानुगुणं, अतो रोद्धुमुत्साहमपि न करोमि अशक्यज्ञानिश्चयात्, किञ्च, प्रमाथिभिर्बलिष्ठैरिन्द्रियैः इतस्ततो ह्रियमाणं, अतः सर्वत्रैवाशक्तः केवलं शरणं गच्छामि बलिष्ठांस्तांश्च निवेदयामि स्वाशक्यत्वं च ।।२७।।

व्याख्यार्थ--जब नित्य और अनित्य पदार्थो का ज्ञान हो जाय तब मोह कैसे हो ? ऐसी आशङ्का में 'नोत्सहे' यह श्लोक कहते हैं। मन दो स्वभाव वाला है। (१) क्रियाशक्तिवाला और (२) ज्ञानशक्तिवाला। जैसे नित्य अनित्य के ज्ञान की शक्ति से और शास्त्र के द्वारा ज्ञानशक्ति उत्पन्न होती है, वैसे ही योग से यदि क्रियाशक्ति भी मन में उत्पन्न करदी जाए, तब तो मन एक मुख-एक ही प्रयोजन वाला - हो जाता है और यदि ऐसा नहीं होता है तो, बलवती क्रिया ज्ञान को दबा (हटा) कर अपना ही कार्य करती है। इसी कारण से कई लोग ज्ञान की अपेक्षा योग की अधिक ही प्रशंसा करते हैं। भगवान् ने भी आज्ञा की है कि "ज्ञानिभ्योऽप्यधिकोमतः" (गीता ६/४६) योगी ज्ञानी की अपेक्षा भी अधिक माना गया है।

जिस प्रकार ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न क्रम से एक से द्वितीय और दूसरे से तृतीय, अधिक बलवान है, उसी प्रकार मन, वाणी और काया भी एक के बाद एक अधिक बलवान है। उन में काम,क्रोध आदि विघ्न करने वाले है। वे मन को संसार में ही फँसाते हैं। अत्यन्त कठिनता से होने वाले योगादिक किए नहीं जा सकते; क्योंकि अन्धकार में जोर की आँधी तथा वर्षा होने पर दीपक नहीं रक्खा जा सकता है। इसी लिए मूल में अक्रूरजी अपने आपको कृपणधी,(दीन बुद्धिवाला) कहते हैं। मन के वश में रखने वाली तो बुद्धि ही है और वही मेरी बुद्धि दीन (विषयों में अत्यन्त आसक्त) हो रही है। इस लिए वह मन को वश में नहीं रख सकती; क्योंकि चोर दूसरे किसी को अच्छे मार्ग पर नहीं चला सकता है, फिर मेरा मन भी काम और कर्म के आधीन हो रहा है। उत्कट इच्छा काम है और इच्छा (काम) के अनुकूल ही क्रिया करना कर्म है। ज्ञान तो बेचारा बलहीन और असहाय और काम तथा कर्म से दबा हुआ है, स्वच्छ नहीं है। इसीलिए वह

मलिन ज्ञान भय से उन काम और कर्म के अनुकूल ही हो जाता है। यह (ज्ञान) स्वयं अपने अनुकूल नहीं रहता है। इसीलिये यही समझ और निश्चय कर कि मन को रोकना अशक्य है, मैं उसको रोकने का उत्साह (साहस) भी नहीं करता हूँ। वह मेरा मन बलवान इन्द्रियों के द्वारा इधर उधर भटकाया जा रहा है। इसलिये मैं मन, इन्द्रियों को रोकना आदि सभी विषयों में असमर्थ हूँ, केवल भगवान् की शरण जाता हूँ और उन से निवेदन करता हूँ कि ये इन्द्रियाँ, काम, कर्म आदि सब बड़े बलवान हैं और मैं मन को वश में करने में असमर्थ हूँ ॥२७॥

श्लोक—सोहं तवाङ्घ्र्युपगतोस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये।
पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥२८॥

श्लोकार्थ—हे प्रभो! आपके चरण कमल दुष्ट लोगों के लिए परम दुर्लभ हैं, तथापि मुझ जैसे अधम को आपके चरणों की प्राप्ति हो जाना मैं तो आपकी ही कृपा का फल मानता हूँ। हे पद्मनाभ! जब मनुष्य का अन्तिम जन्म होता है अर्थात् जीव के आवागमन का अन्त निकट आ जाता है, तभी सत्पुरुषों की सेवा सत्सङ्ग के द्वारा उसकी बुद्धि आपकी ओर झुकती है ॥२८॥

सुबोधिनी—एवं सति यत् कर्तव्यं भगवतैव तत् चेत् क्रियेत कृपया स्वकृतविचारेण अरमङ्गा-ग्येन तस्यैव वा कार्यार्थं तदैव निस्तारो नान्यथे-त्यभिप्रायेणाह **सोहं तवाङ्घ्र्युपगतोस्मीति,** सर्वथा अशक्यसाधनः **सोहं तवाङ्घ्रिमुपगतः** दीनतया शरणं प्रविष्टः इदानीमस्मि, एतदपि शरणागमनमपि **असतां दुरापं,** ये असन्तः पूर्वोक्ताः विवेकरहिता अपि विवेकेन स्वेतावत् सम्पाद्यत इति, किञ्च, **भगवदनुग्रहमेव** तत् **मन्ये** अन्यथा शरणागतो न भवेत्, शरणागतो जात इति वा न भवेत्, यदि सञ्जातमनुगुणं कुर्यात् त्याजयेद् वा तदा शरणागतिः सिद्धेति ज्ञातव्यं, अनुगुणपक्ष-स्तु ज्ञातुं सुगमः, त्याजनपक्षस्तु दुर्ज्ञेयोपि अनुभा-वेन कृपाप्रकाशेन च ज्ञायते, अतः स्वरूपतो निष्प-त्त्या वा शरणागमनमेव भगवतोनुग्रहः सत्सेवानु-ग्रह इति स्वरूपसत्त्वमेव नियामकं तथैव ते उत्पा-दिता इति मूलेच्छात्र नियामिका, ननु त्याजनम-नुगुणं वा तस्यापि स्वार्थमाशेष्यशक्यं भगवान् कथं करिष्यतीति चेत् तत्राह **ईश** इति, हे सर्वसा-मर्थ्य, अत्र ममानुभव एव प्रमाणमित्याह **मन्य** इति, अनेन भगवानेव यदि करोति तदैव निस्तारो भवति इति ज्ञापितं, नन्वेवं सति शास्त्रं व्यर्थं स्यात् ज्ञानस्याप्यनुपयोगादिति चेत् तत्राह **पुंसो भवेदिति, यर्हि** पुंसः भगवदिच्छया **संसरणापवर्गः** स्यात्, **सृष्टिसमये हि भगवान् सर्वानेव विचारयति इममित्थं करिष्यामीति,** तत्र यं मोचयिष्यामीति मन्यते तत्र जन्मानि अवधिमन्ति करोति, तथा सति यदैवान्तिमं जन्म भवति स **संसरणापवर्ग** उच्यते अग्रे संसरणाभावात्, अत्रोपपत्तिरूपं किञ्चिदाह **पुंसो भवेदिति,** अन्यथा तं पुरुषमेव न कुर्यात्, 'तासां मे पौरुषी प्रिये'ति भगवद्वाक्यात्, अतः **पुंसां मुक्तिरस्तीति सम्भाव्यते,** परं काल-नियमे न प्रमाणं तदाह **यर्हीति,** यद्यन्तिमं जन्म, तथा करिष्यतीत्यत्र नियामकमाह **अब्ज-नाभेति,** अन्यथा स्वयमागत्य सृष्टिं नोत्पादयेत्, **अब्जं नाभौ यस्येति स्वयमाविर्भूय यतः सृष्टिं** कृतवान् न तु सेवकद्वारा, अतो ज्ञायते केषाञ्चित् मुक्तिरतरयां सृष्टौ दास्यतीति, तदा तस्मिन्

जन्मनि भगवति मतिर्भवति 'तमेव विदित्वाति-मृत्युमेती'ति नियमात्, 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरमि'ति भगवद्वाक्याच्च भगवज्ज्ञानमावश्यकं, तत्र सतां बोधकत्वेन उपदिश्यमानत्वेन च शास्त्रोपयोगः, साधनेनैव सर्वं करोतीति एतावानर्थस्तुल्य इति अशक्ये भगवानेव वर्तत इति त्याजनपक्षेऽपि न काप्यनुपपत्तिः, अतः सत्सेवारुचिः भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा भगवच्छास्त्रपरत्वं च अन्तिमजन्मज्ञापकम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—ऐसी स्थिति में जो भी जीव का कर्तव्य है, उसे भगवान् ही कृपा करके, अपने-दास रक्षा-व्रत को विचार कर, जीवों के भाग्य से अथवा भगवान् उसे स्वयं अपना ही कार्य समझ (मान) कर करें, तब तो जीव की सद्गति हो सकती है, यदि भगवान् ऐसी कृपा न करे तो जीव का निस्तार नहीं हो सकता, इस अभिप्राय से 'सोऽहं' यह श्लोक कहते हैं।

सब प्रकार से साधन हीन मैं अब दीन होकर आपके चरणारविन्द की शरण में आया हूँ। यह आपकी शरणागति भी दुष्ट पुरुषों के लिये तो अत्यन्त दुर्लभ ही है। जो दुष्ट है, जिन्हें पहले श्लोकों में कही गई रीति से नित्य अनित्य वस्तु का ज्ञान नहीं हैं, वे भी आपके चरणारविन्द को प्राप्त नहीं कर सकते हैं; किन्तु इस प्रकार के सत्य, असत्य की ज्ञान शक्ति ही आपके चरणारविन्द की शरणागति प्राप्त कराती है।

भगवान् के शरण में चले जाना भी भगवान् का ही अनुग्रह मानता हूँ। यदि भगवान् की कृपा न हो तो जीव उन की शरण में जावे ही नहीं और-मैं भगवान् के शरणागत हो गया हूँ-ऐसा ज्ञान भी (जीव को) नहीं हो सकता। इसलिये जब भगवान् (जीव के) देह, इन्द्रिय आदि के समूह अपने अनुकूल करें अथवा इनका त्याग करा दें, तब ही जीव का भगवान् के शरण आना सिद्ध हुआ जानना चाहिये, तब ही शरणागति सिद्ध हुई मानी जाती है। जीव की इन्द्रियादि को भगवान् ने अपने अनुकूल बना दिया, यह बात तो सहज ही जान ली जा सकती है; किन्तु भगवान् के द्वारा इस संघात का त्याग करा देने का पक्ष तो कठिनता से जाना जा सकने योग्य होने पर भी उनके प्रभाव से अथवा उनकी कृपा के प्रकाश से जान लिया जा सकता है। इसलिए स्वरूप से सङ्घात को अनुकूल बना कर अथवा उसका त्याग कराकर (जीव को अपनी) शरण में ले आना रूप कार्य भी भगवान् की कृपा (का) ही (फल) परिणाम है और जब (भगवान् की कृपा का फल) वह शरणागति हो तभी सत्पुरुषों की सेवा जिसके द्वारा भगवान् में बुद्धि लगती है, होती है। इसलिए आगन्तुक शम, दम आदि के न होने पर भी स्वरूप से सत्पुरुष होना ही योग्य है, किन्तु कई जीव स्वभाव से ही सज्जन अथवा दुर्जन हैं। उनको भगवान् ने वैसा ही उत्पन्न किया है। इसलिए इस विषय में भगवान की इच्छा ही मूल-नियामक है।

अपने हित के विचार से सत्पुरुष भी जिस सङ्घात को अनुकूल नहीं कर सकता और छोड़ ही सकता है, उसे भगवान् कैसे अनुकूल करा देंगे अथवा छुड़ा देंगे ? ऐसी शङ्का के उत्तर में अक्रूरजी कहते है कि आप (ईश्वर) ईश सर्व-समर्थ-हैं, सब कुछ कर सकते हैं; ऐसा मैं मानता हूँ, मेरा अनुभव ही इस में प्रमाण है। इस कथन से यह बतलाया कि भगवान् ही कृपा करें, तब ही जीव का निस्तार-मोक्ष प्राप्ति-हो। तब तो जीव का निस्तार-मोक्ष-होने में ज्ञान का भी कुछ

उपयोग न होने से शास्त्र व्यर्थ है ? ऐसी शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि पुरुष का जब भगवान् की इच्छा से अन्तिम जन्म होता है, भगवान् जब सृष्टि करते है तब विचार करते है कि अमुक जीव को ऐसा करूंगा। उस समय जिसका मोक्ष(करना)विचार लेते हैं,उसके जन्मों की अवधि-संख्या-कर देते हैं। ऐसा होने पर जब ही अन्तिम जन्म होता है, वही संसरणापवर्ग कहा जाता है, क्योंकि इस जन्म के आगे फिर इसका जन्म नहीं होगा। इस कथन में'पुंसः' (पुरुषका)-श्लोक में कहा गया पुरुष शब्द ही प्रमाण है। "तासां मे पौरुषी प्रिया" (उन सब योनियों में मुझे पुरुष जन्म प्यारा है) इस वाक्य से यदि पुरुष का जन्म अन्तिम भव-जन्म-नहीं होता तो भगवान् इसे पुरुष ही नहीं (उत्पन्न) करते। इस कारण से पुरुष की मुक्ति होना तो सम्भव है, किन्तु कितने जन्म अथवा कितने समय के बाद मुक्ति होगी, इस प्रकार की अवधि का नियम नहीं है। इसलिये अन्तिम जन्म होने पर ही भगवान् जीव की-सत्पुरुषों की सेवा के द्वारा - अपने में बुद्धि करेंगे - लगावेंगे- इस नियम को हे कमलनाभ! यह सम्बोधन सूचित करता है। भगवान् यदि जीव की बुद्धि को अपनी ओर लगाना नहीं चाहते तो स्वयं पधार कर सृष्टि नहीं करते। भगवान् की नाभि में कमल है। उन कमलनाभ भगवान् ने स्वयं प्रकट होकर ही सृष्टि की है, अपने किसी सेवक द्वारा नहीं की है। इससे यह जाना जाता है कि इस अपनी रची हुई सृष्टि में भगवान् जिन्हीं पुरुषों को मुक्त करेंगे। तब उस मुक्ति को प्राप्त करने योग्य अन्तिम जन्म में "उसको जानकर ही (मनुष्य) मृत्यु से पार होता है मृत्यु को तरता है) इस नियम से जीव की बुद्धि भगवान् में लगती है।" इस लिये "मुझे तत्व से जानने के बाद मेरे में प्रवेश करता है" (भगवद्गीता १८/५५) भगवान् के इस वाक्यानुसार अन्तिम जन्म मे भगवान् का ज्ञान जरूरी है। उस होने वाले आवश्यक भगवज्ज्ञान में बोध करानेवाले के रूप से और उपदेश दिये जाने योग्य सत्पुरुषों के रूप से शास्त्रों का उपयोग है। भगवान् साधनों के द्वारा ही (जीव-से) सब कराते हैं-यह नियम-संघात को अनुकूल करना तथा सर्वथा त्याग करा देना, इन दोनों पक्षों मे समान है। इस लिये जीव से अशक्य (नहीं किये जासकने योग्य) संघात का त्याग के पक्ष में भी किसी भी प्रकार की अड़चन-अयोग्यता-नहीं है। इसलिये (१) सत्पुरुषों की सेवा करने में रुचि होना (२) भगवान् के स्वरूप के ज्ञान की इच्छा होना और (३) शास्त्र में तत्पर-श्रद्धा रखना-इन से पुरुष का अन्तिम जन्म जाना जाता है॥२८॥

लेख—'सोऽहं' इस श्लोक की व्याख्या में 'पूर्वोक्ताः' पद का अर्थ पहले 'भगवज्जीव लोकोयं'—इत्यादि श्लोकों में कहा हुआ है। 'विवेकेन तु' (इत्यादिका) और विवेक—यह ज्ञान-मुझ को है कि मैं भगवान् के शरण जाऊँ, ऐसा अर्थ है।

किञ्च—वास्तविक रूप से भगवान् की कृपा से ही ऐसा ऊपर कहा हुआ विवेक होता है। 'त्याजनेत्यादि' का भाव यह है कि संघात का त्याग करना तो देह के न रहने पर ही जाना जा सकता है; किन्तु देह के रहते हुए भी भगवान् की कोई महिमा और कृपा से वे स्वयं ही "मेरा (जीव का) संघात से छुटकारा हो गया"जीव को ऐसा प्रकाश करा देते हैं, तब देह पात के पहले (देह के रहते हुए) भी जान सकता है। 'अनुग्रह' - अनुग्रह का कार्य है स्वरूपतः, जो स्वरूप से वास्तविक ही सज्जन है; शम दम आदि के द्वारा आगंतुक सज्जन नहीं है। स्वरूप से ही कुछ सज्जन होते हैं और कुछ दुष्ट। 'शास्त्रे' सायुज्य की प्राप्ति के लिये मन बुद्धि भगवान् में लग जाय, इसलिये शास्त्रों का उपयोग है, शास्त्राध्ययन व्यर्थ नहीं है।

श्लोक—नमो विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहेतवे ।
पुरुषेशप्रधानाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे भगवान्! विज्ञान आपका वैभव है। सारे ज्ञानों का मूल कारण आप ही हैं। आप परिपूर्ण ब्रह्म हैं। आपकी शक्ति का अन्त नहीं है। काल, कर्म, स्वभाव आदि के नियामक आपको प्रणाम है ॥२६॥

सुबोधिनी—एवं विज्ञाप्य विज्ञापनासिद्धयर्थं नमस्यति **नमो विज्ञानमात्रायेति**, शास्त्रस्य सतां च तदैवोपयोगो भवति यदा भगवान् विशिष्टज्ञानमात्रमेव भवति, अन्यथा ज्ञाने सामान्यसिद्धिः मननिदिध्यासादिना च विशेषसिद्धिरित्ययमर्थो नोपपद्येत, ज्ञानस्याङ्गत्वं च न स्यात्, शास्त्रेण हि ज्ञानमेवोत्पाद्यते न त्वन्यत्, तच्चेद् विज्ञानमन्यदेव स्यात् किं भगवद्भजनेन शरणागमनेन वा स्यात्, अतस्त्वं विज्ञानमात्ररूपः, किञ्च, यदि भगवान् आन्तरो न भवेत् आत्मा वा न भवेत् तदान्यत्रस्थितमन्यो न प्राप्नोति, अन्यश्चान्यो न भवतीति मुक्तिरेव न स्यात्, सर्वेषां प्रत्ययानां ज्ञानानां हेतुः कारणमन्तर्यामी आत्मा वा स भवानेव, ननु तस्य ज्ञानैकरूपस्यात्मनः कथं जगत्कारणत्वमित्याशङ्क्याह **पुरुषेशप्रधानायेति**, पुरुषः प्रकृतिभर्ता,ईशः कालः गुणक्षोभकः, गुणात्मिका च प्रकृतिः, हेतुत्रितयरूपः, नन्वेकस्य कथमनेकरूपता तत्राह **ब्रह्मण इति**, बृहत्वात् बृंहणत्वात् सर्वभवनसमर्थं तदेव, ब्रह्मशब्दस्तादृश एव वर्तत इति प्रकारान्तरेणापि सर्वरूपत्वमुपपादयति **अनन्तशक्तय इति**, अनन्ताः शक्तयो यस्येति तत्तच्छक्त्या तथा तथा भवतीति न काप्यनुपपत्तिः, स्वरूपमेव वा तथेति पक्षद्वयमप्यविरुद्धम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार विज्ञप्ति करके प्रार्थना की सफलता के लिये-'नमो विज्ञानमात्राय'-इस श्लोक से भगवान् को प्रणाम करते हैं। भगवान् जब केवल उत्तम ज्ञान रूप ही हो, तभी शास्त्र और सत्पुरुषों का उपयोग हो सकता है। यदि ऐसा न हो (भगवान्) केवल ज्ञान रूप ही न हो) तो ज्ञान से साधारण लाभ ही हो सकेगा। मनन, निदिध्यासन से उत्तम सिद्धि मिल नही सकती और ज्ञान इनका अङ्ग भी नहीं; क्योंकि शास्त्र केवल ज्ञान को ही उत्पन्न करता है और कुछ नही करता। शास्त्र द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान यदि भगवान् (विज्ञानरूप) से भिन्न ही हो तो भगवद्भजन करने तथा उनके शरण जाने से कुछ लाभ नहीं हो (मुक्ति ही न हो) इस से आप केवल ज्ञान रूप ही हो।

यदि हृदय में भगवान् न विराजते हों अथवा आत्मारूप होवे तो अपने से अलग रहने वाले को कोई प्राप्त नहीं करता है और न कोई दूसरा होता है। इस से मुक्ति भी नहीं हो सकेगी। इस लिये सारे (प्रत्ययों) को ज्ञानों का कारक (हेतु) जो अन्तर्यामी अथवा आत्मा है, वह आप ही हैं।

केवल ज्ञान रूप आत्मा जगत् का कारण कैसे हो सकता है ? इस शङ्का के समाधानार्थ–पुरुष, काल और प्रकृतिरूप इन तीन शब्दों का श्लोक में प्रयोग है। (१) पुरुष (प्रकृति के भर्ता) (२) काल (गुणों में क्षोभ-हलचल करने वाला) और (३) प्रधान (गुणरूप प्रकृति) जगत के कारण, ये तीनों आप ही हो।

भगवान् जो एक है उन एक के अनेक रूप कैसे हो सकते है ? इस शङ्का के उत्तर में कहते है कि आप ब्रह्म हैं, ब्रह्म सबसे महान् और सबका पोषण करने वाले होने के कारण से सर्वरूप होने की शक्तिवाले हो और इसी कारण से आप (ब्रह्म) अनन्त शक्तिवाले हो। जिनकी शक्तियाँ अनन्त है, वे आप अपनी भिन्न २ शक्ति से भिन्न भिन्न रूपवाले होते हो। इसलिये आप-भगवान्-के एक होने पर भी अनेक रूप होने में कोई विरोध -अनुचितता- नही है। अथवा भगवान् का स्वरूप ही अनेक रूप वाला है। इसलिये विभिन्न शक्तियों से तथा स्वरूप से ही अनेक रूप होने (दोनों पक्ष) में कोई विरोध (अड़चन) नहीं है ॥२९॥

श्लोक—नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च ।
हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो ॥३०॥

श्लोकार्थ—आप वासुदेव -चित्त के अधिष्ठाता- है। सब प्राणियों का आश्रय भूत अहङ्कार के अधिष्ठाता -संकर्षण- भी आप ही हैं। हे हृषीकेश! सब प्राणियों के स्थान रूप आपको प्रणाम है। हे प्रभो! मुझ शरणागत की रक्षा कीजिए ॥३०॥

सुबोधिनी—पुनर्विज्ञापनार्थं नमस्यति **नमस्ते वासुदेवायेति**, मोक्षदात्रे, ननु तथाप्येतावत् कालं त्वमन्यत्र स्थितः कृतापराधश्च ततः कथं मोक्षो देय इत्याशङ्कायामाह **सर्वभूतानां क्षयाय** स्थानरूपायेति, तेन त्वय्येव स्थिताः भूतेषु स्थितावपि त्वय्येव स्थिताः,चकारात् सर्वभूतस्वरूपाय,किञ्च, यदपि कृतं तत्रापि त्वमेव हेतुः, यतो **हृषीकेशः** इन्द्रियप्रेरकः, अतः सर्वापराधशान्त्यर्थं **तुभ्यं नमः**, विज्ञापनामाह **प्रपन्नं** शरणागतं **मां पाहि** पालय, यथा पुनः प्रवाहे न गतामीति प्रार्थना वाचनिकी, शरणागमनं प्रथमतो मानसं पश्चात् कायिकमिति तदुपपादितं शरणागतिप्रकरणे ॥३०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे सप्तत्रिंशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्यार्थ—'नमस्ते' इस श्लोक से फिर प्रार्थना करने के लिये प्रणाम करते हैं।

अक्रूर, तुम मोक्ष देने वाले भी मुझ (भगवान्) से इतने समय तक अलग रहे तथा अपराधी हो। तुम्हें मोक्ष कैसे दे दिया जाय ? इस के उत्तर में कहते हैं कि सब प्राणिमात्र आप में ही रह रहे है, आप ही सब के एक मात्र स्थान हो। इसलिये महा भूतों में रहे हुए भी आप में ही सब रह रहे है। अतः सर्वभूत रूप आप को नमस्कार है। मैने जो कुछ भी किया है, उसके कारण आप ही हैं; क्योंकि आप हृषीकेश है, इन्द्रियों को प्रेरणा करनेवाले हैं। इसलिये सारे अपराध की शान्ति के लिये आप को नमस्कार है।

हे प्रभो, शरण में आये हुए मेरी रक्षा करिये,यह प्रार्थना है। फिर मैं प्रवाह में न पड़ूँ,इसलिए मेरी रक्षा करो। यह वाणी से प्रार्थना की है। भगवान् के शरण जाना पहले मन से होता है

और पीछे शरीर से होता है-यह सब पहले शरणागति के प्रकरण में—इसी अध्याय के अट्ठाईसवें श्लोक में निरूपण किया जा चुका है।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध) ४०वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण पञ्चम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित

सम्पूर्ण।

छंदः—को जान तुम्हरो भेव हरि तुम सकल देव मयी प्रभो।
आदि कारण सबहि के तुम विश्व सब तुम्हरो विभो॥
नाग नर सुर असुर अग जग दास सब तुम्हरो हरी।
रहति माया सब तुम्हारी जाहि तुम ज्यहि विधिकरी॥
योग यज्ञ अनेक कर्मन करि तुम्हें सब ध्यावहीं।
जैसो जाको भाव तैसो तुमहि ते फल पावहीं॥
अति अगाध अपार तुम गतिपार काहू नहिं लह्यो।
शम्भु शेष गणेश विधना नेति निगमनहू कह्यो॥
भक्तहित धरि विविध तन तुम चरित अद्भुत विस्तरो।
मच्छ कच्छ वराह वपु ह्वै वेद गिरि तुम उद्धरो॥
होय नरहरि भक्त प्रणकरि शरण हित बामन भये।
भृगुवंशमणि अभिराम तनु धरि मानमय क्षत्री हये॥
राम रूप निपात रावण अरु विभीषण नृप कियो।
कंस अरि यदुवंश भूषण कृष्ण वपु छवि निधि लियो॥
बोधराय दयाल कलकि हिंसादि कर्म न भावहीं।
निःकलंक मलेच्छहा दश रूप श्रुति तब गावहीं॥

दोहाः—तव गुण रूप अनन्त प्रभु, हो अजान जगदीश।
यों अस्तुति अक्रूर करि, नायो पदपर शीश॥

सो०:—तबहिं श्याम सुखदाय, अन्तरहित जलते भये।
निकस्यो अति अकुलाय, तब जलते अक्रूरपुनि॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४१वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ३८वां अध्याय

राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण

'षष्ठम् अध्याय'

श्रीकृष्ण जी का मथुरा में प्रवेश

कारिका—अष्टत्रिंशे ज्ञाततत्त्वं श्वफल्कतनयं हरिः ।
विसृज्य मथुरामैक्षदुक्तो माहात्म्यबोधकः ॥१॥

कारिकार्थ—इस अड़तीसवें अध्याय में तत्त्वज्ञानी- भगवान् के वास्तविक रूप को जाने हुए श्वफल्क के पुत्र अक्रूरजी के लिए मथुरा में चले जाने की आज्ञा देकर भगवान् ने मथुरा का अवलोकन किया। अक्रूर ने वहां से आकर भगवान् का मथुरा

अपना कहा और भगवान् ने धोबी आदि के वध से अपना माहात्म्य कंस को बतलाया, इत्यादि वर्णन है ॥१॥

कारिका—गोपनार्थं परोक्षोक्ता हृदयारूढबोधनम् ।
वाक्यैर्निरूपितं वर्ण्या प्रवेशे नगरी हरेः ॥२॥

कारिकार्थ—गुप्त रखने के लिए परीक्षा के लिए वाक्य कहे गए हैं । हृदय में दृढ़ हुए ज्ञान के वाक्यों द्वारा बतलाया है कि नगरी में भगवान् का प्रवेश होने पर ही नगरी वर्णन करने के योग्य होती है ॥२॥

कारिका—उत्सवे तु यथा रोधः तथात्रापि चकार ह ।
माहात्म्यज्ञापनार्थाय रजकं हतवान् स्वयम् ॥३॥

कारिकार्थ—उत्सव में जिस प्रकार निरोध किया जाता है, यहां भी भगवान् ने वैसा ही निरोध किया है । अपना माहात्म्य बताने के लिए स्वयं भगवान् ने रजक को मारा है॥३॥

कारिका—अनिष्टेष्टप्रदो लोके महानिति निरूप्यते ।
वायकस्य सुदाम्नश्च वरदानं यथेप्सितम् ॥४॥

कारिकार्थ—यहां -लोक में- कंस की नगरी में रहनेवाले अयोग्य पुरुषों को भी उनका वाञ्छित फल देनेवाला महान् कहा जाता है । इसीलिए लोगों को भी अपना माहात्म्य ज्ञान कराने के लिए, महत्त्व बतलाने के लिए ही वस्त्र पहनानेवाले तथा सुदामा मालाकार को उनका चाहा हुआ वरदान देना कहा गया है ॥४॥

लेख– गोपनार्थ-इत्यादि कारिका के पदों का तात्पर्य है कि अक्रूर ने जल में देखा हुआ रूप गुप्त वाक्यों से भगवान् को बतलाया । ऐसा बतलाने के लिये तूने जल में क्या विचित्र बात देखी ? भगवान् ने यह पूछ कर अक्रूर की परीक्षा की है, फिर अक्रूर ने अपने हृदय में आरूढ हुए ज्ञान-बोध-को गूढ़ वाक्यों के द्वारा निरूपण किया है ।

'उत्सवे'–इस कारिका में माहात्म्य इत्यादि पदों का भी अभिप्राय कंस को अपना महात्म्य का ज्ञान कराने के लिये ही भगवान् ने छूने के अयोग्य भी धोबी का वध किया । जिससे कंस को श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् है, ऐसा ज्ञान हो जाए ।

कारिका—प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा कृतानेन हि राजसे ।
स्वासक्तिरग्रे वक्तव्या सामान्यं तेन सेत्स्यति ॥५॥

कारिकार्थ—उनको वरदान देकर भगवान् ने अपना माहात्म्य ज्ञान करा कर इस राजस प्रकरण मे प्रपञ्च का विस्मरण कराया । आगे मे -भगवान् मे- आसक्ति का निरूपण आगे करना है । इसलिए सामान्य -मध्यम- प्रकार का निरोध सिद्ध होगा ॥५॥

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—स्तुवतस्तस्य भगवान् दर्शयित्वा जले वपुः ।
भूयः समहरत् कृष्णो नटो नाट्यमिवात्मनः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं- राजन्! श्रीकृष्ण भगवान् ने इस प्रकार स्तुति कर रहे अक्रूर को जल के भीतर अपने अपूर्व शरीर का रूप दिखला कर फिर छिपा लिया, जैसे नट अपनी कला -नाट्य- दिखा कर फिर उसे छिपा लेता है ॥१॥

सुबोधिनी- पूर्वाध्याये स्तुतिरुक्ता तामुपसंहरन् अग्रे भगवत्कृतमाह स्तुवतस्तस्येति. तस्याक्रूरस्य स्तुवत एव सतः न तु स्तोत्रसमाप्तौ तथा सति वरो देयः स्यात्, ननु कथमेवं भगवान् कार्यं कृतवानित्याह भगवानिति, स्वच्छन्दात्मा, तावतैव कार्यसिद्धिं मत्वा. न हि ब्रह्मसाक्षात्कारः परमदुर्लभो बहुकालं भवति नाप्ययं वैकुण्ठे नीतः किन्तु जले स्ववपुर्ब्रह्माण्डात्मकं नारायणरूपं प्रदर्शितवान्, यथाविर्भावः तथा तिरोभावोऽपि वक्तव्य इति भूयः समहरत् उपसंहृतवान्. अनेन भगवति स्थित एवायं प्रपञ्चः ब्रह्माण्डात्मकः हस्तमिव प्रसार्य पुनरुपसंहृत इति निरूपितम् न तु तत्रस्थः मायाजवनिकादूरीकरणेन प्रदर्शित इति, यतोयं कृष्णः एतदर्थमेव सदानन्दोऽवतीर्ण इति, अन्तः स्थितमेव प्रदर्शितमित्यत्र दृष्टान्तमाह नटो नाट्यमिवेति. यथा नटोऽभ्यन्तरतः स्थितां बहिः प्रकटयत्यभिनयेन तथा भगवानप्येतादृश इति ज्ञापयितुं नारायणरूपं प्रदर्शितवानित्यर्थः, ननु नाट्ये वैलक्षण्यं प्रतीयते. न हि नाट्यमेतादृशमिति तत्राह आत्मन इति, अद्भुतमेतत् नाट्यं ॥१॥

व्याख्यार्थ—पहले -तेतीसवे- अध्याय में अक्रूर के द्वारा भगवान् की स्तुति करना कह कर उस का उपसंहार पूर्वक इस 'स्तुवतस्तस्य' श्लोक से भगवान् के कर्तव्य का वर्णन करते है । जब अक्रूरजी स्तुति कर ही रहे थे और उनकी स्तुति समाप्त नहीं हुई थी, तब ही भगवान् ने अपने उस रूप को अन्तर्हित कर -छिपा- लिया । यदि स्तुति पूरी होने के बाद अपने विग्रह को छिपाते तो भगवान् को अक्रूर के लिए वरदान देना होता ।

स्तुति पूरी न होने के पहले ही अपने दर्शन का अन्तर्धान -छिपा- कर भगवान् ने यह अपूरा

[illegible] शुक के वचन से कहते हैं कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं, सदानन्द स्वतन्त्र हैं। अपनी इच्छा के अनुसार ही बर्ताव करने वाले हैं। इसलिए उतनी सी -अधूरी- स्तुति से ही कार्य की सिद्धि -पूर्ति- मान कर अपने स्वरूप को छिपा लिया; क्योंकि अत्यन्त दुर्लभ ब्रह्म का साक्षात्कार -दर्शन- बहुत देर -समय- तक नहीं होता रहता है। भगवान् इन्हें -अक्रूर को- वैकुण्ठ में तो ले ही नहीं गए थे, किन्तु जल के भीतर ही भगवान् ने इनको ब्रह्माण्डों से भरपूर अपने नारायण रूप से ही दर्शन दिए हैं।

जिस प्रकार आविर्भाव -प्रकट होना- कहा; उसी प्रकार तिरोभाव -अन्तर्ध्यान- होना कहना भी उचित है। इसलिए भगवान् ने उस रूप का तिरोभाव कर लिया। इस कथन से यह बतलाया कि भगवान् में रहने वाले अनेक ब्रह्माण्डों से भरपूर इस जगत् को, जैसे किसी वस्तु को हाथ फैला-लंबा-करके खींच लेते हैं, वैसे ही खींच -समेट- लिया; किन्तु माया के पर्दे को हटा कर वहीं जल में विराजमान अपने स्वरूप के दर्शन भगवान् ने नहीं कराए। कारण यह है कि आप श्रीकृष्ण हैं और इसी लिए ही सदानन्द रूप से आपने अवतार लिया है।

भगवान् अपने हृदय में ही रहे हुए प्रपञ्च के दर्शन उसी तरह से कराए जैसे नट अपने में ही रही हुई नट विद्या को अभिनय द्वारा प्रकट करता है। भगवान् भी नट जैसे ही हैं, यह बतलाने के लिए अक्रूर को अपने नारायण रूप के दर्शन कराए। यद्यपि नाट्य में तो नट जिसका स्वाङ्ग लेता है, वह और नट दोनों अलग अलग होते हैं; किन्तु यह भगवान् का नाट्य है, अद्भुत नाट्य है। इसमें भगवान् दूसरे का रूप ग्रहण करते नहीं ज्ञात होते हैं, किन्तु जो दूसरों का रूप दिखाते हैं, वे रूप भी भगवान् के ही रूप हैं ॥१॥

श्लोक—सोपि चान्तर्हितं वीक्ष्य जलादुन्मज्ज्य सत्वरः ।
कृत्वा चावश्यकं सर्वं विस्मितो रथमागमत् ॥२॥

श्लोकार्थ—भगवान् को जल में न देख कर अक्रूरजी भी जल में से बाहर आ गए और शीघ्र सन्ध्या वंदन आदि आवश्यक नित्यकर्म करके आश्चर्य चकित होकर रथ पर आ गए ॥२॥

सुबोधिनी—सोपि भगवतैव कृतमिति ज्ञात्वा ज्ञाततत्त्वोन्तरङ्गः भगवत्समीपमागत इत्याह सोपीति, अन्तर्हितं स्वयमेव, अथवा चकारेण वा अन्तर्हि मध्ये हृदये तं वीक्ष्य बहिर्दृष्ट्यन्तः स्थापयित्वा,युक्तश्चायमर्थः अन्यथा दर्शनं व्यर्थं स्यात्, धर्मान्तरप्रवेशश्च स्यात्, सतो मयं च न निवर्तेत, अन्यथाबुद्धिश्च स्यात्, अत एव जलादुन्मज्ज्य स्नानविधिं त्यक्त्वा पूर्णो भूत्वा भगवदाराधनबुद्धिमत्त्व सत्वरः अन्यावश्यकं कर्म शीघ्रं विधाय चकारादकृत्वापि, कथमेवं दुर्लभं प्रदर्शितवानिति विस्मितः रथसमीपमागमत् न तु मननादिकं कृत्वा निवृत्तो जातः ॥२॥

व्याख्यार्थ—तत्त्वज्ञानी तथा अन्तरंग सेवक अक्रूरजी भी भगवान् के स्वरूप का जल में दर्शन नहीं होना -तिरोधान होना- जान कर भगवान् के निकट आ गए, यह इस 'सोपि' श्लोक से कहते हैं।

[illegible]
[illegible] जिनके बाहर दर्शन किये हैं, उनको हृदय में विराजमान करके अक्रूर जल से बाहर निकले। मूल श्लोक में 'च' शब्द समुच्चय बोधक है अर्थात् ये दोनों अर्थ ही करना चाहिये। इन दोनो अर्थों में भी पिछला अर्थ ही अधिक उचित है, क्योंकि यदि उस बाहर दर्शन किये हुए भगवान् के स्वरूप को हृदय में स्थापित नहीं करे तो भगवान् के दर्शन करना व्यर्थ हो जाय, अक्रूर का अन्य भगवान् से भिन्न धर्म में प्रवेश हो जाय उसका भय दूर न हो और उसकी बुद्धि विपरीत हो जाय।

इसीलिये अक्रूरजी जल से बाहर निकल कर स्नान की विधि का त्याग कर सज्ज-पूर्ण-हो कर, अपने किये-भगवान् के अपराध का विचार करके, अत्यन्त आवश्यक कर्म को शीघ्रता से करके,न भी करके रथ के समीप आ गये। वह मन में आश्चर्य कर रहे थे कि भगवान् ने मुझे ऐसे दुर्लभ दर्शन कैसे कराये,किन्तु फिर भी कंस की आज्ञा से भगवान् को मथुरा ले जाने को तत्पर रहे। भगवान् के ऐसे दुर्लभ दर्शन करके भी "दर्शन का" मनन न करके कंस की आज्ञा का ही ध्यान रखा ॥२॥

श्लोक—तमपृच्छत् हृषीकेशः किं ते दृष्टमिहाद्भुतम्।
भूमौ वियति तोये वा तथा त्वां लक्षयामहे ॥३॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने अक्रूर से पूछा—अक्रूर! तुम ने पृथ्वी पर, आकाश में तथा जल के भीतर कोई अद्भुत बात देखी है क्या? मुझे तुम्हारे मुख मण्डल पर कुछ विस्मय के चिन्ह दीख पड़ते हैं। इसी से ऐसा अनुमान होता है ॥३॥

सुबोधिनी—तदा भगवान् विस्मयांशोऽनुचित इति तन्निवृत्यर्थं किञ्चित् पृष्टवानित्याह तमपृच्छदिति, यदि भगवत्पृष्टं वदेत् अन्यस्यापि वदेत् तदा न माहात्म्यं तस्य हृदयारूढं, भगवतोपि यदि न वदति तदान्यस्मै कथनसम्भावनैव न भवति, **हृषीकेश** इति, स्वयमेव तथा प्रेरितवान्, इच्छानिवर्तनार्थं पर पृष्टवानिति किं ते त्वया **दृष्टमिति**, इहास्मिन् जलाशये जलादिकं वस्त्वेव दृष्टमिति तद्व्यावृत्यर्थमाह अद्भुतमिति, अलौकिकमदृष्टपूर्वमद्भुतं, दृष्टं वस्तु अन्याधारं जानाति न वेति तन्मनोनिश्चयार्थं स्थानानि निर्दिशति, **भूमौ वियति तोये वेति**, दर्शनसमये भूमिरिव दृष्टा युक्तया गन्धर्वनगरादिवत् आकाशेपि दर्शनं सम्भवति निमज्ज्य पश्यतीति जल एव भवति, वेत्यनादरे यत्र क्वचित्, अवश्यं दृष्टमिति अलौकिकं ज्ञानं गोपयितुमाह तथा त्वां लक्षयामह इति, अद्भुतदर्शनमिव, स ह्याश्चर्याभिनिविष्टः प्रपञ्चविस्मृतकार्यं च न स्मरतीति ॥३॥

व्याख्यार्थ—उस समय भगवान् ने अक्रूरजी को कुछ आश्चर्य में मग्न देखा, यह विस्मय का अंश रहना अनुचित जान कर उसे दूर करने के लिये भगवान् ने उनसे कुछ पूछा, यह इस 'तमपृच्छत्'-श्लोक से कहते हैं।

यदि भगवान् के पूछने पर उनसे कह देता तो दूसरे के पूछने पर दूसरा भी कह देगा, तब तो यही जाना जायगा कि भगवान् का माहात्म्य उसके हृदय में दृढ़ आरूढ़ नहीं हुआ और यदि

भगवान् के पूछने पर भी नहीं कहे तो औरों से कहने की सम्भावना ही नहीं रहती है। स्वयं भगवान् ने ही ऐसी प्रेरणा की और दूसरों से कहने की उनकी इच्छा को रोक रखने के लिये प्रश्न किया, क्योंकि आप हृषीकेश-"हृषीक-इन्द्रियों के ईश-प्रेरणा करने वाले" हैं।

भगवान् ने उनसे पूछा कि इस जलाशय में तुमने क्या अद्भुत दृश्य देखा ? अक्रूरजी इस प्रश्न का उत्तर साधारण जल का बड़ा प्रवाह देखना आदि ही देकर चुप न हो जाय। इसलिये प्रश्न में अद्भुत शब्द दिया है। पहले कभी न देखा हो ऐसे अलौकिक को ही अद्भुत कहते हैं। पृथ्वी पर, आकाश में अथवा जल के भीतर शब्दों को अक्रूर के मन का निर्णय-निश्चय-जानने के लिये कहा है कि क्या यह इस देखे हुए अद्भुत दृश्य का आधार किसी अन्य को माना है या नहीं ? अक्रूर ने जिस समय देखा तब पृथ्वी पर और आकाश में भी गन्धर्वनगर "मृगतृष्णा" के जल को भूमि में नगर का बस जाना, उलटा हो जाना" सा देखा क्या ? अथवा जल में डूब कर देखने से जल में ही देखा हो। अथवा शब्द अनादर सूचक है अर्थात् जल, थल, आकाश कहीं भी देखा हो।

अक्रूर तुमने अवश्य देखा है। इस प्रकार के अपने अलौकिक ज्ञान को गुप्त रखने-छिपाने-के लिये तुमने कहीं कुछ अद्भुत देखा होगा, ऐसा प्रश्न किया है, क्योंकि तुम आश्चर्य में डूबे से दिखाई देते हो और जगत् का तथा आगे अपने कर्तव्य का तुम्हें स्मरण नहीं रहा हो।३॥

कारिका—प्रसन्नो ह्यन्यथा दृष्टिरद्भुतार्थनिरीक्षकः।
तादृशं भगवान् दृष्ट्वा दर्शनं कल्पयेत् पुनः ॥१॥

कारिकार्थ—शरणागत जीव यदि भगवान् के अतिरिक्त अन्य में दृष्टि रखने वाला (अन्यथा दृष्टि) होता है, तभी वह अद्भुत पदार्थों को देखने वाला होता है। भगवान् ने अक्रूर को अन्यथा दृष्टिवाला मान कर फिर उसके अद्भुत देखने की कल्पना की ॥१॥

अक्रूर उवाच—

श्लोक—अद्भुतानीह यावन्ति भूमौ वियति वा जले।
त्वयि विश्वात्मके तानि किं मेऽदृष्टं विपश्यतः ॥४॥

श्लोकार्थ – अक्रूर ने कहा—भगवान्! पृथ्वी, आकाश अथवा जल में जो कुछ अद्भुत है, वे सब आप में विराजमान हैं, क्योंकि आप विश्व रूप हैं। मैंने जब आपके विशेष रूप से प्रत्यक्ष दर्शन कर लिए, तब कौन सी अद्भुत वस्तु नहीं देखी ? ॥४॥

सुबोधिनी—अक्रूरस्तु ज्ञातमाहात्म्यः तत्र ...न्यत उत्तरमाह अद्भुतानीति, स्वरूपमाधारः भगवत्त्वमिति ईश्वरपृष्टं वक्तव्यमिति ज्ञात्वा सामा... यावन्तीति प्रदेशान्तरप्रश्नोनुगामत, सोपि वा प्रदेशः

त्वय्येवाश्रयीति न त्वत्तोऽन्यत्राश्चर्यमिति, त्वद्दर्शनं तु अद्भुतमेवेति चिन्हमत्यल्पमिनायर, इहापि अस्मिन् समये देशे वा, भूमौ वियति जले वा यान्यद्भुतानि तानि त्वय्येव यतस्त्वं विश्वात्मकः, विश्वस्मिन्नेव अद्भुतानि भवन्ति, अतस्तानि किं मे मया न दृष्टानि यतस्त्वा विपश्यतः, अदृष्टस्तु त्वं केनापि. अतस्त्वादृशं त्वमेव नास्ति केनापि दृष्टत्वात् भगवांस्तु सर्वादृष्टः, तादृशमदृष्टं भगवन्तं विपश्यतो मे किं तानि न दृष्टानीत्यर्थः, तानीति पूर्वोक्त वा अनुवाद., सर्वाद्भुताधारे दृष्टे नादृष्टं किञ्चिदवशिष्यत इति आशयोक्तः ॥४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के माहात्म्य को जानने वाले अक्रूर ने स्वयं देखा, उसे नही कहना चाहिये और भगवान् के पूछने पर तो कहना चाहिये। ऐसा समझ कर इस 'अद्भुतानीह' श्लोक से साधारण रूप से अक्रूरजी उत्तर देते हैं। हे भगवान्! सब का रूपवाले तथा सबके आधार आप ही हैं। इसलिये किसी अन्य स्थान में अद्भुत वस्तु के देखने का प्रश्न अनुचित है अथवा अन्य किसी स्थान पर देखा हो तो वह स्थान भी तो आप ही में है। आपके अतिरिक्त अद्भुत पदार्थों के रहने का कोई ठिकाना नहीं है। आप का दर्शन भी तो अद्भुत ही है। इसलिये इन सारे अद्भुत पदार्थों का आप मे होना अपवाद रहित है। सभी अद्भुत पदार्थों का आप में रहना चिन्ह-होना-किसी भांति भी दूषित नहीं है।

इस समय में अथवा भूमि, आकाश और जल में जितने भी कहीं भी अद्भुत दृश्य हैं, वे सारे के सारे आप में ही हैं, क्योंकि आप विश्वरूप ही ठहरे और विश्व में ही सब विचित्र-अद्भुत-होते हैं, "हो सकते है"। तब आप के दर्शन कर लेने वाले मैंने कौन से अद्भुत दृश्य न देख लिये अर्थात् सारे ही देख लिये। आपके दर्शन तो कोई कर ही नहीं सकता और आपके अतिरिक्त किसी अन्य दूसरे में अद्भुतता है ही नहीं, जो किसी ने देखी है आप भगवान् तो सबसे ही अदृश्य हैं "किसी से भी नहीं देखे जा सकते हैं।" तात्पर्य यह है कि उन किसी से भी नहीं देखे हुए भगवान् के दर्शन करने वाले मैंने तो वे पहले (ऊपर) कहे हुए सारे ही अद्भुतों को देख लिया है, क्योंकि सारे अद्भुतों का आधार "भगवान्" के देख लेने पर कोई अद्भुत शेष (बाकी) नहीं रहता है। इसलिये मैंने अद्भुत जैसा देखा है, वैसा अनुमान करना उचित नहीं है ॥४॥

श्लोक—यत्राद्भुतानि सर्वाणि भूमौ वियति वा जले ।
तं त्वानुपश्यतो ब्रह्मन् किं मेदृष्टमिहाद्भुतम् ॥५॥

श्लोकार्थ—हे परमेश्वर! पृथ्वी, आकाश अथवा जल में होने वाली सारी अद्भुत बातों के एक मात्र आप ही आधार है। सर्वाधार उन -आप- के दर्शन करने वाले, मैंने अब कौनसा अद्भुत दृश्य नही देखा? अर्थात् सारे ही अद्भुत दृश्य देख चुका हूँ ॥५॥

सुबोधिनी—कदाचिदयमुपचाराद् वदतीति । दद्भुतानि लोके दृश्यन्ते तानि त्वय्येव वस्तुतः, पुनः प्रश्नाशङ्कायामाह यत्राद्भुतानीति, यत्र क्वचि- । अतो येनकेनचिदपि त्वय्येव नाद्भुतानि दृष्ट-

यानि तदा त्वां पश्यतो मे किं वा अद्भुतमदृष्टं अनेन तथापि त्वमेवाद्भुतो दृष्टः त्वय्येव च दृष्ट त्वमेव स... तदिति सर्वाधारत्वमेवेत्याभ्या- ... न ... भगवत्... निर्दिशति तं त्वेति, ब्रह्मन्निति तत्समर्थनायोप- पत्तिः ॥५॥

व्याख्यार्थ—अक्रूर ये सब बातें उपचार-... से कह रहा है, ऐसा मान कर भगवान् कदाचित् फिर पूछेंगे, ऐसी शंका करके यह "यत्राद्भुतानि" श्लोक कहते हैं। लोग जहां भी अद्भुत दृश्य देखते हैं, उन सभी स्थानों में वस्तुतः अद्भुतता आप में ही है। इसलिये जो कोई भी अद्भुत देखने वाले लोग आप में ही अद्भुत "दृश्यों" को देखते हैं, तब फिर आपके दर्शन कर लेने वाले मेरा कौन सा अद्भुत बिना देखा है? इसलिये वहां जल में भी मैंने अद्भुत आप का ही दर्शन किया तथा आप में ही सारा अद्भुत को देखा। आप ही अद्भुत हैं, क्योंकि आप ही सब के आधार हैं। इसलिये आधार सम्बन्धी प्रश्न करना ही अनुचित है। उन आप भगवान् का श्लोक में 'तंत्वा' (उन आपको) पदों से आधार रूप से निर्देश करते हैं और इस सर्वाधारता का समर्थन 'ब्रह्मन्' इस सम्बोधन से प्रदर्शित किया है ॥५॥

श्लोक—इत्युक्त्वा चोदयामास स्यन्दनं गान्दिनीसुतः ।
मथुरामनयद् रामं कृष्णं चैव दिनात्यये ॥६॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं—यों कह कर गान्दिनी के पुत्र अक्रूर ने रथ को हाँक दिया और सांयकाल होते होते श्रीकृष्ण तथा बलरामजी को मथुरा में लिवा लाए ॥६॥

सुबोधिनी—एवं परोक्षेणोत्तरमुक्त्वा भगव- दिच्छां ज्ञात्वा रथं प्रेरितवानित्याह इत्युक्त्वेति, भगवद्वाक्ये नावहेलेति उत्तरमुक्त्वा पश्चाद् रथं नोदयामास,ननु कास्योत्तालता तथा ज्ञात्वा भग वान् सम्यक् प्रसादनीयः किं वा भगवतः कार्यं तुच्छं हि तत् तत्राह गान्दिनीसुत इति, गोदानेन चोत्पन्ना गोरूपैव भवति तस्याश्च पुत्रः सौरभेय एव परं भगवन्त मथुरां प्रापयन्, रामो हि रति- कर्ता कृष्णश्च तत्फल सदानन्दः, स चेत् नगर्यां प्रतिष्ठितो भवति तदा तत्रत्यानां निरन्तरमेव सुखं भवतीति, दिनात्यये सन्ध्याकाले, सा हि गोधूलि- काप्रवेशे सुमुहूर्ता भवति, चकारात् मध्ये स्थितान् सर्वानेव, भगवदिच्छयैव सन्ध्याकालोऽपि अपराह्णो भविष्यति, यावता च कालेन कार्यं भविष्यति तावान् कालो ग्राह्यः,अन्यथा दिनात्ययपदं बाधितं स्यात्, अध्ययारम्भे वा मध्याह्नोपरि, मध्याह्ने अतिक्रान्ते दिनमतिक्रान्तमेवेति, मथुरास्थदिनाना दा दुःखदानात्यये ... वा ॥६॥

व्याख्यार्थ - इस प्रकार परोक्ष गूढ रीति से उत्तर देकर अक्रूर ने भगवान् की इच्छा जान कर रथ आगे हांका, यह इस "इत्युक्त्वा" श्लोक से कहते हैं। भगवान् के प्रश्न की अवहेलना नहीं की जा सकती, इसलिये "भगवान् के" प्रश्न का उत्तर देने के बाद रथ आगे हांका। अक्रूर में ऐसी क्या उत्तमता थी कि वह इस तरह भगवान् की इच्छा जान कर उन्हें अच्छे, प्रकार से प्रसन्न कर सके? और भगवान् को ही आगे पधारने का ऐसा कौन काम था? क्योंकि वह काम तो तुच्छ था,

ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि वह "अक्रूर" गान्दिनी का पुत्र है। गायों के दान करने से उत्पन्न हुई गान्दिनी गाय जैसी ही होती है और उसका पुत्र भगवान् को मथुरा पहुँचाने वाला बैल, क्योंकि राम रति "रमण" करने वाले और "श्रीकृष्ण" उस रति का 'फल' सदानन्द है, यदि वे नगरी में निवास कर लेते हैं तो नगरी के सारे निवासियों को सदा ही सुख की प्राप्ति होगी।

दिन के अन्त में अर्थात् सायंकाल में मथुरा (भगवान् को) लाया क्योंकि सायंकाल गोधूलि "जिस समय गायें वन में से ग्राम में आती हैं" वेला नगरी में प्रवेश करने का उत्तम मुहूर्त होता है। मार्ग में रहने वाले "लोगों" को भी भगवान् के दर्शन के लिये मथुरा लेते आये। भगवान् की इच्छा से ही सन्ध्या काल भी पिछला पहर हो जाएगा, और मथुरा पहुँचने के बाद उस दिन का कर्तव्य कार्य पूरा हो सके, इतना समय भी लेना उचित है। इतने समय पहले न पहुंचते तो दिन के अन्त में कहना व्यर्थ-बाधित-हो जाएगा, इसलिये गोधूलि वेला में ही मथुरा पहुँच गये।

अथवा दिन के अन्त का आरम्भ होते २ अर्थात् मध्यान्ह पीछे मथुरा पहुँच गये, क्योंकि मध्यान्ह के बीत जाने पर दिन का अन्त होना ही गिना जाता है। अथवा मथुरा निवासियों को दुःख देने वाले दिन का अन्त अथवा स्वयं "अक्रूर को" दुःख देने वाले दिन का अन्त होते समय अक्रूरजी भगवान् को मथुरा ले आये ॥६॥

श्लोक—मार्गे ग्रामजना राजन् तत्र तत्रोपसङ्गताः।
वसुदेवसुतौ वीक्ष्य प्रीता दृष्टिं न चाददुः ॥७॥

श्लोकार्थ—मार्ग में जाते समय श्रीकृष्ण और बलदेव जिस गाँव के निकट पहुँचते थे, उस गाँव के निवासी लोग उनके पास आकर उनके अनूप रूप को देखकर प्रीतिपूर्वक एकटक उन्हें निहारते ही रह जाते थे। दोनों भाईयों के मनोहर वेष को देख कर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥७॥

सुबोधिनी—ततो भगवान् शनैर्गच्छन् सर्वानन्दकरो जात इत्याह **मार्ग** इति, मध्ये ये **ग्रामाः** तदीया वा सर्वत्र **मार्गे**, राजन्निति सम्बोधनं तथानुभवाय, **तत्र तत्रेति**, न देशविपर्यस्तेषां दर्शने, अभिप्रेते अनभिप्रेते च देशे उपसङ्गताः निकटे समागताः, **वसुदेवसुतावेताविति वीक्ष्य** सम्बन्धात् स्वरूपाच्च **प्रीताः** भगवते स्वदृष्टयः चकारात् सर्वमपि दत्त्वा **नाददुः** न पुनर्गृहीतवन्तः, सामान्येन मार्गस्थानां निरोध उक्तः, दृष्टेरग्रहणे हेतुः प्रीताः इति, प्रीतिरेव दानफलं जातमिति पुनः कथं ग्रहणं भवेत्, सुखार्थमिन्द्रियाणां परिग्रहः, तस्मिन् जाते न प्रवर्तन्त एव, सेवामविका बुद्धिर्जातेति वसुदेवसुतयोरिति ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—मार्ग में मन्दगति से पधारने वाले भगवान् ने सब को आनन्द दिया, यह "मार्गे" इस श्लोक से कहते हैं। बीच में जो गांव थे और उन के रहने वाले सभी लोग जो मार्ग में थे, वे सभी एक टकटकी से भगवान् (वसुदेव के पुत्र) कृष्ण, बलराम को देखते ही रहे। महा परीक्षित को ऐसा अनुभव है, इस बात को सूचित करने के लिये श्लोक में "राजन्" यह सम्बोधन दिया है।

स्थान स्थान पर अर्थात् वसुदेव पुत्र उन दोनों के दर्शन करके मे गिरे। स्थान का गौरव-महत्त्व-नहीं था। वांछित और अवांछित देश-स्थान में वे सब भगवान् के समीप आ गए। ये दोनों वसुदेव के पुत्र है, यह देख कर उनके सम्बन्ध और स्वरूप से वे प्रीतिपूर्वक उन दोनों भाईयों को निहारते रहे और उन्होंने अपना सर्वस्व भगवान् के समर्पित करके वापस नहीं लिया। इस कथन से मार्ग में रहने वाले लोगों का सामान्य रीति से निरोध सिद्धि का निरूपण किया है। श्रोता "प्रीति वाले" शब्द से दृष्टि को भगवान् के श्री अंग के अवलोकन में लगा कर पीछी 'वापस' न खींचने मे कारण कहा है। दृष्टि के दान (लगाने) का फल प्रेम ही हुआ। इसलिये वे उस प्रीतिरूप फलवाली दृष्टि को वापस कैसे खींच हटा लेते ? लोग सुख के लिये इन्द्रियों को रखते हैं और सुख मिल जाने के बाद इन्द्रियों को प्रवृत्ति ही नहीं होती है। श्रीकृष्ण और बलरामजी को देख कर उन लोगों की अधिकतर ये 'परब्रह्म पुरुषोत्तम है', ऐसी बुद्धि नहीं हुई, इसीलिये 'वसुदेव पुत्र' ऐसा कहा है ॥७॥

श्लोक—तावद् व्रजौकसस्तत्र नन्दगोपादयोग्रतः ।
पुरोपवनमासाद्य प्रतीक्षन्तोवतस्थिरे ॥८॥

श्लोकार्थ—इस बीच में नन्दादि व्रजवासी गोप जन पहले ही पहुँच चुके थे। वे नगरी के बगीचा-उपवन-में ठहर कर कृष्ण बलदेव की आने को राह देख रहे थे ॥ ८ ॥

सुबोधिनी—भगवद्गमनात् पूर्वमेव नन्दादयः मथुरोपवनपर्यन्तं गताः अग्रे भगवति समागते गन्तव्यमिति प्रतीक्षयैव स्थिता इत्याह तावदिति, यतस्ते व्रजौकसः अनावृत एव देशे स्थातुं योग्याः अत एवाग्रेपि गताः, बहवो बालकाः भगवन्मित्राणि सहैव स्थिताः नन्दगोपादय एव परं वृद्धाः पूर्वं गता उपवनं नानाविधफलप्रधानं मथुरा निकटस्थं अवतस्थिरे केवलं स्थिताः न तु तत्स्थिति योग्यं साधनमपि सम्पादितवन्त इत्यर्थः, अनेन व्यवहार एव भगवतोपि प्राधान्यं सूचितम् ॥८॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के मथुरा पहुँचने के पहले ही नन्द आदि वहां पहुँच गये और भगवान् पधारें तब आगे चलेंगे, इस विचार से उनकी राह ही देखते रहे। यह इस "तावद्" श्लोक से कहते हैं। वे व्रजवासी थे, इसलिये खुले स्थान में ही रहने योग्य थे और इसीलिये वे भगवान् के पहले ही मथुरा पहुंच गये। अनेक गोपबालक जो भगवान् के (मित्र) सखा थे। भगवान् के साथ ही थे। केवल वयोवृद्ध नन्द आदि ही आगे गये थे और वे भी मथुरा के निकट अनेक प्रकार के फलों के कारण प्रसिद्ध बगीचे के पास जा कर खड़े ही रहे। उन्होंने भी वहां अपने रहने योग्य साधन एकत्रित नहीं किये थे। इस कथन से यह सूचित किया है कि व्यवहार में भी भगवान् ही मुख्य थे ॥८॥

श्लोक—तान् समेत्याह भगवानक्रूरं जगदीश्वरः ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रश्रितं प्रहसन्निव ॥९॥

श्लोकार्थ—भगवान् जगदीश्वर श्रीकृष्ण भी उन लोगों से आ कर मिल गये।

इसके अनन्तर श्रीकृष्ण ने नम्र भाव से खड़े हुए अक्रूर का हाथ अपने हाथ में लेकर पकड़ कर हंसते हुए कहा। ॥९॥

सुबोधिनी—ततोक्रूरविसर्जनमाह तानसत्येति, अक्रूरे स्थिते लोकव्यवहारे पितृव्य इति स्वच्छन्द-लीला नोचितेति व्यवहारेपि निर्बन्धेन नागत इति ख्यापयितु तान् नन्दादीन् **समेत्य अक्रूरं प्रत्याह भगवानिति**, निःशङ्कः, बहिः स्थिते कंस कदाचिदुपद्रवं कुर्यादिति शङ्काभावायाह **जगदीश्वर** इति, स एव हि जगतो नियन्ता स्वामी ऐश्वर्यं गुप्तं कृत्वा सख्यबन्धुत्वादिप्रकटनार्थं पाणिना **पाणि गृहीत्वा** तेन नम्र **प्रहसन्** व्यामोहयन् पूर्वावस्थां तस्य सम्पादयन् वक्ष्यमाणमब्रवीत् भगवद्वाक्ये चित्तदार्ढ्यार्थं पृथक् निरूपणम् ॥९॥

व्याख्यार्थ—तब भगवान् ने अक्रूर को मथुरा में जाने की आज्ञा दी जो "तावत्" इस श्लोक से कहते है।

लोक व्यवहार में अक्रूरजी भगवान् के काका होते हैं। इसलिये उनके साथ रहने पर स्वच्छन्द रीति से लीला करना उचित नहीं, इसलिये तथा बहुत आग्रह करने पर भी भगवान् अक्रूर के साथ-साथ नहीं पधारे ऐसी बात को प्रसिद्ध करने के लिये भी भगवान् उन नन्द आदि गोपों के पास आकर अक्रूरजी से बोले—भगवान् निःशंक है, उन्हें यह शंका जरा भी नहीं थी कि बाहर रहने पर कंस कुछ अनिष्ट कर देगा, क्योंकि सारे ही जगत् के स्वामी नियन्ता तो आप स्वयं ही है। फिर भी अपने ऐश्वर्य को गुप्त 'छिपा' रख कर मित्रता के तथा जातीय सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये भगवान् अपने श्रीहस्त से विनीत अक्रूर का हाथ पकड़ कर हंसते हसते अक्रूर को मोहित करते हुए और उसको पहले की यमुनाजी के जल में अद्भुत दर्शन की स्थिति में लाकर यों अगले दसवे श्लोक मे कहे प्रकार से कहने लगे। भगवान् के वचनामृत में चित दृढ़तापूर्वक लगने के लिये भगवान् के वाक्यो को अलग दशवे श्लोक मे कहा गया है ॥९॥

श्लोक—भवान् प्रविशतामग्रे सहयानः पुरीं गृहम् ।
वयं त्विहावमुच्याथ तावत् द्रक्ष्यामहे पुरीम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—आप रथ लेकर पहले नगर में चलिये और अपने घर में विश्राम करिये। हम लोग थोड़ी देर तक यहीं ठहरेंगे और फिर पुरी की शोभा देखेंगे ॥१०॥

सुबोधिनी—वचनमेवाह भवानीति, असम्बन्ध ख्यापनार्थं **भवानीति**, अस्मत्प्रवेशात् **पूर्वमेव**, अन्यथा तव कार्यं कृतमपि उपद्रवादकृतं गणयेत कंसः, ततो गृहेपि त्वया गन्तव्यं, अन्यथा कंसः अस्मन्निषेधार्थं त्वां प्रेरयेत्, तच्चानुचितं, यथा तवापराधो न भवति तदर्थं वयमिहैव प्रतिमुच्य शिबिरं कृत्वा अथ भिन्नप्रक्रमेण, तावत् यावत् कंसः आकारयिष्यति तावत् पुरीं द्रक्ष्यामः, कीदृश पुरी सम्यक् स्थापिता न वेति ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ—"भवान्" इस श्लोक से भगवान् के वचन का वर्णन करते है। अक्रूर और

[illegible] सम्बन्ध [illegible] अक्रूर को साथ [illegible] इसलिये [illegible] दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा बतलाने के लिये "आप पहले जाइये" यों कहा है। हमारे मथुरा में प्रवेश करने के पहले आप जाइये। यदि आप "अक्रूर" के पहले नहीं जाओगे तो कंस तुम्हारे किये हुए काम को खींचा-खींची आदि भावी उपद्रव के कारण नहीं किया हुआ मान लेगा। फिर आप अपने घर भी जाओ। यदि घर नहीं जाओगे तो कंस हम को रोकने के लिये आप को ही भेज देगा और यह अनुचित होगा। जैसा आप (अक्रूर) का अपराध न माना जावे, वैसे हम यहां ही विश्राम करके और फिर-प्रथ-भिन्न रीति से आरम्भ करके कंस बुलावेगा, तब कंस ने पुरी की सजावट-व्यवस्था-ठीक ठीक की है या नहीं पुरी को देखेंगे ॥१०॥

अक्रूर उवाच

श्लोक—नाहं भवद्‌भ्यां रहितः प्रवेक्ष्ये मथुरां प्रभो।
त्यक्तुं नार्हसि मां नाथ भक्तं ते भक्तवत्सल ॥११॥

श्लोकार्थ—अक्रूर ने कहा—हे प्रभो, आप दोनों को यहाँ छोड़ कर मैं अकेला पुरी में नहीं जाऊंगा। हे भक्तों पर प्रेम रखने वाले नाथ मैं आपका भक्त हूँ, मुझे मत छोड़िये ॥ ११ ॥

सुबोधिनी—भगवान् मध्ये उदासीनमिवोक्तवानिति तदसहमानः किञ्चित् प्रार्थयति नाहमिति षड्भिः, सर्वे हि भगवद्गुणास्तेन वर्णनीया इति, सम्बन्धं ज्ञातवान् यथा कंसादयस्तथायमिति ज्ञात्वा भगवान् मां दूरीकरोतीति, एवं सति भगवान् स्वच्छन्दलीलां करोतु नाम मयाप्यत्रैव स्थातव्यं क्वचित् न तु भगवद्रहितं पुरं गृहं वा प्रवेष्टव्यं, अत एव वैराग्यविधिः भगवदभावे गृहादिकं त्यक्तव्यमिति अतो, भगवद्‌भ्यां रहितः शब्दब्रह्मपरब्रह्मभ्यां मधुदैत्ययुक्तां तत्सम्बन्धिनीं मथुरां प्रवेक्ष्ये 'नतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेद् यदि प्रविशेत् मिथो चरित्वा प्रविशे'दिति श्रुतेः, शङ्का तु तव नास्तीत्याह प्रभो इति, अतः परमनागमने मत्यागो हेतुः, तत् न कर्तव्यमिति प्रार्थयति, त्यक्तुं नार्हसीति, नाथे त्यक्ते न कापि पाल्यानां गतिर्भवतीति, तत्रापि भक्तं, तत्रापि ते, अवतारलीलाविशेषभक्तं, कार्यार्थं त्याग इति चेत् तत्राह भक्तवत्सलेति, भक्तेषु वात्सल्यं तिष्ठतीति न कदाचिदपि भक्तास्त्यक्तव्याः ॥११॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के बीच में असम्बन्धी का व्यवहार दिखलाने के कारण उदासीन भाव को सहन नहीं कर सकने वाले अक्रूरजी "नाहं" इस श्लोक से आरम्भ करके छः श्लोकों से भगवान की प्रार्थना -किसी प्रकार- करते हैं। भगवान् के ऐश्वर्य, वीर्य आदि छः गुणों का वर्णन करना चाहिये, इसलिये छः श्लोक हैं। अक्रूर और भगवान् के सगे सम्बन्ध को जान कर कंस अक्रूर के साथ दुर्व्यवहार करे। इस अभिप्राय से सम्बन्ध का अभाव कहा गया है। अक्रूर ने यह विचारा कि भगवान् मुझे (अक्रूर) को भी कंस की तरह पराया मान कर दूर करते हैं। यदि ऐसा हो तो भगवान् भले ही स्वेच्छानुसार स्वच्छन्द लीला करें, परन्तु मुझे भी यहीं कहीं रहना चाहिये। भगवान् के बिना (छोड़ कर) नगरी में अथवा घर में प्रवेश नहीं करना चाहिये। इसीलिये वैराग्य

का नियम है कि जहां भगवान् की प्राप्ति न हो, ऐसे घर आदि त्याग देने चाहिये। इसको "ऋषि अगि बिना नगर में प्रवेश न करे जो प्रवेश करें तो दो मिल कर प्रवेश करें", इस श्रुति के अनुसार मैं मधु शब्दब्रह्म आप दोनों के बिना मधुदैत्यवाली(मधुदैत्य की सम्बन्धिनी)मथुरा में प्रवेश नहीं करूंगा।

आपको कोई भय तो है ही नही, क्योंकि आप तो प्रभु हैं, सर्वशक्ति मान है। इसलिये यहां बगीचे से आगे नहीं पधारने का कारण केवल मेरा त्याग करना ही है। हे प्रभो भक्तवत्सल! मेरा त्याग करना (आपको) उचित नही है, क्योंकि मैं तो भक्त हूं और भक्त भी आपका ही हूं। स्वामी के त्याग करने पर सेवकों का कोई रक्षक नहीं है। कार्य विशेष के लिये त्याग भी कर देना पड़ता है, ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि आप तो भक्त वत्सल है। भक्तों पर आपका प्रेम रहता है। इस-लिये भक्त का किसी समय में भी त्याग करना उचित नही है॥११॥

श्लोक—आगच्छ याम गेहान् नः सनाथान् कुर्वधोक्षज।
सहाग्रजः सगोपालैः सुहृद्भिश्च सुहृत्तम॥ १२॥

श्लोकार्थ—हे अधोक्षज, हे परम मित्र, आप अपने बड़े भाई बलदेवजी, गोप ग्वाल और मित्रों के साथ हमारे घर पधारो और हम लोगों को सनाथ बनावें (करो) ॥ १२॥

नगरेऽस्थान नास्तीति चेत् तत्राह **आगच्छेति**, सर्वः सहागच्छ, गृहं तुल्यमिति स्थापयितुं याम इति सर्वेषा गमनं तुल्यं निरूपितं, नो गेहानिति बहवो वयं भ्रातरः, एकैकस्य गृहा अपि बहवः, अतो न स्थलसङ्कोचः, ननु विशेषाभावादत्रैव स्थातव्यमिति चेत् तत्राह सनाथान् कुर्विति, यो हि प्रभुर्भवति स स्वगृहे तिष्ठति न त्वन्यगृहे, यद्यस्मद्गृहे त्वया न स्थितं स्यात् तदा अस्मन्नाथो न भवेः, तदा वयमनाथाः, अतः सनाथान् कुरु, अस्मत्सम्बन्धेन तवापराधो भविष्यतीति चेत् तत्राह **अधोक्षजेति**, ज्ञानविषय एव त्वं न भवसि कुतस्तरां क्रियाविषयो भविष्यसीति, अनेन भगवतो ज्ञानशक्तिर्निरूपिता, 'यस्यामतं तस्य मतं मिति, तर्ह्येकाकी समागमिष्यामीत्याशङ्क्याह सहाग्रज इति, तत्राप्यग्रजस्य सुतरामेव न भयं मान्दश्च, गोरक्षणधर्मात् प्रचातुर्याच्च गोपालानां भयशङ्कैव नास्ति, त्वयि सति केषा-मपि न भयमिति भवतु सुहृद्भिः सहेति, **गोपाला** एव सुहृदः नन्दादयो वा बान्धवाः, **चकारात्** सर्वे सेवकाः अनांसि वृषभादयश्च, ननु कथमेता-वद्भिः सह गन्तव्यमिति चेत् तत्राह सुहृद्भिश्च सुहृत्तमेति, स्वामी भवानत्यन्त सुहृत्, भवत्सम्ब-न्धिनः सुहृत्तराः, अन्ये सेवकादयः सुहृदः, अतः सर्वैरेवागन्तव्यम्॥१२॥

व्याख्यार्थ—नगर में आपके विराजने का स्थान न हो? ऐसी शंका के समाधान में 'आगच्छ' यह श्लोक कहते है। आप सबको साथ लेकर पधारो। घर सब के लिये समान ही है। इसलिये याम "हम सब चलें" सब का समान रीति से घर चलना कहा है। हमारे घरों को चलिये। इस कथन का अभिप्राय यह है कि हम बहुत भाई हैं और अनेक हैं। इसलिये स्थान की कमी (संकोच) नहीं है।

घर आने का कोई कारण नहीं होने से वहां बगीचे में रहना ही उचित है? इसलिए कहते हैं कि नाथवाले-सनाथवाले-कीजिये, क्योंकि स्त्री-स्वामी-आने ही घर रहता है, दूसरों के घर नहीं रहता। यदि आप हमारे घर नहीं रहोगे तो हमारे नाथ हो, यह कैसे जाना जावेगा? तब तो हम अनाथ ही हैं। इसलिये हमारे घर पर पधार कर हमें सनाथ करें।

ऐसा करने (घर चलने) पर तेरे (अक्रूर के) साथ भगवान् का सम्बन्ध जान कर कंस तेरा (अक्रूर) का कुछ अपराध समझेगा। इस बगीचे में ही ठहरना ठीक है, ऐसी शंका के समाधानार्थ कहते हैं कि आप (भगवान्) तो अधोक्षज हैं। आप तो इन्द्रिय जन्य ज्ञान से बहुत ऊंचे (दूर) हैं। इन्द्रियां तो आप तक पहुँच नहीं सकती हैं, इसलिये आप किसी जीव के ज्ञान विषय नहीं, इसी तरह से क्रिया के विषय भी आप नहीं हैं, क्योंकि स्वरूप को जान कर ही प्रेम अथवा विरोध किया जाता है। क्रिया तो ज्ञान होने के बाद की वस्तु है। भगवान् को तो जाननेवाला नहीं जानता और नहीं जाननेवाला जानता है, इस श्रुति से भगवान् की ज्ञान शक्ति का निरूपण किया है।

आप अकेले ही न पधारें, किन्तु बड़े भाई, बलदेवजी के साथ पधारें। बलदेवजी बलातिशय से निडर हैं और माननीय हैं। गोपालों का तो गायों, पशुओं की रक्षा करने का धर्म होने से वे चतुर नहीं हैं। इसलिये उन्हें (गोपजनों को) तो भय की शंका ही नहीं है। आप भगवान् के रहने पर किसी को भी कोई भय नहीं है। इसलिये मित्रों, गोपालों, नन्द आदि बान्धवों, सारे सेवकों और गाड़े, बैलों के सहित ही पधारें, क्योंकि आप सुहृत्तम अत्यन्त प्रिय हैं, आपके सम्बन्धी सुहृत्तर और अन्य सब सेवक आदि सुहृद हैं, इसलिये सब को ही साथ लेकर घर पधारिये ॥१२॥

श्लोक—पुनीहि पादरजसा गृहान् नो गृहमेधिनाम्।
यच्छौचेनानुतृप्यन्ति पितरः साग्नयः सुराः ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे प्रभो! अपने चरणों की रज से हम गृहस्थों के घरों को पवित्र कीजिए। आपके चरणोदक से (गङ्गा जल से) अग्निगण सहित पितृगण और देवगण तृप्त हो जाते हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—यशोरूपं भगवन्तं निरूपयति पुनीहीति. अनेन सनाथत्वमात्रं चेत् वचनेनापि सनाथत्वं सम्पद्यत इति किमागमनेनेत्याशङ्का परिहृता, यतो गृहपवित्र्यमधिकं कर्तव्यमिति, पावित्र्योपायमाह पादरजसेति चरणरजो हि भगवदीयत्वं सम्पादयतीति परमशुद्धं च तथात्वं भवतीति पादरजसा गृहाणां पावनं कर्तव्यं, तत्रैतो नयने अल्पमेव रजो भवेत्, तत्र गमने तु सर्वत्र चरणरजो भवतीति सर्वेषामेव गृहाणां पावनं भवति. ननु भगवदीया भवन्तः गृहाश्च तथा सति का पावनापेक्षेति चेत् तत्राह गृहमेधिनामिति, गृहे मेधा हिंसा नित्यमुत्पद्यते, तथा सति य एव गृहस्थो भवति ज्ञाननिष्ठो भक्तो वा स एव लिप्यते कालगुणैरिव, ते चेद् गृहाः अपहतपाप्मानो भवन्ति तदैव निस्तार इति, किञ्च, न केवलं जीवतामेव भगवदागमने उपकारः किन्तु सर्वेषामेव पित्रादीनां परमा तृप्तिरित्याह यच्छौचेनेति, यस्य भगवतः शौचेन चरणोदकेन पितरः अग्नयो देवाश्च अनुतृप्ता भवन्ति, यतो ब्रह्मदण्डहता अपि मुच्यन्ते, अतस्तव चरणोदकं पितॄणां परमान-

णानुमर्षात, ते, अत्र गृहेभ्यः अनन्तरं होम- निर्देशं तेषां च तृप्तिसंबद्धं, तत्र प्रविष्टा एव पितरो जाता इति च तथा तदधिष्ठात्री देवता, | यथा दश पितरः इति... ॥१३॥

व्याख्यार्थ—मुनीहि इस श्लोक से यशोदय भगवान् का निरूपण करते है। यदि नामवाला ही होना है तो वचन-वाणी से भी सनाथ हो सकता है, घर पर जाने की क्या आवश्यकता है ? इस शंका की निवृत्ति इस श्लोक से होती है, क्योंकि घर ले जाकर सबों के घरों को पवित्र कराना है। चरण की रज के द्वारा भगवदीयपन-दासभाव-प्राप्त होता है और परम शुद्धता से ही भगवदीय होता है, इसलिये चरण की रज से घरों को पवित्र करना चाहिये। चरणों की रज को यहां से घर ले जावे तो थोड़ी सी ही रज वहां ले जाई जा सकती और यदि आप ही पधारें चले तो सारी ही पृथ्वी आपके चरण की धूलि हो जायगी और जिससे हम सब के घर पवित्र हो जायेंगे।

तुम और तुम्हारे घर तो भगवदीय ही है, फिर उनको पवित्र करने की क्या आवश्यकता है ? इस शंका के समाधानार्थ कहते है कि हम लोग गृहस्थी (गृहमेधी) हैं। हमारे घरों में मेधा (हिंसा) नित्य होती है। इसलिये ज्ञान से अथवा भक्त कोई भी गृहस्थ काल गुणों से लिप्त रहता है। ऐसी दशा में घरों के पाप नष्ट होने से ही निस्तार (मोक्ष) है।

हमारे घर पर आप(भगवान्)के पधारने पर केवल हम-घर में रहनेवाले-लोगों को ही लाभ नहीं होगा, किन्तु हमारे पितरों को भी परम आनन्द प्राप्त होगा, हमारे पितर भी तृप्त हो जायेंगे। भगवान् के के चरणों के धोवन-प्रक्षालन-के जल-गंगा-से पितर, तीनों अग्नि और सारे देवगण पवित्र (तृप्त) हो जाते हैं, यहां तक कि ब्रह्मदण्ड दण्डित हुए भी मुक्त हो जाते है। इसलिये आपका चरणोदक पितरों के लिये अत्यन्त आनन्द देने वाला होता है। अग्नि कव्य-पितरों के लिये दी हुई बलि-को ले जाकर पितरों को देती हैं, जिसके द्वारा पितर तृप्त (प्रसन्न) होते है और इसलिये पितरों का अग्नि के भीतर समावेश माना जाता है। अग्नि में कव्य का होम-आहुति-क्रिया जाय तब पितर प्रसन्न होते हैं। अग्नि में ही आहुति दी जाती है, इसलिये अग्नि को ही यज्ञ कहते हैं। अग्नि में रहनेवाले देवों की प्रसन्नता हो, तभी अग्नि प्रसन्न होती है। इसी कारण से अग्नि, देवगण और पितरों की तीनों की तृप्ति प्रसन्नता कही गई है ॥१३॥

श्लोक—अवनिज्याङ्घ्रियुगलमासीत् श्लोक्यो बलिर्महान् ।
ऐश्वर्यमतुलं लेभे गतिं चैकान्तिनां तु या ॥१४॥

श्लोकार्थ--हे भगवन्! आपके परम दुर्लभ दोनों चरणों का प्रक्षालन करके (धोकर) राजा बलि को पवित्र यश, अतुल ऐश्वर्य और अनन्य भक्तों की सी गति मिली है ॥१४॥

सुबोधिनी—कियं निरूपयन् चरणोदकस्य माहात्म्यमाह अवनिज्याङ्घ्रियुगलमिति, चरणो- | दकनिर्माणेन प्रक्षालनक्रियया बलेरैश्वर्यं जातं, कीर्तिः ऐश्वर्यं भक्तिर्मोक्षो वा, श्लोक्योपि जातः

महत्त्वादि ... महत्त्व ... प्रसिद्धि, ... शौच ... गुणादय, प्राप्ता महत्त्वमिच्छ-द्भि'रिति वाक्यात्, ऐश्वर्य इन्द्रस्य, अतुलं ततो-ऽप्यधिकं भगवान् वश इति, एकान्तिनां भक्तानां ... गति ... लोकप्रसिद्धा 'अनिच्छता गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते' इत्यादि वाक्यसिद्धा ॥१४॥

व्याख्यार्थ- इस श्लोक से भगवान् के श्री धर्म का वर्णन पूर्वक चरण रज का माहात्म्य निरूपण करते हैं। चरणों को धोने के कर्म से चरणोदक का निर्माण करके बलि ने कीर्ति, ऐश्वर्य और भक्ति अथवा मोक्ष इन तीनों को प्राप्त कर लिया। वह प्रशंसा का पात्र भी हो गया और सारे लोकों में प्रसिद्ध महापुरुष भी हो गया। उसको महापुरुषों में सदा रहनेवाले सत्य, शौच आदि सभी गुण प्राप्त हो गये, इन्द्र का ऐश्वर्य मिल गया और उससे भी अधिक मिल गया कि भगवान् भी उसके वशीभूत हो गये। अनन्य भक्तों को प्राप्त होने वाली गति स्वतन्त्र प्रेमलक्षण भक्ति अथवा सायुज्य अर्थात् सब लोकों में प्रसिद्ध अण्वी गति भी उसको मिल गई ॥१४॥

श्लोक—आपस्तेऽङ्घ्र्यवनेनिज्य त्रीन् लोकान् शुचयोऽपुनन् :
शिरसाधत्त याः शर्वः स्वर्याताः सगरात्मजाः ॥१५॥

श्लोकार्थ——आपके चरणोदक की महिमा अपार है। तीनों लोकों को पवित्र करने वाले उस जल (गङ्गा) को शिवजी अपने मस्तक पर धारण किए हुए है। ब्रह्म-शाप से भस्म हुए महाराज सगर के साठ हजार पुत्र उसी गङ्गा जल के प्रताप से स्वर्ग लोक में चले गए ॥१५॥

सुबोधिनी——धर्म निरूपयन् वीर्यं वा चरणोदकमेव स्तौति आप इति. ते त्रिविक्रमस्य अङ्घ्र्यवनेनिज्य आपः चरणक्षालनोदकानि त्रीन् लोकान् मन्दाकिन्यादिभेदेन अपुनन्. यतः स्वयं शुचयः शुद्धाः. नखोदकस्याशुद्धत्वमाशङ्क्य तथोक्तवान्, न केवलं पवित्रत्वजनकत्वं किन्तु आधिदैविकत्वसम्पादकत्वमपीत्याह शिरसाधत्त याः शर्व इति, शर्वो महादेवः, 'शिवः शिवोऽभू'दित्यत्र फलं विस्तरेण निरूपितम्, ततो भूमिं गताऽपि ब्रह्मदण्डहतानपि पावयामासेत्याह स्वर्याता इति, सगरस्य पुत्राः दुरात्मत्वेन प्रसिद्धाः स्वर्गं गताः, इन्द्रेण नाशार्थं कृतप्रयत्नाः अपि चरणोदकेनेन्द्रसमानाः कृता इत्यर्थः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के गुण अथवा वीर्य का निरूपण करते हुए (इनके) चरणोदक की प्रशंसा इस "आपस्ते" श्लोक से करते हैं। त्रिविक्रम वामनावतार में तीन पैंड धारण करने वाले आपके चरणों के प्रक्षालन का जल स्वर्ग को मन्दाकिनी, भूमि को गंगा और पाताल को भोगवती नाम से पवित्र करने वाला हो रहा है। नखों के धोवन का जल तो अशुद्ध होता है, किन्तु यह तो परम पवित्र जल है। भगवान् का चरणोदक केवल पवित्र करने वाला ही नहीं है, किन्तु आधिदैविक भाव को भी सिद्ध कर देने वाला है। इसीलिये शर्व (महादेवजी) अपने मस्तक पर धारण करके 'शिवः शिवोऽभूत्' ३।२८।२२ शिवजी साक्षात् शिवरूप हो गए, इस प्रकार शिवजी ने गंगा को मस्तक

पर धारण करके आधिदैविकता प्राप्त की है। "धिवाऽभूद्" इस श्लोक की सुबोधिनी में फल का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है।

आपके चरणोदक-गंगा-ने यहां पृथ्वी पर आकर भी कपिलदेवजी के शाप से भस्म हुए सगर राजा के साठ हजार पुत्रों को स्वर्ग में भेज दिया। सागर के वे पुत्र प्रसिद्ध दुष्ट थे और इन्द्र इन्हें नष्ट करने के लिये प्रयत्न भी कर रहा था, तो भी भगवान् के चरणोदक ने उन दुष्टों तथा भस्म भूतों को भी इन्द्र के समान कर दिया ॥१५॥

श्लोक—देवदेव जगन्नाथ पुण्यश्रवणकीर्तन ।
यदूत्तमोत्तमश्लोक नारायण नमोस्तु ते ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे देवों के देव, हे जगत् के स्वामी! आपकी चर्चा करने और सुनने से पुण्य होता है। हे यदुश्रेष्ठ, हे उत्तमश्लोक नारायण! आपको प्रणाम है ॥१६॥

सुबोधिनी—भगवत ऐश्वर्यं कीर्तयन् नमस्यति, ऐश्वर्यं षड्विधं उपास्यत्वेन, प्रभुत्वेन, दोषनिवारकत्वेन, गुणाधायकत्वेन, उत्तमस्तुत्यत्वेन, जगत्कारणत्वेन च, देवदेव, तथ भगवान् देवानामपि देवः उपास्यानामप्युपास्यः, जगत एव नाथः न त्वेकदेशस्य, पुण्ये पापनिवारके श्रवणकीर्तने यस्य, यथा श्रवणं तथैव कीर्तनं पापनाशकम्, यदूत्तमेति, यदोरपि गुणाधायकः, 'अकर्तोच्चरित पितु'रिति न्यायेन पितुः प्रतिकूलत्वात् न कस्यापि साध्यः, तस्यापि गुणान् दत्त इति, उत्तमैरपि व्यासादिभिः श्लोक्यत इति, नारायणो जगत्कर्ता इति, एवं षड्गुणपूर्णं नमस्यति नमोस्तु त इति, नमस्कारप्रार्थनया नित्य नमस्कार उक्तः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—"देव देव" इस श्लोक में भगवान् के ऐश्वर्य का कीर्तन करते हुए अक्रूरजी भगवान् को नमस्कार करते हैं। भगवान् का ऐश्वर्य १- उपासना करने योग्य, २- प्रभुरूप, ३- दोषों का निवारण करने वाला, ४- गुणों को प्राप्त कराने (देने) वाला, ५- श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा गाया गया और ६- जगत् का कारण, इन रूपों से छः प्रकार का है। उसका क्रम से छः विशेषणों द्वारा वर्णन करते हैं। (१) हे देवों के देव! उपासना करने के योग देवगण भी आपकी उपासना करते हैं। भगवान् उपास्यों के भी उपास्य हैं। (२) हे जगन्नाथ!आप जगत् के किसी एक भाग के नाथ नहीं हो, किन्तु सारे ही जगत के ईश्वर हो। (३) भगवान् का श्रवण कीर्तन लोकों के पापों का नाश करने वाले हैं, पुण्य वाला है। (४) यदूत्तम, पिता ययाति की आज्ञा न मानने वाला पिता का विरोधी तथा पिता का (अकर्तोच्चरितं पितु–६।१८।४४) मलमूत्र समान भी यदु-जिसके दोष किसी प्रकार भी दूर नहीं हो सकते थे–को (यदुकुल में अवतार लेकर) गुणोंवाला बना दिया। इसलिये आप यदुओं में उत्तम हैं। (५) हे उत्तम श्लोक! व्यास आदि उत्तम पुरुष भी आपके गुणों का गान-स्तुति-करते हैं। (६) हे नारायण! आप सारे जगत् की रचना -सृष्टि- करने वाले हैं। इस षड्विध -प्रकार- के ऐश्वर्य, गुणों से पूर्ण भगवान् आपको नमस्कार है। 'नमोऽस्तु' नमस्कार हो, इस प्रकार नमस्कार की प्रार्थना से सदा (नित्य) का नमस्कार करना कहा गया है ॥१६॥

श्री भगवानुवाच—

श्लोक— आयास्ये भवतो गेहमहमार्यसमन्वितः ।
यदुचक्रद्रुहं हत्वा वितरिष्ये सुहृत्प्रियम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण ने कहा--चाचाजी! मैं यदुवंश के वैरी कंस को मार कर आपके घर बलदेवजी के साथ अवश्य आऊंगा। और अपने मित्रों को प्रिय करूँगा ॥१७॥

सुबोधिनी—तदा भगवान् नित्यकार्यवर्तेति भगवत्कृतस्य विघाताभावाद्ध 'तावत् पुरीं द्रक्ष्यामह' इति वाक्यात् आगमनस्य प्रार्थितत्वात् कालान्तरे समागन्तव्यमित्याह **आयास्य** इति, उदासीनवचनाभावान् स्वाभिप्रेतं चाह आगमिष्यामि परमार्यसमन्वितः इदानीं विद्यमानानां मध्ये बलभद्रसहितः, प्रार्थितानां पूरणार्थं उद्धवः समागमिष्यतीति भावः, तर्हि द्वाभ्यामेव गन्तव्यमिदानीमेवेति चेत् तत्राह **यदुचक्रद्रुहं हत्वेति**,सर्वेषामेव यादवानां चक्रस्य यो द्रोहकर्ता तं कंसं हत्वा सिद्धवत्कारेण कथनात् न सन्देहोपि, अप्रार्थितोप्यायास्ये, समागमे प्रयोजनं सूचयति **वितरिष्य** इति, सुहृदामन्त्यानां पाण्डवानां च प्रियं वितरिष्य इति, अनेन तेषां सुखार्थं त्वां प्रेषयिष्यामि तदर्थमागमिष्यामीति सूचितम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ--भगवान् सर्वदा कार्य करने वाले हैं और उनके किये काम में किसी प्रकार का विघ्न नहीं होता है। इसलिये भगवान् ने दशवें श्लोक में अभी कहा था कि हम इस समय में मथुरा पुरी को देख लेंगे और अक्रूरजी ने उसी समय अपने घर पधारने की भगवान् से प्रार्थना करने पर अन्य समय पर (उनके घर) आने के लिये अक्रूरजी से कहा, यह 'आयास्ये' श्लोक से कहते हैं।

रूखेपन-उदासीनता-का उत्तर भगवान् ने नहीं दिया, ऐसा प्रदर्शित करने के लिये भगवान् बोले कि मैं तुम्हारे घर पर इन सब साथियों को छोड़ कर केवल बलरामजी के साथ आऊँगा। सभी को साथ लेकर आने की तुम्हारी प्रार्थना को पूरी करने के लिये उद्धवजी को भी साथ ले आऊँगा, यह अभिप्राय है। बलभद्रजी को साथ लेकर अभी पधारो;ऐसा अक्रूरजी ने कहा, तो भगवान् कहते हैं कि सारे ही यादवों के साथ वैर करनेवाले कंस को मार करके आऊँगा। कंस का वध कर दिया हो मानो, इस प्रकार के कहने का भाव यह है कि उसके मार देने में तो कोई भी सन्देह है ही नहीं। तदनन्तर जो(अक्रूरजी)तुम प्रार्थना नहीं भी करते,तब भी मैं तुम्हारे घर पर आऊँगा और अपने वहां के मित्रों का तथा पाण्डवों का हित करूँगा। इस कथन से भगवान् ने यह भी सूचित किया कि पाण्डवों को सुखी करने के लिये तुम्हें उनके पास भेजूँगा, इसलिये आऊँगा ॥१७॥

श्रीशुक उवाच--

श्लोक--एवमुक्तो भगवता सोक्रूरो विमना इव ।
पुरीं प्रविष्टः कंसाय कर्मावेद्य गृहं ययौ ॥१८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं—हे परीक्षित ! भगवान् के इस प्रकार के वचन सुन कर अक्रूरजी ने उदास से होकर नगरी मे प्रवेश किया और पहले कंस के पास जाकर कृष्ण बलदेव सहित नन्द आदि गोपों के मथुरा आने के समाचार कहे। तदनन्तर वे अपने घर को गए ॥१८॥

सुबोधिनी- एवमागमन निर्धार्य भगवदाज्ञया गृहे गत इत्याह **एवमुक्त इति**, भगवता अप्रतिहत-सामर्थ्येन एवमाज्ञप्तः, इदानीमेव नेष्ट सिद्धमिति **विमनाः**, अग्रे कार्यमपि करिष्यतीति इव, स्वय प्रथमत एव **पुरीं प्रविष्टः कंसाय** भगवानानीत इति स्वकृत कर्मविद्य **गृहं ययौ**, शीघ्रमेव स्वगृहं गतः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार से भगवान् के पधारने का निश्चय करके अक्रूरजी भगवान् की आज्ञा से अपने घर पर गये, यह "एवमुक्तो" श्लोक मे कहते है, जो नहीं रोकी जा सके, ऐसी सामर्थ्य वाले भगवान् की यों आज्ञा पाकर भगवान् को अभी अपने घर पर पधारने के मनोरथ मे असफल हुए। अक्रूरजी निराश होकर नगरी में चले गये। आगे भविष्य में भगवान् का कार्य-आज्ञा पालन-वे करेंगे, ऐसा जान कर वे उदास जैसे हो मथुरा मे चले गये। वहां जा कर उन्होंने पहले कंस से श्रीकृष्ण को मथुरा ले आना रूप अपने सिद्ध काम की सूचना दी और फिर वे शीघ्र ही अपने घर को चले गये ॥१८॥

श्लोक—अथापराह्णे भगवान् कृष्णः सङ्कर्षणान्वितः।
मथुरां प्राविशद् गोपैर्दिदृक्षुः परिवारितः ॥१९॥

श्लोकार्थ—इधर दिन के पिछले भाग में श्रीकृष्णजी बलदेवजी और गोपजनों को साथ लेकर मथुरापुरी की सैर करने के लिए पुरी को देखने की इच्छा से पधारे ॥१९॥

सुबोधिनी—एवं पूर्वसम्बन्धिनां निरोधमुक्त्वा वार्तयैव पूर्वमपि निरोध सम्पाद्य स्वरूपेणापि सम्पादयितुं स्वयं मथुरां दृष्टवानित्याह **अथेति**, अथ भिन्नप्रक्रमेण मित्रभूतैरेव गोपालैः सहापराह्णे तृतीये भागे **भगवान्** आविष्कृतसर्वधर्मा **कृष्ण** एतदर्थमेवावतीर्णः कंसमारणार्थं यत्नः कर्तव्य इति **सङ्कर्षणसमन्वित**, अन्यथा उभयोरवतारो न स्यात्, **गोपैः परिवृत** इति, एतैः सह एताव-त्कालं क्रीडा कृतेति ज्ञापनार्थं शोभार्थं मनसि शङ्काभावार्थं तेषां मथुरापुरदर्शनार्थं च **मथुरां** स्वनगरीं प्राविशत्, सामीप्ये सप्तमी, पुर-द्वारनिकटे गत इत्यर्थः ॥१९॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार पहले सम्बन्धी वसुदेव आदि का निरोध करना प्रदर्शित करके प्रथम तो बातचीत के द्वारा ही मथुरावासियों का निरोध कराकर स्वरूप से भी इनको निरोध सिद्ध कराने के लिये भगवान् ने स्वयं मथुरा नगरी को देखा, यह इस "अथापराह्णे" श्लोक में कहते हैं। अथ-यह-भिन्न प्रक्रम-दूसरे आरम्भ का सूचित करता है। अर्थात् अब यहां इस के आगे दूसरे प्रकरण का आरम्भ (किया जाता है) होता है।

अपने सखा रूप गोपालों के साथ दिन के तीसरे भाग (अपराह्न) में अपने गुणगण, वीर्य आदि सारे धर्मों को प्रकट करके भगवान् श्रीकृष्ण जिनका कंस वध के लिये ही अवतार है और कंसवध के लिये प्रयत्न करना चाहिये, इसलिये बलदेवजी को साथ लेकर मथुरा पधारे, क्योंकि यदि दुष्ट-राजाओं का नाश में न ऐसा होता तो दोनों का अवतार नहीं होता । गोपों के साथ इतने समय तक क्रीड़ा की है, अपनी निर्भयता, गोपों का अपना माहात्म्य आदि प्रदर्शित करने तथा अपनी शोभा के लिये भी गोपजनों के बीच में विराजमान भगवान् ने अपनी नगरी मथुरा में प्रवेश किया । समीप अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है । श्लोक में "मथुरां" द्वितीया विभक्ति-दिदृक्षु-सन्नन्त दृश् धातु के योग से की है । तात्पर्य यह है कि भगवान् मथुरा नगरी के द्वार के निकट पधारे ॥१९॥

लेख—'अथापराह्णे' इस श्लोक की व्याख्या में "पूर्वसम्बन्धिनां" इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है कि प्रथम सम्बन्धी वसुदेव आदि के सम्बन्धी अक्रूर और पाण्डव आदि का निरोध, जो अक्रूर को भेज कर पाण्डवों का मानसिक निरोध कहा है ।

श्लोक—ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुरद्वारां बृहद्धेमकपाटतोरणाम् ।
ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदामुद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण ने मथुरा नगरी को देखा, जिसमें स्फटिक मणि (बिल्लौर) के बने हुए ऊँचे दरवाजे, सोने के बड़े बड़े किंवाड़ और तोरण, ताम्बे पीतल के भण्डार आदि थे । जिसके चारों ओर एक विशाल गहरी खाई है, जिससे शत्रु उस पर एकाएक आक्रमण नहीं कर सकता था । स्थान स्थान पर सुन्दर बाग बगीचों से अत्यन्त सुशोभित हो रही थी ॥२०॥

सुबोधिनी—ततो भगवान् दृष्टवानित्याह ददर्शेति, भगवद्दृष्टां पुरीं वर्णयति चतुर्भिः, पुरुषार्थचतुष्टयपूर्णां ॥२०॥

व्याख्यार्थ—तदनन्तर भगवान् ने नगरी को देखा, यह इस 'ददर्श' श्लोक से वर्णन करते हैं । भगवान् के द्वारा देखी हुई चारों पुरुषार्थों से भरपूर मथुरा नगरी का चार श्लोकों से वर्णन करते हैं ।

कारिका—स्वरूपतो द्रव्यतश्च वैचित्र्येणाप्युत्तमां ।
अलङ्कृतां साम्प्रतं तु भगवद्दर्शनार्थिभिः ॥७॥

कारिकार्थ—(१) स्वरूप से, (२) द्रव्य से (३) विचित्रता के कारण से भी सबसे उत्तम और (४) इस समय तो भगवान् के दर्शन करना चाहनेवालों के द्वारा सजाई गई नगरी को भगवान् ने देखा ॥७॥

[illegible]

[illegible] च यस्या, द्वारादिषु बृहन्ति सुवर्णकपाटानि तोरणानि च यस्या, ताम्रमयाः प्राकाराः कोष्ठानि [illegible] प्राकारा यस्या, केचित् तु प्राकारशब्देन प्राकूट [illegible] यमुना तु दूर इति परिखायां न बाधा, उद्यानानि पुष्पप्रधानवाटिकास्तै रम्यां, उपवनैश्च फलप्रधानैः उप समीपे शोभितां ।

व्याख्यार्थ—भगवान् ने उस नगरी को दृष्टि से ही सन्तुष्ट कर दिया । स्फटिक मणियों के बने हुए ऊंचे मन्दिरों से और शहर के फाटकों दरवाजों में सुवर्ण के मोटे मोटे किवाड़ों तथा तोरणों, ताम्बे पीतल के कोठे, भण्डारों वाली नगरी का भगवान् ने अवलोकन किया । उस के चारों तरफ किसी से भी नहीं लांघी जा सके, ऐसी बड़ी गहरी तथा विशाल खाई थी । यमुनाजी तो दूर थी, इस कारण से खाई होने में कोई अड़चन नहीं थी । वह नगरी भांति भांति के पुष्पों वाले बगीचों से और अनेक प्रकार के फलों से लदे हुए उपवनों-वाटिकाओं—से सुशोभित हो रही थी ॥२०॥

कारिका—द्वारप्राकारपरिखाफलपुष्पैः सुशोभिता ।
पञ्चधा नगरी रम्या सालङ्कारा च रूपिता ॥८॥

कारिकार्थ—(१) दरवाजों, (२) कोठों, (३) खाइयों, (४) फलों और (५) पुष्पों से अत्यन्त शोभायुक्त, सुन्दर और अलङ्कारों से अलङ्कृत नगरी का पांच प्रकार से निरूपण किया है ॥८॥

श्लोक—सौवर्णशृङ्गाटकहर्म्यनिष्कुटैः श्रेणीसभाभिर्भवनैरुपस्कृताम् ।
वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमैर्मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु ॥२१॥

श्लोकार्थ—सुवर्ण मण्डित चौराहे, महलों, महलों की वाटिका में सुनार, लुहार आदि की दूकानों तथा भवनों की पंक्तियाँ उस नगरी की शोभा बढ़ा रही थी । छज्जों, छज्जों के नीचे की वेदियों, झरोखों और फर्शों में हीरा, बिल्लौर, नीलम, मूंगा, पन्ना, मोती आदि रत्न जड़े हुए जगमगा रहे थे ॥२१॥

सुबोधिनी—बाह्यतः शोभामुक्त्वा आन्तरशोभामाह सौवर्णेति. सुवर्णमयाः शृङ्गाटकादयः तैरुपस्कृतामिति, शृङ्गाटकं पुरमध्यचतुर्मार्गं विश्रामस्थानमीरितम्. हर्म्याणि धनिनां गृहाः, निष्कुटं कुट्टिमा भूमिः, एकशिल्पोपजीविनां क्रयविक्रयस्थानं श्रेणिः,सभा नराणामुपवेशस्थानानि, भवनानि सर्वेषामेव गृहाः, सर्व एव सुवर्णमया इति न बाह्यशोभा, वैदूर्यादयो मणयः तैरप्युपस्कृतां, वज्रो हीरकं, अमला स्फाटिकाः, नीलो नीलमणिः, विद्रुमः प्रवालः, मुक्ताश्च हरिन्मणयश्च, एभिर्निर्मिताः पूर्वोक्ता वलभ्यादयश्च. वलभ्यो द्वाराग्रे वक्रदारुनिर्मिताः उपवेशनार्थं, वेदयः उपवेशनोच्चस्थानानि तेषु वैदूर्यादिभिरुपस्कृतामिति सम्बन्धः ॥२१॥

[illegible]

भूमि आदि सब [illegible] की बनी हुई थी । [illegible] कारीगरी से जीविका करने वालों की दुकान, मनुष्यों के बैठने के स्थान, सब निवासियों के भवन (घर) सब ही सुवर्णमय थे । सभी एक से [illegible] बढ़ कर शोभा वाले थे । वैडूर्य, हीरा, निर्मल स्फटिक, नीलमणि ([illegible]) प्रवाल, पन्ना, [illegible] आदि रत्नों से जड़े हुए देहली लकड़ी के बने हुए (दरवाजों के आगे) बैठने के स्थानों (बैंच, कुर्सियां) से वह नगरी सुशोभित हो रही थी ।।२१।।

श्लोक—जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमेष्वाविष्टपारापतबर्हिनादिताम् ।
संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरां प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम् ।।२२।।

श्लोकार्थ—उन रत्न जटित झरोखों और चबूतरों पर बैठे हुए कबूतर और मोर अपने अपने शब्दों से नगरी के यश को गुञ्जित कर रहे थे । मुख्य और चौड़ी सड़क, (राजमार्ग) हाट, बाट, गली, कूंचे, चबूतरों और द्वारों के सामने छिड़काव किया हुआ था तथा सब जगह मालायें, कलियां, खीलें और अक्षत बिखर रहे थे, ऐसी पुरी को भगवान् ने देखा ।।२२।।

सुबोधिनी—अग्रेऽपि तैर्जुष्टेषु योजितेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमेषु गवाक्षरन्ध्रमध्यभूमिषु आविष्टा ये पारावताः बर्हिणश्च तेषां नादयुक्तां, एवमुपरि शोभाग्यमुक्त्वा मार्गादिशोभाग्यमाह सम्यक् सिक्ता रथ्यादयो यस्यां, रथ्या राजमार्गः, आपणयः पण्यवीथीमार्गाः अन्ये चत्वराण्यङ्गणानि, प्रकीर्णानि सर्वत्र माल्यानि पुष्पाणि अङ्कुराः यवाङ्कुराः लाजाः भ्रष्टधान्यानि तण्डुलाश्च, मङ्गलार्थमेतेषां विकिरणं भगवानावास्यतीति ।।२२।।

व्याख्यार्थ—आगे भी मणियों से जड़ी हुई जालियों के छिद्रों के बीच की भूमि में बैठे हुए कबूतरों और मोरों की आवाज से गूंजती हुई उस नगरी को भगवान् ने देखा । इस प्रकार नगरी के ऊपरी भाग की सुन्दरता का वर्णन करके आगे उसके मार्गों के सौन्दर्य का निरूपण करते हैं । उस पुरी के राजमार्गों (मुख्य सड़कें) बाजारों, व्यापार के (मार्गों) तथा अन्यान्य चौराहे, आंगणों में जल का छिड़काव अच्छी तरह किया गया था और (भगवान् पधारेंगे इस कारण से) सभी जगह मंगल सूचक पुष्प, जौ के अंकुर; भाड़ में सिके हुये धान्य, चावल 'खीलें' आदि बिखेरे जा रहे थे, पुष्पादि वर्षाये जा रहे थे ।।२२।।

श्लोक—आपूर्णकुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितैः प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवैः ।
सवृन्दरम्भाक्रमुकैः सकेतुभिः स्वलङ्कृतद्वारगृहां सपट्टिकैः ।।२३।।

श्लोकार्थ—दही, चन्दन से चर्चित, जलपूर्ण कलशों, पुष्पों और पल्लवों, दीपकों

की मालाओं, पके हुए केले वाले कदल के वृक्षों और सुपारी के गुच्छों, ध्वजाओं और सुन्दर छोटी छोटी झण्डियों से भलि भाँति सजाए हुए द्वारवाले भवनों से अत्यन्त सुशोभित हुई मथुरा नगरी का भगवान् ने अवलोकन किया ॥२३॥

सुबोधिनी—आ समन्तात् पूर्णकुम्भैः दध्ना चन्दनेन च उक्षितैः, दध्ना सहितैश्चन्दनैः उक्षितैः पूर्णकुम्भैः सहितामिति, प्रसूनानि दीपावलयः आरात्रिकाणि, पल्लवसहिताश्च ते, सवृन्दाः फलसहिताः रम्भाः कदल्यः क्रमुकाश्च पूगपोताः ध्वजसहिताः तैः सुष्ठु अलङ्कृताः द्वाराणि गृहाश्च यस्या, सपट्टिकाः रम्भादयः अत्रैवं प्रक्रिया, द्वारस्योभयपार्श्वे कुम्भद्वय तदुपरि दधिपूर्णपात्रं तत्र निकटे दीपाः रम्भा क्रमुकश्च ध्वजः पताकाः च चन्द्रवर्णाश्चन्द्राकारा आदर्शाश्च महोत्सवे सर्वत्र क्रियन्त इति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—दधि और चन्दन से चर्चित (सने हुए) जल भरे कलशों, पल्लवों सहित पुष्पों, दीपकों की पातियों, आरतियों, पके हुए फलोंवाले केले के वृक्षों, सुपारी के गुच्छों और भाँति-भाँति की ध्वजा पताकाओं से सुशोभित द्वारोंवाले भवनों से सुसज्जित की गई-सजाई हुई मथुरापुरी को भगवान् ने देखा। सजावट करने की रीति यह है कि दरवाजों के दोनों तरफ दो कलश, उन पर दही से भरा हुआ पूर्ण पात्र, उसके निकट दीपक, केले, सुपारी, ध्वजा, पताकाएँ, चन्द्रमा की तरह निर्मल तथा चन्द्रमा के आकारवाले कांच-आरसी-आदि को महोत्सव में सभी जगह रक्खा जाता है ॥२३॥

श्लोक—तां सम्प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ वृतौ वयस्यैर्नरदेववर्त्मना ।
द्रष्टुं समीयुस्त्वरिताः पुरस्त्रियो हर्म्याणि चैवारुरुहुर्नृपोत्सुकाः ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! पुरी मथुरा की ऐसी सुन्दर शोभा का अवलोकन करते हुए और गोप लोगों के मध्य में पधारते हुए वसुदेवनन्दन भगवान् कृष्ण बलदेव ने राजमार्ग में से होकर नगरी में प्रवेश किया। यह समाचार पाते ही पुरनारियाँ उनके दर्शन करने के लिए उत्कण्ठित होकर अपने अपने भवनों पर जल्दी से चढ़ गईं ॥२४॥

सुबोधिनी—एवं पुरीं वर्णयित्वा तस्यां प्रविष्टावित्याह तां सम्प्रविष्टाविति, सर्वेषां भगवद्दर्शनार्थमेव तथा निर्माणमिति येषां वहिरागत्य दर्शनं सम्भवति तानगुक्त्वा यासां न सम्भवति तासामुद्योगाधिक्यमाह द्रष्टुं समीयुरिति, नगरीं प्रविष्टौ वसुदेवस्य पुत्रौ गोपालैर्वृतौ नरदेववर्त्मना राजमार्गेण सयुक्तौ गच्छन्तौ द्रष्टुं पुरस्त्रियः समीयुः सम्यगाभिमुख्येन समागताः, याः साक्षात्त्वः पुरस्त्रियः दूरस्थाश्च बहिर्निर्गमनासमर्थाश्च हर्म्याणि उच्चगृहाणि आरुरुहुः, चकारात् तत्रैव स्थिताः द्रष्टुं शक्नुवन्ति तमेवारुरुहुरिति, नृपेति सम्बोधनं राज्ञो गमनेप्येवं कुर्वन्तीति ज्ञापनार्थं, भगवति तु विशेषः उत्सुका इति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार मथुरा पुरी का वर्णन करके उसमें भगवान् का प्रवेश 'तां सम्प्रविष्टौ' इस श्लोक से वर्णन करते है। भगवान् के दर्शन सब ही करलें, इसी उद्देश्य से पुरी की सजावट की गई थी। इसलिये बाहर आकर भी दर्शन कर सकने वाले पुरुषों का वर्णन न करके बाहर आकर दर्शन में असमर्थ नारियों का दर्शनार्थ अधिक उद्योग का वर्णन उत्तरार्थ से करते हैं। गोपालों के साथ राजमार्ग नगरी में प्रवेश करने वाले दोनों वसुदेव कुमारों के दर्शन करने के लिये पुरी की स्त्रियां अच्छी तरह से सामने आई।

जो शहर की स्त्रियां साधारण स्थिति की थीं, जो दूर रहने वाली थी और जो घर के बाहर निकलने में असमर्थ थीं, ऊंची ऊंची हवेलियां तथा ऊचे मकानों पर जहां से भगवान् के दर्शन कर सकती थीं चढ़ गई। राजा की सवारी निकलने पर भी स्त्रियां इसी प्रकार से करती हैं, इस बात को सूचित करने के लिये हे नृप! यह सम्बोधन पद का प्रयोग है, किन्तु राजा की अपेक्षा भगवान् के दर्शनों की विशेषता है कि वे बड़ी उत्कण्ठा से महलों की छतों पर चढ़ीं ॥२४॥

श्लोक—काश्चिद् विपर्यग्धृतवस्त्रभूषणा विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथापराः ।
कृतैकपत्रश्रवणैकनूपुरा नाङ्क्त्वा द्वितीयं त्वपराः स्वलोचनम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—जल्दी के कारण कोई उल्टे कपड़े और गहने पहन कर चल दी। कोई कोई कुण्डल आदि आभूषण जो दो दो पहने जाते हैं, एक एक ही पहन कर चली गई। कई तो अपने एक ही नेत्र में काजल लगा कर दौड़ गई ॥२५॥

सुबोधिनी—तासामौत्सुक्यं वर्णयन् वस्त्राभरणानां विपर्यासमाह काश्चिदिति, भगवति भावो विशेषः, अन्यथा लौकिक्येव भाषा भवति, काश्चित् स्त्रियः विपर्यक् विपरीततया धृतानि वस्त्राणि भूषणानि च याभिः, पादयोराभरणं हस्ते अधोवस्त्राण्युपरि, एवं सर्वत्र, किञ्च, न केवलं विपर्यासः अपि तु युगलेषु एकं विस्मृत्य च एकमेवाभरणं धृत्वा गताः, अथ विपर्यग्धृतेभ्यः अपराः अन्याः, तत्र पूर्वापेक्षयाप्येता उत्तमा इति युगलाभरणेषु हस्तकटकादिषु एकस्यापि धारणं भवति, यत्र पुनः द्वयोरेव धारणं नैकस्य एकधारणं सर्वथा विगीतं तादृशमपि कृतवत्य इत्याह कृतैकपत्रश्रवणैकनूपुरा इति, कृतं स्थापितमेकमेव पत्रं ताटङ्कं श्रवणे याभिः एकमेव च नूपुरं श्रवणे पादे वा कृतं याभिः ताश्च ताश्च, अन्याः पुनः द्वितीयं लोचनं न अङ्क्त्वा द्रष्टुं समीयुरिति सम्बन्धः, सुभक्ष्योन्मार्थः, स्वलोचनमिति अर्थादन्यलोचनमपि, अन्यस्य कज्जलं प्रयच्छन्ती मध्ये तथैव गतेति ॥२५॥

व्याख्यार्थ—इस 'काश्चित्' में उनकी उत्कण्ठा का वर्णन करते हुए उनके वस्त्र आभूषणों के उलटे सीधे धारण करने का निरूपण करते हैं। स्त्रियों का भगवान् में अत्यधिक भाव है। यदि ऐसा न हो तो यह लौकिक गाथा ही गिनी जाती। कितनी ही स्त्रियां अपने वस्त्रों को और आभूषणों को उलटे-विपरीत-पहन कर के चली गई। तात्पर्य यह है कि पावों के आभूषणों को हाथों में और हाथों के पावों में पहन कर तथा इसी प्रकार नीचे पहनने का घाघरा आदि वस्त्रों को ऊपर के अङ्गों में और ऊपर (पहनने) के अङ्गों के वस्त्रों को नीचे के अङ्गों में पहन कर ही दौड़ आई।

इतना ही नहीं [illegible] आभूषणों को [illegible] और उन्हें भी उल्टे (हाथों के पांवों में तथा पांवों के हाथों में) ही पहिन कर चली आईं। ये स्त्रियां उन पहले वर्णन की हुई स्त्रियों से श्रेष्ठ है। कड़े, कंकण आदि तो दो दो में से एक भी पहन लिये जाते है, किन्तु जिन अलंकारों का दो दो का ही धारण करना आवश्यक होता है, उन्हें एक एक ही धारण करना निन्दित तथा अमंगल गिना जाता है। उन स्त्रियों ने जल्दी से ऐसा भी किया। जैसे कोई तो कान मे एक ही बाली और पांव मे भी एक ही नूपुर अथवा एक ही नूपुर को कान मे, पांव मे पहन कर ही दौड़ गई। कितनी तो अपने एक ही नेत्र में और कितनी दूसरी स्त्रियों के एक ही लोचन में कज्जल आंज कर बीच मे उसी स्थिति में उठ कर जल्दी दौड़ आई ॥२५॥

श्लोक—अश्नन्त्य एकास्तदपास्य सोत्सवा अभ्यज्यमाना अकृतोपमज्जनाः ।
स्वपन्त्य उत्थाय निशम्य निःस्वनं प्रपाययन्त्योर्भमपोह्य मातरः ॥२६॥

श्लोकार्थ—कोई भोजन कर रही थी, वह हाथ का ग्रास थाली में पटक कर भगवान् के दर्शन की उत्कण्ठा से दौड़ गई। उबटन लगाती हुई कई बिना नहाये ही चली गईं। कितनी सोई हुईं कोलाहल से जग कर वैसे ही चल दीं और कितनी ही बच्चों को दूध पिलाती हुई मातायें बच्चों को छोड़ कर उतावली से भगवान् के दर्शन करने के लिए दौड़ पड़ीं ॥२६॥

सुबोधिनी—क्रियासावद्यभावमाह अश्नन्त्य एका इति, तदशनकर्म, अन्नं वा, अन्यथापि त्यागो भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह सोत्सवा इति, उल्लाससहिताः, अन्याः पुनरभ्यज्यमानाः सर्वाङ्गे दत्ततैलाः शिरसि धृता वा अकृतोपमज्जनाः स्नानमकृत्वैव ययुः, अन्याः पुनः स्वपन्त्यः उत्थाय भगवानागत इति कोलाहलं निशम्य तथैवाविचारितदेहाः समीयुः, अन्याः पुनः मातरः धात्रीव्यतिरिक्ताः साक्षात् स्वप्रसूतानपि बालकान् प्रपाययन्त्यः अर्भं अतीवबालकमपि विसृज्यापोह्य त्वरिता ययुः इति सम्बन्धः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—"अश्नन्त्यः" इस श्लोक से उनकी किसी काम में भी आसक्ति न रहने का वर्णन करते है। कई एक जो भोजन कर रही थीं, वे भोजन करना अथवा अन्न को छोड़ कर चली आईं। भोजन करने का त्याग यद्यपि किसी दूसरे प्रयोजन से भी हो सकता है, किन्तु "सोत्सवाः" श्लोक में यह पद सूचित करता है कि उन्होंने तो भगवान् के दर्शन के उल्लास से ही भोजन करना छोड़ा था। कितनी ही जो अपने सारे शरीर में अथवा सिर पर तैल मल (लगा) रही थीं, वे बिना स्नान किये ही दौड़ आईं। बहुत सी जो सोईं हुई थीं वे उठ कर भगवान् पधारे है, ऐसा कोलाहल को सुन कर वैसी ही-अपने शरीर का विचार न करके-चली आईं। कितनी ही खास माताएँ जो धायें नहीं थीं, वे भी अपने छोटे छोटे बच्चों को भी छोड़कर जल्दी से दौड़ गईं ॥२६॥

श्लोक—मनांसि तासामरविन्दलोचनः प्रगल्भलीलाहसितावलोकनैः ।
जहार मत्तद्विरदेन्द्रविक्रमो दृशां ददत् श्रीरमणात्मनोत्सवम् ॥२७॥

[illegible] भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वच्छन्द लीला विलास से पूर्ण हँसी और कटाक्षों से तथा लक्ष्मी का आनन्द देने वाले अपने सुन्दर श्याम स्वरूप से पुर नारियों को आनन्द देकर उनके हृदयों को हर लिया ॥२७॥

सुबोधिनी--एव सर्वासां भगवद्दर्शनार्थं प्रपञ्चविस्मृतिर्निरूपिता, ततो निष्प्रपञ्चासु स्वासक्त्यर्थं भगवच्चरित्रमाह **मनांसि तासामिति**, तासां पूर्वोक्तानां मनश्चेद् भगवदीयं जातं तदा स्वासक्तिः सिद्धैव मनोमूलकत्वात् संसारस्य, मनसो हि वशीकरणं द्वेधा भवति, वस्तुसामर्थ्यात् मन एव वशी भवति यथोत्कृष्टविषये स्वधर्मैश्च मोहकं भवति यथा मन्त्रादिभिः, तत्रारविन्दलोचनः कमलनयन इति स्वरूपसौन्दर्यं सर्वतापनाशकत्वेनोपकारित्वं च निरूपितम्, धर्मान् मोहकानाह **प्रगल्भा** वा **लीला** तत्सूचकं यद् **हसितं** तत्पूर्वकावलोकनैरिति, अतिकामुकस्य तादृशचेष्टासूचकं हास्यं भवति अवलोकनं च, पुरस्त्रीत्वात् तासां तत्परिज्ञानं तेनैव ता व्यामुग्धा भवन्तीति, हसितं मन्त्रात्मकं दृष्टिः पाशात्मिकेति, यस्याः मनः येनैव प्रकारेणायाति तादृशमेव हसितं प्रेक्षितं चेति ज्ञापयितुं बहुवचनम् तत्र बाधितं बुद्धि दूरीकर्तुमाह **मत्तद्विरदेन्द्रविक्रम** इति, भयं बाधकं लौकिकं तासां वैदिके अधिकाराभावात् विचारे दोषाभावाच्च, तथार्थं यथा मत्तो द्विरदः स्वार्थं सर्वानविचार्य लौकिकालौकिकसाधनयुक्तो यथा मत्त गजः, सजातीयानामप्यतिक्रमार्थं इन्द्रपदं, तस्यापि सर्वथा कर्तव्यत्वेन धर्मः अत्यधिको भवतीति **विक्रम**पदं, तस्मादस्य एतत्प्रवृत्तौ तासां च सर्वथा भयाभावश्च सूचितः, ननु दृष्टिद्वारा हि मनोग्राह्यमन्तः स्थितं इन्द्रियान्तरव्यापारस्य तदानीमभावात्, दृष्टिः पुनः चञ्चला अन्यत्र गच्छेद् यदि तदा तद्द्वारा ग्रहणं सर्वथा न सम्भवतीति कथमेकान्ततो ग्रहणमिति चेत् तत्राह **तासां दृशां श्रीरमणात्मना** लक्ष्मीरमणरूपेण **उत्सवं ददद्**इति, उत्सवासक्तो हि नान्यत् किञ्चन वेद सर्वस्वापहारेण, चञ्चलानां मध्ये लक्ष्मीः परमकाष्ठामापन्ना, तां चेद् रमयति अनन्यासक्तां करोति कथमन्यां न कुर्यात्, अतो निष्प्रत्यूहं तासां मनोहरणमुपपद्यते, आत्मपदेन चावश्यकत्वं तत्परत्वे सूचयति ॥२७॥

व्याख्यार्थ--इस प्रकार से भगवान् के दर्शन के लिये उन सब का प्रपंच का विस्मरण–भूल जाने-का निरूपण करने के बाद प्रपञ्चरहित हुई उनकी भगवान् मे आसक्ति होने के लिये "मनांसि" इस श्लोक से भगवान् के चरित का वर्णन करते हैं। उन ऊपर बतलाई पुरवासिनियों स्त्रियों के मन भगवदीय हो जाने पर तो उनको भगवान् में आशक्ति हो जाना सिद्ध (सहज) ही है, क्योंकि संसार का मूल मन ही है, मन को वश में करने के दो प्रकार हैं। (१) जैसे किसी उत्तम विषय में मन लग जाता है, वैसे ही किसी वस्तु की सामर्थ्य से ही (अपने आप) स्वयं वश में हो जाता है और दूसरा यह है जैसे मंत्र आदि के द्वारा मन वश में होता है, वैसे ही मोह लेने अपने गुणों से ही वश में हो जाता है। इन दोनों ही प्रकारों से उन के मन भगवान् के वश में हो जाने से भगवदीय हो गये थे और उन पुरस्त्रियों की भगवान् में आसक्ति सिद्ध हो गई थी।

अरविन्दलोचन 'कमलनयन' पद से भगवान् के स्वरूप की सुन्दरता का और सारे सन्तापों को दूर करनेवाले होने से उपकार करनेवाले रूप से निरूपण किया है, मोहित करने वाले भगवान् के धर्मों का वर्णन करते हैं कि उनकी स्वच्छन्द लीला को सूचित

[illegible] अङ्गुल्यग्र से [illegible] और [illegible]
अर्था जार अपनी चेष्टा सूचक हास्यपूर्वक देखना है । ये नागरिक स्त्रियां थी, यह मन कुछ [illegible]
थीं । इसीलिये वे अत्यधिक मोहित हो गई । भगवान् की मन्द मुस्कान-मन्दहास्य-मन्त्र जैसा और
दृष्टि-चितवन-वश्य कर लेने वाली साधन जैसी है । इसलिये उन स्त्रियों में प्रत्येक का मन जिस
जिस प्रकार से मोहित होता था उसे उसी का हास्य और अवलोकन भगवान् करते थे । इसी अभि-
प्राय से श्लोक में "प्रगल्भलीलाहसितावलोकनैः" यह बहुवचन है ।

मन के भगवान् पर मोहित होने मे रुकावट डालने-बाधक होने-वाली बुद्धि को दूर करने के लिये भगवान् का मस्त गजराज के समान पराक्रमी,यह विशेषण है । वैदिक मे स्त्रियों का अधिकार नही होने से और विचार करने पर भगवान् पर मन के मोहित होने में कोई दोष न होने से ऐसा करने में केवल लौकिक भय ही रुकावट-बाधक-बन रहा था, इस भय की निवृत्ति के लिये ही भगवान् को उन्मत्त गजराज की उपमा दी गई है । जैसे मस्त हाथी अपने कार्य मे किसी का विचार न करके लौकिक अलौकिक उपायो से (जैसे बने वैसे ही) अपने कार्य को सिद्ध करता है और अपने जाति के दूसरे विघ्नकर्ता हाथियो को हरा-पराजित-करके अपनी सारी-हथनियों के साथ विलास करना रूप-प्रथा को पूरी करता है, वैसे ही भगवान् मस्त गजराज के समान पराक्रम वाले है । इसलिये इस कथन से उन स्त्रियों को भगवान् के शरण मे-आश्रय मे-चले जाने पर किसी प्रकार का भी भय नहीं है, यह सूचित किया है ।

भगवान् उन स्त्रियों के मन को अपनी दृष्टि द्वारा ग्रहण कर लेते, क्योंकि दर्शन के समय उनकी दूसरी इन्द्रियां तो काम कर ही नहीं रही थीं और दृष्टि चचल है । इसलिये दृष्टि के दूसरी जगह पर चले जाने पर दृष्टि के द्वारा मन का ग्रहण कर लेना निश्चय रूप से कैसे हो सकता है ? ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि उनकी दृष्टियों -नेत्रों- को भगवान् श्री लक्ष्मी के रमण रूप से उत्सव दे रहे थे । उत्सव मे आसक्त हुए व्यक्ति को उत्सव के अतिरिक्त अपने सर्वस्व के हरण कर लेने तक का किसी भी पदार्थ का भान नही रहता है । लक्ष्मी तो सभी चचलो में सबसे अधिक चंचल है । ऐसी लक्ष्मी को भी भगवान् एकमात्र अपने में ही आसक्त कर लेते हैं, तो फिर अन्य स्त्री की अपने मे आसक्ति (प्रीति) क्यों न करें । अर्थात् अवश्य ही कर देते हैं,इसलिये उनके मन का हर लेना तो सहज ही सिद्ध हो जाता है । "श्रीरमणात्मन" इस आत्मन् (रूप) शब्द से यह सूचित किया है कि उन स्त्रियों की दृष्टियों की भगवान् में आसक्ति होना आवश्यक ही था । वे अपनी दृष्टियों को किसी दूसरे पर डाल ही नहीं सकतीं थीं ॥२७॥

श्लोक—दृष्ट्वा मुहुः श्रुतमनुद्रुतचेतसस्तं तत्प्रेक्षणोत्स्मितसुधोक्षणलब्धमानाः ।
आनन्दमूर्तिमुपगुह्य दृशात्मलब्धं हृष्यत्त्वचो जहुरनन्तमरिन्दमाधिम् । २८॥

श्लोकार्थ—हे अरिन्दम(शत्रुओं का दमन करने वाले)राजन्! बार बार श्रीकृष्ण की लीलाओं और चरितों को सुनने से पुर नारियों के सौभाग्य का उदय हुआ । उन्होंने श्रीकृष्ण के दर्शन करके अपने नेत्रों को कृतार्थ किया । भगवान् ने भी दया

... है, ... दर्शन किया ... आदर किया। नेत्र द्वारा हृदय में पहुँचा हुई श्रीकृष्ण की आनन्दमयी मूर्ति को हृदय से लगा कर वे पुर नारियाँ भी विरह की व्यथा से मुक्त हो गई और परम आनंद प्राप्त होने से उनके अंगों में रोमाञ्च हो आया ॥२८॥

सुबोधिनी—ननु भगवानक्लिष्टकर्मा तासां मनः कथं गृहीतवानित्याकाङ्क्षायामाह दृष्ट्वेति, आत्मानं साकार्यं ताभ्यो दत्त्वा तासां मनो गृहीतवान् भगवत्स्वरूपग्रहणे तासां प्रकारमाह दृष्ट्वेति, मुहुः पूर्वं वारंवारं श्रुतो यो भगवान् स इदानीं दृष्टः, ततः प्रथमं चक्षुः प्रीतिरुक्ता श्रवणव्यतिरेकेण प्रीतिर्न भवतीति, अन्यथाद्भुतरस एवोत्पद्यते न प्रीतिः, सर्वाधिकप्रीतिसिद्ध्यर्थं मुहुः श्रवणमपेक्ष्यते, ततस्तासां चित्ताक्रममाह अनुद्रुतचेतस इति, दर्शनमनुद्रुतं चित्तं यासाम्, अत एव प्रियभागमपि स्वभावादिभिर्न स्थितम्, तमिति, हृतमनसः तेन चित्तप्रतिबन्धकं मनोऽपि नास्ति अतः तानुगुणमेवेति, तथाप्युपस्कृताः महान्तः गृहीतमरामर्शा इति पुरस्कारमाह तस्य प्रेक्षणपूर्वकं यद्दुहिस्मितयुक्तस्मितं सर्वप्रपञ्चात् अधिकरसं तद्विस्मारकं च, सैव सुधामिश्रत्वाय, स्मितं अलौकिकभावाय प्रेक्षणमिति इदं गिलितामृततुल्यं भवति, आभासैरप्युपयोक्ते प्रकृतोपयोगाय, तथा यद्वृक्षणं सेचनं तेन लब्धो मानो याभिः, लताप्रायास्ताः अमृतासिक्ताः भगवतोऽप्यानन्दरूपं फलं फलिष्यन्तीति, ततः अन्यानन्दं प्राप्य आनन्दानुभवे योग्याः सन्यः भावलक्षणं वा मानं प्राप्य तदपनोदनार्थमिव समागतं भगवन्तं स्वतः पुरुषार्थरूपानन्दरूपा मूर्तिर्यस्येति, उपगुह्य अन्तरात्मना चिरेण च समालिङ्ग्यान्तः पूर्णानन्दा जाताः, भगवत्प्रविष्टमार्गमाह दृशा आत्मलब्धमिति, दृष्टिद्वारा ज्ञानद्वारा च आत्मन्यासक्तेन वा लब्धं, मनोऽन्तः पूर्णानन्दाः बहिरपि न प्रकटितवत्य इत्याह हृष्यत्त्वच इति, सर्वाङ्गेषु रोमाञ्चयुक्ताः, ततः पूर्णमनोरथा जाता इत्याह अनन्तमाधिं जहुरिति, भगवानस्माभिर्न प्राप्त इति पूर्वा मनःपीडा स्थिता, प्राप्तेऽपि भगवति यावत् निश्चप्राप्तो भगवान् न ज्ञायते यावद् वा नान्तः प्रविश्य स्थिरो भवति तावद् भूतभविष्यत्कालयोः भगवत्सम्बन्धाभावचिन्ता न गच्छतीति, अधुनान्तः प्रविष्टे भगवति तेनैव पूर्णाः मनःपीडायाः स्थानाभावात् तां जहुः, अन्यथा नित्यमनोरथः क्षणमात्रदृष्टे न सिद्ध्येत्, अरिन्दमेति सम्बोधनं लौकिकालौकिकतुल्यतया स्त्रीपुंप्रसङ्ग इति लौकिकभावेन कामादिर्भवेदिति तन्निवृत्त्यर्थं अरीन् कामादीन् दमयति ॥२८॥

व्याख्यार्थ—भगवान् -अक्लिष्टकर्मा- क्लेश के बिना कर्म करने वाले हैं। उन्होंने उन पुरनारियों के हृदयों को कैसे हर लिया? इसका उत्तर इस 'दृष्ट्वा मुहुः' श्लोक से देते हैं। भगवान् ने अपने कर्मों सहित स्वयं को उनको देकर उनके मन को ले लिया। पुर वासिनियों ने भगवान् के स्वरूप को जिस प्रकार से ग्रहण किया, उस प्रकार को इस श्लोक से बताते हैं। पहले जिनको बार बार सुना था, उन भगवान् के दर्शन किए। इस प्रकार पहले नेत्रों की प्रीति कही। सुनने के बिना प्रीति नहीं होती है, क्योंकि पहले नहीं सुना हुआ नवीन पदार्थ यदि देखने में आता है, तो उसमें अद्भुत रस ही उत्पन्न होता है, (उसमें) प्रीति उत्पन्न नहीं होती है। सबसे अधिक प्रीति होने में तो बार बार श्रवण करने की आवश्यकता होती है।

भगवान् के दर्शन करते ही उनके चित्त संसार के बन्धनों से मुक्त होकर भगवान् के पीछे दौड़(ने लग)गए। स्वभाव आदि के रोकने पर भी नहीं रुके। चित्त उन मन के हरने-चुराने-वाले के-साद-

पीछे दौड़ गया । इसलिए मन में चित्त का [illegible] सका । रोकना तो दूर रहा, [illegible] के भग जाने में अनुकूल -सहायक- ही हो गया ।

मन का भगवान् के द्वारा हर लिये जाने और चित्त का भगवान् के पीछे दौड़ जाने पर भी बिना स्वीकृति के महापुरुष भगवान् को ग्रहण किया -पकड़ा- नहीं जा सकता । इसलिए भगवान् की स्वीकृति(पुरवासियों का आदर)का वर्णन करते हैं कि सारे प्रपञ्च से अधिक रसवाला और प्रपञ्च को भुला देनेवाला भगवान् का चितवनपूर्वक उत्कृष्ट मन्द हास्य ही अमृत था मीठा लगने के लिए हास्य और अलौकिक भाव को उत्पन्न करने के लिए दृष्टि दोनों (हास्य तथा दृष्टि) के मिलने पर अमृत की समानता होती है । यहाँ इस प्रकृत विषय में उपयोगी होने के कारण अमृत की समानता कही गई है । वास्तव में तो भगवान् की दृष्टि और हास्य अमृत की अपेक्षा अत्यधिक उत्तम है । केवल अमृत भगवान् के चितवन और हास्य जैसा है, किन्तु समझने में सहज होने के कारण अमृत के साथ समता बतला दी गई है ।

भगवान् ने अपनी उस अमृतमयी दृष्टि से उनको (सिञ्चन) सींच कर अवलोकन कर के उनका मान किया है, उनको अङ्गीकार किया । वे लता रूप थीं, उन पर अमृत की वर्षा करने से वे आनन्द रूपी फल को देवें, ऐसी भगवान् की भी इच्छा थी । तब वे भगवान् से आदर (स्वीकृति) प्राप्त करके आनन्द का अनुभव करने योग्य बन गईं । अथवा भगवान् से प्रेम रूपी सम्मान पाकर (उनने उस प्रेम को प्राप्त करने के लिए मानो पधारे हुए आनन्द स्वरूप, स्वतः पुरुषार्थ रूप) भगवान् का अपने भीतर आत्मा और चित्त से भगवान् का आलिङ्गन कर भीतर ही भीतर आनन्द मग्न हो गईं । तात्पर्य यह है कि दृष्टि के द्वारा और ज्ञान मार्ग के द्वारा भगवान् का अपने हृदय के भीतर प्रवेश करके हृदय में भगवान् का आलिङ्गन कर के वे आनन्द से भरपूर हो गईं ।

फिर हृदय में नहीं समाये हुए उस भगवदानन्द को बाहर भी प्रकट कर दिया । उनका सारा शरीर -सब अङ्ग- रोमाञ्चित हो गया और उनके सभी मनोरथ पूरे हो गए । उनके मन में पहले भगवान् के प्राप्त न होने से पीड़ा बनी हुई थी, भगवान् के मिल जाने पर भी जब तक भगवान् हमें सदा के लिए मिल गए और हमारे हृदय में प्रवेश करके वहाँ स्थिर विराज गए हैं,यह न जान लिया जाय, तब तक पहले -भूत काल में- जैसे भगवान् का सम्बन्ध नहीं था वैसे आगे -भविष्यत् में- कहीं (भगवान् का) सम्बन्ध न रहे, ऐसी चिन्ता बनी ही रहती है । अब हृदय में प्रवेश करके भगवान् के नित्य विराजमान हो जाने से परिपूर्ण हुई उन पुरवासिनियों के हृदय में पीड़ा के लिए कोई स्थान नहीं रहा और उन्होंने उस -आधि- मानसिक पीड़ा का त्याग कर दिया । यदि भगवान् उनकी दृष्टि द्वारा उनके हृदय में सदा नहीं रहते तो उनके एक क्षण मात्र के दर्शन करने से उन पुरवासिनियों के सब मनोरथ पूर्ण नहीं होते । स्त्री और पुरुष का लौकिक तथा अलौकिक प्रसङ्ग (प्रेम) समान ही होता है । इसलिए यहाँ (इस विषय में) लौकिक विचार से भी कामादि विकार उत्पन्न न हो सके, इस कारण से (अरिन्दम) कामादि शत्रुओं का दमन करनेवाले, ऐसा सम्बोधन (राजा के लिए) दिया है ॥२८॥

श्लोक—प्रासादशिखरारूढाः प्रीत्योत्फुल्लदृशोबलाः ।
अभ्यवर्षन् सौमनस्यैः प्रमदा बलकेशवौ ॥२९॥

श्लोकार्थ—महलों पर चढ़ी हुई मदोन्मत्त उन अबलाओं के कमल से नेत्र प्रसन्नता से खिल उठे और वे श्रीकृष्ण और बलदेव पर पुष्पों की वर्षा करने लगीं ॥२९॥

सुबोधिनी—एवं पूर्णमनोरथानां कृत्यमाह प्रासादशिखरारूढा इति । देवानां कृत्यं पुष्पवृष्टिः, एतास्तु देवरूपा जाता अन्तःपूर्णामृतत्वात्, बहिरपि देवतुल्यत्वं जातमित्याह प्रासादशिखरेषु समारूढाः विमानेष्विव स्थिताः, अनिमिषत्वसिद्ध्यर्थमाह प्रीत्योत्फुल्लदृश इति, स्नेहेन कृत्वा निर्निमेषा, विकसितनयना एव स्थिताः, अबलाः स्वभावतः सौन्दर्ययुक्ताः, अतः सर्वथा देवतुल्याः सौमनस्यं पुष्पकृतमभ्यवर्षन्, ननु निकटे स्थिता बहुपुष्पं वर्षणे अतिक्रमशङ्कया कथं न भीता जाता इति चेत् तत्राह प्रमदा इति, प्रकृष्टो मदः कामात्मको यासु तदा आविर्भूतकामाः विचाररहिता जाता इत्यर्थः किञ्च, पुष्पवृष्ट्या न भगवतः काचित् अनुपपत्तिरिति नामविशेषमाह बलो बलभद्र बलाधिक्यादेव, केशवस्तु ब्रह्मेशयोः सुखदातेति सर्वदा पुष्पवृष्टिमनुभवति, मत्वर्थीये व प्रत्यये पुष्पाणां केशेषु स्थापनं सर्वदेति नातिक्रमशङ्का ॥२९॥

व्याख्यार्थ - अपने मनोरथ पूर्ण हो जाने पर उन पुरवासिनियों ने जो कुछ कार्य आगे किया, उसका वर्णन इस 'प्रासादशिखरारूढाः' श्लोक से करते है। पुष्पों की वर्षा करना देवताओं का कार्य है। यहाँ भगवान् पर पुष्प बरसानेवाली ये स्त्रियाँ भी -हृदय अमृत से भरपूर होने के कारण- देव रूप हो गई - वे बड़े ऊँचे महलों पर चढ़ी हुई होने से विमानों पर बैठी हुई सी दिखाई दी। इसलिए वे बाहर भी देवता रूप हो गई। देवता जैसे पलक नहीं मारते, वैसे ही ये स्त्रियाँ भी स्नेह से निमेष रहित-खुले नेत्र वाली-ही रह गई। (अबलाः) स्वाभाविक सुन्दरता से युक्त वे सब प्रकार से देवता जैसी हो कर उत्तम उत्तम पुष्पों की वर्षा करने लगी।

पास रहनेवाली उनके मन मे बहुत सारे पुष्पों के बरसाने पर अपराध की शङ्का क्यों नहीं हुई ? इसके उत्तर में कहते है कि वे प्रमदा थीं,उनका कामात्मक मद प्रकट हो रहा था,इस कारण से वे विचार शून्य हो गई थी, इसलिए अपने अपराध को नहीं सोच सकीं और इस पुष्प वर्षा से भगवान् की काई हानि -अड़चन- भी नही हुई थी। इसलिए (यह प्रदर्शित करने के लिए) उनके विशेष नामों को कहते हैं। बलभद्रजो जिनको बल की अधिकता के कारण बल ही कहते हैं तथा केशव तो (क) ब्रह्मा (ईश) शिव दोनों को (व) अमृत तथा सुख देनेवाले हैं, जो सदा ही पुष्पों की वर्षा का अनुभव करते है अथवा केश शब्द से मत्वर्थ व प्रत्यय होने के कारण केशवाले तथा केशों पर सदा पुष्पों को धारण करनेवाले होने से दोनों पर इस पुष्पवृष्टि से कोई असुविधा होने का भय नहीं था ॥२९॥

श्लोक—दध्यक्षतैः सोदपात्रैः स्रग्गन्धैरभ्युपायनैः ।
तावानर्चुः प्रमुदितास्तत्र तत्र द्विजातयः ॥३०॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण आदि द्विजातियों ने भी स्थान स्थान पर दही,अक्षत,जल पात्र, माला, चन्दन आदि सामग्रियों से प्रसन्नतापूर्वक दोनों भाईयों का पूजन किया ॥३०॥

सुबोधिनी—एवं स्त्रीणां सम्मानं निरूप्य ब्राह्मणानां सम्बन्धि सम्माननमाह दध्यक्षतैरिति, लोके स्त्रियः अलौकिके द्विजा इति द्वयमेव जगद्रत्नं, तेन पूजितो भगवान् निरूप्यते, देशाचारात् तिलकार्थं दधि अक्षताश्च, तैः प्रथमतः अर्चनं,ततः पादप्रक्षालनाद्यर्थं उदपात्राणि, बहुवचनमनेकधा जलोपयोग इति नानाविधजलानि निरूपयति,तत उत्तमाः स्रजः, ततो गन्धः चन्दनकृतो धूपकृतश्च, ततः अभ्युपायनानि मिष्टान्नादीनि फलादीनि वा, एवं चतुर्विधैः साधनैः तौ रामकृष्णौ आनर्चुः, ततः प्रमुदिता अपि जाताः, द्विजातीनां पर्यवसानेपि क्वचिदेव सुखं भवतीति पश्चात् प्रमोद उक्तः, तत्र तत्रेति, ब्राह्मणानां सम्मर्दो निवारितः क्रमपूजा चोक्ता, द्विजातय इति सर्वे साधारण्येन पूजार्थं प्रवृत्ता इति तेषामपि निरोध उक्तः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार पुरवासिनी स्त्रियों के द्वारा किए गए सम्मान का वर्णन कर के 'दध्यक्षतैः' श्लोक से ब्राह्मणों के द्वारा किए सत्कार को कहते है। लौकिक में स्त्रियाँ और अलौकिक में ब्राह्मण जगत् में दोनों ही रत्न है। इन दोनों के द्वारा आदर सत्कार तथा पूजा (विभूषित) किए गए भगवान् का निरूपण किया जाता है। (१) देश की प्रथा के अनुसार दही और अक्षतों-जो तिलक के लिए लाए गए थे-से भगवान् के पहले तिलक फिर पूजन किया और (२) पाँव धुलाने के लिए जल के पात्र लाए गए। जल का बहुत कामों में अनेक प्रकार से उपयोग होता है। इसलिए जल के पात्रों में बहुवचन दिया गया है। (३) बड़ी सुन्दर मालाएँ, चन्दन, धूप आदि सुगन्धी पदार्थ, (४) भाँति भाँति की भेंटें, मिष्टान्न और फल आदि, इस प्रकार चार भाँति के साधनों (पदार्थों) से उन ब्राह्मणों ने श्रीकृष्ण बलदेव दोनों का पूजन किया और वे अत्यन्त प्रसन्न भी हुए। ब्राह्मणों को अन्त में प्रसन्नता कहीं कहीं होती है। इसलिए उनका सुखी होना पीछे-पूजा के बाद-कहा गया है। जगह जगह पर पूजा की गई। अर्थात् भीड़ न कर के सभी ने बारी बारी से पूजा कर ली। सारे ब्राह्मणों का सामान्य रूप से पूजा करने में लग जाने के वर्णन से उनका भी निरोध कहा गया है ॥३०॥

श्लोक—ऊचुः पौरा अहो गोप्यस्तपः किमचरन् महत् ।
या ह्येतावनुपश्यन्ति नरलोकमहोत्सवौ ॥३१॥

श्लोकार्थ—पुर नारियाँ परस्पर में कहने लगीं—अहो! गोपियों ने पूर्व जन्म में कौन सी ऐसी भारी तपस्या की थी, जो इस मनुष्य लोक में महोत्सव रूप इन दोनों को वे हर घड़ी देखती ही रहती हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—एवं कायिकं मानसिकं सम्मानमुक्त्वा वाचनिकमाह ऊचुरिति, सर्व एव पुरवासिनः सकृत् भगवन्तं दृष्ट्वा अमितानन्दमनुभूय विचारितवन्तः, ये सर्वदैव भगवन्तं पश्यन्ति तेषां महद्भाग्यं तद्भाग्यं स्मृत्वा आश्चर्याविष्टा आहुः अहो इति, गोप्यस्तपः किमचरन्निति, भगवन्तं द्रष्टुं स्त्रिय एव जानन्तीति तासां प्रशंसा, तपसैव सर्वं सिध्यतीति ज्ञातेस्माभिरपि तत् कर्तव्यमिति, गत्र साधनेपि तत्रत्यानामिच्छा तत्र फले किं वक्तव्यमिति भावः, भगवद्दर्शनस्योत्कृष्टत्वायाह नरलोकमहोत्सवाविति, उत्सवः कदाचिदेव भवति महोत्सवस्तु ततोपि दुर्लभः तथापि सर्वेषामुत्सवौ तिदुर्लभ, एतावेति प्रदर्शनेनाद्भुतत्वे प्रमाणमुक्तम् ॥३१॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार काया और मन के द्वारा सम्मान का वर्णन करके इस 'ऊचुः पौरा' श्लोक से वाणी के द्वारा किए (भगवान् के) सम्मान का निरूपण करते हैं। मथुरावासी सारे ही नर नारी भगवान् का एक बार दर्शन करके अपार आनन्द का अनुभव कर विचार करने लगे कि जो सदा ही भगवान् के दर्शन करते हैं, उनका तो बड़ा भाग्य है। प्रतिदिन-सदैव-दर्शन करने वाले बड़-भागियों के भाग्य का स्मरण करके वे सब आश्चर्य मग्न होकर कहने लगे कि अहो! गोपीजनों ने कौन सी तपस्या की है? भगवान् का दर्शन करना तो स्त्रियाँ ही जानती हैं। इस प्रकार से उनकी प्रशंसा की है। तपस्या से ही सब प्राप्त होता है, ऐसा जान कर हमें भी तपस्या करनी चाहिए। इस प्रकार जब उन पुरवासियों को साधना-तपस्या-करने मे भी इच्छा हुई, तो फल की प्राप्ति में भी इच्छा होना निश्चित ही है, यह तात्पर्य है। भगवान् का दर्शन सर्वोत्तम है, क्योंकि वह तो मृत्युलोक में महोत्सव रूप है। उत्सव तो कभी कभी होता है और महोत्सव तो उत्सव से भी दुर्लभ होता है, किन्तु यह तो सब ही का उत्सव होने के कारण अत्यन्त ही दुर्लभ है। एतौ-इन दोनों राम कृष्ण को-यों सब को दिखलाकर पुरवासियों ने उनकी अद्भुतता में प्रमाण-प्रदर्शित किया-दिया है ॥३१॥

श्लोक—रजकं कञ्चिदायान्तं रङ्गकारं गदाग्रजः ।
दृष्ट्वायाचत वासांसि धौतान्यत्युत्तमानि च ॥३२॥

श्लोकार्थ—जिधर से श्रीकृष्ण जा रहे थे, उसी रास्ते से कोई धोबी आ रहा था। वह कंस का धोबी था, जो उसके (कंस के) कपड़ों को धोता था और रङ्गता भी था। उसे देख कर गदाग्रज भगवान् ने उससे अति उत्तम और धुले हुए वस्त्र माँगे ॥३२॥

सुबोधिनी—एवं कायवाङ्मनोभिः सन्माननं निरूप्य ये सन्माननं न कुर्वन्ति ये वा कुर्वन्ति उभयोः फलं दर्शयितुं हीनजातीयानां अतिक्रमे नाशो निरूप्यते रजकमिति सप्तभिः,**हीनः भगवन्तं न मन्यत** इति ज्ञापयितुमेवं **कथा**, अन्यथा भगवान् हीनं न कुर्यात्, अन्त्यजेषु मुख्यो रजकः, 'रजकश्चर्मकारश्चे'त्यादिवाक्यात्, अत एव रामावतारे रजकस्याधिक्षेपवाक्यं, अत एव इयं जातिरेव दुष्टा स वा अयं, **कञ्चिदि**ति महान्तं साभरणभुतमवस्त्रयुक्तमायान्तं स्वसम्मुखं, रजका द्विविधाः केवलमलशोधकाः रञ्जकाश्च, तत्रायं रञ्जक इत्याह **रङ्गकारमिति**,ननु भगवान् राजवस्त्राणि किमिति प्रार्थयति तत्राह **गदाग्रज** इति, गदो रोहिणीपुत्रो द्वितीयः, सोग्रे भविता, तस्मादग्रे जातो भगवान्, स चोत्पादनीयः, तत् कंसवधाभावे न भवतीति कंसे मारिते तानि वस्त्राणि स्वस्यैव, याचनं तु तं मेलयितुं, यथा पुरवासिनः तथा तद्भूत्वा अपि चेत् न मारणीया इति, केचित्तु गदोयं भविष्यतीति मारणार्थं तयोक्तवानित्याहुः कृपादृष्टिस्तस्मिन् पतितेति तदुद्धरणार्थं याचितवान् तदाह **दृष्ट्वायाचतेति**, ननु विद्यमानेषु वस्त्रेषु किमिति याचितवांस्तत्राह **धौतानीति**, साम्प्रतमेव प्रक्षालितानि **स्वरूपतोप्युत्तमानि**, चकारात् नानाविधानि ॥३२॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार काया, वाणी और मन से किये गए भगवान् के सम्मान का वर्णन करने वालों तथा सम्मान न करने वालों को प्राप्त होने वाले फल को दिखाने के लिये 'रजकं' इस श्लोक से आरम्भ करके सात श्लोकों से यह निरूपण करते हैं कि हीन जातिवाला यदि भगवान्

का अपमान करता है तो उसका नाश हो जाता है। हीन मनुष्य भगवान् को नहीं मानते हैं, यह बतलाने के लिये इस कथा का वर्णन किया है। हीन पुरुष यदि भगवान् का सन्मान करें तो भगवान् उनको हीन जाति में जन्म नहीं दे। धोबी और मोची 'रजकश्चर्मकारश्च' इस वाक्य के अनुसार अन्त्यजों में धोबी मुख्य है। इसी से रामावतार में धोबी ने ही अपमान कारक वचन कहे थे। इसलिये यह जाति ही दुष्ट है अथवा रामावतार में अपमान जनक वाक्य बोलनेवाला धोबी ही यह (धोबी) था। भगवान् ने वस्त्र तथा आभूषणों से सुसज्जित किसी धोबी को उसी मार्ग से सामने आता हुआ देखा। धोबी दो काम करते है (१) मैले कपड़े धोना और (२) कपड़े रगना। उनमें यह रगरेज-रंगकार-था।

भगवान् ने उससे राजा के वस्त्र क्यों मांगे ? इस के उत्तर में कहते है कि भगवान् गदाग्रज हैं। गद नाम का रोहणीजी का दूसरा पुत्र है, जिसका जन्म आगे होगा। इसलिये भगवान् गद से पहले प्रकट हुए है और अब गद को उत्पन्न करना है, जो कस का वध हुए बिना नहीं हो सकता है इसलिये कंस को मार दिये जाने के बाद ही ये सारे वस्त्र भगवान् के ही है। उससे याचना तो इस बात की जांच के लिये की कि साधारण पुरवासियों की तरह कंस के सेवक भी मारने योग्य नहीं हैं अथवा मार देने योग्य हैं। कितने ही टीकाकार तो ऐसा कहते है कि यह रगरेज ही आगे गद रूप से जन्म लेगा। इसलिये उसको मारने के अभिप्राय से ही उससे वस्त्र मांगे थे। उसके ऊपर भगवान् की कृपादृष्टि हुई और उसका उद्धार करने के लिये भगवान् ने उससे वस्त्र (उस को देख कर) मांगे।

भगवान् के पास वस्त्र तो थे ही, किन्तु फिर भी वस्त्र मांगने का कारण यह था कि उसके पास वे वस्त्र तत्काल धोये हुए उत्तम और रग बिरगे (भांति भांति के) थे ॥३२॥

श्लोक—देह्यावयोः समुचिताऽन्यङ्ग वासांसि चार्हतोः ।
भविष्यति परं श्रेयो दातुस्ते नात्र संशयः ॥३३॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण ने कहा-हे सज्जन धोबी! हमारे अङ्गों में ठीक हो, वे वस्त्र हमारे लिए दे दो। तेरे पास के ये कपड़े हमारे ही पहनने योग्य हैं। हम को वस्त्र देने से अवश्य तेरा कल्याण होगा, इसमें सन्देह नहीं है ॥३३॥

सुबोधिनी--याचनमाह **देह्यावयोरिति**,गोपालेभ्यः पश्चात् देयमिति शङ्कोचादावयोरेवेत्युक्तम्, **समुचितानि** मह्यं पीतप्रधानानि बलभद्राय नीलप्रधानानि, **अङ्गे**ति सम्बोधनं तस्मिन् स्नेहसूचकमतिक्रमाभावार्थं च, **वासांसि** परिधानयोग्यानि, **च**कारात् यदि तवाभरणानि भवन्ति, गोपालेभ्योपि वा, न ज्ञायत इति चेत्तत्राह **अर्हतो**रिति, आवां उत्तमवस्त्राण्यर्हन्तौ, दाने किं स्यादत आह **भविष्यति पर श्रेय** इति, अन्येभ्यो दानापेक्षयापि मह्यं दाने परमधिकमेव **श्रेयो भविष्यति परं दातुरेव ते** न स्वदाने, अन्यथा भगवद्वाक्यमन्यथा स्यात्, दानपक्षे पश्चात् राजस्वे वृतेपि दोषान्तरशङ्कया श्रेयो न भवेदिति शङ्कां वारयति **नात्र संशय** इति ॥३३॥

व्याख्यार्थ 'देह्यावयोः' इस श्लोक से वस्त्र मांगने का प्रकार का वर्णन करते है। सभी गोपालों को भी बाद में वस्त्र देना है, किन्तु प्रारम्भ मे संकोचवश दोनो के लिये ही वस्त्र मांगे हैं। हम दोनों को हमारे योग्य अर्थात् मेरे (श्रीकृष्ण के) लिये खास कर पीले और बलदेवजी के लिये मुख्यरूप से नीले वस्त्र देओ। हे अग!(हे सत्पुरुष!) यह सम्बोधन उस धोबी पर स्नेह सूचित करने के लिये तथा किसी प्रकार का दबाव नहीं है, यह बतलाने के लिये है। हमारे योग्य कपड़े, आभूषण हो तो आभूषण दो। अथवा इन गोप बालकों के लिये भी कपड़े देओ।

यदि धोबी इन को नहीं पहचानता हो तो भगवान् कहते हैं कि हम दोनों उत्तम से उत्तम वस्त्रों को पहनने के योग्य हैं। वस्त्रों के प्रदान करने से तेरा कल्याण होगा और मेरे (श्रीकृष्ण) को देगा तो बहुत बड़ा कल्याण होगा, परन्तु वस्त्र देगा तब ही कल्याण होगा, नहीं देगा तो नहीं होगा। यदि ऐसा अर्थ न हो तो भगवान् का वाक्य व्यर्थ होता है। इसका कपड़े देने पर ही कल्याण होना सम्भव है और यदि वस्त्र दे देता है तो भी राजा के वस्त्र दूसरों को दे देने के दोष (अपराध) की शंका रहने पर भी कल्याण नहीं हो, इस सन्देह के (विषय में सन्देह नही हैं, इन पदों से दूर किया है ॥३३॥

श्लोक—स याचितो भगवता परिपूर्णेन सर्वतः ।
साक्षेपं रुषितः प्राह भृत्यो राज्ञः सुदुर्मदः ॥३४॥

श्लोकार्थ—वह राजा कंस के कपड़े धोने वाला धोबी था। पूर्ण काम परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण के यों वस्त्र माँगने पर अत्यन्त घमण्डी वह राज सेवक क्रुद्ध होकर तिरस्कार करता हुआ बोला ॥३४॥

सुबोधिनी--एवं व्यवहारसिद्धत्वात् तदुपकारार्थं याचनेऽपि कृते दुष्टो नाङ्गीकृतवानित्याह स याचित इति. अविद्यमानत्वात् याचनं व्यावर्तयति भगवानिति, समर्थस्यापि कदाचित् न भवेदिति तदर्थमाह परिपूर्णेन सर्वत इति, सर्वदेशेषु सर्वकालेषु च परितः सर्वद्रव्याणि सर्वफलानि सर्वतः पूर्णानि ततश्च तादृशस्य वचनेनापि हितं वक्तव्यमिति तत् नोक्तवानित्याह साक्षेपमिति, आक्षेपपूर्वकं रुषितः प्राह. अन्तर्बहिः तस्य दोषौ निरूपितौ,रोष अन्तरः साक्षेप यथा भवतीति बाह्यः, तस्य तथात्वे हेतुमाह भृत्यो राज्ञ इति, कंसस्य भृत्यः, स्वभावतोऽपि दुष्ट इत्याह सुदुर्मद इति, सुतरां दुष्टो मदो यस्येति ॥३४॥

व्याख्यार्थ —इस प्रकार व्यवहार की रीति से उस धोबी पर उपकार करने के लिये वस्त्र मांगने पर भी उस दुष्ट ने वस्त्र देना स्वीकार नहीं किया,यह इस 'स याचितोः' श्लोक से कहते हैं। यह बात नहीं थी कि भगवान् के पास वस्त्र नहीं होंगे, इसलिये उससे वस्त्र मांगे हों, क्योंकि भगवान् सर्वशक्तिमान के पास कभी कोई वस्तु न हो, ऐसी शंका नहीं हो सकती है। इसी अभिप्राय से श्लोक में परिपूर्ण (सब प्रकार से पूर्ण) विशेषण है। सभी स्थानों में कालों में और सब ओर से भगवान् के पास सब फलों सहित सारे पदार्थ सदा भरपूर होते हैं। ऐसे सर्व समर्थ पुरुष का वचन मात्र से ही

हित करना चाहिये था, किन्तु उसने भगवान् को उचित उत्तर नहीं देकर क्रोध से तिरस्कार पूर्वक कहा। इसने अपने-क्रोध के कारण भीतर के और तिरस्कार पूर्वक बोलकर बाहर के-दोषों को प्रकट कर दिया। वह राजा कंस का तो सेवक था और स्वयं भी अत्यन्त दुष्ट, मदोन्मत्त था, इसलिये उसका भीतर और बाहर दोषों से भरपूर होना स्वाभाविक ही था ॥३४॥

श्लोक—ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेचराः।
परिधत्त किमुद्वृत्ता राजद्रव्याण्यभीप्सथ ॥३५॥

श्लोकार्थ—वह दुष्ट बोला—रे पहाड़ों पर और वनों में भटकते फिरने वाले जङ्गलियों! हे उच्छृङ्खलों! क्या तुम सदा ऐसे ही वस्त्रों को पहनते रहते हो, जो आज राजा के वस्त्रों को पहनना चाहते हो? ॥३५॥

सुबोधिनी -आक्षेपमाह ईदृशान्येवेति. यो हि समीचीनवस्त्राणि परिधत्ते स कदाचिदभावे याचित्वापि परिधत्ते द्रव्यं दत्त्वा वा, तथा किं भवन्तः **ईदृशान्येवात्युज्ज्वलानि नित्यं परिधत्त**, तथैवेत्याशङ्कायामाह **गिरिवनेचरा** इति, गिरौ वने च ये चरन्ति ते विद्यमानवस्त्रा अपि कुचैला एव भवन्ति, नित्यं ये **गिरिवनेचराः** तेषामुत्तमवस्त्रपरिग्रहो व्यर्थ एव, नन्वपरिहितान्यपि औत्सुक्यात् याच्यन्त इति चेत् तत्राह **किमुद्वृत्ता** इति, औत्सुक्ययाचने न राजकीयानि याच्यन्ते किन्तु साधारणानि, न त्वसाधारणान्यपि याच्यन्ते, का मर्यादेति चेत् तत्राह तर्हि किं भवन्त **उद्वृत्ता** इति, उद्गत वृत्त मर्यादारूप येभ्यः, एतादृशोद्वृत्तता किमर्थं क्रियत इति वा, येन **राजद्रव्याण्यभीप्सथ**, यस्तु मूर्धाभिषिक्तः तस्यैवोपभोग्यानि मत्प्रक्षालितानि वस्त्राणि; तान्यपि यतोभीप्सथ। ॥३५॥

व्याख्यार्थ—इस 'ईदृशान्येव' श्लोक से उसके आक्षेप पूर्ण वाक्यों का वर्णन करते हैं, जो सदा उत्तम उत्तम वस्त्र पहनते हों, वे कभी वैसे वस्त्रों के न रहने पर औरों से मांग कर अथवा मूल्य से खरीद कर भी पहनते हैं। इसी तरह क्या आप भी नित्य अत्यन्त उज्ज्वल वस्त्र ही धारण किया करते हो ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ऐसे उत्तम वस्त्र सदा धारण करलें, ऐसी मन में शंका करके वह स्वयं बोला कि पर्वत और वन में फिरने वाले भी तो वस्त्र तो पहनते हैं, किन्तु वे मलिन वस्त्र पहनते हैं, क्योंकि उन जंगलियों का उज्ज्वल वस्त्र धारण करना निरर्थक ही है।

कभी नहीं पहने वस्त्रों को भी पहनने की तीव्र इच्छा किसी को होती है, तो भी वह राजा के वस्त्रों को अपने पहनने के लिये नहीं मांगा करता है। साधारण वस्त्र तो मांगे भी जा सकते हैं, किन्तु असाधारण वस्त्र (राजा के वस्त्र) नहीं मांगे जाते हैं। यह कहाँ लिखा है कि राजा के कपड़े नहीं मांगे जाते ? उसके उत्तर में वह रजक फिर पूछता है कि क्या आप लोग जंगली ही हो? मर्यादा हीन हो? जो राजा के उपभोग के पदार्थों की इच्छा करते हो। देखो, मेरे धोये हुए वस्त्रों को तो केवल मूर्धाभिषिक्त राजा ही-जिस के मस्तक पर राज्याभिषेक होता है-धारण करता है। उन मेरे धोये हुए और केवल राजा के ही पहनने लायक उत्तम वस्त्रों की तुम इच्छा क्यों करते हो ? ॥३५॥

श्लोक—यातांशु बालिशा मैवं प्रार्थ्यं यदि जिजीविषा ।
बध्नन्ति घ्नन्ति लुम्पन्ति दृप्तं राजकुलानि वै ॥३६॥

श्लोकार्थ—अरे मूर्खो! अगर जीवित रहना चाहते हो तो यहां से जल्दी भाग जाओ। देखो, तुम जैसे उन्मत लोगों को राजकर्मचारी बाँधते हैं, मार डालते हैं और उनका सर्वस्व हर लेते हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—अज्ञात्वा याचितमिति चेत् तत्राह यातांशिति, इतः शीघ्रमेव यात ग्रामान्तरं गच्छत, यतोऽत्रत्यवृत्तान्तो न ज्ञायते भवद्भिः, हितमाह मैव प्रार्थ्यमिति, बाधकमाह यदि जिजीविषेति यतः प्रार्थयितारं राजकुलानि मर्यादार्थं युक्ता राजभटाः अल्पापराधे बध्नन्ति, महत्यपराधे गृहस्थासङ्गते तमेव घ्नन्ति, अन्यथा लुम्पन्ति सर्वस्वलुण्टनं कुर्वन्ति, तत्राकरणे दोषमाह दृप्तमिति, अतो यावत् दृप्ततां न जानन्ति तावदन्यत्र यातेति रोषवाक्यम् एवं सर्वसाधारणं भगवन्तं ज्ञात्वा बहुवचनेन सर्वान् प्रत्युक्तवान् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—यदि यह कहा जाय कि हमने बिना जाने राजा के कपड़े मांगे हैं, तो वह फिर कहता है कि 'यातांशु' यहां से शीघ्र कहीं दूसरे गांव चले जाओ, यहां का वृतान्त तुम लोग नहीं जानते हो। इसलिये तुम्हारे हित की बात कहता हूं कि यदि जीना चाहते हो तो इस प्रकार आगे राजा के उपभोग में आने वाली उत्तम वस्तुओं को मत मांगना, क्योंकि ऐसे मांगने वाले को जनता को मर्यादा का पालन कराने के काम में नियुक्त किये हुए राजसेवक (सैनिक) थोड़े से अपराध के कारण बांध लेते हैं। गृहस्थियों के द्वारा निन्दा किया गया ऐसा बड़ा अपराध करने पर अपराधी को ही मार डालते हैं और साधारण सा अपराध हो जाने पर भी उसके सर्वस्व लूट लेते हैं। तुम तो बड़े उद्धत दिखाई देते हो। इसलिये इस तुम्हारी उद्धतता को सब लोग न जान सके, इसके पहले ही यहां से शीघ्र ही कहीं चले जाओ, यह उसने क्रोध में आकर कहा। उसने भगवान् को भी सब गोपों की तरह साधारण जान कर बहुवचन से सबसे वहां से शीघ्र कहीं अन्यत्र चले जाने को कहा ॥३६॥

श्लोक—एवं विकत्थमानस्य कुपितो देवकीसुतः ।
रजकस्य कराग्रेण शिरः कायादपातयत् ॥३७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार छोटे मुंह बड़ी बात करने वाले उस धोबी को भगवान् ने कुछ कोप से एक तमाचा ऐसा मारा कि जिससे उसका सिर धड़ से अलग हो गया ॥३७॥

सुबोधिनी—तत्र बलभद्राक्षेपं असहमानः अग्रे कार्यमपि कर्तव्यमिति तं मारितवानित्याह एवमिति, विशेषेण कत्थमानस्य असम्बद्धभाषिणः भगवन्माहात्म्यमज्ञात्वा स्वोत्कर्षमेव वदतीति, अत एव कुपितः किञ्च देवकीसुत इति, देवकी तु बद्धा तस्यां कृपया कंसो मारणीय इति तं मारि-

तवान्. अथवा, मातुलयो न मारणीय इति तं ज्ञापयितु स्वस्य पौरुषप्राकट्यार्थं रजक मारितवान्; कराग्रेण चपेटेन नखेन वा, केचित् अत्र सुदर्शन कल्पयन्ति,तस्य मुखस्यैव दोष इति शिर कायात् दूरीकृतवान् उभयो: सम्बन्धो न युक्त इति, तत्प्रक्षालितानि हि भगवता परिधेयानीति। ॥३७॥

व्याख्यार्थ—तब बलदेवजी के अपमान को सहन नही करने वाले और भविष्य मे आगे भी कोई काम करने की इच्छा रखने वाले भगवान ने उसको मार डाला,यह इस 'एवं विकत्थमानस्य' श्लोक से कहते हैं। वह धोबी भगवान् के माहात्म्य को न जान कर केवल अपनी ही बड़ाई की डींग हांक रहा था और वे सिर पैर की असम्बद्ध बातें बक रहा था। तब भगवान् देवकीनन्दन ने कुछ क्रोध करके उसको मार डाला, क्योंकि कंस के बन्धन में पड़ी हुई देवकीजी पर कृपा करके कंस का वध करना है। कंस भगवान् का मामा था और मामा को मारना उचित नहीं होता। इसलिये भी भगवान् ने कंस को अपना पराक्रम दिखाने-अपना पुरुषार्थ प्रकट करने-के लिये रजक को थप्पड़-तमाचे-तथा हाथ के नाखून से मार डाला। कई टीकाकार अत्र सुदर्शन चक्र से उसको मार देने की कल्पना करते हैं। मुख से अनुचित प्रलाप करने के कारण उसका मुख ही दोषी-दुष्ट-था। इसलिये भगवान् ने उसके सिर को काया से अलग कर दिया, क्योंकि उसके ऐसे दोषी सिर का और काया का सम्बन्ध उचित नही था ॥२७॥

श्लोक—तस्यानुजीविनः सर्वे वास कोशान् विसृज्य वै ।
दुद्रुवुः सर्वतो मार्गं वासांसि जगृहेऽच्युतः ॥३८॥

श्लोकार्थ—तब उस धोबी के साथी-अन्य धोबी-कपड़ों की गठरियों को वहीं पर छोड़ कर चारों तरफ से रास्तों में अपने अपने प्राण बचाने के लिए भाग -दौड़- गए और अच्युत भगवान् ने उन वस्त्रों को ले लिया ॥३८॥

सुबोधिनी—ततोऽन्ये अहन्यमाना अपि पलायिता इत्याह **तस्यानुजीविन** इति, **तस्य** मुख्यरजकस्य **अनुजीविनः** सेवका: सर्व एव रजका: अतस्ते **वास: कोशान्** वस्त्रभारान् भण्डाररूपान् **विसृज्य वै** निश्चयेन पुन: प्राप्तिप्रत्याशां दूरीकृत्य यथायथं **दुद्रुवुः** सर्वत एव मार्गो यथा भवति तथा, भीतपलायने सर्वत्रैव मार्गो भवतीति, ततो भगवान् अप्रतिहत: स्वय **वासांसि जगृहे**,क्षत्रियाणामय धर्म: हतस्य शत्रो: पदार्था: स्वस्यैवेति, च्युतिराहित्यमत्र कोलाहलादिना भयशङ्काव्यावृत्यर्थम् ॥३८॥

व्याख्यार्थ—उस धोबी के धोये हुए वस्त्रों को भगवान् को धारण करना-पहिनना-है। इसलिये उसको मार डाला। शेष धोबी प्राण बचाकर भाग निकले,यह इस'तस्यानुजीविना'श्लोक से कहते हैं। उस मुख्य धोबी के सेवक बाकी के सारे धोबी कपड़ों की भण्डार रूप गठरियों को फिर मिलने की आशा को छोड़ कर जहां की तहां डाल कर ज्यों त्यों चारों ओर दिशाओं में प्राण बचाने के लिये दौड़ पड़े, क्योंकि डर कर भागने वालों के लिये सभी तरफ रास्ता हो जाता है,किसी भी बाजू से प्राण बचाने भाग निकलता है,तब अच्युत भगवान् ने बिना किसी रोक टोक के वे सभी वस्त्र ले लिये, क्योंकि क्षत्रियों

का यह धर्म है कि मारे गये शत्रु की सारी वस्तुएं विजेता की होती हैं। अच्युत-किसी से भी नहीं रुकने वाले-भगवान् को उस कोलाहल से जरा भी भय नहीं हुआ ॥३८॥

श्लोक—वसित्वात्मप्रिये वस्त्रे कृष्णः सङ्कर्षणस्तथा ।
शेषाण्यादत्त गोपेभ्यो विसृज्य भुवि कानिचित् ॥३९॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण और बलदेवजी ने उनमे से मनमाने वस्त्र स्वयं धारण कर लिये। इसके बाद गोपों को भी उत्तम उत्तम वस्त्र बाँट दिए और बाकी बचे वस्त्रों को वहीं पृथ्वी पर फेंक कर आगे बढ़े ॥३९॥

सुबोधिनी—अत एव निर्भयव्यवहारमाह **वसित्वात्मप्रिये वस्त्रे** इति. आत्मप्रिये पीते, **सङ्कर्षणोपि तथा. तथा शेषाणि** पुनर्वस्त्राणि **गोपेभ्य आदत्त** भगवान् सङ्कर्षणश्च तेषां स्वतो ग्रहणमनुचितमिति, भारे उपरि यदि अनभिप्रेतं भवेत् तानि **भुवि विसृज्य** उत्तमान्येव दत्तवान्, प्रायेण बहून्येव गृहीतानि त्यक्तानि तु बहूनि, वस्त्रे इति द्विवचनं जात्यभिप्रायमुभयोर्जात्येन वस्त्रजातीयाः प्रिया इति न तु वस्त्रद्वयमेव, एतदर्थमेवावतीर्ण इति कृष्णस्योचित परिधानं, सम्यक् कर्षतीति द्रष्टृदृश्ययोर्मेलक इति **सङ्कर्षणस्यापि** परिधानमुचितम् ॥३९॥

व्याख्यार्थ—इसीलिये इस 'वसित्वा' श्लोक से भगवान् के निःशंक व्यवहार का वर्णन करते हैं। तब भगवान् श्रीकृष्ण और बलदेवजी ने अपने अपने मन चाहे पीले और नीले वस्त्र स्वयं पहन लिये फिर बाकी के वस्त्रों में से श्रीकृष्ण बलदेवजी नें यथा योग्य साथ के सखा गोप जनों को बांट दिये, क्योंकि उनका अपने हाथों से वस्त्र लेना अनुचित था। उनमें से भारी वस्त्रों को जिनको पहनने से शरीर में बोझा लगे पृथ्वी पर फेंक दिये, केवल अच्छे उत्तमोत्तम वस्त्र ही गोप लोगों में बांट दिये। उन में से बहुत से वस्त्रों को लेलिया तथा बहुत सारे छोड़ दिये। वस्त्र जाति के पदार्थ दोनों श्रीकृष्ण और बलदेवजी को अलग अलग रंग के पीले तथा नीले-वस्त्र प्यारे थे इसलिये जाति के अभिप्राय से श्लोक में 'वस्त्रे' द्विवचन का प्रयोग किया गया है, किन्तु केवल दो वस्त्र ही दोनों ने पहने हों ऐसा नहीं है। श्रीकृष्ण (सदानन्द) का उत्तमोत्तम वस्त्र धारण करना उचित ही है, क्योंकि आपका अवतार सबको आनन्द देने के लिये ही हुआ है और संकर्षण-सं-अच्छी तरह-कर्षण-आकर्षण करने वाले अर्थात् देखने वालों का दर्शनीय पदार्थों से मेल कराने वाले हैं-अपने पहने हुए वस्त्र भूषणों से दर्शन करने वालों को आनन्द देते हैं। इसलिये बलदेवजी ने भी सबसे उत्तम वस्त्र धारण किये यह भी उचित ही है ॥३९॥

श्लोक—ततस्तु वायकः प्रीतस्तयोर्वेषमकल्पयत् ।
विचित्रवर्णैश्चैलेयैराकल्पैरनुरूपतः ॥४०॥

श्लोकार्थ—आगे एक दर्जी मिला। वह श्रीकृष्ण बलदेवजी के अनूप रूप को देख

कर बहुत प्रसन्न हुआ। तब उसने कृष्ण बलदेव के पहने हुए उन छोटे बड़े वस्त्रों को काट छाँट कर ठीक कर दिया ॥४०॥

सुबोधिनी—ततो यथाकथञ्चित् बन्धनार्थं प्रवृत्ती ज्ञानतत्त्वावपि मुग्धभावेन वायकपरितोषार्थं, तदा सन्तुष्टो वायकः वस्त्रपरिधानकारयिता यः प्रभुस्योपि सम्यक् परिधानं कारयति स प्रीतः सन् मम कार्यमेतदिति स्वकार्ये प्राप्ते सर्वोपि प्रीतो भवति, तत्राप्युत्कर्षं, तयोः रामकृष्णयोः यो वेष उचितः स्वयं पूर्वं ध्यातो वा तमकल्पयत्, स्वयं विचार्य नानाविधवस्त्राणि गृहीत्वा कोशेभ्यः भगवतैव वा पूर्वं गृहीतानि, विचित्रो वर्णो येषामिति, यस्मिन् भागे यादृशो वर्ण उचितः, चैलैर्वस्त्रैराकल्पैराभरणरूपैः, अनुरूपत इति यथा श्यामे यथा शुक्ले वेश उचितो भवति, एकत्रैव एकविषयक एव हिताहितसिद्धिरिति ज्ञापयितु वायकनिरूपणम् ॥४०॥

व्याख्यार्थ—तदनन्तर तत्व-लोक व्यवहार को जाननेवाले भी दोनों भाई दरजी को सन्तुष्ट करने के लिये भोले भालेपन से वस्त्रों को उलटे सीधे पहनने लगे। उस समय दरजी,जो राजाओं को भी वस्त्र सुन्दर काट छाट कर के पहनानेवाला था। अपना वस्त्र पहनाने के काम का अवसर जान कर बड़ा प्रसन्न हुआ, क्योंकि अपने काम का अवसर आने पर सभी प्रसन्न होते हैं। फिर अधिकता यह है कि भगवान् राम कृष्ण का सुन्दर वेष, जिसका वह पहले ही ध्यान कर रहा था और जो उनके योग्य था,उन गठरियों में से भाँति भाँति के रंग बिरंगे वस्त्रलाकर अथवा भगवान् के द्वारा पहले लाये हुए, वस्त्रों को उचित रीति से जहां जैसा रंग फबता हो वहां उसी प्रकार के रंग का वस्त्र काट छांट के साथ आभूषणों की तरह सीं कर बना दिया। तात्पर्य यह है कि भगवान् के श्याम वर्ण में और बलदेवजी के श्वेत वर्ण में जिस जिस रंग के अनुकूल वस्त्र (वेष-भूषा) बनाने में बड़े सुन्दर दिखाई देते थे;उसी के अनुसार दरजी ने दोनों के मनोहर वेष की रचना करदी ॥४०॥

श्लोक—नानालक्षणवेषाभ्यां कृष्णरामौ विरेजतुः।
स्वलङ्कृतौ बालगजौ पर्वणीव सितेतरौ ॥४१॥

श्लोकार्थ—दर्जी ने कपड़े के बनाए हुए रङ्ग बिरङ्गे हीरों और आभूषणों की सजावट से दोनों भाईयों के वेष को सँवार दिया। उस रङ्ग बिरङ्गे वेष में विराजमान वे दोनों ऐसे सुशोभित हुए जैसे उच्छव के दिन विचित्र गेरू आदि धातुओं से सिंगारे हुए सफेद और काले दो बाल गजराज शोभित होते हों ॥४१॥

सुबोधिनी—तत्परिधापनेन भगवतः शोभामाह, अन्यथा तस्मै वरदानं सारूप्यलक्षणमयुक्तं स्यात्, अतस्तत्क्रियया शोभा जातेत्याह नानालक्षणेति, नानालक्षणानि वेशे ययोः कृतौ, तस्य

लेख—'ततस्तु वायकः' इस श्लोक की व्याख्या में-एक विषय-के पदों का भाव यह है कि कपड़े का ही समान कार्य करनेवाले दोनों दरजी और धोबी को एक ही स्थान पर अपने अपने कर्त्तव्य के अनुसार अच्छा बुरा फल प्राप्त होता है,ऐसा बतलाने के लिये यह दरजी का निरूपण किया गया है।

वैयग्र्याभावाय सदानन्दत्वं रतिजनकत्वं चोक्तम्, विशेषेण पूर्वापेक्षयापि रेजतुः, यतः स्वलङ्कृतौ भवतः, अतिमहतः स्वरूपेणोत्कृष्टस्यालङ्कारेण कौतुकमेव भवतीति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह बाल- गजौ, अतिसुन्दरौ यथा पर्वणि नवम्यादावुत्सवे अलङ्कृतौ भवतः तथातिचपलाविव अतिसुन्दरौ सर्वैर्दृष्टावित्यर्थः ॥४१॥

व्याख्यार्थ—उस दरजी के वस्त्र पहनाने पर भगवान् अत्यधिक सुशोभित हुए, इस 'नाना-लक्षण' श्लोक से शोभा का वर्णन करते है। यदि वह दरजी वेष रचना करके उनको सुशोभित नहीं करता तो उसके लिए सायुज्य मुक्ति रूप वरदान देना अयोग्य हो जाता। इसलिए उसके काट छाँट कर कपड़े पहनाने से भगवान् की और भी अधिक शोभा हुई। उसने उनके वस्त्रों में भाँति भाँति के चिन्ह बनाए। उस दरजी के मन में विह्वलता न होने देने के लिए कृष्णरामौ, सदानन्द रूपता तथा रति उत्पन्न करनेवाले रूप का वर्णन किया है। सिंगार करने से उनकी पहले से भी और विशेष शोभा हुई, क्योंकि उस दरजी ने उन दोनों का बड़ा मनोहर शृङ्गार किया था। स्वरूप से उत्तम महापुरुष की सुन्दर रचना द्वारा और अधिक शोभा बढ़ जाती है। इसे समझाने का दृष्टान्त देते हैं कि जैसे दो छोटे हाथी नवमी आदि उत्सवों पर अलङ्कारों से विशेष सुन्दर दिखाई देते है, वैसे ही अत्यन्त चपल तथा अति मनोहर भगवान् श्रीकृष्ण बलदेवजी के सब जनता ने दर्शन किए ॥४१॥

श्लोक—**तस्य प्रसन्नो भगवान् प्रादात् सारूप्यमात्मनः ।**
श्रियं च परमां लोके बलैश्वर्यस्मृतीन्द्रियम् ॥४२॥

श्लोकार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होकर उस दरजी को परलोक में सारूप्य मुक्ति-अपने जैसा रूप-और इस लोक में श्रेष्ठ लक्ष्मी, बल, ऐश्वर्य, स्मरण शक्ति और इन्द्रियों का कभी शिथिल न होना आदि अनेक दुर्लभ वर देकर वहाँ से आगे पधारे। ॥४२॥

सुबोधिनी—तदा सर्वेषामधिकसन्तोषे फलं देयमिति सन्तुष्टो भगवान् फलं दत्तवानित्याह **तस्य प्रसन्न** इति, मनसि रूपं भावयित्वा रूपं कृतवानिति **सारूप्यमेव** दत्तवान्, सामर्थ्यार्थं भगवानिति, मुक्तिः प्रसन्ने एव भवतीति **प्रसन्न** इत्याह, **आत्मनः सारूप्यं** व्यापिवैकुण्ठवासिनः, एतद्देहावसाने भविष्यतीति तदानीमनभिप्रेतमिति फलान्तरमप्याह **लोके परमां श्रियमिति**, इह लोके धनादिसम्पत्ति, श्रीर्बाह्येत्यान्तरमप्याह **बलैश्वर्ये**ति, **बलं** देहस्य **ऐश्वर्यं** वाचनिकं, आज्ञासामर्थ्यमिति यावत्, **स्मृति**र्मानसी भगवदनुसन्धानरूपा आत्मानुसन्धानरूपा, ऐन्द्रियमपि सर्वेन्द्रियसामर्थ्यं दत्तवान्, एवमन्तश्चतुर्धा ऐहिकं पारलौकिकं चेति षट्फलानि दत्तानि, धर्म एव तेन सम्पादित इति न स्वरूपदानम् ॥४२॥

व्याख्यार्थ—दरजी के द्वारा मनोहर वेष भूषा बना देने पर सब सन्तुष्ट हुए। तब परम प्रसन्न भगवान् ने बड़ी उत्तम सेवा करनेवाले उसके लिए फल प्रदान किए, यह 'तस्य' इस श्लोक से कहते है। उसने अपने मन में रूप की भावना करके भगवान् का भेष (रूप) बनाया था। इसलिए भगवान् ने

उसे सारूप्य ही प्रदान किया । श्रीकृष्ण भगवान् हैं, इससे आप में सारूप्य देने की सामर्थ्य है । भगवान् प्रसन्न होवें, तब ही सारूप्य (अपना सा रूप) मुक्ति प्रदान करते हैं । अतः श्लोक में प्रसन्न भगवान्-यह विशेषण दिया है ।

सारूप्य (व्यापि वैकुण्ठ में विराजमान भगवान् के समान रूप) मुक्ति तो देह न रहने पर-मरने बाद-होगी । वह सारूप्य मुक्ति तो अभी नहीं चाहिये । इसलिये इस लोक में पांच फलों का निरूपण करते हैं । भगवान् ने उस दरजी को अटूट लक्ष्मी दे दी, जो (१) इस लोक के बाहर का फल है और (२) बल-देहका धर्म-(३) ऐश्वर्य-आज्ञाशक्ति-वाणी का धर्म (४) स्मृति-भगवान् (आत्मा)का अनुसन्धान-रूप मन का धर्म तथा (५) इन्द्रियों की सामर्थ्य भी प्रदान की इस प्रकार से परलोक में मिलने वाला सारूप्य तथा इस लोक में मिलने वाले लक्ष्मी (बाह्य) और बल, ऐश्वर्य, स्मृति, इन्द्रिय सामर्थ्य अन्दर के भगवान् ने उसको छः वरदान दिये । उससे धर्म का ही सम्पादन किया । इसलिये उसे भगवान् ने स्वरूप का दान नहीं किया ॥४२॥

श्लोक—ततः सुदाम्नो भवनं मालाकारस्य जग्मतुः ।
तौ दृष्ट्वा स समुत्थाय ननाम शिरसा भुवि ॥४३॥

श्लोकार्थ—पश्चात् वहाँ से सुदामा नाम वाले माली के गृह को पधारे, राम और कृष्ण दोनों को पधारते देख, सुदामा ने उठकर और पृथ्वी पर सिर धर कर प्रणाम किया ॥४३॥

सुबोधिनी—भक्त्या सह स्वरूपदानार्थमुपाख्यानान्तरमाह ततः सुदाम्न इति, यो हि दाता स पूर्वं यद्देयं तत् दत्त्वैव दुर्लभं प्रयच्छति, अतस्तदनन्तरं उत्तममालाकर्तुः भवनं गतौ, प्रायेण तस्य भवनं न राजमार्गे, अन्यथा प्रासङ्गिकमेव स्यात्, विक्रयस्थाने तु नोत्तमाः पदार्था भवन्तीति भवनमेव जग्मतुः, सुदामपदं रूढं वा भवेदिति विशेषमाह मालाकारस्येति, असाधारण्येन मालाकर्तुः, नन्वक्लिष्टकर्मा भगवान् किमित्यल्पार्थे परगृहं गत इति शङ्काव्युदासाय तस्य भक्त्यादिकं निरूपयति, तौ दृष्ट्वेति सार्द्धैः षड्भिः षड्गुणेभ्योऽधिकं देयमिति भक्तिरर्धगिति, स दृष्ट्वा उत्तमां मालां विधाय किं कर्तव्यमिति तिष्ठति, तदैवागतौ रामकृष्णौ दृष्ट्वा स प्रसिद्धः पूर्वमपि भगवद्भक्तः समुत्थाय भुवि शिरसा साष्टाङ्गं ननाम, लौकिक्येषा भाषेति यथा कृतमुक्तवान् निरोधार्हो भवतीति ज्ञापयितुं वा प्राकृतत्वाभावाय भक्तत्वाभावाय च मध्यभावं निरूपयन् निरूपयति ॥४३॥

व्याख्यार्थ—भक्ति सहित स्वरूप का दान करने के लिये दूसरे उपाख्यान का वर्णन 'ततः सुदाम्नः' इस श्लोक से करते हैं । इस प्रकार दरजी के लिये सायुज्य फल देकर फिर अत्यन्त स्वरूप रूप फल को देने के लिये उत्तम मालायें बनाने वाले सुदामा नाम के मालाकार-माली-के घर पर पधारे । सम्भवतः उसका घर राजमार्ग में सड़क पर नहीं होगा । इसीलिये भगवान् का चल कर उस माली के घर पधारना हुआ, क्योंकि यदि रास्ते में ही (उसका घर) होता तो वहाँ जाने का प्रसंग स्वतः ही हो जाता । माला बेचने के स्थानों (दूकानों) पर अच्छी उत्तम वस्तुएँ नहीं होती इस कारण से भगवान् उसके घर पर ही पधार गये ।

उसका सुदामा–अच्छी सुन्दर माला बनाने वाला–यह नाम रूढ़ि से–केवल बोलचाल का ही हो और वह माला नहीं बनाना जानता हो–ऐसी आशंका को दूर करने के लिये श्लोक में मालाकार (माली) पद दिया है। भगवान् उस सुन्दर माला बनाने वाले सुदामा माली के घर पधारे।

भगवान् क्लेश रहित काम करने वाले है। आपने साधारण सी बात के लिये माली के घर पर पधारने का कष्ट क्यों किया? इस शंका को दूर करने के लिये उसकी श्रद्धा भक्ति का निरूपण–इस श्लोक के उत्तरार्ध से लेकर आगे साढ़े छः श्लोकों से करते हैं। छः गुणों से अधिक फल भगवान् उसको देंगे और भक्ति आधा गुण है। वह सुन्दर माला बनाकर क्या करना चाहिये–ऐसा सोच ही रहा था कि उसी समय पधारे हुवे भगवान् के राम कृष्ण के दर्शन करके वह प्रसिद्ध जो पहले भी भगवान् का भक्त था, खड़ा हो गया और उसने पृथ्वी पर सिर झुका कर भगवान् को साष्टांग प्रणाम किया। यह लौकिक भाषा है। इस लिये जैसा माली ने किया, वैसा ही श्रीशुकदेवजी ने वर्णन किया है। अथवा यह निरोध रूप फल प्राप्त करने योग्य है अथवा यह प्राकृत भी नहीं है और भक्त भी नहीं है किन्तु प्राकृत तथा भक्त के बीच के मध्य भाग को बतलाने के लिये यह इस प्रकार से निरूपण किया है ॥४३॥

श्लोक—तयोरासनमानीय पाद्यं चार्घ्यार्हणादिभिः ।
पूजां सानुगयोश्चक्रे स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः ॥४४॥

श्लोकार्थ—फिर दोनों को सुन्दर आसन पर बैठाया। पाद्य, अर्घ्य, माला, पान, चन्दन आदि से श्रीकृष्ण, बलदेव और सब गोपों का उचित सम्मान तथा पूजन किया ॥४४॥

सुबोधिनी—एतावन् महत्युदासीनेपि क्रियत इति विशेषतः पूजामाह **तयोरासनमानीयेति**, स्वगृहे तादृशं योग्यं प्रायेण नास्तीति यत्र वोत्तमं तदानीय दत्तवान्, अव्यवहार्यं वा तथा पाद्यं च चकारादन्येप्युपचारास्तथैव कृताः, **अर्हणादिभि**श्चन्दनादिभिः, पाद्यान्ते उपचारे कृते सान्निध्यात् जातस्नेहः भवत्युत्तरं कृतवानिति ज्ञापयितुमथशब्दः, अतः **सानुगयोस्तयोः पूजां चक्रे** इयं पूजा आकस्मिकीति लोकसाधारणीमाह **स्रक्ताम्बूलानुलेपनैरिति**, आदौ चन्दनानुलेपनं ततस्ताम्बूलं ततो मालेति, तथापि स्वधर्मो मालेति व्युत्क्रमेण निरूपितवान्, भक्तिवशाद् वा यदेव यत् सम्पन्नं तदेवाग्रे कृतवानिति ॥४४॥

व्याख्यार्थ—इतना सा आदर तो महापुरुष के प्रति कोई उदासीन होकर भी कर देता है। इसलिये 'तयोरासनमानीय' इस श्लोक से विशेष सामग्री से भगवान के पूजन का वर्णन करते हैं। उसके घर में उनके योग्य आसन बहुधा नहीं था। इसलिये जहां भी उत्तम अथवा नया आसन लाकर उस पर दोनों को विराजमान किये। भगवान् के पाद प्रक्षालन का जल तथा और भी उपचारों से माला, चन्दन, पान आदि सामग्रियों से उन दोनों का तथा सभी गोपों का सम्मान किया। चरणों को धोने के जल सहित सब उपचार करने पर भगवान् के अत्यन्त समीप में रहने के कारण उसका

भगवान् में स्नेह हो गया और फिर उसने भगवान् का सम्मान बड़ी श्रद्धा भक्ति से किया-यह बत-लाने के लिये श्लोक में 'अथ' शब्द का प्रयोग है

उसने अनुचरों सहित राम कृष्ण की भक्तिपूर्ण पूजा की यह पूजा अकस्मात् की गई होने से लोक में साधारण पूजा की तरह माला तम्बूल और लेप शब्दों से कही गई है किन्तु पहले चन्दन का लेप, फिर ताम्बूल अर्पण करके पीछे माला धारण कराई। माला पहनाना इस माली का अपना मुख्य धर्म था, जो अन्त में कहा जाता तो भी श्रीशुकदेवजी ने विपरीत क्रम से अथवा भक्ति के आवेश में अब भी उसे जो कुछ प्राप्त हुआ उसको ही उसके द्वारा पहले करने का वर्णन किया है ॥४४॥

श्लोक - प्राह नः सार्थकं जन्म पावितं च कुलं प्रभो ।
पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टा ह्यागमनेन वाम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—सुदामा माली ने कहा–नाथ! आज यहाँ आपके पधारने से मेरा जन्म सफल हो गया। मेरा कुल भी पवित्र और धन्य हो गया। पितृदेव और ऋषिगण मुझ पर सन्तुष्ट हो गए, ऐसा जान पड़ता है ॥४५॥

सुबोधिनी--एवं कायिकमुक्त्वा तत्कृतां वाचनिकीं पूजामाह त्रिभिः, **प्राहेति**, स्वकृतार्थत्वं भगवत्कृतस्य फलत्वाय भगवतो निर्दोषपूर्णगुणत्वं च निरूपयति, आदौ भक्तोद्धारको भगवानिति स्वकृतकृत्यमाह **नः सार्थकं जन्मेति**, पुरुषार्थपर्यवसायि **जन्म सार्थकं**, न इति गृहस्थाना सर्वेषामेव, ये वा भगवतैवं कृताः, श्लाघायां वा, यद्यपि जन्मकाल एव तादृशं फलं भविष्यतीति सर्वदैव **सार्थकं** तथापि फलोन्मुखता अद्येति ज्ञानं वेति, प्रतिदिनं देहाद्युत्पत्तेर्वैयर्थ्येत्युक्तं, **प्राहेति** पाठे तु न सन्देहः, न केवलं मम जन्म किन्तु मत्सम्बन्धिनां सर्वेषामेवेत्याह **पावितं च कुलमिति**, चकारात् कुलस्थाः सर्वे च,तयाप्ये सामर्थ्यं **प्रभो** इति, सर्वस्यापि स्वकृतस्य जन्मकोटिभिः सम्पादितस्य वि नयोगोत्रं वेति वक्तुं पूर्वं स्वाराधितदेवादीनां प्रसादफलमेतदेवेत्याह **पितृदेवर्षय** इति, युवयोरागमनेन पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टा इति केचित्,वस्तुतस्तु **पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टाः**, युक्तश्चायमर्थः, युवयोरागमनेनेति फलकीर्तनं, करणता स्वाश्रमफलार्थं, अथवा, नातः परं पित्राद्याराधनं कर्तव्यं यतस्त्वदागमनेनैव ते सन्तुष्टाः, मह्यमिति मदर्थं फलं दातुं मम वा, अनेन त्वय्येव पूजिते सुतरां ते तुष्टा भवन्तीति किं वक्तव्यमित्युक्तम् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार शरीर के द्वारा की हुई पूजा का वर्णन करके 'प्राह नः' इस श्लोक से लेकर आगे तीन श्लोकों से उसका वाणी से उनकी पूजा करना कहते हैं।

सुदामा अपनी कृतार्थता का तथा भगवान् के कार्यों की सफलतापूर्वक उनकी निर्दोष पूर्णगुणता का निरूपण 'प्राह नः' इस श्लोक से करता है। भगवान् भक्तों का उद्धार करने वाले हैं। इस लिये प्रारम्भ में वह अपने आप का कृतकृत्य होना वर्णन करता है कि मेरा जन्म सार्थक हो गया, पुरुषार्थ

सिद्ध हो गए। आप के द्वारा गृहस्थी बनाये हुए हम सबों का अथवा भगवान् को अपने घर पर पधारने की कृपा के कारण अपनी प्रशंसा में 'नः' बहुवचन का प्रयोग हुआ।

यद्यपि बालक के जन्म समय में ही भविष्य में मिलने वाले वैसे फल का निश्चय हो जाता है। इसलिये जन्म तो सदा ही सार्थक ही था, तो भी फल प्राप्ति की उन्मुखता (तैयारी) आज हुई अथवा जन्म आज सफल हुआ अथवा क्षणिक वाद के मतानुसार देहादि के प्रतिदिन उत्पन्न होने का लक्ष्य लेकर (आज)-अद्य-ऐसा कहा है। मूल श्लोक में 'अद्य' पाठ के स्थान में 'प्राह' ऐसा पाठ हो तब तो कोई प्रकार का सन्देह नहीं है।

आप के पधारने से केवल मेरा ही जन्म सफल नहीं हुआ, किन्तु मेरे सारे सम्बन्धियों का भी जन्म सफल हो गया तथा हमारा कुल और कुलके पुरुष भी सब पवित्र हो गये, क्योंकि आप प्रभु हैं, आप में सभी को पवित्र करने की सामर्थ्य है। करोड़ों जन्मों के किये गये अपने सारे कर्म का उपयोग भी इसी में हुआ है-यह कहने के लिये पहले मेरे द्वारा आराधना किये देवता आदि की प्रसन्नता का यह ही फल है अर्थात् पितर, देव और ऋषिगण मुझे फल देने के लिये प्रसन्न हुए वास्तव में यही अर्थ उचित भी है, किन्तु कई टीकाकार ऐसा अर्थ करते हैं कि आप दोनों के मेरे घर पधारने से पितर, देव और देवगण मुझ पर प्रसन्न हुए है। आपके आने से तो उनकी प्रसन्नता का फल कहा गया है, क्योंकि करण (तृतीया विभक्ति) तो आगे प्राप्त होने वाले फल को सूचित करती है।

अथवा अब हमको देवता आदि की आराधना नहीं करनी चाहिये क्योंकि वे तो आपके पधारने से सन्तुष्ट हो गये है (महा) मेरे लिये फल देने को अथवा मेरा फल देने को, इससे यह कहा है कि आपकी पूजा करने पर वे अत्यन्त प्रसन्न (सन्तुष्ट) हो जाते हैं,फिर उनकी प्रसन्नता के विषय में कहने की कोई बात हो नहीं रह जाती ॥४५॥

श्लोक—भवन्तौ किल विश्वस्य जगतः कारणं परम् ।
अवतीर्णाविहांशेन क्षेमाय च भवाय च ॥४६॥

श्लोकार्थ—आप अवश्य ही सारे जगत् के परम कारण, परब्रह्म हैं। जगत् के अभ्युदय और कल्याण के लिए ही आप दोनों ने यहाँ अंश से अवतार ग्रहण किया है ॥४६॥

सुबोधिनी—महत्या रोगन्यायेन स्तुतिरेवंविधा सम्भवतीति तद्द्व्यावृत्त्यर्थं स्वस्य भगवत्स्वरूपज्ञानमाविष्करोति भवन्ताविति, विश्वस्य सम्बन्धिनौ भवन्तौ किल प्रसिद्धौ. विश्वस्मिन् भवन्तौ प्रसिद्धावित्यर्थः, अनेन जगति यावन्तो महद्वर्गास्ते सर्वे निरूपिताः, कारणत्वं च निरूपयन्नाह जगतः कारणं परमिति, जगत् यत् जायते तस्य मूलकारणं भवानेव, विश्वशब्दो वा सर्वशब्दवत् सामान्यविशेषवाची, उत्पादकत्वेन महत्त्वेन फलत्वेन च उत्पत्त्या चोपपत्त्या च माहात्म्यं निरूपित न तूत्पत्तिस्थितिलयैः येन न्यूनता स्यात्, सर्वनिधानत्वेनैव वा सर्वप्रकारेण स्तुत्यता निरूपिता, साधारणकारणत्वं कालस्यापि वर्तत इति परमिति, अनन्तमूर्तिभगवानिति द्विवचनं न दोषाय

रूपद्वयेन चाविर्भूत इति माहात्म्यं परगुच्यते, तादृशयोरवतारे प्रयोजनमाह **अवतीर्णाविहांशेनेति**, इह प्रपञ्चे **अंशेन** क्रियाशक्त्या **अवतीर्णौ**, ज्ञानांशेनान्य एव सृष्टा इति, पूर्ववदेवदेशेन वा, एकवचन तु तदेवान्यत्राविष्टमित्येकावताराभिप्राय. अत एव क्रियाप्रयोजनमाह **क्षेमाय च भवाय** चेति, स्थितस्य परिपालनार्थं. चकारादक्षेमव्यावृत्त्यर्थं, **भवायो**द्भवाय आधिक्यार्थं, चकारात् मोक्षाय च, आधिक्यमत्र भक्तिः, अतः कार्यचतुष्टयार्थं भगवदवतार इत्युक्तं, सर्वदुष्टनिराकरणार्थं सतां रक्षणार्थं मोक्षार्थं भक्त्यर्थं च ॥४६॥

व्याख्यार्थ—महापुरुषों की स्तुति,आरोप न्याय से उसमें वे गुण न होने पर भी उन गुणों से भी कही जाती है, किन्तु यह स्तुति वैसी नहीं है.यह कहने के लिये वह भक्तों इस श्लोक से स्वयं को भगवान् के स्वरूप का ज्ञान होना प्रकट करता है। आप दोनों इस विश्व के सच्चे-प्रसिद्ध-हैं। तात्पर्य यह है कि आप दोनों विश्व में प्रसिद्ध हैं। इस कथन से यह सूचित किया है कि महापुरुषों में होने वाले सारे धर्म आप दोनों में है। जगत् की कारणता का निरूपण करते हुए कहते है कि उत्पन्न होते रहने वाले जगत् के मूल कारण आप ही हैं।

अथवा विश्वशब्द सर्वशब्द की तरह सामान्य तथा विशेष दोनों अर्थों का द्योतक है। तात्पर्य यह है कि (विश्व) सामान्य सारे जगतों का तथा विशेष इस जगत् का मूल कारण आप भगवान् हो हैं। जगत् के उत्पन्न करने वाले के रूप से. माहात्म्य, फल देने वाले, उत्पत्ति और उपपत्ति (योग्यता) के रूप से सब प्रकार से सब का कारण रूप से भगवान् की स्तुति करने के योग्य है, यह माहात्म्य का निरूपण किया है। केवल उत्पत्ति, पालन और लय करने वाले के रूप से ही स्तुति करना तो सर्व समर्थ भगवान् में न्यूनता का द्योतक है।

कार्यमात्र-जगत्-का साधारण कारण काल भी है। इसलिये 'पर' मुख्य शब्द कहा है। जिस से यह स्तुति काल (साधारण कारण) की नहीं है। भगवान् अनन्त मूर्ति हैं, इसलिये 'भवन्तौ' उनके लिये द्विवचन के प्रयोग में कोई दोष नहीं है और सभी (श्रीकृष्ण, बलभद्र) दो रूप से आविर्भाव हुआ है। इसलिये अधिक माहात्म्य कहा गया है। उन सर्व शक्तिमान भगवान् के अवतार के प्रयोजन को कहते हैं कि इस प्रपंच-जगत्-में आपने अंशक्रियाशक्ति से अवतार धारण किया है, क्योंकि ज्ञान (शक्ति) के अंश से सृष्टि करने वाले अन्य-ब्रह्मादिक-हैं।

अथवा अंश शब्द का अर्थ यहां भी वही है, जो पहले १०।१।२ मे किया गया है। अभिप्राय यह है कि जितने प्रदेश में भगवान् ने माया को दूर किया,उतने प्रदेश में-अंश-से आपने अवतार लिया। कारणं, कारण पद में एक वचन का तात्पर्य यह है कि बलभद्रजी तो भगवान् के आवेशावतार है। इसलिये वास्तव में तो वह एक ही अवतार है और वही एक सारे जगत् का कारण है।

क्रियावतार से प्रकट होने के कारण बतलाते हैं कि जो उसका (१) परिपालन (२) दुःख दूर (३) उत्तमता और (४) मोक्ष प्रदान करने के लिये यह अवतार है। उत्तमता-अधिकता-का अर्थ यहां भक्ति प्रदान करना है। इसलिये (१) सारे दुष्टों का विनाश (२) सज्जनों की रक्षा (३) मोक्ष और (४) भक्ति प्रदान करना,इन चार कार्यों के लिये भगवान् का अवतार है ॥४६॥

लेख—'भवन्तौ किल' इस श्लोक कि व्याख्या में गुणसंस्थितवती-पद का अभिप्राय यह है कि भगवान् उत्पन्न, पालन और संहार करने वाले हैं। यह नहीं है कि वे स्वयं इन तीन गुणों वाले हैं, क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर तो-लोक जैसे धर्म वाला होने के कारण भगवान् में न्यूनता-हीनता-आ जाती है। यह कृष्णावतार किया ज्ञान उभय शक्ति विशिष्ट है। इसलिये (तत्रांशेनावतीर्णस्य) १० १ २ इस श्लोक की व्याख्या के अनुसार ही यहां भी अंश शब्द का अर्थ है।

श्लोक—न हि वां विषमा दृष्टिः सुहृदोर्जगदात्मनो: ।
समयोः सर्वभूतेषु भजन्तं भजतोरपि ॥४७॥

श्लोकार्थ—आप यद्यपि भजने वालों को ही भजते हैं, तथापि आप समदर्शी हैं। आप दोनों की दृष्टि में कोई भेदभाव नहीं है, क्योंकि आप तो सारे ही जगत् के आत्मा और हितकारी है। आपकी दृष्टि में सब प्राणी समान है ॥४७॥

सुबोधिनी—नन्वेवं क्रियमाणे अब्रह्मत्व स्यात् विषमकरणादित्याशङ्क्य सर्वदोषान् परिहरति **न हि वां विषमा दृष्टिरिति**, मूलकारण एव हि नैर्घृण्यमपि प्रसिद्धं भवति, अवतीर्णे तु वैषम्यमेव प्रसिद्धमिति तदेव निराक्रियते, **वां** युवयोर्न **विषमा दृष्टिः** कश्चित् मारणीयः कश्चित् स्थाप्य इति, तत्र हेतुत्रयं वदति **सुहृदोः जगदात्मनोः समयोरिति**, युक्त्या प्रमाणेन च पदार्थे निर्णीते प्रातीतिको दोषः, भ्रमप्रतीतिरपि अन्यथा वा व्याख्येयेति न काप्यनुपपत्तिः युक्तश्चायमर्थ इति सर्वत्रैव निर्णयः इति हिशब्दः, न हि कश्चित् पुत्रं मारयन् कञ्चिदभिनन्दन् पिता विषमो भवति, शिक्षार्थमेव तथा करणात्, न हि हस्तेन पादं प्रक्षालयन् शिरश्चाप्रक्षालयन् विषमो भवति क्वचिदेव वा अलङ्कुर्वन्, कालगुहे प्रविष्टानां जीवानामुद्धारार्थमागतः कालं वञ्चयित्वा नयन् वञ्चनार्थं सुहृदेव, अन्तर्यामित्वात् सखित्वात् कृपालुत्वाच्च प्रदर्शनार्थं विषममपि कुर्वन् विषमो भवति तदाह **सुहृदोरिति**, यथैव सौहार्दं सिध्यति तथैव कुरुतः, जगत एवात्मानौ कथमेकस्यैव विषमौ भविष्यतः, अनेन स्वात्मानं यथासुखं करोति इति नैर्घृण्यमपि परिहृतं ज्ञातव्यं, **सर्वभूतेषु** समत्वं कारणत्वादेव सिद्धम्, भूतपदेन च रोगादिवत् ये निवर्तनीया एव सहजासुराः ते व्यावर्तिता इति केचित्, वस्तुतस्तु जाताभिप्रायं, अन्यथा ग्रातंवेति नात्मनः समो भवति, साम्यस्य भेदसहिष्णुत्वात्, नन्वेतच्छिक्षार्थं मारणे गतिरुक्ता: वरदानादेः का गतिरिति चेत् तत्राह **भजन्तं भजतोरपि**, **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति वाक्यात् कल्पतरुस्वभावत्वाच्च प्रार्थितार्थं प्रयच्छतीति सर्वेभ्यः अदानेपि न विषमत्वम् ॥४७॥**

व्याख्यार्थ—फिर तो दुष्टों का संहार करने और सत्पुरुषों को मोक्ष देने से भगवान् पक्षपात विषमता-के कारण भगवान् नहीं रहेंगे, ऐसी शंका के उत्तर में 'न हि वां' यह श्लोक कहते हैं। जगत् के मूल कारण में ही पक्षपात तथा क्रूरता भी प्रसिद्ध माना जाता है, किन्तु अवतार ग्रहण किये हुए में तो पक्षपात-विषमता-ही प्रसिद्ध है। इसलिये उस पक्षपात का निरास (श्रीकृष्ण में विषमता दोष नहीं है,यह सिद्ध किया जाता है) किसी को मारना और किसी को बचाना, ऐसी विषम (पक्षपात) भरी आप दोनों की दृष्टि नहीं है, क्योंकि आप सबके मित्र, जगत् की

आत्मा और सब प्राणियों में समान हैं। इन तीनों कारणों से इस विषय पर युक्ति और प्रमाण पूर्वक निर्णय किया जाय तो यह दोष श्रीकृष्ण में केवल कल्पनामात्र अथवा भ्रम से दिखाई देता है, जिसका भी दूसरे प्रकार से स्पष्टीकरण हो जाने पर किसी प्रकार की अड़चन अथवा योग्यता (दोष) नहीं है, इसलिए ऐसा ही दोष उचित है और सब जगह पर भी ऐसा ही अर्थ करना चाहिये।

कोई पिता तो अपने पुत्र को मारता-दण्ड देता-है और कोई पुत्र की स्तुति करता है,ऐसा करने से वे पिता पक्षपाती अथवा निर्दयी थोड़े ही हो जाते हैं, वे तो शिक्षा के लिये ही ऐसा करते है। इसी प्रकार से कोई हाथ से पांव को धोने वाला, शिर को नहीं धोने वाला तथा कोई मुण्डन करने वाला पक्षपाती अथवा विषम नहीं होता, क्योंकि सबकी हित की दृष्टि से ही ऐसा करता है। उसी प्रकार भगवान् भी काल के पड़े वश हुए जीवों का उद्धार करने के लिये आये हैं और काल को ठग कर जीवों की रक्षा करने के कारण सबके मित्र ही होते हैं,क्योंकि वे तो सबके आत्मा, सखा तथा अत्यन्त दयालु हैं। इसलिये दिखाने के लिये पक्षपात करते जैसे दीखने पर भी पक्षपात करने वाले (विषम) नहीं हैं, वे तो वैसा ही करते हैं जिसके करने से मित्रता सिद्ध होती है।

जब भगवान् (श्रीकृष्ण, बलदेव) सारे जगत् के ही आत्मा हैं, तो फिर वे एक के ही पक्षपाती कैसे होंगे ? इसलिये जैसा करने से अपनी आत्मा को सुख हो, वैसा ही करते हैं। अतः निर्घृणता-क्रूरता-दोष का भी निरास-दूर होना जान लेना चाहिये और उनका सब प्राणियों मे समान होना तो जगत् का कारण होने से ही सिद्ध है। कितने ही टीकाकार श्लोक में दिये भूत पद से रोग आदि भूत आदि की तरह जो (मिटाने) दूर करने योग्य सहज असुर हैं, उनमें भगवान् सम नहीं है,ऐसा अर्थ करते हैं। वास्तव में तो (भूत) उत्पन्न हुए सभी प्राणियों में भगवान् समान हैं,ऐसा (भूत शब्द के प्रयोग करने का) अभिप्राय है। यदि ऐसा अभिप्राय नहीं होता तो भगवान् आत्मा ही है, ऐसा कहते, आत्मा के समान है, ऐसा नहीं कहते, क्योंकि समानता में भेद हो सकता है।

यह तो शिक्षा देने के लिये दण्ड देना सम्बन्धी स्थिति का वर्णन किया, वरदान देने आदि में तो भगवान् पक्षपात करते ही होंगे ? इस का निराकरण करने के लिये कहते हैं कि भगवान् कल्प-वृक्ष जैसा स्वभाव वाले हैं और उनकी ऐसी आज्ञा है, जो मुझे जैसे भजता है, मैं उसको उसी प्रकार से भजता हूँ। इस कारण से जो और जैसा मांगता है उसे वही वस्तु दे देते हैं और नहीं मांगने वालों को नहीं भी देते हैं। इसलिये सभी के लिये न देने पर भी (भगवान् में) कोई विषमता अथवा पक्ष-पात नहीं है ॥४७॥

श्लोक—तावाज्ञापयतां भृत्यं किमहं करवाणि वाम्।
पुंसोत्यनुग्रहो ह्येष भवद्भिर्यन्नियुज्यते ॥४८॥

श्लोकार्थ—मैं तो आपका चरण सेवक हूँ। हे प्रभो! मैं आपकी क्या सेवा करूं ? आज्ञा दीजिये। यदि मनुष्य आपकी आज्ञा पाने और पालन करने का अवसर प्राप्त करता है तो, यह उसके ऊपर आपकी परम कृपा है ॥४८॥

सुबोधिनी—एवं स्तुत्वा स्वस्य मानसं निवेदयति **तावाज्ञापयतामिति**, अयं हि मनसा भगवते सर्वं निवेद्य दासो जातः, स चेत् भगवता दासत्वेन स्वीक्रियते तदा दासः सम्पद्यते तस्य चाभिज्ञापकमाज्ञापन अतस्तौ स्वामिनौ भृत्यं ज्ञापयतां. ननु वेदे सर्वं एव जीवाः भृत्या अज्ञप्ताः तथा भवानपीति चेत् तत्राह **किमहं करवाणि वामिति**, युवयोरर्थे किं विशेषेण करवाणि. अन्यथा विशेषतो दासभावप्राप्तेः कः पुरुषार्थः स्यात्, ननु पूर्णकामा वा वां नास्माभ्यं किञ्चित् कर्तव्यमिति चेत् तत्राह **पुंसोत्यनुग्रह इति**, न ह्यय नियोगः भवदुपकाराय किन्त्वस्मदुपकाराय यथा वरदान, वरापेक्षयाप्ययमत्यनुग्रहः, यत् सेवकत्वेन स्वीकृत्य **नियुज्यते**, पुरुषश्चायमर्थः, **वरः परिच्छिन्नः अपरिच्छिन्नं च** दासत्वमिति, तस्य हि सर्वं कार्यं स्वामिनैव कर्तव्यमिति. भवद्भिरिति बहुवचनम् ससेवकाभिप्रायं, एव इति भक्त्या भगवदाज्ञापन तस्य पुरस्कृतिकमित्युक्तं, अत एवाग्रे अनुक्तोपि मालां दास्यति, अनेन भगवत्प्रपत्तेः स्वतः सामर्थ्यं द्योतितं. यथाऽलौकिकद्रष्टृत्वं, भगवद्धर्मेणैवाज्ञा बोधितेति वाक्यापेक्षाभावात् न किञ्चिदुक्तवन्तौ ॥४८॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार स्तुति करके वह मालाकार अपने मन की इच्छा 'तावाज्ञापयतां' इस श्लोक में निवेदन करता है। यह सुदामा मन से भगवान् को अपना सर्वस्व निवेदन करके दास हुआ है, किन्तु जब तक उसे दास रूप से स्वीकार नहीं कर लेते है, तब तक दास भाव प्राप्त नहीं होता। भगवान् जब कुछ आज्ञा प्रदान करें तब ही दास रूप से अंगीकार कर लेना जाता है। इसलिये आप स्वामी दोनों मुझ सेवक के लिये आज्ञा करो, ऐसी प्रार्थना करता है।

वेद में सभी सेवकों को आज्ञा दे दी गई है और तुम भी सेवक ही हो, इसलिये तुम्हारे लिये भी वही आज्ञा है। ऐसी शंका के उतर में कहता है कि वेद में कही हुइ सामान्य आज्ञा से अधिक आप लोगों के लिये क्या करूँ? क्योंकि दास यदि विशेष आज्ञा का पालन नहीं करता है तो फिर उसके मुख्य दास भाव से कौन सा पुरुषार्थ सिद्ध हो?

हम दोनों तो पूर्ण काम हैं, हमारे लिये कुछ करने का नहीं है, ऐसी शंका का इस श्लोक के उत्तरार्ध में देते हैं कि यह आज्ञा की प्रार्थना आप पर उपकार के लिये नहीं है, किन्तु वरदान की तरह यह तो मेरे ऊपर उपकार करने के लिये है और आप मुझ को सेवक रूप से (समान) स्वीकार करके आज्ञा करें। यह तो वरदान से भी बहुत बड़ा अनुग्रह है, क्योंकि वरदान तो सीमित ही होता है और दास भाव तो–निःसीम–सीमा रहित–है। दास के तो सारे ही काम-योग क्षेम-स्वामी को ही करने होते हैं। इसलिये दास को आज्ञा दीजिये कि दास सेवकों सहित दोनों आपकी क्या सेवा करें? 'एव' पद से यह अभिप्राय है कि श्रद्धा भक्ति के कारण भगवान् का अनुग्रह उस सुदामा के आगे प्रत्यक्ष रूप में प्रकट हुआ है। इसीलिये वह यहां अब आगे (भगवान्) की आज्ञा के बिना ही दोनों को माला भेट करेगा। इस कथन से यह सूचित किया है कि जैसे भगवान् में अलौकिक द्रष्टापन सामर्थ्य है वैसे ही उनकी शरणागति भी स्वयं सर्व समर्थ है। इसीलिये भगवान् के कुछ न कहने पर भी वह भगवान् के शरणरूप अलौकिक धर्म से ही उन दोनों की आज्ञा को जान गया ॥४८॥

श्लोक—इत्यभिप्रेत्य राजेन्द्र सुदामा प्रीतिमानसः ।
शस्तैः सुगन्धैः कुसुमैर्मालां विरचितां ददौ ॥४९॥
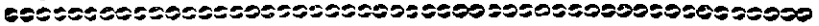
श्लोकार्थ—हे राजेन्द्र प्रसन्न मन वाले सुदामा ने इस प्रकार निवेदन करके दोनों भाईयो की इच्छा के अनुसार सुन्दर सुगन्धित पुष्पों की मालायें बना कर उनको पहनाई ॥४६॥

सुबोधिनी—स्वयमेव ज्ञात्वा यत् कृतवांस्तदाह इत्यभिप्रेत्येति, राजेन्द्रेति सम्बोधनात् केचन सेवका: अभिप्रेतार्थं जानन्ति इति नाश्चर्यमेतदिति ज्ञापनार्थं, तादृशा: सेवका: सार्वभौम एव भवन्तीतीन्द्रपदं, पदार्थे निश्चिते **प्रीतिमानसो** जात: आज्ञा प्राप्नोति, तत: **शस्तै:** शास्त्रत: स्तुतै: स्वरूपतश्च सुगन्धं मल्लिकादिभि: **कुसुमैर्विरचिता**मेकामेव **मालां ददौ** माला विरचिता इति वा पाठ:, एकवचने तु भगवति दत्तो भगवानाविष्ट इति तत्रापि बलभद्रेपि स्फुरति प्रतिबिम्बवत्, अन्या अपि माला दत्तवान् इति ज्ञातव्यम् ॥४६॥

व्याख्यार्थ—सुदामा ने भगवान् की भावी आज्ञा को स्वयं ही जान कर आगे जो किया,वह इस 'इत्यभिप्रेत्य' श्लोक से कहते है. हे राजेन्द्र ! यह सम्बोधन इस बात को सूचित करता है कि कितने ही सेवक स्वामी की वांछित वस्तु को भी जान जाते हैं। इस लिये सुदामा ने भगवान् की इच्छा को जान लिया, इस में कोई आश्चर्य नहीं है, किन्तु ऐसे सेवक चक्रवर्ती राजा के ही होते हैं। इसलिये यह बात राजेन्द्र (राजाओं का इन्द्र) पद से कही है।

भगवान् के अभिप्राय को निश्चय रूप से जान लेने पर उसी को आज्ञा हुई मान कर सुदामा मन मे बड़ा प्रसन्न हुआ। तब उसने शास्त्रों से सराहना किये हुए और स्वरूप में भी सुगन्ध से भरे हुए मोगरा आदि के पुष्पों से बनाई हुई एक ही माला भगवान् के अर्पण की अथवा अनेक मालाएँ अर्पण कीं,ऐसा बहुवचनान्त पाठ भी है। (मालां) एक माला भगवान् के समर्पित को ऐसा एक वचन का पाठ करने पर तो बलदेवजी में भी भगवान् का आवेश होने के कारण प्रतिबिम्ब की तरह बलभद्रजी में भी वह माला दिखाई दी और भी बहुत सी मालायें गोपों को दीं,ऐसा समझ लेना चाहिये ॥४६॥

श्लोक—ताभि: स्वलङ्कृतौ प्रीतौ रामकृष्णौ सहानुगौ ।
प्रणताय प्रपन्नाय ददतुर्वरदौ वरान् ॥५०॥

श्लोकार्थ—अपने साथी गोपों के साथ श्रीकृष्ण और बलदेवजी उन मालाओं को पहन कर बहुत सुशोभित और प्रसन्न हुए। दोनों वरदानी भाईयों ने प्रणत और शरणागत उस सुदामा को उसकी अभिलाषा के अनुसार मुंह माँगे वरदान दिए ।५०।

सुबोधिनी—ततो भगवान् वरं दत्तवानिति वक्ष्यन् तत्कृतं शोभातिशयं भगवति आह **ताभि: स्वलङ्कृता**विति, उत्कृष्टमालाभि: सुष्ठु अलङ्कृतौ तत: **प्रीतौ** जातौ सदानन्दरमणकर्तारौ फलसाधनरूपौ सर्वसेवकै: सह प्रीतौ निवित्रादौ, **प्रणताय** नम्राय विनीताय कर्मज्ञानमार्गयोरपि फलदानयोग्याय, **प्रपन्नाय** शरणागताय भक्तिमार्गेपि फलयोग्याय, यतो **वरदौ** अतो **वरान् ददतु:**, वरदेश्वरत्वं नाविर्भावितं किन्तु वरदत्वमेव **वरान्** दास्याव: प्रार्थयस्वेत्युक्तवन्तावित्यर्थ: ॥५०॥

व्याख्यार्थ—तदनन्तर भगवान् ने उस (सुदामा) को वरदान दिये;यह वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजी उन मालाओं से भगवान् अत्यन्त सुशोभित हुए, यह इस 'ताभिः' श्लोक से कहते हैं। उन श्रेष्ठ मालाओं को धारण करके भगवान् अत्यधिक शोभायमान हुए। फिर फल तथा साधन रूप सदानन्द श्रीकृष्ण और रमणकारक बलरामजी सेवकों बिना किसी विवाद के परम आनन्दित हुए और वरों के देने वाले दोनों भाइयों ने प्रणत तथा विनीत सुदामा के लिये कर्ममार्ग और ज्ञान मार्ग के अनुसार भी फल पाने के योग्य तथा (प्रपन्नाय) शरणागत होने से भक्ति मार्ग के अनुकूल भी प्राप्त करने के योग्य सुदामा को वरदान दिये। वरदाताओं में श्रेष्ठ उन दोनों ने अपना वरदान देने वालों में ईश्वरपन (श्रेष्ठता) प्रकट न करके केवल वरदानो भाव ही प्रकट किया और बोले कि हम वर देवें तू वर मांग अथवा उसके बिना मांगे ही वर दे दिये ॥५०॥

श्लोक—सोपि वव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि ।
तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु च दयां पराम् ॥५१॥

श्लोकार्थ—उसने (सुदामा ने) भी उन्हीं अखिलात्मा में भक्ति, उनके भक्तों में स्नेह और भूतों पर विशेष दया हो, ऐसा वर माँगा ॥५१॥

सुबोधिनी—अथवा स्वयं वरान् दत्तवन्तावेव सोपि पृथग् याचितवानिति, तदाह **सोपि वव्र** इति, भगवता दत्तवरोपि कृतार्थोपि **अचलां भक्तिं वव्रे**, विषये वैलक्षण्याभावाय तस्मिन्नित्येकवचनं, ज्ञानापरपर्यायरूपा सा भक्तिरिति ज्ञापयितुमाह **अखिलात्मनीति**, अनेन सर्वत्र विषमा दृष्टिरपि परिहृता, तथापि भक्तेर्वैशिष्ट्यं वक्तुं भेदसहिष्णुत्वाय सर्वोत्तमत्वं स्थापयितुमन्यद्वरद्वयमाह **तद्भक्तेषु च सौहार्दमिति**, चकारात् भगवदीयव्यतिरिक्तेष्वौदासीन्यं **भूतेषु** दीनेषु सर्वेषु **च** **परामुत्कृष्टां दयां** लोकोत्तरां, यया ते कृतार्था एव भवन्ति, चकारात् प्रश्रयादिकमपि स्वोत्कृष्टेषु प्रार्थितं भवति ॥५१॥

व्याख्यार्थ—(सो अपि) इस श्लोक से सुदामा का भी अलग वर मांगने का वर्णन करते हैं। भगवान् के वरदान के देने और स्वयं कृतकृत्य हो जाने पर भी उसने अचल भक्ति मांगी। विषय (जिसमें भक्ति होने की प्रार्थना की) में भेद न हो,इसलिये (तस्मिन्—उसमें) यह एक वचन का प्रयोग किया है। उसके द्वारा मांगी हुई यह भक्ति ज्ञान का दूसरा रूप है, क्योंकि उसने अखिल की आत्मा अक्षर ब्रह्म में होने वाली भक्ति मांगी है। यद्यपि इस कथन से उसकी सब में भेद बुद्धि तो नष्ट हुई जानी गई, किन्तु फिर भी भक्ति की श्रेष्ठता तथा सर्वोत्तमता स्थापित (कायम) रखने के लिये और भेद सहिष्णु अभेद-भेद सहन न हो सकने के लिये वह दो वर और मांगता है (१) भगवद्भक्तों के साथ स्नेह, मित्रता और जो भगवद्भक्त न हो, उनमें उदासीनता तथा (२) सारे गरीब प्राणियों पर-उन सब को कृतार्थ कर देने वाली-अलौकिक दया और जिनका भगवान् ने अपनी दया से उद्धार किया है, उन अपने से उत्कृष्ट प्राणियों में अपना विनम्रभाव बना रहने की याचना की ॥५१॥

लेख—'सोपि' इस श्लोक की व्याख्या में 'ज्ञानापरपर्यायरूपा' इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है

कि उसने अखिलात्मा अक्षरब्रह्म में होने वाली ज्ञानरूपा भक्ति मांगी। मुख्य भक्ति की याचना नहीं की, क्योंकि मुख्यभक्ति तो सर्वात्मा सबों में आत्मा स्वरूप से आधिदैविक की तरह विराजमान पुरुषोत्तम में की जाने वाली भक्ति होती है।

श्लोक--इति तस्मै वरं दत्त्वा श्रियं चान्वयवर्धिनीम्।
बलमायुर्यशः कान्तिं निर्जगाम सहाग्रजः ॥५२॥

श्लोकार्थ—यों वर देकर और विशेष में वंश की वृद्धि करने वाली श्री, बल, आयु, यश और कान्ति भी वर में दे दी, अनन्तर बड़े भ्राता के साथ रवाने हुए ॥५२॥

सुबोधिनी--प्रार्थितं दत्तवानित्याह इतीति, एवं प्रकारेण प्रार्थितं वरं तस्मै दत्त्वा स्वयं पुनः वंशं तद्वृद्धिं तत्र सर्वत्र श्रियं अविच्छेदं श्रियं च दत्तवान्, एतद् बाह्याभ्यन्तरं च दत्तवानित्याह बलमिति, बलं देहसामर्थ्यं, आयुः यशः कीर्ति कान्तिं सौन्दर्यं चेति एवं दत्त्वा ततो भक्तगृहात् निर्जगाम, अत्र दाने भगवानेव कर्ता बलभद्रः सहगत्वमात्रमिति निर्गमने वा प्राधान्येन निर्गत इति सहाग्रज इति बलभद्रसहितः एतदर्थमेवाव-तीर्णाविति गमनावश्यकत्वं सूचितम् ॥५२॥

व्याख्यार्थ—उसको भगवान् ने (उसके) मुंहमांगे वरदान दिये, यह 'इति तस्मै' इस श्लोक से कहते हैं। इस प्रकार भगवान् ने उसको मन चाहा वरदान देकर फिर स्वयं उसके वंश, वंश की वृद्धि तथा निरन्तर कायम रहने वाली-अडिग-लक्ष्मी का वर दिया। इस प्रकार शरीर से बाहिर पदार्थों का वर देकर शरीर के भीतर रहने वाले पदार्थों का भी वर दिया, यह इसी श्लोक के उत्तरार्ध में कहते हैं। शारीरिक शक्ति, दीर्घ आयुष्य, कीर्ति और सौन्दर्य आदि का वर देकर भगवान् उस भक्त के घर से बाहर पधारे। यहां वर देनेवाले भगवान् ही हैं। बलदेवजी तो उनके साथी मात्र थे। अथवा बाहर पधारते समय बलभद्रजी सहित मुख्यरूप-प्रधानता-से भगवान् बाहर पधारे। कंस का वध करके भक्तों के दुःख मिटाने के लिये भी भगवान् का अवतार है। इसलिये सुदामा के घर से भगवान् का अवतार है, इसलिये सुदामा के घर से भगवान् का बाहर पधारना आवश्यक था; यह इस कथन से सूचित किया है ॥५२॥

लेख–'इति तस्मै' इस श्लोक में-अन्वयवर्धिनी-शब्द का भाव यह है कि वंश में उत्तरोत्तर बढ़ते रहने के स्वभाववाली लक्ष्मी का वर दिया।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध) ४१वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण षष्ठम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

इस अध्याय में वर्णित श्रीकृष्णचँद्र की लीलामृत के 'मधुर-घूँट'

राग पूर्वी

सुनि अति सघन कराल घोष में पायन नूपुर बाजत।
उर अंचल नंचल अति राजत धागनि ध्वजा विराजत॥
ऊँचे अटन नछत्रन की छवि जनु जुवती मगु फूली।
कनक कलश कुच प्रकट देखियत आनन्द कंचुकि भूली॥
विद्रुम फटिक पानची ऊपर जालरंध्र की रेख।
मनहु तुम्हारे दरशन कारन नयननि तजी निमेख॥
अवलोकहु यहि भाँति रमापति पुरी परम रुचि रूप।
सूरदास प्रभु कंस मारिके होहु यहाँ के भूप॥

राग पूर्वी

मधुरा के लोगनि सचु पायो।
नटवर भेष धरे नंदनंदन संग अक्रूर के आयो॥
प्रथम हि रजक मारि कर अपने गोपवृन्द पहरायो।
तोरि धनुष लाला नट नागर सब जग खेल खेलायो॥
रण भुवि मुष्टि चाणूर बली अति भुज सों तार बजायो।
नगर नारी गारि दे कहहीं अजगुत युद्ध बनायो॥
बरषहि सुमन आकाश महा धुनि दुंदुभि देव बजायो।
चढि कर अमर बिमान परम सुख कौतुक इन्द्र आप आयो॥
कंस मार गुर राजो करके उग्रसेन सिर नायो।
मात पिता बन्धन ते छोरे सूर सुजसु गायो॥

राग सोरठ

मथुरा ऐसी आजु बनी।
मानो पति को आगम जान्यो सजे सिंगार घनी॥
भूषण चित्र विचित्र देखियत शोभित सुन्दर अंगनि।
मान कोटिकसी कटि किंकिनि उपबन बसन सुरंगिनि॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४२वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ३९वां अध्याय

राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण

'सप्तम अध्याय'

कुब्जा पर कृपा, धनुष भङ्ग और कंस की घबराहट

कारिका—**एकोनचत्वारिंशे तु हरेरद्भुतकर्मणः ।**
स्वासक्त्यर्थं राजसानां वीर्यं तस्य निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ--इस उनचालीसवें अध्याय में तो राजस भक्तों की भगवान् में आसक्ति सिद्ध होने के लिए अद्भुत कर्म करने वाले हरि के वीर्य का निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—**अलौकिकं लौकिकं हि प्रसन्नः कुरुते फलं ।**
नान्यस्तत्र फलं दातुं शक्नोतीति धनुःकथा ॥२॥

कारिकार्थ—भगवान् प्रसन्न होकर अलौकिक तथा लौकिक फल प्रदान करते हैं।

वहां भगवान् की नगरी मथुरा में कोई अन्य फल देने में समर्थ नहीं है, यह सूचित करने के लिए धनुर्भंग की कथा का वर्णन किया गया है ॥२॥

कारिका—लौकिकालौकिकत्वेन सामर्थ्यं लक्षणं पुनः ।
निरूप्यते स्वदोषस्य निवृत्यं स तथापि हि ॥३॥

न निवर्तत इत्युक्त्वा मल्लरङ्गकथापरा ।
एतावताक्लिष्टकर्मा हरिरत्र निरूपितः ॥४॥

कारिकार्थ--भगवान् ने अपने लौकिक अलौकिक रूप से सामर्थ्य और कंस को (उसकी मृत्यु के) चिह्न इसलिए बतलाए कि वह (कंस) अपना दोष दूर कर ले, किंतु तो भी उसने अपने दोषों को नहीं मिटाया । वह तो भगवान् के साथ विरोध करता ही रहा । यह कह कर आगे मल्लों के अखाड़े की कथा का वर्णन किया जाएगा, जिससे यहाँ यह प्रदर्शित करेंगे कि भगवान् अक्लिष्टकर्मा हैं ॥३,४॥

लेख—यद्यपि इस अध्याय में भगवतार्थ प्रकरण निबन्ध में धर्मी भगवान् का ही निरूपण है, तो भी धर्मी के अङ्गरूप से उनके वीर्य गुण के धनुष भङ्ग का निरूपण किया गया है, इसी अभिप्राय से कारिका में 'तु' अर्थात् 'तो' शब्द का पाठ है ।

लेख--'अलौकिकं' इस कारिका में अलौकिक फल भगवान् ने कुब्जा को स्वरूप प्रदान किया और वहां के बनियों को तथा पुरवासिनियों को लौकिक फल का दान किया; 'हि' अर्थात् क्योंकि इन दोनों फलों को भगवान् ही प्रसन्न होने पर प्रदान कर सकते हैं । भगवान् की पुरी में कोई अन्य देवता फल दे नहीं सकता है, इसलिए धनुष के भङ्ग की कथा कही है ।

लेख—'लक्षणं' अर्थात् कंस को मृत्यु रूप चिह्न दिखाई देने पर भी वह दोष करता नहीं रुका, तब भगवान् ने उसका वध कर दिया । इसलिए उसको मारने में भगवान् का दोष नहीं है । इसका विवरण कारिका में 'कंस' इत्यादि पदों से किया है ।

'प्रमाणानामिति' भगवान् के अलौकिक लौकिक महात्म्य का निरूपण करना प्रमाणों का फल है । इसीलिए प्रमाण प्रकरण के अन्त में फल का निरूपण करना उचित है । इसी तरह से प्रमाणों का कार्य मनुष्य को उसकी मृत्यु का ज्ञान करा देना है, क्योंकि पुरुष प्रमाणों के द्वारा अपनी मृत्यु को जान कर सत्साधनों में प्रवृत्त होता है । भावी जन्म मरण के बन्धनों से छूटने का साधन करने लगता है । इसी अभिप्राय से कौषीतिकी उपनिषद् में मृत्यु के लक्षणों का वर्णन किया गया है ।

वायु के कारण से कुब्जा कुत्र से धनुष के आकार के समान आकार वाली कुरूपिणी थी, किंतु

कारिका—प्रमाणानां फलं ह्येतत् कार्यं चापि निरूपितं ।
कुब्जाप्यत्र धनूरूपा वायुना तु तथा कृता ॥५॥

कारिकार्थ—भगवान् का लौकिक तथा अलौकिक माहात्म्य को बतलाना ही प्रमाणों का फल है। इसलिए प्रमाण प्रकरण के अन्त में भगवान् के लौकिक अलौकिक माहात्म्य का निरूपण करना उचित है, यह 'हि' शब्द का अर्थ है। प्रमाणों का कार्य कंस को अपनी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है, इस प्रकार से प्रमाणों का फल तथा कार्य का निरूपण किया है। कुब्जा भी धनुष के आकार वाली -कुबड़ी- है, जिसको वायु ने कूब वाली कर दिया था ॥५॥

कारिका—आध्यात्मिको रुद्ररूपः शिष्टौ धनुषि संस्थितौ ।
यत् पालकं तस्य खण्डौ साधनं नाशने मतम् ॥६॥

कारिकार्थ—काल के तीन रूपों में आध्यात्मिक काल रुद्र रूप है और आधिभौतिक और आधिदैविक काल धनुष में निवास कर रहे थे। कंस जिस धनुष को अपना पालन (रक्षक) मान रहा था, उसके दोनों खण्डों को भगवान् ने उस (कंस)को मारने में साधन माना है ॥६॥

कारिका—कालोपि विपरीतोभूत् दुर्निमित्तैः पतिर्द्विषां ।
बुद्धिर्हि न हिता तस्य प्रतिकूलेखिलं हरौ ॥७॥

कारिकार्थ—असुरों का स्वामी काल भी बुरे बुरे निमित्त (शकुन) दिखाकर कंस

वास्तव में तो लक्ष्मी का अंश रूप थी। इसलिए वह अत्यन्त सुन्दरी ही थी। अतः उसके शरीर के जितना सा भाग वायु ने कुरूप बना दिया था, उतना ही भाग समान करना था, जिससे भगवान् उसे सम करेंगे, क्योंकि जिस प्रकार लक्ष्मीजी के अन्य अंश भगवान् के भोग्य हैं, वैसे ही यह कुब्जा भी भगवान् के भोग करने योग्य है।

लेख—'आध्यात्मिक इति' कंस का उपास्य देव भी उसके प्रतिकूल (उलटा) था, यह कहने के लिए असुररूप से उसके आराध्य देव काल के तीन रूपों का वर्णन करते हैं। काल का आध्यात्मिक रूप रुद्र है, जो रुलाने वाला है अर्थात् मरण काल आध्यात्मिक है, धनुष आधिभौतिक काल रूप है और बाहर धनुष पर स्थापित किया हुआ देव काल का आधिदैविक काल रूप है। यह सब,जिसको कंस अपना रक्षक मान रहा था,उसकी मृत्यु का भगवान् ने साधन बना लिया।

के विपरीत (विरुद्ध) हो गया था, क्योंकि उस कंस की बुद्धि उसका हित करने वाली नहीं थी। उसके आचरण भगवान् के प्रति विपरीत होने के कारण ही यह सब उसके विपरीत हो गया ॥७॥

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—अथ व्रजन् राजपथेन माधवः स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम्।
विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननां पप्रच्छ यान्तीं प्रहसन् रसप्रदः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा—तदनन्तर रस का दान करनेवाले भगवान् माधव राज मार्ग से होकर आगे बढ़े। आगे उन्हें एक सुन्दर मुखवाली स्त्री दीख पड़ी, जो जवान थी और तीन जगह से कुबड़ी थी। श्रीकृष्ण ने उससे हँस कर पूछा ॥१॥

सुबोधिनी—पूर्वाध्यायान्ते सुदाम्नो भवनात् निर्गत इत्युक्तं, तत्र पुनरन्यस्य गृहे गमनं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं भिन्नप्रक्रमेण स्वपूर्वलीलयैव भगवान् प्रचलित इत्याह **अथेति**, राजमार्गेणैव **व्रजन् स्त्रियं** ददर्शेति, स्त्रियो हि भगवतः कृपापात्रमिति तत्र भगवतो नात्यन्तं प्रयासः, कालेनैव ताः भगवदीयाः क्रियन्ते 'तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः' इति वाक्यात्, अतः कुब्जा मध्ये मिलिता, अलौकिकं तत्समीकरणमिति अलौकिकसामर्थ्यज्ञापनाय चतुष्पथ एव तथा करणं, **माधव** इति, लक्ष्मीपतित्वात् तदंशभूता सेति तस्या उद्धारः कर्तव्यः, तस्या नामाप्रसिद्धमिति जात्यादिकमेव निरूपितं, **स्त्रियमिति** विशिष्टां भोगयोग्यां, **गृहीतमङ्गविलेपभाजनं** यया, सा हि स्वगृहे अङ्गविलेपनं सज्जीकृत्य कंसार्थं नयति, भगवति च प्रविष्टे ततो राजधर्मा निवृत्ताः भगवत्येव समागताः, अत एव वस्त्राणि चन्दन माला राजभोग्याः भगवतैव गृहीता, तां **कुब्जां** निर्गतपृष्ठभागां **युवतीं** वयसोत्तमां, दर्शनेऽप्युत्तमामाह **वराननामिति**, भोगे परमयोग्या, मुख्ये उत्ताने असामर्थ्यात्, अतोऽर्धफलां तां मध्ये मार्गे दृष्ट्वा **पप्रच्छ यान्तीमेव** न तु सा भगवन्तं दृष्ट्वा स्थिरीभूता, भोगाभावनिश्चयात् भक्तिज्ञानादावनधिकारात् दर्शने मनोगवपीडासम्भवात् गच्छन्तीव सा जाता, **प्रहसन्निति**, तस्याः सर्वमेव विवेकं दूरीकुर्वन् परिभाषणं कृतवान् यथा सा पश्यति, कृपापात्रं भगवान् स्वयमप्याकार्यं स्वस्मिन् प्रवर्तयतीति ज्ञापयितुमाभाषणं कृतवान्, कुब्जेयमपूर्वा गच्छतीति लोकरीत्या **प्रहसन्**, ननु गच्छन्तीं किमित्थाकारितवान् तत्राह **रसप्रद** इति, रसमात्मस्वरूपं कामरसं वा प्रकर्षेण ददातीति ॥१॥

लेख—काल उसके प्रतिकूल था,इसमें हेतु का वर्णन करते हैं कि असुरों का स्वामी काल अपने तीनों रूपों से कंस के विपरीत था। इसलिए उसको वहाँ बुरे बुरे निमित्तों-चिह्नों-को दिखलाता था। कंस को उसकी मृत्यु का ज्ञान हो गया था, किन्तु फिर भी वह उस (भगवान्) के प्रति विपरीत आचरण करने में लगे रहने का कारण यह था कि उसकी बुद्धि ही उसके हित में आचरण नहीं करती थी, बुद्धि ही विपरीत हो गई थी। सब के विपरीत हो जाने का कारण यह है कि भगवान् के प्रति विरुद्ध आचरण करने पर सभी विपरीत हो जाते हैं।

व्याख्यार्थ—गत अध्याय में भगवान् का सुदामा के घर से बाहर पधारने का वर्णन किया जा चुका है। अब किसी दूसरे के घर पर भगवान् का पधारना सम्भव नहीं था। इसलिये (अथ-भिन्न क्रम से) भगवान् पहले की तरह ही नगरी का अवलोकन करते हुए आगे पधारे, यह इस 'अथ व्रजन्' श्लोक से कहते हैं। भगवान् ने राजमार्ग में ही पधारते समय स्त्री को देखा। स्त्रियां भगवान् की कृपा पात्र हैं। इसलिये भगवान् को सुदामा की तरह उनके घर जाने आने का परिश्रम नहीं करना पड़ता है। 'तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः' (उनका प्रिय करने के लिये दोनों की स्त्रियों जन्म लो १०।१।२३) इस वाक्य के अनुसार स्त्रियों को तो भगवान् के अवतार के समय-काल-ने ही भगवदीय बना दिया है। इसलिये कुब्जा भगवान् के मार्ग के बीच में मिल गई। उसकी कूब को दूर करके सुन्दर सीधी युवती बना देना भगवान् का अलौकिक सामर्थ्य है। इस अपने अलौकिक सामर्थ्य को प्रकट करने के लिये भगवान् ने चौराहे में ही उसकी कूब निकाल (दूर कर) दी। भगवान् माधव लक्ष्मीजी के पति हैं और कुब्जा लक्ष्मीजी का अंश है। इसलिये भगवान् को उसका उद्धार करना चाहिये।

उसका नाम प्रसिद्ध नहीं होने से जाति आदि कहकर निरूपण किया है। उस भोग करने योग्य सुन्दर स्त्री को जो अपने घर पर सुन्दर चन्दन (अंगविलेपन) तैयार (सिद्ध) कर के कंस के लिये ले जाने वाली थी, देखा। भगवान् ने जब मथुरा में प्रवेश किया उसी समय कंस राजा के धर्म (गुण) उससे निकल कर भगवान् में आ गये थे। इसीलिये राजा के भोगने योग्य वस्त्र, चन्दन और मालाओं को भगवान् ने ही अंगीकार किया था। भगवान् ने उस नई अवस्थावाली भी, बड़ी सुन्दर भी, किन्तु पीठ पर कूब होने के कारण भोगने के अयोग्य कुब्जा को देखा। पीठ में कूब के कारण भगवान् के दर्शन का पूरा फल नहीं पाने वाली बीच मार्ग में चलती हुई उस से ही भगवान् ने देख कर-आगे श्लोक के अनुसार-पूछा। भगवान् को देख कर वह ठहरी नहीं, क्योंकि उसको यह निश्चय नहीं था कि भगवान् उसका भोग करेंगे, भक्ति ज्ञान में उसका अधिकार ही नहीं था और रुक कर कोटिकन्दर्प लावण्य भगवान् के दर्शन करने पर कामदेव को पीड़ा देना सम्भव था। इसलिये वह न रुक कर चलती सी ही रही।

भगवान् अपनी अद्भुत हंसी के द्वारा कुब्जा की सारी समझ बूझ को हर लेते हुए और उसको इस बात का ज्ञान कराते हुए कि भगवान् कृपापात्र जीव को स्वयं ही बुलाकर अपनी ओर लगाते हैं, उससे बोले। उस विचित्र कुबड़ी को जाते देख भगवान् को (लोकरीति के अनुसार) खूब हंसी आई। भगवान् ने (चली) जाती हुई स्त्री को क्यों बुलाया? इस शंका का समाधान 'रसप्रद' इस विशेषण से करते हुए कहते हैं कि भगवान् अपने स्वरूप से रस का अथवा कामरस का अत्यन्त दान करने वाले हैं, इसलिये उसे ठहराकर भगवान् बोले (पूछने लगे)॥१॥

श्लोक—का त्वं वरोर्वेतदुहानुलेपनं कस्याङ्गने वा कथयस्व साधु नः।
देह्यावयोरङ्गविलेपमुत्तमं श्रेयस्ततस्ते न चिरात् भविष्यति॥२॥

श्लोकार्थ—हे सुन्दरी! तुम कौन हो? यह चन्दन अङ्गराग आदि अनुलेपन तुम किस के लिए ले जा रही हो? यदि उचित समझो तो हमको ठीक ठीक बतलाओ।

हमारी इच्छा है कि तुम यह उत्तम अनुलेपन हम दोनों के लिए देओ। ऐसा करने से तुम्हारा शीघ्र ही कल्याण होगा ॥२॥

सुबोधिनी— प्रश्नमाह का त्वमिति. वरोर्विति सम्बोधन भोगयोग्यतां सूचयति, उह अपि च एतदनुलेपनं कस्य त्वं वा कस्येति, अङ्गनेति पुनः प्रीत्या सम्बोधन तव विशेषप्रीत्या भोगयोग्यतां सम्पादयिष्यामीति ज्ञापनार्थ, वेत्यनादरे,नास्माकं सम्बन्धिपरिज्ञाने किञ्चित् प्रयोजनमिति साधु यथा भवति तथा नोस्मभ्यं कथयस्व, किञ्च,आव-योरेतदनुलेपन उत्तम प्रतीयत इति देहि. अङ्गवि-लेपने दत्ते अङ्गमेव दास्यामीति भगवदभिप्रायः, तदेवाह श्रेय इति. ततस्ते अचिरादेव श्रेयो भवि-ष्यति, यद्यपि दानफल देशादीनां प्रशस्तत्वाभा-वात् शीघ्रं न भविष्यति तथापि दर्शनमपि दाने शीघ्र सफलं भविष्यतीति तथोक्तिः ॥२॥

व्याख्यार्थ—'का त्वं' इस श्लोक से भगवान् के प्रश्न का निरूपण करते है। हे वरोरू! हे सुन्दर जघन वाली! इस सम्बोधन से यह सूचित किया कि वह भोग करने योग्य थी। 'उह अपिच' यह बता कि यह लेप किसका है? अथवा तू किस की 'स्त्री' है? हे सुन्दरी! यह फिर किया हुआ सम्बोधन इस बात को सूचित करता है कि तुझ पर मेरा विशेष प्रेम होने से मैं तुझको भोग करने योग्य बनाऊंगा। वा यह अनादर अर्थ मे प्रयोग है अर्थात् यह लेप अथवा तुम किस की हो, यह जान लेने से हमें कोई प्रयोजन नहीं है। जैसा उचित हो, वैसा हम से ठीक ठीक कहो।

देखो तो यह अंगविलेपन बड़ा उत्तम दिखाई देता है। इसे हमारे लिये दे दो। इस कथन से भगवान् का यह अभिप्राय है कि अंगविलेपन दे देने पर मैं अंग का ही दान कर दूंगा। इसी बात को श्लोक के चौथे चरण से कहते है कि इससे तेरा शीघ्र ही कल्याण होगा। यद्यपि देश आदि के यहां उत्तम न होने से उसे लेप के दान का फल तत्काल नहीं मिलेगा, तो भी हमारे लिये अनुलेप देते समय हमारे दर्शन का फल तत्काल ही मिल जाएगा,इस अभिप्राय से ऐसा कहा है।

सैरन्ध्र्युवाच—

श्लोक—दास्यस्म्यहं सुन्दरवर्य सम्मता त्रिवक्रनामा ह्यनुलेपकर्मणि ।
मद्भावितं भोजपतेरतिप्रियं विना युवां कोऽन्यतमस्तदर्हति ॥३॥

श्लोकार्थ— कुब्जा ने कहा—हे सुन्दर श्रेष्ठ! मैं तीन जगह से कुबड़ी होने के कारण त्रिवक्रा और कुब्जा कहलाती हूं। मैं कंस राजा की दासी हूँ। राजा के अँगों में चन्दन, अँगराग लगाना मेरा काम है। मैं अपने काम में बड़ी चतुर हूँ। इसलिए मेरे बनाए अँगराग और चन्दन पर राजा की बड़ी प्रीति है। पर आप पुरुषोत्तम हैं। आप के सिवा इस सुगन्धित अङ्गलेप के योग्य कौन है? ॥३॥

सुबोधिनी—सा तु सैरन्ध्री अन्तःपुरदासिका बहिस्तिष्ठति अभर्तृका च, सा स्वस्वरूपं निरूप-यति दास्यस्मीति, स्वभावतो जात्यैव दासी, सुन्दरवर्येति सम्बोधनात् त्वं चेत् कृपां करिष्यसि तवैव भविष्यामीति, राजदास्योपि वेश्याप्रायाः गुणाः, परं अनुलेपकर्मणि चतुःसमनिर्माणे सम्मता

सर्वेषामेव, अस्मिन्नर्थे अनुलेपभोक्ता राजा प्रमाणमिति तस्यापि सम्मतिमाह मज्जूावितमिति; मया भावितं मनसो निर्मितमङ्गविलेपनं भोजपतेः कंसस्यातिप्रियं, अतः वां भवन्तौ विना अन्यतमः को वा अर्हति, भोजपतेः प्रियमेव, न तु भोजपतिरर्हति ॥३॥

व्याख्यार्थ—वह कुब्जा तो अन्तःपुर (रणवास) की दासी (खवासणी) महल के बाहर रहती थी और पतिविहीन थी। वह 'दास्यस्म्यहं' इस श्लोक में अपना स्वरूप बतलाती है कि मैं स्वभाव से जाति से ही दासी हूं। हे सुन्दर पुरुषों में उत्तम! इस सम्बोधन से यह सूचित करती है कि आप (भगवान्) कृपा करेंगे तो मैं आपकी ही होजाऊँगी। राजा की दासियां भी प्रच्छन्न (छिपी) वेश्या जैसी ही हो जाती है। मैं हूँ तो दासी, परन्तु केसर कस्तूरी, अगर और तगर इन चार सुगन्धित द्रव्यों को समान भाग में डाल कर अनुलेप (चन्दन) बनाने में मैं सब ही को मानी हुई हूँ। सब की पसन्द की हुई हूँ। इस विषय में अनुलेप का भोग करने वाला राजा ही प्रमाण है। इसलिये वह राजा की सम्मति कहती है कि मेरे द्वारा समान सुगन्धी पदार्थों से सिद्ध किया अंगों पर लगाने का लेप (चन्दन) कंस को अत्यन्त प्रिय है। अतः आप दोनों के अतिरिक्त (सिवाय) दूसरा कौन इस अनुलेप के योग्य है? भोजपति (कंस) को तो यह केवल प्यारा ही है, वह इस के योग्य नहीं है ॥३॥

श्रीशुकोवाच—

श्लोक—रूपपेशलमाधुर्यहसितालापवीक्षितैः ।
धर्षितात्मा ददौ सान्द्रमुभयोरनुलेपनम् ॥४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं—महाराज! श्रीकृष्ण, बलदेवजी के रूप, सुकुमारता, माधुर्य रसिकता, मन्द मुस्कान से बातचीत और चितवन ने कुब्जा के मन को मोह लिया। इसलिए उसने उनको वह घना चन्दन और अनुलेपन दे दिया ॥४॥

सुबोधिनी—यद्यपि राजकीयं तत् ततो जीवति राज्ञि अर्हतु वा मा वा, तथापि नान्यस्मै दातुमुचितं, तथापि कामेन भगवद्वशा भूत्वा दत्तवतीत्याह रूपेति, रूपं भगवतो नीलमेघश्याम, तस्य पेशलं कोमलता, अङ्गानां भोगयोग्यता, माधुर्यं तस्यैव कोमलताया अयमधिको गुणः, माधुर्ययुक्तं वा हसितं, हसितपूर्वकमालापश्च वीक्षितानि च, रूपं हसितं भाषितं वीक्षणमिति देहेन्द्रियान्तःकरणात्मनां वशीकरणसाधनान्येतानीति, तैर्धर्षितात्मा स्वरूपात् च्यावितदेहेन्द्रियादिरूपा सान्द्रं गाढं अन्तःस्थितमुभयोरनुलेपनं ददौ, उभयत्रापि मनःप्रीतिरिति भगवतापि तदेव याचितमिति ॥४॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि वह चन्दन राजा के लिए था। राजा उस लेप के योग्य हो या न हो, किंतु राजा के होते हुए तो वह अनुलेप किसी अन्य के देने योग्य था ही नहीं, तथापि काम के द्वारा भगवान् के वशीभूत हुई उसने वह लेप भगवान् को दे दिया, यह 'रूपपेशल' इत्यादि श्लोक से कहते हैं। रूप -भगवान् का मेघ जैसा श्याम रूप-, स्वरूप की कोमलता, भोग की योग्यता -माधुर्य-, कोमलता का अतिशय गुण अथवा मधुरतापूर्ण हास्य, हास्यपूर्वक सम्भाषण तथा चितवन, ये सब क्रम से देह,

इन्द्रिय, अन्तःकरण और आत्मा को वश में करने के साधन है। इन के द्वारा स्वरूप से चलायमान किए हुए देह, इन्द्रियादि वाली उस कुब्जा ने यह गाढ़ा सुगन्धित लेप दोनों के अर्पण किया (लगाया)। श्रीकृष्ण और कुब्जा दोनों में मन की प्रसन्नता होने के कारण भगवान् ने भी वैसा ही गाढ़ा चन्दन चाहा था, जो कुब्जा ने दिया ॥४॥

श्लोक—ततस्तावङ्गरागेण स्ववर्णेतरशोभिना ।
सम्प्राप्तपरभागेन शुशुभातेनुरञ्जितौ ॥५॥

श्लोकार्थ—गौरे बलदेवजी के श्याम और श्याम वर्ण श्रीकृष्ण के पीले अङ्गराग शरीर के ऊपर के भाग पर कुब्जा ने लगाया, जिससे उन दोनों की बड़ी शोभा हुई ॥५॥

सुबोधिनी--ततो भगवतस्त्रिविधोप्यलङ्कारो जात इत्याह **ततस्ताविति**, स्ववर्णात् शुक्लनीलात् इतरो यः पीतो वर्णः तेन **शोभिना** शोभायुक्तेन **अङ्गरागेण ताबुभावपि शुशुभाते**,स्वरूपतः शोभाकर्तृत्वं वारयति **सम्प्राप्तपरभागेनेति**, सम्यक् प्राप्तः परो नाभेरूर्ध्वभागो येनाङ्गरागेण, नाभेरूर्ध्वं सर्वत्रैव कण्ठपर्यन्तव्याप्तमनुलेपनम्, यथा वस्त्राणां मालादीनां वा शोभा नागता भवति तथा प्राप्तिः सम्यक् **प्राप्तिः**, ननु वस्त्रादिघर्षणेन स्वतो वा तदपगमे कथं शोभा प्रतिष्ठिता स्यादत आह **अनुरञ्जिताविति**, माञ्जिष्ठादिना वस्त्रमिव तेन रागयुक्तो जातौ प्रीतौ वा ॥५॥

व्याख्यार्थ--तब इस प्रकार से भगवान् वस्त्रों, मालाओं और चन्दनादि तीन प्रकार के अलङ्कारों से अलंकृत हुए, यह 'ततः' इस श्लोक से कहते हैं। अपने श्वेत तथा श्याम रङ्ग से भिन्न श्याम तथा पीले रङ्ग के सुन्दर अनुलेप से बलदेवजी और श्रीकृष्ण अत्यधिक सुशोभित हुए। शरीर के ऊपर के भाग में लगाया हुआ वह अनुलेप, इस अनुलेप के विशेषण से यह सूचित किया है कि वह लेप वास्तव में भगवान् को शोभावर्धक नहीं था। नाभि के ऊपर श्रीकण्ठ तक सभी अङ्गों में चन्दन लगाया हुआ था। अनुलेप इस अच्छी प्रकार से किया था कि जिससे वस्त्रों और माला आदि की शोभा नष्ट नहीं हुई थी।

वस्त्रों, मालाओं के साथ स्पर्श-रगड़-से अथवा अपने आप चन्दन पुंछ जाने पर उस लेप से हुई शोभा स्थिर कैसे रह सकती है ? ऐसी शङ्का की निवृत्ति के लिए 'अनुरञ्जितौ' -प्रसन्न हुए- यह विशेषण दिया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मंजीठ आदि से वस्त्र रङ्गे जाते हैं, उसी प्रकार उस अनुलेप से दोनों स्नेह वाले तथा प्रसन्न हुए ॥५॥

श्लोक— प्रसन्नो भगवान् कुब्जां त्रिवक्रां रुचिराननां ।
ऋज्वीं कर्तुं मनश्चक्रे दर्शयन् दर्शने फलम् ॥६॥

श्लोकार्थ—तब भगवान् ने अपने दर्शन का फल दिखाने के लिए उस गर्दन, छाती

और कगर से टेढ़ी सुन्दर मुखवाली कुब्जा को सीधा कर देना चाहा ॥६॥

सुबोधिनी- ततो भगवान् वाक्यं कृतमिति किञ्चित् फल तदानीमेवाग्रिमफलसाधकं कर्तुमारब्धवानित्याह प्रसन्न इति, तस्याः कृतं शोभातिशयं ज्ञात्वा प्रसन्नो जातः, भगवांश्च सर्वफलदानसमर्थः तथाप्यादौ दोषो दूरीकर्तव्य इति दोषमेव दूरीकृतवान्, तदर्थमाह कुब्जामिति, न केवलं कुब्जत्वमात्रं किन्तु त्रिवक्रां ग्रीवा पादौ मध्यमिति, मुखे वक्रतामाशङ्क्य तद्व्यावृत्त्यर्थमाह रुचिराननं यस्याः, ऋज्वीं कुब्जतां वक्रत्वं च दूरीकरिष्यामीति मनश्चक्रे, ब्रह्मसृष्टौ सा तथा भूतैवेति मूलेच्छाया अभावात् नूतन मनः कर्तव्य, राजसा ह्यतिकठिना इति तेषामर्थे नूतनमपि करोतीति ज्ञापयति, नन्वेतदङ्गरागदानफल, तथा सति शास्त्रविरुद्धमित्याशङ्क्याह दर्शने फलं दर्शयन्निति, दर्शनस्यापि नैतत् फलं किन्तु दर्शनैकदेशस्येति सप्तम्या निरूपितम् ॥६॥

व्याख्यार्थ:- कुब्जा ने भगवान् की आज्ञा मान कर अंगलेप दिया चन्दन लगाया। तब भगवान् ने भावी (आगे का) फल प्राप्त करनेवाला कुछ फल उसी समय प्रदान करने का प्रारम्भ किया, यह 'प्रसन्नो' इस श्लोक से कहते हैं। कुब्जा का (भगवान् की अतिशय शोभा-रूप) कार्य जान कर भगवान् उस पर प्रसन्न हुए और भगवान् ने सारे फलों को देने में समर्थ होने पर भी पहले दोष दूर करना चाहिए, ऐसा बतलाते हुए पहले तीन बांक वाली उसको सीधा किया, उसके दोष को ही दूर करने का मन किया। वह शरीर में एक ही अंग में कूबवाली नहीं थी, किन्तु उसके तो गला, पांव और छाती तीनों ही टेढ़े थे। उसके मुख में बांक नहीं थी। उसका मुख बड़ा सुन्दर था। भगवान् ने प्रसन्न होकर इसके अंगो की बांक को दूर करूंगा, उसको एक सरीखा करने का मन में विचार किया।

यद्यपि ब्रह्माजी की सृष्टि में वह शरीर में तीन स्थान में बांक वाली ही थी, इसलिए मूल स्वरूप की उसको एक सरीखी सीधी करने की इच्छा नहीं थी, तो भी भगवान् को उसे सीधी करने का अपना नवीन मन बनाना (करना) चाहिए। इस कथन से यह ज्ञात होता है कि राजस भक्त अत्यन्त कठिन होते हैं और इसीलिए भगवान् नवीन मन भी (कार्य भी) करते है।

कुब्जा को अंगराग लगाने का फल भगवान् ने उसी की बांक निकाल के दे दिया। यह तो शास्त्र विरुद्ध बात है ? ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि अपने दर्शन होने पर भगवान् ने यह फल दिखाया है और वह भी दर्शन के एक अंश का ही फल था। यह इस 'दर्शन' सप्तमी विभक्ति से निरूपण है किया है ॥६॥

श्लोक—**पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे द्व्यङ्गुल्युत्तानपाणिना ।**

प्रगृह्य चुबुकेऽध्यात्ममुदनीनमदच्युतः ॥७॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण ने अपने दोनों चरणों से कुब्जा के दोनों पैरों को आगे से दबाया और दो अँगुलियां उसकी ठोढी में लगा कर ऊपर एक झटका दिया ॥७॥

सुबोधिनी—समीकरणप्रकारमाह पद्भ्यामाक्रम्येति, तस्याः पादाग्रद्वयं स्वस्य पद्भ्याम'क्रम्य पृष्ठभागे हस्तं दत्त्वा द्व्यङ्गुलोत्तानपाणिना कनिष्ठानामिके सङ्कोच्य मध्यमादेशिनीद्वयमुत्तानं विधाय चिबुकाधो गृहीत्वा अध्यात्मं तस्य शरीरं उदनीनमत् ऊर्ध्वं नीतवान्, ननु स्त्रीस्पर्शे भावान्तरोत्पत्तेरावश्यकत्वात् कथमव्यग्र एवं कृतवानित्याह अच्युत इति, अच्युतत्वादेव तामपि नावयवशः च्युतां कृतवान् किन्त्वपेक्षितप्रकारेणैव समां चक्रे, भगवान् प्रकारान्तरेणापि ऋज्वीं करोति तथापि सा यान्ती स्थितेति तस्यै काममोक्षावेव दातुं द्वे एवाङ्गुली उत्ताने कृते अङ्गुष्ठस्य तु सर्वसमत्वात् न योजनम्, एवं कौतुकमिव वस्त्रपुत्तलिकामिव सञ्चकार ॥७॥

व्याख्यार्थः—'पद्भ्याम्' इस श्लोक से कुब्जा को सीधी करने का प्रकार बतलाते हैं। भगवान् ने उसके दोनों पैरों के आगे के भागों को अपने चरणों से दबाकर उसकी पीठ पर एक श्रीहस्त रख दिया और दूसरे श्रीहस्त को कनिष्ठिका तथा अनामिका अंगुलियों को सिकोड़ कर शेष मध्यमा, तर्जनी दो अंगुलियों को लम्बी करके उसकी ठोढ़ी को नीचे पकड़ कर उसके शरीर को ऊंचा कर दिया।

स्त्री का इस प्रकार स्पर्श करने पर मन में अन्य (काम) भाव अवश्य उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। फिर भगवान् ने व्यग्र हुए बिना ऐसा कैसे कर दिया ? इस शंका को दूर करने के लिए कहते हैं कि भगवान् स्वयं अच्युत है और इसलिए कुब्जा को भी किसी (शरीर के) अवयव से नहीं बिगाड़ा, किन्तु ऊपर बताए हुए अपेक्षित प्रकार से ही उसे एक सरीखी (सीधी) कर दिया।

सर्वशक्तिमान् भगवान् उसको दूसरी रीति से भी सीधी कर सकते थे, तथापि वह तो चली जा रही थी और उसे काम और मोक्ष दो ही पदार्थ देने थे इसलिए भगवान् ने अपनी दो ही अंगुलियों को ऊंचा उठाकर उसे सीधी कर दी। अंगूठा तो सभी अंगुलियों में समान है। इस कारण से अंगूठा नहीं मिलाया। इस प्रकार खेल में जैसे कपड़े की पुतली की तरह कुब्जा के शरीर की कूब निकाल कर एक समान कर दिया ॥७॥

श्लोक—सा तदर्जुसमानाङ्गी बृहच्छ्रोणिपयोधरा ।
मुकुन्दस्पर्शनात् सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा ॥८॥

श्लोकार्थ—भगवान् के स्पर्श से तत्काल कुब्जा का शरीर सीधा हो गया, सब अङ्ग समान हो गए और उसी समय स्थूल नितम्ब तथा स्तनों वाली परम सुन्दरी श्रेष्ठ स्त्री हो गई ॥८॥

सुबोधिनी—भगवत्स्पर्शपर्यन्तमेव तथात्वमिति स्थितिस्थापकसंस्कारेण पूर्ववदेव मा भवत्विति भगवता परित्यक्तामपि तां वर्णयति सा तदेति, सा त्रिवक्रापि तदैव ऋजु समानं चाङ्गं यस्यास्तादृशी जाता, ननु कुब्जभागे ये अवयवाः बहवः स्थिताः ते चेत् तदुदरे प्रविशन्ति तदा कृशोदरीत्वं भज्येत अथापगच्छेयुः तदेकदेशनाशात् अच्युतस्पर्शः न युक्तो भवतीत्याशङ्क्याह बृहच्छ्रोणिपयोधरेति, श्रोण्योः पयोधरयोश्च ते भागाः प्रविष्टा अतो भोगोपकारायैव जाताः, किञ्च, मुकुन्दो

मोक्षदाता सर्वेषामेव पूर्वावस्थां त्याजयित्वा स्वानन्दं प्रापयति, तथा तस्या अपि पूर्वावस्थां दूरीकृत्य लक्ष्मीसमानामवस्थां प्रापितवान्. तदाह मुकुन्दस्पर्शनात् सद्य एव प्रमदोत्तमा जाता ॥८॥

व्याख्यार्थः--भगवान् का स्पर्श करने तक तो वह श्रेष्ठ स्त्री बन गई किन्तु तदनन्तर पहले जैसी स्थिति को प्राप्त कराने वाले संस्कार के द्वारा पहले जैसी कुबड़ी न हो जाय (नहीं हुई) यह बतलाने के लिए भगवान् के छोड़ देने के बाद भी कुब्जा के स्वरूप का इस "सातदजुं" श्लोक से वर्णन करते हैं। तीन अंगों से बाँक वाली भी वह उसी समय सीधी समान शरीर वाली हो गई।

उसकी कूब के बहुत से भाग यदि उसके पेट में चले गए होंगे तो वह कृशोदरी-पतले पेटवाली नही रही होगी और यदि उन अवयवों का नाश हो गया हो तो अच्युत (भगवान्) का स्पर्श करना गुणकारी नहीं रहता है,ऐसी शंका करके कहते हैं कि वे कूब के अवयव उसके नितम्बों और स्तनों में प्रविष्ट हो गए, जिससे वह स्थूल नितम्बों और स्तनों वाली भोग करने योग्य उत्तम स्त्री हो गई, क्योंकि उसका मुकुन्द (मोक्ष देने वाले) भगवान् ने स्पर्श किया था। मोक्षदाता भगवान् जैसे सभी मोक्ष प्राप्त करने वाले जीवों को उनकी पहले की स्थिति का त्याग करा कर अपने आनन्द का दान करते हैं, वैसे ही भगवान् ने उसकी पूर्व की अवस्था को दूर करके लक्ष्मीजी की सी अवस्था को प्राप्त कर दिया। वह मुकुन्द भगवान् के स्पर्श से उसी समय उत्तम स्त्री हो गई ॥८॥

श्लोक—ततो रूपगुणौदार्यसम्पन्ना प्राह केशवम्।
उत्तरीयान्तमाकृष्य स्मयन्ती जातहृच्छया ॥९॥

श्लोकार्थ—तब कामदेव से उस रूप, उदारता आदि गुणवाली सुन्दरी का मन चञ्चल हो उठा। हँसती हुई वह दुपट्टे का छोर पकड़ कर भगवान् से कहने लगी।९।

सुबोधिनी—ततो भगवान् स्वार्थमेव कृतवानिति भगवन्तमेव गृहीतवतीत्याह तत इति, ततः तस्या रूपं सम्पन्नं, गुणाश्च पद्मगन्धादयः पूर्णो रसः तस्य च दानार्थमौदार्यं च सम्पन्नं, औदार्ये च सर्वे गुणा इति आन्तराः सत्यादयः सर्वे निरुक्ताः, एवं सर्वगुणसम्पन्ना सती केशवं ब्रह्मादिभ्योपि सुखदातारं प्राह. सा दासीति प्रमदा जातेति भगवदङ्गस्पर्शोपि वृत्त इति निर्भया सती विटमिव कामरसिकमिव वा उत्तरीयान्तं भगवत आकृष्य तदानीमेव जातभावा स्वहृदयं बोधयन्तीव स्मयन्तीव वक्ष्यमाणमाह, ननु कथं सभायां चतुष्पथे तथा कृतवतीत्याशङ्क्याह जातो हृच्छयो यस्या इति ॥९॥

व्याख्यार्थः--भगवान् ने अपने लिए ही यह सब काम किया था। इसलिए उस (कुब्जा) ने भगवान् को ही ग्रहण कर (पकड़) लिया यह "ततो" इस श्लोक से कहते हैं। उसने सुन्दर रूप कमल जैसे गन्धादि गुणों को और पूर्ण रस को प्राप्त किया। उस अपने पूर्ण रस का दान करने की उदारता प्राप्त की। उदारता में सारे ही गुण रहते हैं। इसलिए सत्य दया आदि भीतरी सभी गुण उसमें आ गए थे। इस प्रकार सभी गुणों से भर पूर हुई वह ब्रह्मादि देवों को भी सुख देने वाले केशव भगवान् से कहने लगी जन्मजात दासी उत्कट मदवाली हुई और फिर भगवान् के श्रीअंग का स्पर्श

भी उसे मिल जाने से वह निर्भय हो गई और भगवान् को कामरसिक अथवा जार की तरह समझ कर उनके दुपट्टे के छोर को खींच कर उसी समय प्रेम पूर्ण हुई वह अपने हृदय को प्रकट करती सी, हंसती सी, यों बोली-

चौराहे में सब के सामने सभा में उसने ऐसी चेष्टा क्यों की ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि वह कामार्त हो गई थी। उसका काम भाव उत्पन्न हो गया था। इस लिए उसने किसी बात का विचार नहीं किया ॥९॥

श्लोक—एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे ।
त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ ॥१०॥

श्लोकार्थ— हे वीर! आओ मेरे घर चलो। मैं तुम को यहाँ छोड़ कर अकेला घर नहीं जा सकती। तुमने मेरे मन को मथ डाला है। हे पुरुष श्रेष्ठ! मुझ दासी पर आप प्रसन्न होवें ॥१०॥

सुबोधिनी—तस्या वाक्यमाह एहीति, स्त्रीणां रसान्तरं न रोचत इति गोपिकावदेषापि काममेव पुरुषार्थं मन्यते तं दातुं समर्थ इति वीरेति सम्बोधनं, गृहं रमणयोग्यमिति, आत्मानं भगवन्तं च प्राप्तया सम्भाव्य याम इत्याह, सर्वेषां कार्यमस्ति चेत् त्वयावश्यमागन्तव्यमित्यभिप्रायेणाह न त्वां त्यक्तुमिहोत्सह इति, अकृतकार्यत्वात् सम्भृतिरेव सम्पादिता न तु भोजितेति त्यागो दूरे तदर्थमुत्साहमपि न करोमि, नन्वेवं निर्बन्धे को हेतुस्तत्राह त्वयोन्मथितचित्ताया इति, त्वया हि चित्तं मदीयमुन्मथितं येन चेतना गता, मथनं कृत्वा हि तत्फलं नवनीतमिव भोक्तव्यम्, अतो भोगार्थं निर्बन्ध इत्यर्थः, नन्वीश्वरे कथमेवं धाष्ट्र्यमिति शङ्कायामाह प्रसीदेति, प्रसन्नो भव स्वामिन् त्वयि प्रसन्न एव सर्वं भवतीति, तर्हि निष्कामां करिष्यामीति चेत् तत्राह पुरुषर्षभेति, हे पुरुषश्रेष्ठ, न हि पुरुषः स्त्रियं निष्कामां करोति अपि तु कामपूर्णामिव, सुतरामेव पुरुषर्षभः ॥१०॥

व्याख्यार्थः—"एहि वीर" इस श्लोक से कुब्जा के वाक्यों का वर्णन करते हैं। स्त्रियों को केवल कामरस ही सुहाता है, इसलिए यह कुब्जा भी गोपियों की तरह काम को पुरुषार्थ मानती है। भगवान् उस (काम) रस को देने के लिए समर्थ हैं, इसलिए हे वीर! यह सम्बोधन दे कर कहती है कि घर-रमण करने योग्य स्थान पर-चलिए। यह अपने (स्वयं) को और भगवान् को समान मानकर कहती है कि अपन (हम) चलें। इन सब गोपों को अन्य कार्य हो तो भले ही ये सब न चलें, अपना अपना कार्य करें, किन्तु आप (श्रीकृष्ण) तो (मेरे साथ) अवश्य चलें, इस अभिप्राय से कहती है, कि मैं आपको यहां छोड़ नहीं सकती हूँ। मुझे अपने भोगने योग्य बना कर नहीं भोगा, तब तो मेरा कार्य ही सिद्ध नहीं हुआ, इसलिए आप का तो त्याग करना दूर रहा, मैं तो आपको त्यागने का विचार भी नहीं कर सकती।

इस प्रकार मेरा आग्रह करने का कारण यह है कि आपने मेरे चित्त को उन्मथित कर (मथ) डाला है और इसीलिए मेरा ज्ञान नष्ट हो गया है। मन्थन करके मन्थन का फल नवनीत (मक्खन)

की तरह भोगना चाहिए । अतः आप मेरा भोग करें, यों भोग के लिए मेरा आग्रह है,यह तात्पर्य है ।

भगवान् से उसने ऐसी धृष्टता कैसे की ? इसके उत्तर में प्रार्थना करती है कि हे स्वामिन्! मुझ पर प्रसन्न होवे, क्योंकि आपके प्रसन्न होने पर ही सब इच्छा सिद्ध होती है । आप मुझे अपने सामर्थ्य से निष्काम (कामना रहित) मत कर दीजिए, किन्तु काम पूर्ण (काम वाली) ही बनाईये, क्योंकि आप तो पुरुष ऋषभ -श्रेष्ठ- है । पुरुष ही सभी को निष्काम (काम रहित) नहीं करता, काम से पूर्ण ही करता है. तो पुरुषों में उत्तम पुरुष को तो अत्यधिक ही काम पूर्ण करना चाहिए ॥१०॥

श्लोक—एवं स्त्रिया याच्यमानः कृष्णो रामस्य पश्यतः ।
मुखं च वीक्ष्यानुगानां प्रहसंस्तामुवाच ह ॥११॥

श्लोकार्थ—उस स्त्री की यह प्रार्थना सुन कर बलदेवजी के आगे ही अपने साथी अन्य गोपों की ओर देख कर श्रीकृष्ण ने हँस कर यों कहा ॥११॥

सुबोधिनी—एवं कामपीडितायां प्रार्थ्यमानायां सत्यां तदुल्लङ्घनं अनुचितमिति भगवान् किं कृतवानित्याशङ्कायामाह एवमिति, एवं निर्बन्धप्रकारेण स्त्रिया याच्यमानः कृष्णः तासामेवार्थे अवतीर्णः तथापि रामस्य पश्यतः सतः, सङ्कोचार्थं साधनसिद्धयर्थं वा रामकीर्तनं, ततः अनुगानां च मुखं निरीक्ष्य चकारात् बलभद्रस्यापि बालाः कौतुकचेतसः बलभद्रो युद्धाभिलाषी इयं च कामपरा एवं च सति सर्वानुरोधः कर्तव्य इति प्रहसन् प्रकर्षेण तां मोहयन् उवाच, हेत्याश्चर्ये, नहि स्त्रीभिः प्रार्थितः कृष्णो विलम्बं करोतीति,अथवा, पूर्णानन्दः कथमेवमाह अहमागमिष्यामीति॥११॥

व्याख्यार्थ—काम से पीड़ित हुई स्त्री के इस प्रकार से आग्रह करने पर उसकी अवहेलना (उल्लङ्घन) करना अयोग्य होता है । तब भगवान् ने क्या किया ? ऐसी आशङ्का होने पर 'एवं स्त्रिया' यह श्लोक कहते हैं । इस प्रकार स्त्री (कुब्जा) के आग्रहपूर्वक प्रार्थना करने पर भगवान् श्रीकृष्ण -जिनका स्त्रियों के उद्धार के लिए ही अवतार है-ने बलभद्रजी को देखते हुए, उससे कहा । बलदेवजी की उपस्थिति कहने का अभिप्राय यह है कि इस विषय को यहीं समाप्त कर दिया जाए अथवा उन (बलदेवजी) की अनुपस्थिति (गैर हाजरी) का चाहना ही जाना है ।

तदनन्तर सेवकों (गोपों) के और बलदेवजी के भी मुख की ओर देख कर अर्थात् गोप लोग आनन्द प्रिय हैं । बलदेवजी को युद्ध प्यारा लगता है और यह कुब्जा काम के वशीभूत है, इन सबकी इच्छाएँ पूरी करनी चाहिए, ऐसा विचार करके भगवान् श्रीकृष्ण हँसी से उसको सर्वथा मोहित करते हुए यों कहने लगे । श्लोक में 'ह' यह आश्चर्य बोधक अव्यय है, जो यहाँ (१) स्त्रियों की प्रार्थना को पूरी करने में विलम्ब न करने वाले भगवान् का -कुब्जा की इच्छा को पूरी करने में- विलम्ब करना तथा (२) पूर्णानन्द भगवान् का -तेरे घर आऊँगा- इस प्रकार कहना, यों आश्चर्य को सूचित करने के लिए है ॥११॥

श्लोक—एष्यामि ते गृहं सुभ्रु पुंसामाधिविकर्षणम् ।
साधितार्थोऽगृहाणां नः पान्थानां त्वं परायणम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे सुन्दर भौंहों वाली! मैं अपना काम पूरा करके पुरुषों के मानसिक ताप को शान्त करने वाले तुम्हारे घर अवश्य आऊँगा। हे सुन्दरी! बेघरबार वाले हम जैसे पथिकों के लिए तुम परम आश्रय हो ॥१२॥

सुबोधिनी—भगवद्वाक्यमाह एष्यामि ते गृहमिति, सुभ्रु इति सम्बोधन प्रार्थनार्थमेवेति सूचयति परिहासार्थं, यथा तस्याः अयं रसो गुप्तो भवति तदर्थं उपहासवदाह पुंसामाधिविकर्षणमिति, ये केचन पुरुषाः तेषां मनःपीडा गुप्तार्था तां त्वद्गृहमेव त्याजयति, अतः आधिविकर्षणं, परमारब्धं समाप्य कर्तव्यमिति विलम्बः कर्तव्य इत्याह साधितार्थ इति, कंसं हत्वेत्यर्थः, ननु पश्चादागमिष्यसीत्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह अगृहाणां न पान्थानां त्वमेव परायणमिति, परिहासोक्तिरेषा, स्वार्थमेवागमिष्याम इति नात्र सन्देहः कर्तव्यः, पान्थानामिति गृहार्थमप्यागमनं क्वचित् स्थातव्यमिति, यदि कश्चित् प्रार्थयेत् तदा तत्र स्थितौ कः सन्देह इत्यर्थः, किञ्च, त्वमेव परमयनमिति, अस्माकं सुतरां स्वार्थमुत्पादिता परायण भवत्येव ॥१२॥

व्याख्यार्थः—"एष्यामि" इस श्लोक से भगवान् के वचन कहते हैं। हे सुन्दर भौंहे वाली! यह कुब्जा का विशेषण उस कुब्जा की की हुई काम प्रार्थना के परिहास-हंसी-को सूचित करने के अभिप्राय से दिया है। उसका यह काम रस गुप्त जिस प्रकार से रहे, इसलिए हंसी करते हुए से कहते हैं कि तेरा घर पुरुषों की मानसिक पीड़ा को मिटाने (दूर करने) वाला है। जो कोई पुरुष है, उसके मन की पीड़ा किसी गुप्त कारण से होती है, तो तेरा (कुब्जा का) घर ही उसकी उस मन की पीड़ा को त्याग कराता है। इसीलिए तेरा घर मानसिक पीड़ा को मिटाने वाला है, किन्तु मैं तो अपने आरम्भ किए हुए काम को पूरा करके ही आ सकता हूं, इसलिए विलम्ब होना जरूरी ही है। अपना काम पूरा करके "साधितार्थं" कंस को मार करके मैं तेरे घर आऊंगा यह अभिप्राय है।

इसमें क्या प्रमाण है कि आप अपना कार्य समाप्त करने के बाद पधार ही जाओगे? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि हम बिना घर वाले बटोहियों के तुम आश्रय का मुख्य स्थान हो। भगवान् के ये वचन परिहास के लिए हैं। हम अपने स्वार्थ के लिए ही आएँगे। इसलिए (हमारे आने में) इस विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए।

पान्थनां (बटोहियों का) इस शब्द के कहने का अभिप्राय यह है कि कहीं पर तो रहना आवश्यक ही है। इसलिए निवास का स्थान (घर) पर भी आना आवश्यक ही है, तो फिर यदि कोई घर पर आने की प्रार्थना करे तो वहां रहने में फिर सन्देह क्या है? और फिर तुम तो मुख्य आश्रय का स्थान हो, हमारे तो तुम खास कर आश्रय के स्थान हो, क्योंकि अपने लिए ही जिसे उत्पन्न किया हो, सुन्दरी बनाया हो, वह तो आश्रय का मुख्य स्थान होता ही है, इसलिए अवश्य आएंगे ॥१२॥

श्लोक—विसृज्य माध्व्या वाण्या तां व्रजन् मार्गे वणिग्जनैः।
नानोपायनताम्बूलस्रग्गन्धैः साग्रजोर्चितः ॥१३॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार मधुर वचनों से कुब्जा को विदा करके श्रीकृष्ण राजमार्ग में और आगे पधारे। बाजार में दूकानदारों ने अनेक भेटें, पान, माला, सुगन्ध, इत्र, फुलेल आदि देकर दोनों भाईयों का पूजन सत्कार किया ॥१३॥

सुबोधिनी—एवमुक्त्वा प्रकृतार्थमेव प्रवृत्त इत्याह विसृज्येति, वाणी च माध्वी अर्थस्तु विलम्बसाधकत्वात् न मधुरः, तामिति सा एका स्त्री कृतोपकारा च एते तु तद्विपरीता इति एतेषां मनोरथसिद्ध्यर्थं मार्ग एव व्रजन् राजमार्गे गच्छन् तत्रत्यैर्वणिग्जनैः नानाविधान्युपायनानि रिक्तहस्तपरिहाराय ताम्बूलस्रग्गन्धाः पूजासाधनानि, बलभद्रसहितः पूजितः ॥१३॥

व्याख्यार्थः—कुब्जा से इस प्रकार भगवान् और आगे पधारे यह इस "सृज्य" श्लोक से कहते हैं। कुब्जा को विदा करने में भगवान् की वाणी तो मीठी थी, किन्तु वह विलम्ब करने वाली होने से उसका अर्थ मधुर नहीं था। उपकार करने वाली वह एक (अकेली) स्त्री थी, इसलिए श्लोक में "तां" उस एक स्त्री को विदा करके यों कहा गया है। ये बनिये दूकानदार लोग तो कुब्जा जैसे नहीं थे। इसलिए इन लोगों के मनोरथ सिद्ध हों, इसके लिए उन दूकानदार महाजन लोगों ने राज-मार्ग से पधारने वाले भगवान् की खाली हाथ बड़ों के पास जाने के दोष को मिटाने के लिए-भांति-भांति की भेटें, ताम्बूल, माला, सुगन्धि आदि पदार्थों पूजा के साधनों से बलदेवजी सहित-पूजा की ॥१३॥

श्लोक—तद्दर्शनस्मरक्षोभादात्मानं नाविन्दन् स्त्रियः।
विस्रस्तवासःकबरवलयालेख्यमूर्तयः ॥१४॥

श्लोकार्थ—मार्ग में दोनों भाईयों के दर्शन करने वाली सभी स्त्रियों के मन काम के वेग से चलायमान हो उठे। विह्वलता के कारण उनकी वेणियों के बन्धन शिथिल हो गए। वस्त्र और कङ्कण खिसक खिसक कर गिर पड़े। वे चित्र में लिखी सी खड़ी रह कर भगवान् के दर्शन करतीं रहीं। उन्हें अपनी देह की सुध बुध नहीं रही ॥१४॥

सुबोधिनी—एवं साधारणपुरुषाणां विनियोगमुक्त्वा साधारणस्त्रीणामाह तद्दर्शनेति, तस्य भगवतो दर्शनात् यः स्मरस्य क्षोभः तेन आत्मानं देहं नाविन्दन्, दृढा प्रपञ्चविस्मृतिरुक्ता, भगवद्दर्शनं हि स्मरं जनयति नूतनं, पूर्वमप्येकः स्मरः सहजः, उभौ मिलितौ क्षुब्धौ जातौ, मुख्यतया दृष्ट्या जातः काम इति स एव क्षोभक उक्तः, यत्र देहस्याप्यस्मरणं तत्रान्यस्मरणं दूरादपास्तमिति अत्यन्तविस्मरणं ज्ञापयितुमाह विस्रस्तेति, सर्वाभरणभूषिताः भगवद्दर्शनार्थमागताः, तत्र भगवद्दर्शनेन क्षोभे जाते आभरणानि स्वत एव विशकलितानि जातानि, उभयोरप्युपयोगाभावात् विशेषेण स्रस्तानि अधः पतितानि वासांसि कबरः केशपाशः बलयाः कङ्कणाद्याभरणानि, किञ्च, सर्वक्रियापि निवृत्तेत्याह आलेख्यं चित्रमिव मूर्तिर्यासामिति पूर्वनिक्षयाप्येतासां सर्वक्रियाराहित्यमविकमुक्तम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ:--इस प्रकार साधारण पुरुषों का उपयोग कह कर इस 'तद्दर्शन' श्लोक से साधारण स्त्रियों के उपयोग का वर्णन करते हैं। उन भगवान् के दर्शन करके वे स्त्रियां कामदेव से उत्पन्न हुई विह्वलता के कारण अपनी देह का भान भूल गईं। इस कथन से दृढता पूर्वक प्रपंच की विस्मृति का वर्णन करते हैं, क्योंकि भगवान् के दर्शन ने नवीन काम उत्पन्न किया है। क्योंकि भगवान् के दर्शन नवीन काम उत्पन्न करता है। एक स्वाभाविक काम तो भगवान् के दर्शन करने के पहिले था ही और दर्शन करने के बाद यह नया काम उत्पन्न हो गया। इन दोनों कामों ने मिलकर खलबलाहट उत्पन्न कर दी। मुख्य रूप से काम भगवान् के दर्शन करने पर ही उत्पन्न हुआ। इसलिए उसको क्षोभ उत्पन्न करने वाला कहा गया है, जिसके कारण वे अन्य सारे पदार्थों को भूल जाने की तो बात ही क्या अपना देह का भी उन्हें स्मरण नहीं (भान नहीं) रह गया था। यह इस श्लोक के उत्तरार्ध से कहते हैं।

वे वस्त्रों तथा आभूषणों से सुसज्जित हो कर ही भगवान् के दर्शन करने आईं थीं, किन्तु भगवान् के दर्शन से उत्पन्न हुई काम जनित विह्वलता के कारण उनके सब आभूषण अपने आप खिसक खिसक कर पृथिवी पर गिर पड़े। वस्त्रों और आभूषणों दोनों का उपयोग न रहने के कारण वस्त्र, आभूषण, केशपास और कंकण आदि सारे आभूषण शिथिल हो गए, नीचे गिर गए। चित्र में लिखी सी मूर्ति वाली उन सबकी सारी क्रियाएँ भी रुक गईं। पहले कही गईं की अपेक्षा इन के सारे व्यापारों का बन्द हो (रुक) जाना अधिक कहा है ॥१४॥

श्लोक—ततः पौरान् पृच्छमानो धनुषः स्थानमच्युतः ।
तस्मिन् प्रविष्टो ददृशे धनुरैन्द्रमिवाद्भुतम् ॥१५॥

श्लोकार्थ---तदनन्तर पुरवासियों ने धनुष भवन को पूछते हुए श्रीकृष्ण आगे पधारे और लोगों के द्वारा बताए हुए उस धनुष के स्थान में जाकर भगवान् ने वहाँ इन्द्र धनुष के समान एक बहुत बड़ा तथा विशाल विचित्र धनुष को देखा ॥१५॥

सुबोधिनी--एवमाधिभूतरूपाणां प्रपञ्चविस्मृतिमुक्त्वा आधिदैविकानामपि तथा प्रेरणाभावाय भयं वा प्रपञ्चविस्मृतिं वा जनयन् धनुर्भङ्गार्थं प्रवृत्त इत्याह ततः पौरान् पृच्छमान इति, सन्ति तत्र द्रष्टुमप्यागता जानपदाः तद्व्यावृत्त्यर्थं पौरा विशेषं जानन्तीति पृच्छमानः, कुत्र धनुर्यागो जायत इति, ननु धनुर्यागे कथं गच्छति भयस्थानत्वादित्याशङ्क्याह अच्युत इति,तेरुक्त इत्यर्थसिद्धत्वात् नोक्तम्, अथवा लोकानां भ्रमसिद्धयर्थमेव प्रश्नः, गुप्ततयैव हि सर्वं कर्तव्यमिति, एवं पृच्छमान एव तस्मिन् यागस्थाने प्रविष्टः धनुर्ददृशे, प्रायेणेदं धनुः उपास्यदेवतया स्थापितं यावदिदं धनुः स्थास्यति तावत् न तव पराजय इति, अन्यथा भगवान् तद्भङ्गं न कुर्यात्, सोपि मरणसंशये तदाराधन न कुर्यात्, यथा ऐन्द्रं धनुर्विचित्रं भवति महच्च तथैवैतदपि ततोप्यद्भुतम्, तदेकविधमेव भवति इदमनेकविधमिति, तत् तस्य प्राणभूतमिति ॥१५॥

लेख--'तद्दर्शन' इस श्लोक की व्याख्या में पूर्वापेक्षिया पद का तात्पर्य यह है कि पहले श्लोक में कहे गए वणियों की अपेक्षा अथवा पहले अड़तीसवें अध्याय में वर्णन की गईं स्त्रियों की अपेक्षा इन स्त्रियों में यह अधिकता थी कि इन के तो सारे ही काम रुक गए।

व्याख्यार्थ:—इस प्रकार से आधिभौतिक रूपवाले बनियों की तथा स्त्रियों की प्रपंच विस्मृति का वर्णन करके आधिदैविक रूप वाले धनुष के देवता तथा धनुष के रक्षकों को बिना किसी प्रेरणा के भय अथवा प्रपंचविस्मृति को उत्पन्न कराते हुए भगवान् धनुष को तोड़ने के लिए प्रवृत्त हुए, यह इस 'ततः पौरान्' श्लोक से निरूपण किया जाता है। यद्यपि वहां धनुर्याग को देखने के लिऐ गांवों के बहुत से लोग इकट्ठे थे, किन्तु उनसे न पूछ कर, भगवान् ने पुरवासियों से ही धनुर्याग जहां होगा, वह स्थान पूछा, क्योंकि पुरवासी ग्रामवासियों से ज्यादा जानते हैं। इसलिए उनसे ही धनुष का स्थान पूछ कर उसके भीतर पधारे।

धनुष की पूजा का स्थान तो भयानक होना चाहिए, भगवान् उसमें कैसे पधारे ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् अच्युत हैं और निर्भर हैं। उन पुरवासियों का भगवान् को दिया हुआ— उत्तर अपने आप अर्थ से समझ में आ जाता है, इसलिए उनके उत्तर को यहां अलग नहीं कहा है।

अथवा सारे काम गुप्त रहें, अपनी ईश्वरता प्रकट न होने दें, ऐसा ही करना चाहिए। लोगों के इस भ्रम को बना रहने देने के लिए भगवान् ने उनसे सब जानते हुए भी ऐसा प्रश्न किया। इस प्रकार पूछते हुए भगवान् ने धनुष की पूजा के स्थान में प्रवेश किया और वहां धनुष को देखा। ऐसा प्रतीत होता है कि कंस के इष्ट 'उपास्य-देवता' ने ही कंस से यों कह कर कि जब तक यह धनुष तेरे (कंस के) यहां रहेगा तब तक तेरी हार (पराजय) नहीं होगी, इस धनुष को कंस के यहां रक्खा होगा, क्योंकि ऐसा यदि होता तो भगवान् उस (धनुष) का भंग नहीं करते और कंस भी मरने के भय के समय उसकी पूजा नहीं करता।

यह धनुष इन्द्र के धनुष की तरह विचित्र और स्थूल (मोटा) था। इन्द्र के धनुष की अपेक्षा भी यह अद्भुत था, क्योंकि इन्द्र धनुष तो एक प्रकार का ही होता है और यह तो अनेक प्रकार का "अद्भुत" था ॥१५॥

लेख:—'ततः पौरान्' की व्याख्या में 'अधिभूतरूपाणां' इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है कि केवल देह के उपयोगी पान आदि के देने से बनिए और देह की विस्मृति के कथन से स्त्रियाँ आधिभौतिक हैं। देह की प्रधानता से ये आधिभौतिक हैं और इसीलिए श्लोक में "आत्मानं-आत्मा" शब्द की देह रूप से व्याख्या की है।

'आधिदैविकानां' आधिदैविकों का इत्यादि का तात्पर्य यह है कि जिस में देवता का आह्वान किया है, वह धनुष और हाथों में शस्त्र धारण करके उसकी रक्षा करने वाले धनुःरक्षकों तथा उन आह्वान किए हुए देवता जिन का आगे के 'पुरुषः' इस श्लोक में विचार किया जायगा, दोनों का ही भय तथा प्रपंच की विस्मृति दोनों उत्पन्न करने के लिए भगवान् ने धनुष तोड़ने के लिए प्रवृत्ति की।

'तथेति' यहां देवता और रक्षकों को भय तथा प्रपंच की विस्मृति कराने का प्रयोजन यह है कि भयभीत और प्रपंच को भूले हुए वे कंस को उसी समय भगवान् के साथ युद्ध करने के लिए प्रेरित न करें, क्योंकि यदि उसी समय कंस को युद्ध के लिए प्रेरित कर देते हैं तो भगवान् उसे उसी समय मार देंगे और तब तो कुवलयापीड़ और मल्लों के वध की लीला आदि न हो सकेगी।

श्लोकः—पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तमर्चितं परमर्द्धिमत् ।
वार्यमाणो नृभिः कृष्णः प्रसह्य धनुराददे ॥१६॥

श्लोकार्थः—बहुत से सिपाही उस समय स्मृद्धिशाली पूजनीय धनुष की रक्षा कर रहे थे । वे रक्षक रोकते ही रहे, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने लीलापूर्वक उस धनुष को बलात् (जबरदस्ती) उठा लिया ॥१६॥

सुबोधिनी--पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तं तद्रक्षकाः शस्त्रपाणयः देवताश्च दैत्यहितैषिणस्तदाह बहुभिरिति, किञ्च, तदर्चितं वस्त्रादिभिः अनेन देवतासान्निध्यमुक्तम्, अनुभावमप्याह परमर्द्धियुक्तमिति, ततो दर्शनार्थं गतो भगवान् अदृश्यः अन्तः प्रविष्टः सन् तद्धनुर्गृहीतवानित्याह **वार्यमाणो नृभिरिति**, सर्वैरेव **नृभिर्ग्रहणे वार्यमाणः कृष्णः** तदर्थमेवावतीर्णः **प्रसह्य** बलात् तान् दूरीकृत्य **धनुराददे** पूजास्थान पद्भ्यामाक्रम्य धनुर्गृहीतवान् ॥१६॥

व्याख्यार्थः—वह धनुष कंस का प्राणरूप था । इसलिए उसने बहुत से पुरुषों को उसकी रक्षार्थ नियुक्त कर रक्खे थे । वे रक्षक (सैनिक) लोग शस्त्रधारी तथा दैत्यों का हित चाहने वाले देवता थे । यह अर्थ बहुत से पुरुषों के द्वारा रक्षा किया गया "बहुभिः पुरुषैगुप्तं" इन पदों से प्रकट होता है । वह धनुष वस्त्र भूषणों से पूजा किया गया था इस विशेषण से उस [धनुष] में देवता की उपस्थिति और अलौकिक शक्तिवाला था, इस विशेषण से उस "धनुः" का अत्यधिक प्रभाव भी कहा गया है । फिर उस धनुष को देखने के लिए अदृश्य रूप से धनुर्गृह के भीतर पधारे हुए भगवान् ने कंस का वध करने के लिए ही जिनका अवतार है, सो सारे रक्षक पुरुषों के रोकने पर भी बल पूर्वक उन्हें हटाकर तथा अपने दोनों श्रीचरणों से उसकी पूजा के स्थान पर आक्रमण (चढ़) कर धनुष को उठा लिया (पकड़ लिया) ॥१६॥

श्लोकः—करेण वामेन सलीलमुद्धृतं सज्जं च कृत्वा निमिषेण पश्यताम् ।
नृणां विकृष्य प्रबभञ्ज मध्यतो यथेक्षुदण्डं मदकर्युरुक्रमः ॥१७॥

श्लोकार्थः—महा पराक्रमी गजराज जैसे ईख के दो टुकड़े कर डाले वैसे ही श्रीकृष्ण ने सब लोगों के सामने ही उस धनुष को लीलापूर्वक बाएँ हाथ से उठा लिया और उस पर डोरी चढ़ा कर खींच कर क्षण मात्र में बीच में से तोड़ डाला ॥१७॥

सुबोधिनीः—ग्रहणे प्रकारं वदन् भङ्गमाह **करेणेति**, धनुर्हि वामकरे एव स्थाप्यते दक्षिणेनापि गृहीत्वा अवहेलया दैत्यांशत्वाच्च वामेनैव ग्रहणं लीलयेति तेषां युद्धार्थं प्रवृत्त्यभावाय एवमपि **पश्यन्** यदि युद्धार्थं प्रवर्तते तदा भगवतो न कोपि दोष इति ज्ञापयितुं **सलीलमुद्धृतं सज्जं च कृत्वा निमिषेण** निमिषमात्रेण स्थितैव प्रत्यञ्चा, भङ्गभयावात् अग्रे नामितवान्, तथा करणमल्पेनापि कालेन भवति, **अनिमिषेण** वा **पश्यतां** सतां, ततो मध्ये धृत्वा **विकृष्य प्रबभञ्ज** मध्य एव यथा योजित न भवति, दृढमुष्टि बद्ध्वा गाढमाकृष्य पश्चात् मुष्टिमध्यशैथिल्ये धनुषो भङ्गो

भवति, अतस्तथा विकृष्य मध्यतः प्रबभञ्ज, प्रकर्षेण भङ्गः नावयवशः किन्तु खण्डद्वयप्रकारेण, आयासाभावाय दृष्टान्तमाह यथेक्षुदण्डमिति, दण्डपदेन शुष्कताऽप्युक्ता, मदयुक्तश्च करी जानास्यपि न, ननु दृष्टान्तमात्रेण न साध्यं सिध्यति किन्तु दार्ष्टान्तिके युक्तेन, तत् कथं बालेन धनुषो भङ्गोनायासेनेति चेत् तत्राह उरुक्रम इति ॥१७॥

व्याख्यार्थ:--"करेण वामेन" इस श्लोक से धनुष को पकड़ने का प्रकार बतलाते हुए उसका तोड़ना कहते हैं। धनुष जब चढ़ाया जाता है तब बाएँ हाथ में ही रक्खा जाता है। पिछले श्लोक १६ के अनुसार दाये हाथ से भी पकड़ कर धनुष का तिरस्कार प्रदर्शित करने तथा उसमें दैत्यों का अंश होने (रहने) के कारण से भी बाएँ हाथ से ही उसे पकड़ा। उसके रक्षक सिपाही युद्ध के लिए प्रवृत (तैयार) न होवें इस लिए उससे विशाल होने पर भी उसे लीला पूर्वक ही ऊंचा उठा लिया। उनके सामने ही यों लीला पूर्वक उठाने पर भी यदि कोई रक्षक युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है तो उसको मार देने में भगवान् का कोई दोष नहीं है, यह प्रदर्शित करने के लिए ही उसे क्रीडा पूर्वक उठाया और चढा लिया।

भगवान् ने उसे क्षणभर (पल मात्र) में चढा लिया। प्रत्यंचा (डोरी) उस में थी ही। डोरी को खींचते समय धनुष के टूट जाने के भय के न रहने के कारण उसे ऊपर के भाग से झुकाया जो थोड़े ही समय में झुकाया जा सकता है।

अथवा 'अनिमिषेण' मनुष्यों के एक टकटकी से देखते हुए भगवान् ने उसे उठा कर चढा लिया। फिर उसे बीच में से पकड़ कर खेंच कर दुबारा न जुड़ सके, इस प्रकार बीच के भाग में से ही तोड़ दिया। भगवान् ने दृढ़ (मजबूत) मुट्ठी से धनुष को खींच कर और फिर मुट्ठी के बीच के भाग को ढीला करके जैसा कि धनुष को तोड़ने के समय किया जाता है। धनुष को मध्य भाग से तोड़ दिया। अच्छी तरह से तोड़ देने का तात्पर्य यह है कि उसके टुकड़े-टुकड़े न करके केवल दो भाग कर दिए। यह सब कुछ करने में भगवान् को कुछ परिश्रम नहीं हुआ, यह बतलाने के लिए दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे मदोन्मत्त हाथी, बिना जाने ही सूखे ईख को सहज में तोड़ देता है, वैसे ही बिना परिश्रम ही तोड़ दिया (दो टुकड़े कर दिए)।

केवल दृष्टान्त देने से ही साध्य (सिद्ध की जाने योग्य) वस्तु की सिद्धि नहीं है, किन्तु दृष्टांत के विषय (दार्ष्टान्तिक) में उचित घटने पर ही साध्य वस्तु की सिद्धि हो सकती है। इसलिए बालक श्रीकृष्ण ने बिना परिश्रम के ही धनुष को कैसे तोड़ दिया ? ऐसी शंका में 'उरुक्रमः' लम्बी डग भरने (छलांग मारने) वाले ऐसा भगवान् का विशेषण दिया है। जैसा भगवान् ने वामन अवतार में किया था, वैसा ही यहां भी करके अनायास ही धनुष के दो टुकड़े कर दिए ॥१७॥

श्लोकः—**धनुषो भज्यमानस्य शब्दः खं रोदसी दिशः।**

पूरयामास यं श्रुत्वा कंसस्त्रासमुपागमत् ॥१८॥

श्लोकार्थः—उस धनुष के टूटने का प्रचण्ड शब्द सारे आकाश में (अन्तरिक्ष में) और दशों दिशाओं में गूंज उठा। उस भयानक शब्द को सुनकर कंस का हृदय भय के मारे कांप उठा ॥१८॥

सुबोधिनी:—तर्हि दैवगत्यैव भग्नमध्यं तद् भविष्यतीत्याशङ्क्य भङ्गस्य महत्त्वमाह **धनुषो भज्यमानस्येति**, शिथिलभङ्गे न महान् शब्द उत्तिष्ठति. ननु स शब्दः अन्यहेतुक एव तदानीं जातो भविष्यतीति तत्परिहारार्थमाह भज्यमानस्येति, वर्तमानप्रयोगेण तत एव शब्दोत्पत्तिरुक्ता, तेन सर्व एव स्वाश्रयः पूरित इति वक्तुं स्वं ब्रह्माण्डमध्यं रोदसी द्यावापृथिव्यौ चतस्रो दिशश्च पूरयामास, धनुर्भङ्गशब्द एव सर्वत्र श्रूयते नान्यशब्द इति, एतदल्पकालेनैव कृतमिति तेषां निवारणसामर्थ्यं न वृत्तं, पश्चात् शब्देनैव कियत्काल व्यापृताः, अतो धनुर्भङ्गो निष्प्रत्यूहो जातः, अस्य प्रयोजनं कंसभयजननमिति तत् जातमित्याह यं नादं श्रुत्वा कंसस्त्रासं महाभयमुपागमत्. निकट एव फलं प्राप्स्यामीति सन्त्रस्तो जातः ॥१८॥

व्याख्यार्थ:— तब तो वह देव गति से ही बीच में से दो टुकड़े होकर टूट गया होगा ? ऐसी शंका में उस धनुष के टूटने की महिमा का वर्णन इस 'धनुषो' श्लोक से करते हैं। वह धीरे से टूटता तो गम्भीर (भारी) शब्द नहीं होता। उस समय वह शब्द किसी दूसरे कारण से नहीं हुआ था, क्योंकि श्लोक में धनुष के टूटने से हुआ शब्द ऐसा लिखा है। "भज्यमान" यह वर्तमान काल में होने वाला "शानच्" कृदन्त के प्रयोग से ज्ञात होता है कि वह भारी शब्द धनुष के टूटने से ही हुआ था। उस शब्द ने धनुष के रहने के स्थान को भर दिया ऐसा कहने के लिए आकाश ब्रह्माण्ड के बीच का भाग (रोदसी) पृथ्वी तथा स्वर्ग और चारों दिशाओं को भर दिया यह बतलाया है। इसलिए सभी जगह उस धनुष के टूटने का शब्द ही सुनाई पड़ता था, अन्य कोई सा भी शब्द नहीं सुनने में आता था।

भगवान् ने इस धनुष को शीघ्र ही तोड़ दिया था—इसलिए वे धनुष के रक्षक लोग पहले रोक नहीं सके थे और तोड़ देने बाद तो उस शब्द से ही बहुत समय तक सन्न-आश्चर्य-में पड़ जाने के कारण से नहीं रोक सके। इसलिए धनुष का भंग (टूटना) बिना किसी रुकावट के हो गया। धनुष के तोड़ने का प्रयोजन कंस को भय उत्पन्न करना था और वह "कंस को भय" हो भी गया कि उस प्रचण्ड शब्द को सुनकर कंस अत्यन्त भयभीत हो गया। अब मैं निकट भविष्य में ही अपने कर्मों का फल पाऊंगा—ऐसा विचार कर वह बड़ा भयभीत हुआ ॥१८॥

श्लोक:—तद्रक्षिणः सानुचराः कुपिता आततायिनः ।
ग्रहीतुकामा आवव्रुर्गृह्यतां वध्यतामिति ॥१९॥

श्लोकार्थ:—उस धनुष की रक्षा के लिए वहाँ उपस्थित सेवकों सहित कंस के सैनिकों ने कुपित हो शस्त्रों को उठा कर श्रीकृष्ण को पकड़ने के लिए "पकड़ो मारो" कहते हुए चारों ओर से घेर लिया ॥१९॥

सुबोधिनी:—उभयत्र प्रतीकारार्थं प्रवृत्तानां निराकरणमाह **तद्रक्षिण** इति त्रिभिः, प्रथमं धनुःस्थान एव धनूरक्षकाः स्थिताः, ते भगवन्तं बलभद्रं गोपांश्च **ग्रहीतुकामाः कुपिताः** सन्तः अन्यायः कृत इति मूर्खाः **आततायिनः** शस्त्रपाणयो जाताः, ततः **आवव्रुः** वेष्टितवन्तः, तेषां मानसं कायिकं च व्यापारमुक्त्वा वाचनिकमाह **गृह्यतां वध्यतामिति**, ये गृहीतास्तेषां बन्धनमादिशन्ति ॥१९॥

व्याख्यार्थ:—'तद्रक्षिणः'इस श्लोक से आगे के तीन श्लोकों में भीतर धनुष की पूजा के स्थान में तथा बाहर पधारते समय दोनों स्थानों पर रोकने वाले रक्षकों को भगवान् ने हटा दिया, यह कहते हैं। पहले तो धनुष के घर में ही खड़े हुए धनुष के रक्षकों ने श्रीकृष्ण, बलदेवजी और गोपजनों को पकड़ने की इच्छा की। वे कुपित हो उठे और श्रीकृष्ण ने धनुष तोड़ दिया, यह अन्याय किया, ऐसा मानकर मूर्ख आततायी उन लोगों ने शस्त्र उठा लिए और श्रीकृष्ण आदि को चारों ओर से घेर लिया। इस प्रकार उन दुष्टों के मानसिक तथा शारीरिक बुरी चेष्टाओं का वर्णन करके वाणी से की हुई नीचता को कहते हैं। वे कहने लगे कि पकड़ो और पकड़े हुए को बाँध लो ॥१९॥

श्लोकः—अथ तान् दुरभिप्रायान् विलोक्य बलकेशवौ ।
क्रुद्धौ धन्वन आदाय शकले तांश्च जघ्नतुः ॥२०॥

श्लोकार्थ:—उन लोगों के बुरे भावों को जानकर और अपने चारों ओर आते देख कर क्रोध भरे श्रीकृष्ण, बलदेव ने धनुष के दोनों टुकड़े उठा लिए और उनसे ही उन सैनिकों को मारने लगे।

सुबोधिनी:—ततो भगवांस्तेषामतिक्रमं ज्ञात्वा नैतावतापि त्यक्ष्यन्तीति तेषां दुष्टमभिप्रायं ज्ञात्वा भिन्न प्रक्रमेण लीलां परित्यज्य आविष्कृतपौरुषौ गोपानां रक्षार्थं कंस च ज्ञापयितुं प्रवृत्तावित्याह अथ तानिति, बलो बलभद्रः ब्रह्मरुद्रयोरपि सेव्यः ततो महान् केशवः भक्तातिक्रमं ज्ञात्वा क्रुद्धौ जातौ, ततः साधनेनैव मारणीया इति तेपि शस्त्रपाणय इति यदेवैतावत्कालं पालितवन्तः तदेव तन्मारकं जातमिति ज्ञापयितुं धन्वनः शकले आदाय तान् चकारादन्यानपि दुष्टान् जघ्नतुः आधिदैविकदेवान् वा, धन्वन्शब्दोपि धनुर्वाचकः 'धन्वना गा धन्वना जि जयेमे'ति प्रयोगात् देशविशेषमपि वक्ति 'धन्वन्निव प्रपा अ'सीति ॥२०॥

व्याख्यार्थ:—तब भगवान् ने उनके विरोध को समझ कर और इतने होने पर भी ये नहीं मानेंगे, ऐसे उनके दुष्ट अभिप्राय को जानकर अन्य प्रकार से क्रीडा का त्याग करके अपना पुरुषार्थ प्रकट किया और गोपों की रक्षा करने और कंस को अपना ऐश्वर्य बतलाने में प्रवृत्ति की, यह इस 'अथ तान्' श्लोक से कहते हैं। बलदेवजी तथा ब्रह्मा और शिव के भी आराध्य (उनसे भी बड़े) केशव भगवान् ने उन रक्षकों को भक्तों पर किए हुए विरोध को जान कर, उन पर दोनों कुपित हो गए। यह सोच करके कि साधन के द्वारा ही मारना उचित है और वे शस्त्रधारी ही थे, इसलिए दोनों भाईयों ने धनुष के दोनों टुकड़ों को एक एक ने उठा लिया और यह बतलाते हुए कि जिसकी (तुम लोग) अब तक रक्षा कर रहे थे वह ही तुम्हारा नाश कर रहा है, उनसे ही उनको, दुष्टों को, औरों को तथा आधिदैविक देवताओं को भी मारने लग गए। धन्वन् शब्द धनुष का पर्याय वाची भी है, क्योंकि "धन्वना" धनुष से हमने पृथ्वी तथा अन्य लड़ाईयां जीती हैं और "धन्वन्निव प्रपा अ'सीति" रण में तू प्याऊ की तरह है,इस प्रयोग से धन्वन् शब्द देश विशेष वाचक भी होता है।२०।

श्लोकः—बलं च कंसप्रहितं हत्वा शालामुखात् ततः ।
निष्क्रम्य चेरतुर्हृष्टौ निरीक्ष्य पुरसम्पदः ॥२१॥

श्लोकार्थः—यह सब सुनकर कंस ने उन दोनों को पकड़ने के लिए बहुत सेना भेजी। कृष्ण-बलदेव ने उस सारी सेना को मार डाला। फिर वे उस धनुष भवन से बाहर निकल कर प्रसन्नता पूर्वक इधर उधर घूम कर नगरी का वैभव और शोभा देखते हुए सैर करने लगे ॥२१॥

सुबोधिनी:—एवं रक्षकान् देवान् नरांश्च हत्वा गमनार्थमुद्युक्तौ, तावता कोलाहले जाते कंसो बलं च प्रेषितवान्, एतद्हेलया तं च हत्वा निर्गतावित्याह **बलं** चेति, हस्त्यश्वरथपदात्यात्मकं **बलं** सेनां **हत्वा शालामुखात्** निष्क्रम्य युद्धावेशं परित्यज्य क्षणात् मनोहररूपावेव जातौ, अतः **हृष्टौ** सन्तौ **पुरसंपदो** निरीक्ष्य चेरतुः यथैताभ्यां धनुर्वार्तापि न ज्ञायत इति लोकप्रतीतिर्भवति, तत्र पूर्ववदेव स्त्रीणां पुरुषाणां च व्यवहारो जात इति न विशेष उक्तः ॥२१॥

व्याख्यार्थः—इस प्रकार उन धनुष की रक्षा करने वाले देवों तथा मनुष्यों को मार कर बाहर निकलने को तैयार हो गए। उसी समय इस कोलहाल को सुन कर कंस के द्वारा भेजी हुई सेना को भी सहज में मार कर दोनों ही बाहर निकले, यह इस 'बलं च' श्लोक से कहते हैं। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल, इस प्रकार कंस की भेजी हुई चतुरंगिणी सेना को मार कर धनुष के घर के द्वार से बाहर निकले और युद्ध के आवेश को त्याग कर, वे दोनों ही क्षणमात्र में पूर्ववत् मनोहर रूप वाले हो गए। इसलिए मानों इनको युद्ध का कुछ समाचार भी मालूम न हो ऐसे प्रसन्न होकर नगरी का वैभव और शोभा को अवलोकन करते हुए घूमने (विचरने) लगे। वहां नगरी में पुरुषों और स्त्रियों के (उनके दर्शन करके) पहले जैसे ही व्यवहार होने लग गए, इसलिए इसके विषय में विशेष नहीं कहा है।२१।

श्लोकः—**तयोर्विचरतोः स्वैरमादित्योस्तमुपेयिवान् ।**
कृष्णरामौ वृतौ गोपैः पुरात् शकटमीयतुः ॥२२॥
तयोस्तदद्भुतं वीर्यं निशम्य पुरवासिनः ।
तेजः प्रागल्भ्यं रूपं च मेनिरे विबुधोत्तमौ ॥२३॥

श्लोकार्थः—दोनों भाईयों के धनुष को तोड़ने के अद्भुत पराक्रम, तेज, ढिठाई और रूप को देख कर पुरवासियों ने समझा कि ये दोनों कोई श्रेष्ठ देवता हैं। कृष्ण और बलराम इस प्रकार गोपों के साथ स्वेच्छापूर्वक नगरी में घूमते फिरते रहे। इतने में सूर्यदेव अस्त हो गए और गोपों सहित दोनों भाई पुरी से लौट कर अपने डेरे में आ गए ॥२३,२३॥

सुबोधिनीः—एवं तयोर्महत्यानन्दे अग्रिमानन्दसिद्धयर्थं तयोर्विचरतोरेव सतोः सूर्योस्तंगत इत्याह तयोरिति, स्वैरं यथासुखं, अनेनामर्यादापि लीला निरूपिता, ये दैत्यांशास्ते मारिता, लुण्टिताश्च कंसहितैषिणः, स्त्रियश्चात्यन्तकामपीडिताः सन्तोषं प्रापिताः एवमनुग्रहनिग्रहात्मकं तु कुर्वाणौ विचेरतुरिति, तदा आदित्योस्तं गतः, भीत इति केचित्, भगवानपि निवृत्त इत्याह **कृष्णरामा**विति, अत्र मध्ये क्वचिदेकः श्लोकः अविगीत एव श्रूयते ॥२२॥

यदा बल हत्वा निर्गतो तदा लोकानां भगवदासक्त्यर्थं माहात्म्यज्ञानमपि वृत्तमित्याह तयोस्तदद्भुतं वीर्यमिति, तद्धनुर्भङ्गलक्षणं पराक्रमं, यत्रैव भगवन्तं पश्यन्ति तत्रैव पृष्ठतः प्रवृत्ता लोकाः एताभ्यां धनुर्भङ्गादिकं कृतमिति सर्वत्रैवाहुः, ततो निशम्य सर्व एव पुरवासिनः तेषां तेज शरीरकान्तिः, प्रागल्भ्यं प्रगल्भता, रूपं च कोटिकन्दर्पलावण्यं रूपं च दृष्ट्वा श्रुत्वा च, तो विबुधोत्तमो मेनिरे, यथा नन्दादयः प्रथमप्रकरणे 'गोपवृद्धाश्च गोप्यश्चे'त्यत्र, तामसास्तृतीये तत् ज्ञातवन्तः राजसास्तु द्वितीये ज्ञातुं युक्ताः प्रथमे निरूप्यत इति, विरोधमित्यपि केचित्, गोकुलचरित्रमपि श्रुतमित्यर्थादेतदपि द्वितीयं द्वितीये च वक्ष्यति मन्ये कृष्णं च रामं चे'ति, स्वापेक्षया देवा उत्तमाः तेभ्योऽप्येतावुत्तमाविति ब्रह्माण्डे सर्वोत्तमत्वमुक्तं भवति, गोपैः सहितो कृष्णरामौ पुरदर्शनं परित्यज्य शकटं शकटस्थानं यत्र नन्दादयस्तिष्ठन्ति तदीयतुः ॥२३॥

व्याख्यार्थ:—इस प्रकार प्रसन्नता पूर्वक घूमने वाले दोनों के आगे भी आनन्द की सिद्धि के लिए सैर करते करते ही सूर्य देव अस्त हो गए, 'यह इस' तयोर्विचरतोः' श्लोक से कहते हैं। स्वैरं इच्छानुसार इस पद से मार्यादा के विपरीत लीला को भी सूचित किया है। दैत्य के अंश वालों को मारा, कंस के हितैषियों को लूटा और काम से अत्यन्त पीड़ित स्त्रियों को सन्तोष दिया। इस प्रकार उनके कृपा रूप और दण्डरूप कार्य करते हुए सूर्य अस्त हो गया। यहां कई टीकाकार कहते हैं कि सूर्यदेव भयभीत हो कर अस्त हो गए। तब भगवान् भी अपने डेरे में आ गए। यहां कहीं इसी से मेल खाता हुआ-बीच में-एक श्लोक सुनने में आता है ॥२२॥

जब कृष्ण-बलराम सेना को मार कर धनुःशाला से बाहर पधारे, लोगों की भगवान् में आसक्ति होने के लिए उनको भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान भी हुआ। यह धनुष तोड़ना रूप भगवान् का पराक्रम है। फिर जहां जहां भगवान् पधारते, तहां तहां उनके दर्शन करने वाली जनता—इन दोनों ने धनुष को तोड़ा है—इस तरह सब जगह ही कहने लगी। उसको सुन कर और उन के तेज शरीर की कान्ति) की प्रगल्भता को और कोटी कामदेव को लज्जित करने वाले रूप को देखकर सभी नगरवासी उन को देवों में उत्तम मानने लगे, जैसे 'तामस-प्रमाण' में 'गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च' बूढे बूढे तामसी गोप गोपियों को "जन्म प्रकरण" से तीसरे तामस प्रमेय उप-प्रकरण में ज्ञान होना बतलाया है, वैसे ही इस दूसरे 'राजस प्रकरण' में ज्ञान प्राप्त करने योग्य राजस जीवों (अधिकारियों) को भगवान् के महात्म्य का ज्ञान दूसरे 'राजस प्रमेय उप-प्रकरण' में होना उचित था, किन्तु उन -राजसों-को तो इस प्रथम 'प्रमाण उप-प्रकरण' में ही (ज्ञान) होना कहा गया है। वास्तव में राजसों ने भी भगवान् के गोकुल में किए चरित सुने ही हैं। इसलिए दूसरा 'प्रमेय प्रकरण' ही है। आगे भी दूसरे प्रकरण में श्रीकृष्ण और बलदेव को (यहां पधारे हुए को) मैं देवोत्तम मानता हूँ, ऐसा कहेंगे।

कितने ही टीकाकार इस श्लोक को विरूद्ध मानते हैं, क्योंकि राजस जीवों को ऐसा ज्ञान इस प्रकरण में होना उचित नहीं है, इसलिए विरोध वाला है।

अपनी (मथुरावासियों की) अपेक्षा देव उत्तम हैं और उन देवों से भी ये दोनों उत्तम हैं, ऐसा कहेंगे। इस प्रकार यह कहा है कि सारे ब्रह्माण्ड में ये दोनों भाई सबसे उत्तम हैं।

तदनन्तर -सूर्य को अस्त हुआ देख कर- गोपों के सहित श्रीकृष्ण बलदेव पुरी को देखना छोड़ कर छकड़ों के स्थान पर, जहां नन्दरायजी आदि ठहरे थे, पधार आए ॥२३॥

श्लोक---गोप्यो मुकुन्दविगमे विरहातुरा या आशासताशिष ऋता मधुपुर्यभूवन् ।
सम्पश्यतां पुरुषभूषणगात्रलक्ष्मीं हित्वेतरान् नु भजतश्चकमेयनं श्रीः ॥२४॥

श्लोकार्थ---श्रीकृष्ण की यात्रा के समय विरह से व्याकुल गोपियों ने मथुरावासियों के सौभाग्य के विषय में जो कुछ कहा था -आशिषें चाही थीं- वह सब सत्य ही हुआ, क्योंकि स्वयं (लक्ष्मी) को भजने वाले अन्य देवों को भी छोड़ कर लक्ष्मीजी, जिनको अनन्य भाव से भजती हैं, उन पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के मनोहर श्याम स्वरूप की शोभा को उन्होंने देखा ॥२४॥

सुबोधिनी—एवं भगवच्चरित्रमुक्त्वा प्रमाणप्रकरणत्वात् तत्र प्रमाणमतिदिशन् माहात्म्यमाह **गोप्य** इति, मथुरायां तावदेव जातं यावत् गोपीभिरुक्तं, युद्धादिकं तु दोषनिवर्तकमिति न तत् निष्पन्नत्वेनोच्यते; अनेन गोपिकाः परित्यज्य तासु क्लिष्टासु कथमन्यत् कृतवानित्यपि दूषणं निराकृतं; यतस्ता एव या आशिषः आशासत ता एव सत्याः कर्तव्या इति भगवांस्तया कृतवान् तासामेव वचनप्रामाण्यार्थं, यतो भगवान् **मुकुन्दः** असत्यवचने मोक्षोपि दातुमशक्य इति, तत्रापि **मुकुन्दस्य विगमे** वियोगे उपस्थिते **विरहातुराः** सत्यः भगवता निरुद्धा इति द्वेषादिकमकृत्वा **आशिष एवाशासत**, ताभ्यो हितमपि कर्तव्यं तदभावे वाक्यं वा कर्तव्यमिति, अतस्ता एवाशिषः **मधुपुरि** मथुरायां सत्या जाताः तदपि भगवता कर्तव्यमिति न कृतं किन्तु अनुषङ्गादेव जातमित्याह **सम्पश्यता**मिति, पुरुषाणां **भूषणरूपस्य** मुकुटमणेर्भगवतः **गात्रलक्ष्मीं सम्पश्यता**मिति; 'अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्य'तीति 'सुखं प्रभाता रजनीय'मिति सामान्यविशेषाभ्यां ताभिर्यत् विचारितं तत् सत्यमेव जातमिति; ननु कथं स्त्रीणामेव वचनं सत्यत्वेन निरूप्यते नान्येषामित्याशङ्क्याह **हित्वे**ति, आदौ वाक् स्त्री, स्त्रीणां मूलभूतया लक्ष्म्या च भगवान् परिगृहीतः, अतः परिग्रहदार्ढ्यात् ता एवात्र प्रमाणं, **श्री**रितरान् ब्रह्मादीन् नु निश्चयेन भजतोपि सेवार्थमागतानपि **हित्वा** स्वास्यायनं स्थानभूतं यं **चकमे** अयमेव मम स्थानं भवत्विति, सैव सर्वा गोप्यः तासां च वाक्यमत्र सिद्धं, न त्वतिरिक्तं किञ्चित् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् के चरित्र का वर्णन करके इस प्रकरण के 'प्रमाण' प्रकरण होने के कारण भगवान् के चरित में प्रमाण देते हुए भगवान् के माहात्म्य का निरूपण इस 'गोप्यः' श्लोक से करते हैं। वहां गोकुल में गोपियों ने जो कुछ जितना भी कहा था, उतना ही सब यहां मथुरा

लेख—'तयोस्तदद्भुतं' इस श्लोक की व्याख्या में 'तामसास्तृतीये' पदों का तात्पर्य यह है कि जन्म प्रकरण को लेकर तृतीय प्रकरण गिनने पर 'तामस प्रमेय प्रकरण' है।

में हुआ। युद्ध आदि तो दोष को दूर करने वाले है, इसलिए उनका वर्णन सिद्ध होना- रूप से नहीं मान कर नहीं किया है। इस कथन से इस दोष की भी निवृत्ति हो गई कि भगवान् ने गोपियों का त्याग करके और उनके दुःखित रहते हुए दूसरा काम क्यों किया ? क्योंकि गोपियों की ऐसी चाही हुई आशिषों को सत्य करना ही चाहिए था। इसलिए उनके ही वचनों को सत्य करने के लिए भगवान् ने वैसा किया, क्योंकि भगवान् मुकुन्द (मोक्षदाता) हैं और यदि गोपियो के वचन सत्य न हो, तब तो उनको भगवान् मोक्ष, असत्यवादी होने के कारण नहीं दे सके। इसी कारण से गोपियों के दुःखित रहते हुए भी अन्य कार्य किए-हैं-थे।

भगवान् ने उन गोपियों को निरोध सिद्ध कर दिया था। इसलिए उस समय भी (भगवान् मुकुन्द का वियोग होने पर भी) उन्होंने मथुरा नगर की स्त्रियों के साथ ईर्ष्या, द्वेष न करके उनका हित चाह और साक्षात् हित करने में असमर्थ के कारण वाणी के द्वारा ही उनको आशिषें (मङ्गल कामनाएँ) चाहीं वे आशिषें ही उन पुरवासियों के लिए मथुरा में फलीभूत (सफल) हुई। उनकी वे आशिषें भी भगवान् को ही सत्य करनी चाहिए थी, किन्तु भगवान् ने उन्हें सत्य नहीं किया। वे तो आनुषङ्गिक पुरुषों के भूषण (मुकुट मणि रूप) भगवान् के श्रीअङ्गों की शोभा निरखने वाले उन लोगों के लिए ही फलीभूत हो गई। "आज वहाँ अवश्य [निश्चय] ही दृष्टि को बड़ा उत्सव होगा [१०।३६।२४], मथुरा नगर की स्त्रियों के लिए इस रात्रि का प्रभात अच्छा होगा" इस प्रकार से गोपियों ने सामान्य रीति और विशेष रूप से जो विचार किया था, वह सत्य -सफल- ही हुआ।

औरों के वचन की सत्यता का वर्णन न करके स्त्रियों के ही वाक्यों का इस प्रकार सत्य होना कैसे निरूपण किया ? इसका उत्तर श्लोक के चौथे चरण से देते हुए कहते हैं कि पहले तो 'वाणी' शब्द ही स्त्रीलिंग है और स्त्रियों का मूल रूप 'लक्ष्मीजी' भगवान् की पत्नी हैं। इसलिए स्त्री पक्ष की दृढ़ता के लिए स्त्रियाँ ही इस विषय में मुख्य प्रमाण हैं। उन लक्ष्मीजी ने अपनी (लक्ष्मीजी की) सेवा के लिए निश्चय रूप से स्वयं आए हुए अन्य ब्रह्मादि देवों को छोड़ कर भगवान् को ही अपने रहने का स्थान बनाया है। यह ही मेरे रहने का स्थान हो, ऐसे चाहा है। वे लक्ष्मीजी ही सारी गोपियाँ हैं। उनके सारे ही वाक्य यहाँ सफल हुए हैं और कुछ नहीं हुआ है ॥२४॥

श्लोक—अवनिक्ताङ्घ्रियुगलौ भुक्त्वा क्षीरोपसेचनम् ।
ऊषतुस्तां सुखं रात्रिं ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितम् ॥२५॥

लेख—'गोप्यो मुकुन्दविगमे' इस श्लोक की व्याख्या में 'आदौवाक्' इत्यादि का तात्पर्य यह है कि पहले तो वाणी शब्द ही स्त्रीलिंग है। इसलिए उन गोपीजनों की वाणी की ही सत्यता का निरूपण किया है। उनके कार्य की सफलता नहीं कही है, क्योंकि उन्होंने भगवान् को मथुरा जाने से रोकना रूप कार्य किया था, यदि वह कार्य सत्य होता तो भगवान् मथुरा पधारते ही नहीं। इसलिए उनकी कृति सत्य नहीं होने से भगवान् रुके नहीं, मथुरा पधार ही गए। अतः उनकी वाणी ही सत्य हुई, अन्य उनका कार्य सत्य नहीं हुआ, ऐसा अर्थ है।

श्लोकार्थ—वहाँ जाकर श्रीकृष्ण बलदेव दोनों ने हाथ पाँव धोए और दूध मिला अन्न, खीर आदि का भोजन किया । फिर कंस के वाञ्छित कार्य को -जिसे वह करना चाहता था- जान कर रात सुख पूर्वक बिताई ॥२५॥

सुबोधिनी--अवमोचनं गतस्य भगवतश्चरित्रमाह अवनिक्तमङ्घ्रियुगल याभ्यां क्षीरमुपसिच्यते अस्मिन्निति क्षीरोदनं पायसं वा पृथुका वा पक्वान्नविशेषे वा क्षीरस्योपसेचनं यथा भवति तथा वा, प्रथमतो नगरगमने क्षीरोदनभोजनं मुख्यमिति यथा गमने दध्योदनभोजनं,लघुपाकार्थं वेति केचित्. ततस्तां रात्रिं सुखमूषतुः अन्यत्रासुखं वक्तुं भगवति विद्यमानसुखस्यानुवाद उक्तः, ननु पितरौ बद्धौ अमोचयित्वा कथं सुखमूषतुस्तत्राह ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितमिति कंसस्य चिकीर्षितं ज्ञात्वा, कंस एव तत् करिष्यति किमित्यस्माभिः क्लिष्टं कर्तव्यमिति; यथैतावान् कालः वसुदेवपुत्रत्वं सङ्गोप्य नीतः एवमियमपि रात्रिः सङ्गोप्यान्यथा नन्दादीनां क्लेशो भवेत्, व्यवहारोऽपि शत्रुं हत्वैव शत्रुपरिगृहीतं ग्राह्यं अन्यथा चौर्यं स्यात्, अतः स्ववधार्थं कंस एव यत्नं करिष्यतीति निश्चित्य सुखमूषतुः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—डेरे में पधार कर भगवान् ने जो कार्य किया, उसका वर्णन इस 'अवनिज्य' श्लोक से करते हैं । अपने दोनों चरणों को धो कर फिर उन दोनों भाईयों ने दूध मिला भात, दूध भात-क्षीर-यथा दूधपाक अथवा दूध और पूए अथवा दूध में सिद्ध-पका-हुआ विशेष प्रकार का अन्न अथवा दूध से साने हुए अन्न का भोजन किया । जैसे अन्य गांव जाते समय दही चावल खा कर जाया करते हैं, उसी प्रकार पहले पहल नगर में जाकर आने पर दूधभात का भोजन मुख्य होता है । कई टीकाकारों ने हल्का भोजन दूध भात का किया,ऐसा अर्थ किया है । फिर उस रात्रि को सुख पूर्वक व्यतीत किया । इस कथन से कंस में रहने वाली बेचेनी और भगवान् में विद्यमान आनन्द-सुख-का अनुवाद किया है ।

माता पिता के बन्धन में पड़े रहते, उनको छुड़ाए बिना सुखपूर्वक कैसे रह सके ? ऐसी शंका के उत्तर में कहते है कि कंस के अभिप्राय को जानकर सुखपूर्वक रात बिताई ।

तात्पर्य यह है, कि भगवान् यह विचार कर-कंस ही वैसा कार्य करेगा, क्लेशदायक काम हम क्यों करें? सुखपूर्वक रहे और जिस प्रकार इतना समय छिपा कर-अपने को वसुदेव देवकी का पुत्र प्रकट न करके बिताया; वैसे ही यह रात भी बिना वसुदेवपुत्रत्व प्रकट किये ही बिताई, क्योंकि ऐसा प्रकट कर देने पर नन्दरायजी आदि को क्लेश हो जाता और ऐसा व्यवहार नियम) भी होता है कि पहले शत्रु को मार कर ही फिर अपने पदार्थ लोटाने चाहिए । यदि शत्रु को बिना मारे ही अपनी चीजें ले जाते हो तो वह चोरी मानी जाती है । इस लिए कंस ही अपने वध के लिए स्वयं उपाय कर लेगा, ऐसा निश्चय करके कृष्ण बलदेव ने सुख से रात बिताई ॥२५॥

श्लोक—कंसस्तु धनुषो भङ्गं रक्षिणां स्वबलस्य च ।
वधं निशम्य गोविन्दरामविक्रीडितं परम् ॥२६॥

दीर्घप्रजागरो भीतो दुर्निमित्तानि दुर्मतिः ।
बहून्यचष्टोभयथा मृत्योर्दौत्यकराणि च ॥२७॥

श्लोकार्थ — कंस ने जब सुना कि श्रीकृष्ण ने लीला पूर्वक धनुष को तोड़ डाला, साथ ही धनुष के रक्षकों को और अपनी भेजी हुई सेना को भी मार डाला, तब उसे अपार भय और आशङ्का के कारण चिन्ता ने आ घेरा और दुर्बुद्धि के शिकार बने उसको रात भर नींद नहीं आई । उसको सोते और जागते में भी मृत्यु की सूचना देने वाले अनेक अशकुन दिखाई पड़ने लगे ॥२६,२७॥

सुबोधिनी – एवं भगवच्चरित्रमुक्त्वा अग्रिमचरित्रसिद्ध्यर्थं कंसस्य वृत्तान्तमाह कंसस्त्विति, रात्रौ कंसस्य महती अनिवृं तिर्जाता, आदौ निद्राभावः, निद्रायामपि दुःस्वप्नादिकमिति, एवं मरणनिश्चायकानि ज्ञात्वा पुनः मरणार्थमेव प्रवृत्त इति भगवतोक्लिष्टकर्मत्वार्थमिदमुपाख्यानमुक्तवान्, आदौ निद्राभावे हेतुमाह, तुशब्द सुखात्मकतां व्यावर्तयति अग्रे कंसस्य दुःखमेवेति ज्ञापयितुं, धन्वनो धनुषो भङ्गं श्रुत्वा रक्षिणां स्वबलस्य च वधं श्रुत्वा एतदपि गोविन्दस्य रामस्य च विक्रीडितत्वमात्रं श्रुत्वा परमुत्कृष्टं विक्रीडितं, परमित्यर्थविशेषे वा ॥२६॥ दीर्घप्रजागरो जातः, प्रकृष्टो जागरः बहिर्विक्षेपव्याहतः, न केवलं प्रजागरणमात्रं किन्तु भीतोपि जातः, अन्तःकरणमेव तस्यादौ मरणं सूचयति, एवमपि न भगवन्त प्रपद्यत इति दुर्मतित्वात्, दुर्निमित्तानि दुष्टनिमित्तानि अवश्यंभाविमरणसूचकानि बहून्येव व्यचष्ट, अनेन द्वेषेणापि भगवन्तं चिन्तयन् कथं दुर्निमित्तानि दृष्टवानिति परिहृतम्, यतो दुर्मतिः भगवत्यनिष्टं भावयति तच्चात्मने फलतीति, बहूनि बहुविधानी, प्रकारबहुत्वमत्र विवक्षितं उभयथा यो मृत्युः स्वस्वकीयविषयः ऐहिकपारलौकिकविषयो वा, परलोकोपि न भविष्यतीति, भयोत्पादनार्थं तथा दृष्टानि, उभयथा स्वप्नजागरितानीति वा, नन्वेतानि किमिति दृश्यन्ते तत्राह मृत्योर्दौत्यकराणीति, मृत्युरत्रागमिष्यतीति दूतवत् बोधयन्ति चकारात् स्वतोपि भयानकानि ॥२७॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् के चरित्रों का वर्णन करके उनके आगे के-भावी-चरित्र की सिद्धि-हो सकने के लिए कंस के वृत्तान्त को'कंसस्तु'इस श्लोक से आरम्भ करके कहते हैं । प्रथम तो कंस को रात में नींद ही नहीं आई और आई तो भी उसमें बुरे बुरे स्वप्न आए। इस प्रकार उसको बड़ी व्याकुलता हुई । मृत्यु का निश्चय करा देने वाले खोटे खोटे सपनों के आने पर भी वह मरने के लिए ही फिर प्रवृत्ति करने लगा, इस प्रकार के इस उपाख्यान को श्री शुकदेवजी ने भगवान् अक्लिष्टकर्मा हैं, यह सूचित करने के लिए कहा है।

पहले उसको नींद न आने का कारण कहते हैं कि आगे उसे दुःख ही दुःख होना है, यह श्लोक में 'तु तो' शब्द से सूचित होता है। धनुष के भंग को, धनुष के रक्षकों का और अपनी भेजी हुई भारी सेना के नाश को सुन कर तथा यह भी सुन कर कि ये सब काम श्रीकृष्ण-बलदेव ने खेल में ही किए हैं, कंस अत्यन्त भयभीत हो गया। पर यह सब उनका उत्तम खेल था। अथवा (परम्) यह पद (विशेष) अर्थ का सूचक भी है। ॥२६॥

यह सब सुनकर कंस को बाहर भारी व्याकुलता हुई और बड़ी देर तक नींद नहीं आई। केवल प्रजागरण ही नहीं हुआ, किन्तु वह भय से काँप ही उठा। सबसे पहले तो उसके अन्तःकरण ने ही उसको उसके मरण की सूचना दे दी थी और फिर अनेक प्रकार के बुरे बुरे बहुतेरे सपने भी आने लगे थे, किन्तु फिर भी दुष्ट बुद्धिवाला वह भगवान् की शरण में नहीं गया। यद्यपि द्वेष से भी भगवान् का चिन्तन करने वाले को दुःस्वप्न नहीं आने चाहिए किन्तु वह तो दुष्ट बुद्धिवाला था। वह भगवान् का अनिष्ट चिन्तन करता (सोचता) था और वह अनिष्ट (बुरा) उसी का होता था। दोनों प्रकार की मृत्यु कहने का तात्पर्य यह है कि कंस की और उसके पक्षपाती साथियों की अथवा इसलोक और परलोक सम्बन्धी मृत्यु ने इस कथन से यह सूचित किया कि ऐसी मृत्यु जिसमें उसे परलोक भी मिलेगा। उसको डराने के लिए ही उसे वे बुरे बुरे सपने दिखाई देने लगे। उभयथा-दोनों प्रकार से अर्थात् सोते भी और जागते भी खोटे सपने आने लगे। ये खोटे सपने मृत्यु के दूतों की तरह थे, जो कंस को खबर देते थे कि तेरी मौत तेरे पास आएगी और इसको डराते भी थे ॥२७॥

श्लोक—अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपे च सत्यपि ।
असत्यपि द्वितीये च द्वैरूप्यं ज्योतिषां तथा ॥२८॥

श्लोकार्थ—कंस ने जागते में देखा कि जल आदि में उसकी परछाई तो दीख पड़ती है, किन्तु उसमें उसका सिर नहीं दीख पड़ता है। बीच में किसी की आड न होने पर भी दीपक, सूर्य, चन्द्र आदि एकाएक ज्योति के दो दो रूप उसे दीख पड़ने लगे ॥२८॥

सुबोधिनी—जागरितान्याह **अदर्शनमिति**, सप्तविधानि मृत्युरपि भगवानिति. प्रतिबिम्बे दर्पणादौ **स्वशिरसः अदर्शनं** ग्रीवापर्यन्तमेव **प्रतिरूपं** दृश्यते चकारात् प्रत्क्षेपि, नासिकादिमुखभावो यो दृश्यते सोपि न दृश्यत इति, तर्हि तस्यैवाभाव इति चेत् तत्राह **सत्यपीति**, स्पर्शादिना बहिर्ज्ञायते अन्यश्च प्रतिबिम्बो दृश्यत इति, चक्षुर्हि ज्ञानात्मकं, तत् आत्मानमेव गृह्णाति स्वप्रकाशत्वात् विषयदोषासम्भवात् च, तथा सति भगवानेव दृश्यते सर्वत्र, यत्र पुनः येनांशेन तिरोधत्ते तत् क्रियया सदपि ज्ञानविषयत्वेन न सत् भवति, तत्र देहे ग्रीवान्तं क्रियाप्रधानं ज्ञापनार्थं ज्ञानांशेनैव तिरोहितः न तु संदेशेन, अग्रे क्रियायाः कर्तव्यत्वात्. अनेन मरणं निर्धारितं न तु कृतं इति बोधितं. द्वितीयमाह **असत्यपि द्वितीये च द्वैरूप्यमिति**, भगवानेक एव सर्वत्र, यदा प्राणी कालाभिमुखो भवति तदा **द्वितीयः** कालो भासते, तदत्र सूचयति द्वितीयः समागत इति, तृतीयमाह **ज्योतिषां तथेति**, ज्योतिषामपि **द्वैरूप्यं** दृश्यते, दीपचन्द्रनक्षत्रादीनामेकस्मिन् दीपे अक्षिनिकोचनादिव्यतिरेकेणापि दीपद्वयप्रतीतिः, ज्योतिर्ह्यधिदैविकं रक्षकं तदपि कालव्याप्तं जातमिति ज्ञापितं अतिदेशेन ॥२८॥

व्याख्यार्थ:—जगते रहने की स्थिति में जिन बुरे शकुनों को कंस देखता था उनका वर्णन इस 'अदर्शनं' श्लोक से करते हैं। जागते में दिखाई देनेवाले अपशकुन सात प्रकार के हैं, क्योंकि मृत्यु भी भगवान् है, जो छः धर्म और सातवें धर्मी रूप से सात प्रकार के हैं।

कांच आदि में पड़ी हुई अपनी परछाया में अपने सिर का न दिखाई देना, केवल गर्दन तक

का ही सामने का भाग दिखाई देना, इसी तरह प्रत्यक्ष में भी नाक, कान आदि मुख भागों का, जो दिखाई देते हैं,न दिखाई देना, सिर के होते हुए भी स्पर्श आदि के द्वारा बाहर सिर के जाने जाने पर भी और दूसरे अगों के दिखाई देने पर भी केवल सिर नहीं दिखाई पड़ना, नेत्र ज्ञान रूप और स्वयं ही प्रकाश वाले हैं, दूसरे पदार्थों में दोष होना सम्भव होने के कारण वे (नेत्र) अपने अपने को ही देखते हैं। इस प्रकार से सब जगह भगवान् के ही दर्शन होते हैं, किन्तु जहां कहीं भगवान् अपने जिस अंश से तिरोहित (छिपे) होते हैं, वहां क्रियारूप से उस अंश के रहते हुए भी वह अंश ज्ञान का विषय (प्रत्यक्ष नहीं होता) दिखाई नहीं देता है।

कंस के शरीर में मुख्य रूप से कण्ठ तक का भाग क्रिया वाला है, यह बतलाने के लिये ज्ञान का अंश कण्ठ से ही भगवान् तिरोहित होते हैं, किन्तु भविष्य में क्रिया करना है, इसलिये सत् अंश से तिरोहित नहीं होते हैं। इस कथन से यह प्रदर्शित किया है कि कंस का वध करना तो निश्चित कर रखा है, किन्तु अभी (वध) नहीं किया।

(२) मृत्यु का दूसरा स्वरूप यह है कि दूसरा रूप न होते हुए एक वस्तु के दो रूप दिखाई देना, यह दूसरा अपशकुन है। जब प्राणी काल (मृत्यु) की तरफ जाता है, तब उसको दूसरा रूप काल ही दिखाई देता है, क्योंकि भगवान् तो सब जगह एक रूप ही हैं। इस लिए कंस को दो रूप दिखाई पड़ने से यह सूचित किया है कि उसका काल आ गया है।

(३) इसी तरह से ज्योतियों के भी दो रूप दिखाई देने लगने के कारण तीसरा अपशकुन कहा गया है। दीपक, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि भी कंस को दो दो दिखाई देने लगे। यद्यपि आंख के संकोच करने पर तो एक दीपक के दो दीपक और अधिक भी दिखाई दे देते हैं, किन्तु आंख के संकोच के बिना किये ही एक दीपक, चन्द्र आदि के दो दो दीपक, चन्द्रमा आदि दृष्टि में आने लगे। ज्योतिगण आदि दैविक रक्षक (रक्षा करने वाले) हैं, किन्तु वे भी दूसरे अपशकुन की तरह तीसरा अपशकुन बन कर काल (मृत्यु) से व्याप्त हो गया। (घिर गया) ऐसा प्रतीत होने लगा गय ॥२८॥

श्लोक—छिद्रप्रतीतिश्छायायां प्राणघोषानुपश्रुतिः ।
स्वर्णप्रतीतिर्वृक्षेषु स्वपदानामदर्शनम् ॥२९॥

श्लोकार्थ— (४)कंस को अपनी परछाई में छेद दिखाई देने लगे,(५)प्राणघोष भी; कानों में अँगुली डाल कर जो शब्द सुनाई देता हैं वह भी, उसको सुनाई नहीं पड़ने लगा, (६) कंस को सारे वृक्ष सोने के दिखाई देने लगे, (७) धूल, कीचड़ आदि में उसको अपने पैरों के चिन्ह नहीं दिखाई पड़ने लगे ॥२९॥

सुबोधिनी—तत्राप्येकदेशाप्रतीतिरपि चतुर्थमाह छिद्रप्रतीतिरिति, छायायां मध्ये छिद्रं प्रतीयत इति पुरुषोयं भगवानिति ज्ञापयितुं, प्रतिच्छाया भवति पुरुषाकृतिः, तं केचित् तेजोभावमाहुः, सर्वत्र विद्यमानं पुरुषव्यवधानात् तावद्दूरे न दृश्यत इति, तथा सच्चिदानन्दोपि तिरोहित इति प्रपञ्च एव तत्तदाकारेण भासत इति, वस्तुतस्तु छायापुरुषो भिन्नो भगवद्रूपस्तत्र जीवं चेत्

निष्कासयेत् तदान्यत्रापि निर्गतो भविष्यति जीव इति ज्ञानवत् छायापुरुषेऽप्यर्धतिरोधानं जीवांशस्यैव, आध्यात्मिकी व्यवस्थैषा त्रिविधा, आधिभौतिकी पूर्वं निरूपिता, तत्रेयं तामसी, प्राणघोषो राजसः, पीतप्रतीतिश्चाक्षुषी सात्त्विकीति, प्राणस्य क्रियैव प्रधानमिति तस्याः कार्यं निवर्तितं, इतो भगवान् क्रमशो निवृत्तव्यापारो भविष्यतीति ज्ञापनार्थं सामिकार्याणि निरूप्यन्ते, प्राणघोषस्य कर्णपिधानेपि अनुपश्रुतिः, वृक्षेषु सर्वत्र स्वर्णप्रतीतिः वृक्षा हि दारुरूपाः, अग्नेश्च रेतः सुवर्णं, तेषु यद्यग्निः तदा सर्वाभावः अग्नेः रेत एव तेषु दृष्टमित्यर्धनाश एव बोधितः, आधिदैविकमाह स्वपदानामदर्शनमिति, स्वस्य पादानां भूमौ स्थापितानामदर्शनं, भूमिर्देवता न व्यक्तयतीति तत्पदानि भूमौ नाभिव्यक्तानि भवन्ति।
॥२९॥

व्याख्यार्थ—(४) परछाई में एक भाग का न दिखाई देना रूप चौथे बुरे शकुन का वर्णन इस 'छिद्रप्रतीति' श्लोक से करते हैं। कंस को उसकी परछाई में काला छेद दिखाई देने लगा। पुरुष भगवद्रूप है ऐसा बताने के लिये परछाई पुरुष के आकार जैसी होती है। सब जगह रहने वाला तेज (प्रकाश) के बीच में आ जाने के कारण उतनी दूर तक नहीं दिखाई देता। इसलिए परछाई को कितने ही विद्वान् तेज का अभाव रूप मानते हैं। वैसे ही भगवत्स्वरूप पुरुष के सत्, चित, आनन्द धर्मों के भी छिप जाने से प्रपंच (जगत् के पदार्थ) ही भिन्न भिन्न आकार में दिखाई देते हैं, ऐसा उनका मत है।

वास्तव में तो छाया पुरुष एक भिन्न भगवान् का रूप है। यदि उस मूल पुरुष में जो जीव को बाहर निकाल दिया जाय तो परछाया में दिखाई देनेवाले पुरुष में से जीव निकल जाता है। इसलिए जिस प्रकार पुरुष में से जीव के निकल जाने से ज्ञान नष्ट हो जाता है उसी प्रकार परछाई में दिखाई देने वाले पुरुष का भी जीव का ही अंश रूप आधा शरीर का भाग छिप जाता है। यह आध्यात्मिक व्यवस्था तीन प्रकार की है। तीन प्रकार की आधिभौतिक व्यवस्था को ऊपर के श्लोकों में बुरे शकुन द्वारा कह आये हैं। तीन प्रकार की उस आध्यात्मिक व्यवस्था में यह चौथा अपशकुन, तामसी-व्यवस्था का है।

(५) प्राण का शब्द सुनने में नहीं आना, यह राजस है। प्राण में क्रिया ही मुख्य है, इसलिए उस क्रिया का कार्य प्राण के शब्द का सुनना बन्द कर (रोक) दिया। भगवान् कंस में से धीरे धीरे अपनी सारी क्रियाओं को रोकने वाले हैं और रोकेंगे ही यह बतलाने के लिए उसके सम्बन्ध में होने वाले आधे आधे कामों को निरूपण किया है।

बाहर के शब्द बाधक न हों, इसलिए दोनों कानों को दोनों हाथों की एक एक अंगुली से बन्द कर देने पर भीतर सुनाई देने वाला प्राणघोष-अनाहत(अनहद)नाद-कंस को अब सुनाई नहीं देता था। (६) कंस को वृक्षों में सब जगह सुवर्ण दिखाई पड़ता था। वृक्ष काष्ठरूप हैं और सुवर्ण अग्नि का वीर्य है। यदि वृक्षों में अग्नि दिखाई देने लगे, अग्नि का वीर्य सुवर्ण दिखाई देने लगे तो सर्व नाश ही समझना चाहिए; इस प्रकार के कथन से कंस का आधा नाश तो हो चुका, ऐसा सूचित किया है।

(७) अपने पाँवों के चिन्ह कंस को नहीं दिखाई देना कह कर आधिदैविक व्यवस्था का निरूपण किया है। भूमि पर धूल अथवा कीचड़ में पड़े हुए अपने पाँव कंस को नहीं दिखाई देने लगे

थे । भूमि देवता ने उसका त्याग कर दिया था, इसलिए उसके पैर के चिन्ह भूमि पर नहीं पड़ते थे ।।२६।।

श्लोक—स्वप्ने प्रेतपरिष्वङ्गः खरयानं विषादनम् ।
यायात् नलदमाल्येकस्तैलाभ्यक्तो दिगम्बरः ।।३०।।

श्लोकार्थ—सोते में स्वप्न में कंस ने देखा कि प्रेत उससे लिपट रहे हैं । वह गधे पर नङ्गा सवार है, सिर से पैर तक तेल से नहाया हुआ है, गले में दुपहरिया के फूलों की माला पहने है और विष खा रहा है । इस प्रकार के बुरे बुरे शकुन कंस को दिखाई देने लगे ।।३०।।

सुबोधिनी—एवं जागरितानि निरूप्य अवस्थान्तरेपि दुर्निमित्तानि निरूपयति, अन्यथा मृतप्रायो व्याधितो वा जीवेत्,तान्यपि सप्तविधानि, **प्रेतस्य परिष्वङ्गः** श्मशाने पतितः शवः कंसे गते तदालिङ्गनं करोति तस्य मित्रमयमपि भविष्यतीति, प्रेतानां वा मृतानां समालिङ्गनं साधु समालिङ्गनं समागतोसीति, खरयानमिति, गर्दभारूढमात्मानं पश्यति, काली हि तामसी शक्तिः मृत्युदेवता, तस्या वाहनं गर्दभः, सा स्वयानं प्रेषितवतीति, रासभेन भ्रम'तीति वाक्यात्. विषभक्षणं आधिभौतिकं, एतत् त्रयं सत्त्वरजस्तमोरूपं, प्रेतानामालिङ्गनमेव न तु प्रेतत्वं, गर्दभेन गमनमात्रं न तु यमपुरीप्रवेशः, विषस्य भक्षणमेव न तु मरणमिति, तामिकार्याणि पुनस्त्रिविधान्युक्त्वा धर्मिणमपि चतुर्थमाह **यायादिति**, नलदमालायुक्तमात्मानं दृष्टवान्, महाराजोप्येकाकी यायादिति, आशंसितमेतदिति ज्ञापनार्थं लिङ्प्रयोगः, तैलाभ्यक्तं चात्मानं पश्यति, एकत्वं तामसमिति, **दिगम्बर** इत्याधिदैविकं, सर्वदेवतामयेन वाससा त्यक्त इति, 'सर्वदेवत्यं वास' इति श्रुतेः, क्रिया पुनः या अन्ते निरूपिता सा तस्य गमननिर्धारं कारयति ।।३०।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार जगते रहने की स्थिति में देखे हुए खराब शकुनों को कह कर सोते समय स्वप्न में भी दिखाई देने वाले अपशकुनों का निरूपण इस 'स्वप्ने' श्लोक से करते हैं । जागते समय में दिखाई देने वाले बुरे शकुन जैसे धर्म और धर्मी रूप से सात प्रकार के बतलाए हैं वैसे ही सपने में दिखाई देने वाले अपशकुन भी सात प्रकार के ही हैं ।

(१) प्रेत का आलिंगन, श्मशान में पड़े हुए मुर्दे का आलिंगन, कंस जब वहां (श्मशान) पर जायगा तब कस भी उनका मित्र बनेगा; इस विचार से करे अथवा मुर्दे मरे हुए कंस का(भले आए) कह कर स्वागत करके आलिंगन करे,तब सम्भव है । इस प्रकार कंस मुर्दों का कंस आलिंगन करते हुए उसको दिखाई देने लगे ।

(२) गधे पर सवार होना, कंस अपने आपको गधे पर बैठा देखता था । मृत्यु की देवी काली तामसी शक्ति है और गधा उस देवी काली का वाहन हैं । वह मृत्यु देवी कालिका गधे पर सवार हो कर सब जगह घूमती फिरती है, इस वाक्य के अनुसार मृत्यु देवी ने अपना वाहन गधा कंस के पास भेज दिया था, यह तात्पर्य है ।

(३) विष खालेना, ये तीन आधिभौतिक बुरे शकुन सात्विक राजस और तामस हैं। प्रेतों का आलिंगन ही देखता था, स्वयं प्रेत नहीं बना। स्वयं गधे पर बैठा-सवार-ही देखा,यमपुरी में नहीं चला गया, स्वयं को विष खाता हुआ मात्र ही देखता था, मरा हुआ नहीं देखता था। इस प्रकार सपने में भी तीनों काम आधे आधे ही कह कर शेष चौथे से सातवें अपशकुन तक धर्मो का ही वर्णन करते हैं। ये सभी अपशकुन दर्शन रूप धर्म कंस के सम्बन्धी हैं, इस कारण से यहां कंस का धर्मीरूप से वर्णन किया है।

(४) कंस अपने आपको गले में दुपहरिया के फूलों की माला पहने हुए देखता था। (५) राजाधिराज होते हुए भी कंस अपने को अकेला ही देखता था। कंस अकेला ही यमलोक में जाए, इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिए ही'यायात्'श्लोक में यह विधिलिङ् का प्रयोग है।

(६) वह अपने आप को तेल से स्नान किया हुआ देखता था। स्वयं को अकेला देखना तामसी व्यवस्था है।

(७) दिगम्बर-दिशाओं रूपी वस्त्र वाला-होना यह आधिदैविक अपशकुन है। (वस्त्र सारे देवता रूप हैं) इस श्रुति के अनुसार सब देवता रूप वस्त्रों ने भी कंस का त्याग कर दिया था। यह अन्तिम सातवाँ अपशकुन है, जो आधिदैविक रूप बुरा शकुन है, यह निश्चित रूप से सूचित करता है कि कंस अवश्य ही यमपुरी में चला जाएगा, (मरेगा)॥३०॥

श्लोक—अन्यानि चेत्थम्भूतानि स्वप्नजागरितानि च।
पश्यन् मरणसन्त्रस्तो निद्रां लेभे न चिन्तया॥३१॥

श्लोक—इस प्रकार सोते में और जागते में भी अनेक प्रकार के अशुभ सूचक मृत्यु की सूचना देने वाले बुरे बुरे शकुनों को देख कर कंस को बड़ी चिन्ता हुई। भयानक चिन्ता और मृत्यु के भय से उसे रात भर नींद नहीं आई। ३१॥

सुबोधिनी—एवं कानिचित् निरूप्य अन्यान्यपि कालेन सूचितानि दृष्टवानित्याह **अन्यानि** चेति, चकारात् स्वप्नेऽपि, विशेषतः अनुक्तो हेतुमाह **इत्थम्भूतानीति**. चकारादेतान्यपि पुनः पुनर्दृष्टानि, किञ्च स्वप्ने यत् जागरणं तत्राप्येतानि दृष्टानीत्याह **स्वप्नजागरितानीति**, चकारात् स्वप्ने यः स्वप्नः तत्र तदुपयोग्यानि दृष्टानीति, न केवलमेतानि **दृष्टानि** किन्तु स्वकार्यमपि चक्रुरित्याह **पश्यन् मरणसन्त्रस्त** इति मरणात् सन्त्रस्तः मरणं निश्चित्य त्रासं प्राप्तवानित्यर्थः, एतदर्धरात्रसमये, ततः प्रभृति चिन्तया निद्रां न लेभे॥३१॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कितने ही अशुभ शकुनों का निरूपण करके दूसरे समयों पर भी और स्वप्न में भी, कंस को दिखाई देनेवाले बुरे शकुनों को इस 'अन्यानि' श्लोक से कहते हैं। उन शकुनों का विशेष रूप से वर्णन न करके-इत्थंभूतानि-ऐसे ऐसे और भी खराब शकुनों को कंस ने देखा, यों साधारण रीति से कहा है। इस प्रकार के बुरे बुरे शकुनों को वह सोते और जागते भी बार बार

देखने लगा था। केवल उसको ऐसे बुरे शकुन ही नहीं दिखाई दिये, किन्तु उन अपशकुनों ने कंस को यह भी निश्चित रूप से बतला दिया कि उसकी अवश्य मृत्यु होगी। इस बात को जान कर अपनी मौत का निश्चय करके कंस को भारी भय हो गया; ऐसा आधी रात के समय में हुआ। पीछे चिन्ता से उसे नींद भी नहीं आई ॥३१॥

श्लोक—व्युष्टायां निशि कौरव्य सूर्ये चाद्भ्यः समुत्थिते ।
कारयामास वै कंसो मल्लक्रीडामहोत्सवम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—हे कुरुकुलभूषण! रात बीत गई, सवेरा हो गया। सूर्य भगवान् क्षितिज से ऊपर उठे। कंस ने उठ कर मल्लक्रीड़ा के महान् उत्सव का आरम्भ करने के लिए सेवकों को आज्ञा दी ॥३२॥

सुबोधिनी—एवमपि न निवृत्त इत्याह **व्युष्टायामिति**, **कौरव्येति** विश्वासार्थं सम्बोधनम, **निशि व्युष्टायां** प्रभातायां सत्यां दोषे अपगते गुणेऽपि जाते **सूर्ये चाद्भ्यः समुत्थित** इति, 'अद्भ्यः प्रातरुदेत्यपः सायं प्रविशति','य उदगात् महतोर्णवा'-दित्यादिश्रुतेः, चकारात् लोकेष्वप्युत्थितेषु त्रैवर्णिकानामावश्यककर्मानन्तरं च, **मल्लक्रीडामहोत्सवं कारयामासेति**, **मल्लक्रीडाप्रधानोयं महोत्सवः**, यस्मिन् **महोत्सवे मल्ला क्रीडन्ति**, लोकवञ्चनार्थं तमेकं परिकल्पितवान् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार के बुरे बुरे लक्षणों से अपनी मृत्यु का निश्चय करके भी कंस अपने कर्त्तव्य से नहीं डिगा, यह इस 'व्युष्टायां' श्लोक से कहते हैं। इस कथा में परीक्षित का विश्वास दृढ़ रहने के लिए 'कौरव्य' यह सम्बोधन श्लोक में दिया गया है। रात बीती, प्रातः काल हुआ, दोष (अन्धकार) मिटा और प्रकाश (गुण) के फैल जाने पर, सूर्य प्रातः काल में जल से बाहर निकलते हैं और सन्ध्या के समय जल में प्रवेश करते हैं, महासागर से सूर्य निकलते हैं, इत्यादि श्रुति के अनुसार सूर्य भगवान् के जल से बाहिर उदित हो जाने पर तथा सब लोगों के जाग जाने पर और सब त्रिवर्णों के अपने अपने आवश्यक कार्य कर लेने के बाद कंस ने मल्लक्रीड़ा का महोत्सव करवाया। इस क्रीड़ा में मल्लों की ही प्रधानता होती है। लोगों को ठगने के लिए ही कंस ने यह मल्लक्रीड़ा की योजना की ॥३२॥

श्लोक—आनर्चुः पुरुष रङ्गं तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे ।
मञ्चाः स्वलङ्कृताः स्रग्भिः पताकाचैलतोरणैः ॥३३॥

श्लोकार्थ—सेवकों ने रङ्ग भूमि(अखाड़े)की अच्छी तरह से सजावट की। तुरही, नगाड़े, बाजे आदि बजने लगे। पताकाएँ, झण्डियों तथा फूलों से सजाए गए (वहाँ के) फाटकों, तोरणों और पुष्प मालाओं से वहाँ के मञ्च सुसज्जित किए गए ॥३३॥

सुबोधिनी—तत्र सम्भारानाह **आनर्चुरिति**, **पुरुषा** अधिकारिणः, **रङ्गं** रङ्गप्रदेशं **आनर्चुर्लें**-पादिना पूजितवन्तः, तत् हि भूम्यन्तरिक्षाकाशात्मकं, तत्र भूमिप्रदेशस्य पूजोक्ता मध्यप्रदेशस्याह **तूर्यः**, तूर्यो वा मङ्गलवाद्यानि **भेर्यश्च** उत्सवसूचकानि चकारादन्यानि **जघ्निरे** शब्दिताः, भेरीणां हननाभावात् **ढौलकापरपर्यायो** वा भेरीशब्दः, विसर्गलोपः, तूर्यशब्दो वा, तूर्याणि भेर्यश्चेति, उपरि शृङ्गारमाह **मञ्चाः स्वलङ्कृताः** इति,सर्वत्र मालाभिः स्वलङ्कृताः पताकादिभिश्च, वस्त्रमयानि च तोरणानि वस्त्रैस्तोरणैश्चेति वा । ॥३३॥

व्याख्यार्थ– 'आनर्चुः' इस श्लोक से रंगभूमि में इकट्ठी की हुई सामग्रियों का वर्णन करते हैं। कंस के अधिकारी पुरुषों ने आखाड़े को लीपने, पोतने आदि के द्वारा पवित्र किया। अखाड़े का स्थान (भूमि) अन्तरिक्ष[1] और आकाश[2] का बना होता है। उन में से भूमि भाग की पूजा को लीपने, पोतने से कह कर मध्यभाग अन्तरिक्ष की पूजा का वर्णन करते हैं कि वहां भेरियां, नगाड़े आदि नाना भांति मांगलिक बाजे बजाए जाने लगे जो सब को इस प्रकार महान् उत्सव की सूचना दे रहे थे। यहां श्लोक में विविध बाजे और भेरियां (तूर्याणि च भेर्यश्च ऐसा द्वन्द्व समास है) बजाए जाने लगे। मंचों की सजावट के द्वारा अखाड़े के आकाश भाग की पूजा का वर्णन करते हैं। वहां के सारे मचों को अनेक भांति के पुष्पों की मालाओं से, पताकाओं और झण्डियों से सजाया गया। कपड़े के बने हुए तोरणों से अथवा कपड़ों से तोरणों आदि से मंचों का शृङ्गार किया गया ॥३३॥

श्लोक—तेषु पौरा जानपदा ब्रह्मक्षत्रपुरोगमाः ।
यथोपजोषं विविशू राजानश्च कृतासनाः ।।३४।।

श्लोकार्थ—उन मञ्चों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सब पुरवासी, जनपदों (प्रान्तों) के रहने वाले और प्रतिष्ठित राजा रईस लोग आकर अपने अपने यथोचित स्थान पर विराजमान हुए ।।३४।।

सुबोधिनी—एवमलङ्कृतस्य रङ्गस्थानस्य उपयोगमाह **तेषु पौरा** इति, आदावुपरि विनियोगः **तेषु** मञ्चेषु **पौराः** पुरवासिनो **जानपदा** देशवासिनश्च **ब्रह्मक्षत्रौ पुरोगमावग्रे** उपविष्टौ येषां मञ्चानां, बहुत्वसूचनायाह **यथोपजोषमिति**, ये समाहूताः खण्डमण्डलाधिपतयो **राजानः** ते **कृतासनाः** दत्तासनाः सन्मानार्थं युद्धार्थं चकारात् राजकीयाश्च कृतमासनं येभ्य इति ।।३४।।

व्याख्यार्थ—'तेषु' इस श्लोक से उस सजाये हुए अखाड़े के उपयोग का वर्णन करते हैं। पहले ऊपर के भाग का उपयोग बतलाते हैं कि उन मंचों पर ब्राह्मण और क्षत्रिय आगे बैठे, नगर निवासी, प्रान्तों की जनता सभी लोग सुख पूर्वक बैठे, क्योंकि मंचों की कमी नहीं थी, असंख्य मंच थे। सन्मान के लिए अथवा कृष्ण-बलदेव के साथ युद्ध करने की इच्छा से बुलाए हुए, कंस को कर देने वाले आधीन सामन्त और स्वतन्त्र राजा, महाराजा अपने अपने राजकीय अधिकारी वर्ग सहित यथा निर्दिष्ट आसनों पर बैठ गए ।।३४।।

---

१. नक्षत्रों वाला,　　२. अधिक प्रकाश

श्लोक—कंसः परिवृतोमात्यै राजमञ्चमुपाविशत् ।
मण्डलेश्वरमध्यस्थो हृदयेन विदूयता ।।३५।।

श्लोकार्थ— कंस ने अपने लिए सब से अलग एक ऊँचा राजमञ्च बनवाया था । उसी मञ्च पर वह अन्यान्य सामन्त राजाओं को मण्डली में मन्त्रियों के साथ आकर बैठा । उस समय भी उसका हृदय भय और आशङ्का के कारण धड़क रहा था ।३५।

सुबोधिनी—कंसोप्युपविष्ट इत्याह कंस इति, अमात्यैः परिवृतः राजमञ्चं मध्ये श्रेष्ठत्वेन विनिर्मितमुपाविशत्, तत्र मण्डलेश्वरा अप्युपवेशिता इत्याह मण्डलेश्वरमध्यस्थ इति, मण्डलेश्वराणां मध्ये तिष्ठतीति बहिः शोभा निरूपिता, हृदयेन विदूयता उपलक्षितः सहितो वा तेनान्तः शोभाभाव उक्तः ।।३५।।

व्याख्यार्थ— 'कंसः' इस श्लोक से कंस का भी वहाँ अखाड़े में आ कर बैठना कहते हैं । अपने मंत्रियों के मण्डल से घिरा हुआ कंस बीच में सब मञ्चों से उत्तम रीति से बनाये गए राजमंच पर सारे मण्डलेश्वरों के बीच में बैठ गया । मण्डलेश्वरों के मध्य में बैठने से उसकी बाहर तो शोभा हुई, किन्तु उसका हृदय भय से कांप रहा था । इसलिए उसकी भीतरी शोभा नहीं हो रही थी; ऐसा सूचित किया है ।।३५।।

श्लोक—वाद्यमानेषु तूर्येषु मल्लतालोत्तरेषु च ।
मल्लाः स्वलङ्कृता दृप्ताः सोपाध्यायाः समासत ।।३६।।

श्लोकार्थ—नगाड़े आदि बाजे बज रहे थे और बीच बीच में मल्लों के ताल ठोकनें के शब्द सुनाई दे रहे थे । इसी समय में अपने गुरू के साथ सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से सुशोभित, गर्वीले मल्लों नें रङ्ग भूमि में प्रवेश किया ।।३६।।

सुबोधिनी—वाद्यानां निमित्तत्वेन मध्यस्थानामुपयोगमाह वाद्यमानेष्विति, तूर्याणां वाद्ये मङ्गलप्रतीत्या सर्वे मल्लाः समागताः, तत्र च मल्लानां तलशब्दाः आस्फोटनरूपाः उत्तराणि येषाम्, तूर्यैराकारिता इव मल्लाः आस्फोटनतलशब्दान् कृत्वा आगता एव वयमित्युत्तरमिवोक्तवन्तः, एवमाकारणं प्रतिवचनं च सत्यवादिनामागमननिमित्तमुक्तं, ततस्ते समागता इत्याह, मल्लाः स्वलङ्कृता इति, अत्र विद्यावाकट्यमिति गलरीत्या अलङ्कृताः, अथवा कटकादिभिरेव, यतो दृप्ताः केवल शोभार्थं गच्छामः, न तु कश्चिदस्माकं प्रतिपक्षोस्तीति, अथवा, भगवतो माहात्म्यं श्रुत्वा अभीताः कथमागता इत्याशङ्क्याह दृप्ता इति, विद्याबलमपि तेषां नास्तीति सूचयितुमुपाध्यायसहिता आगता इत्युक्तं, बुद्धिदोषाभावं ज्ञापयितुं वा भगवता तथा कृताः, सम्यगेव पुरस्कारपूर्वकं रङ्गस्थानमाविशन् ।।३६।।

व्याख्यार्थ—'वाद्यमानेषु' इस श्लोक में उस अखाड़े के बीच के भाग के उपयोग का बाजों के बजते रहने के निमित्त से वर्णन करते हैं। बाजों के शब्दों को सुनने पर मांगलिक कार्य का प्रारम्भ हो जाना जान कर सारे मल्ल अखाड़े में आ गए। उन वाद्यों के बीच में पहलवानों के ताल ठोंकने के शब्द इस तरह सुनाई दे रहे थे, मानो वे ताल ठोंक कर उन बाजों की ध्वनि का उत्तर दे रहे थे। इस प्रकार से मल्लों को वहां रंग भूमि में बुलवाना और सत्य बोलनेवाले प्राप्त मल्लों का प्रत्युत्तर वहां आ जाने के कारण रूप से कहा गया है। वहां अखाड़े में मल्लों को (दाव पेच वाली) विद्या दिखाना था। इसलिए वे पहलवानों जैसी वेषभूषा में सजधज कर आ गए। अथवा वे ऐसा समझते थे कि उन के समान कोई दूसरा प्रतिमल्ल दुनियां में ही नहीं, ऐसा मान कर वे केवल शोभार्थ ही कड़े कुण्डल आदि आभूषणों का श्रृंगार करके ही वहां आए। वे बड़े ही घमण्डी मल्ल थे, इस-लिए भगवान् की महिमा को सुनकर भी निडर रूप से अखाड़े में आ गए। वे उन के गुरु लोगों को साथ लेकर वहां आए, इस कथन से सूचित किया है कि उन में विद्या का बल नहीं था अथवा अधूरी विद्या जानने वाले मल्लों को भगवान् मार गिराते हैं तो भगवान् का माहात्म्य पूर्णरूप से प्रकट नहीं होता। उसमें अशिक्षित मल्लों को हरा देना रूप दोष रह जाता है। भगवान् ने अपने पर इस दोष को दूर करने के लिए ही उन मल्लों की ऐसी बुद्धि करदी, जो वे उनके गुरुजनों को साथ लेकर ही वहां आए। वे बड़ी शान के साथ सम्मान पूर्वक रंगभूमि में आए।

श्लोक—चाणूरो मुष्टिकः कूटः शलस्तोशल एव च।
त आसेदुरुपस्थानं वल्गुवाद्यप्रहर्षिताः ॥३७॥

श्लोकार्थ—चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल, तोशल आदि प्रसिद्ध और प्रधान मल्ल अखाड़े के आस पास आकर बैठ गए और कानों को प्रिय लगने वाले बाजों को सुनकर प्रसन्न होने लगे ॥३७॥

सुबोधिनी—ततः सर्वेष्वागतेषु चाणूरादयो युद्धभूमि युद्धावेशेन समागता इत्याह चाणूर इति, पञ्च ते दैत्यप्राणरूपाः पञ्चैव उपस्थानमागताः, उपसमीपे स्थीयते अस्मिन्निति यत् युद्धस्थानं, चकारात् तत्सेवका अपि आसेदुः, आगतानामुत्सा-हमाह वल्गुवाद्येन प्रहर्षिता इति ॥३७॥

व्याख्यार्थ—एक एक करके सारे मल्लों के आ जाने के बाद में युद्ध के जोश में भरे हुए चाणूर आदि मुख्य मल्ल रंगभूमि में आए, यह इस 'चाणूरो' श्लोक से कहते हैं। ये चाणूर आदि पाँचों मल्ल पांच दैत्यों के प्राणरूप थे और वे पाँचों ही युद्धभूमि में अपने अपने सेवकों के साथ उस अखाड़े के निकट आ बैठे। मनोहर बाजों के शब्द को सुन कर बड़े ठाट बाट से युद्ध के उत्साह से भरे हुए वे वहां युद्धभूमि में आये ॥३७॥

श्लोक—नन्दगोपादयो गोपा भोजराजसमाहूताः।
निवेदितोपायनास्ते एकस्मिन् मञ्च आविशन् ॥३८॥

श्लोकार्थ—इतने में नन्द आदि सब गोप भी आ गए। उन्होंने कंस को सब भेटें नजर की और कंस ने भी उनका अच्छी तरह सत्कार सम्मान किया। वे भी एक मञ्च पर जा कर बैठ गए ॥३८॥

सुबोधिनी -एवं सर्वसामग्रीसम्पत्तौ समाहूता नन्दादयः समागता इत्याह **नन्दगोपादय** इति, बालकास्तु भगवन्मित्राणि भगवतैव सहागमिष्यन्ति, नन्दगोपसदृशा ये ते भोजराजेन अप्रतिहताज्ञेन समाहूताः समानीतान्युपायनानि निवेद्य, यतो गृहादेवोपायनानि गृहीतवन्तः,तदाह **त** इति, सर्वथा वा तदधीनाः, प्रसिद्धा वा, प्रसिद्धैरुपायनं देयमिति, विजातीयैः सह कलहशङ्कया दुर्बलाः **एकस्मिन्नेव मञ्चे आविशन्**, अनेन मञ्चानां स्थूलता निरूपिता ॥३८॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे वीर्यं निरूपणे एकोनचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥३९॥

व्याख्यार्थ--इस प्रकार सब सामग्रियां तथा तैयारियों से अखाड़े की पूर्णरूप सजावट हो जाने पर अक्रूरजी को गोकुल भेज कर बुलाए हुए वे नन्द आदि गोप रंगभूमि में आकर एक मंच पर बैठे, यह इस 'नन्दगोपादयः' श्लोक से कहते हैं। उन नन्दादि गोपों के साथ मथुरा गए बालक(गोपबालक) तो भगवान् के साथ ही रंगभूमि में आवेंगे और नन्दरायजी के समान अन्य गोप, जो कंस के प्रताप से दबे हुए थे, कंस के बुलाने पर जो घर से ही भेंट ले लेकर आए। अथवा जो सब तरह से कंस के आधीन थे। अथवा जो स्वयं प्रसिद्ध थे, वे कंस को भेंट देना उचित समझ कर अपनी अपनी भेटें अर्पित करके वहां आ बैठे। ये ब्रजवासी निर्बल होने के कारण राक्षसों के साथ कलह होने के भय से अलग हो एक मंच पर आकर बैठ गए, क्योंकि वहां अखाड़े में असंख्य मंच सजाए गए थे ॥३८॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध) ४२वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण सप्तम् अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित श्रीकृष्णचन्द्र की लीलामृत के कुछ मधुर-घूँट

राग शंकरा भरन

अति हित चचल जानि लई।
मन भांवरि परि अति नागर बर रस बस मोल लई।
परमानंद सांवरे ऊपर तन मन विसरि गई ।।
राधा श्याम प्रीति उर अन्तर सर्वस प्रीति हुई।
आवन जान गवन कत कीन्हो हरि सब भांति ठई ।।
गोपीनाथ प्रान के रस बस जानी जाय दई।
गिरिधर लाल रसिक के ऊपर कुब्जा नारी गई ।।
गानत नहीं लई सांवर को सकल प्रीति छिन मांहि गई।
मानिन मान करत गोपी हमैं दुखु सब भांति बई ।।
सूरदास चिन्तामनि चित्त धरि अब कित प्रीति गई।
मेरे मन वच क्रम ही सांवरे और न मान मई ।।

रागनी भूपाली

आनंदेही हर्ष बढो अति।
देव वृन्द चरणारविंद ज्यों मथुरा प्रकट भयो पति।
गावत गन गंधर्व जु पुलकित रसिक सूर जो अति रति ।।
विद्या सुर धर कंठ कलति अति ताल उघट जतननि जति।
शिव विरंची सनकादिक आगे चित न समान नह्यौ रति ।।
कमल नयन शशि बदन विलोकत देखि मदन जू विचित्र रति।
श्याम सुभग जो पीत वसन दुति और आनि जोरे अति ।।
नख मणि मुकुट विभाव मुदित ज्यों चिते न मानति मनपति।
सूरदास प्रभु कियो कृपा अति भुज के चिन्ह दुरावति ।।

॥ श्री हरिः ॥

राजस "प्रमाण" अवान्तर प्रकरण में वर्णित
लीला-सार

व्योमासुर केशी सब मारे, अरु अरिष्ट वध कीन्हो।
क्रीड़ा बहुत करी गोकुल में, भगतन को सुख दीन्हो॥
नारद आय कह्यो नृप से यह, कोन नीन्द तू सोवे।
तेरो शत्रु प्रकट गोकुल में, गुप्त न जानत को वे॥
ये सब दैत्र प्रकट भए ब्रज में, जँह तँह ठौर हो ठौर।
उग्रसेन, वसुदेव, देवकी, यादो जे सब ओर॥
नन्द गोप वृषभान यशोदा, सब ही गोप कुल जानो।
करो उपाय वचो जो चाहो, मेरे वजन प्रमानो॥
यह सुन कंस सब हि को बन्धन, दीनो है तहि काल।
श्री वसुदेव देवकी निज पितु, बन्धन दियो विशाल॥
फिर नारद गोकुल ही आये, हरि चरनन सिर नाये।
अस्तुति करी बहुत नाना विध, मधुरे बैन बजाये॥
हरि कछु इन उत्तर नहीं दीनो, फिर गये अपने धाम।
बल मोहन सब सखा वृन्द ले, क्रीड़त गोकुल ग्राम॥
बोल अक्रूर कंस यह भाष्यो, सुनु सुफलक सुत बात।
राम कृष्ण को लाओ मधुपुर, विलम करोजनि जात॥
तब रथ बैठे चले सुफलक सुत, सन्ध्या गोकुल आये।
पैंडे में हरि चरण धूली लै, अपने अङ्ग लगाये॥
मिले नन्द बलदेव रोहनी, और यशोदारानी।
पूजा करि पधराय सदन में, भोजन की विध ठानी॥
भोजन करि अक्रूर जो बैठे, तब वृत्तान्त सुनाये।
धनुष यज्ञ कीन्हो नृपजू ने, सब को बेग बुलाये॥
चले महर ब्रजराज सोंज लै, कौतुक देखन आज।
राम कृष्ण दौड़ आगे ले कै, सकल घोष सिरताज॥
मारग में कालिंदी के तट, कीन्हों जल असनान।
निज वैकुण्ठ दिखायो जल में, दीन्हों पूरन ज्ञान॥
करि वंदन हरि के चरनन को, पुन अक्रूर यह भाष्यो।
तुम यदुकुल प्रकटे पुरुषोत्तम, भक्तन को प्रन राख्यो॥
मथुरा आय रहे उपवन में, नन्दराज सब गोप।
राम कृष्ण के चरन परसते, अधिक मधुपुरी ओप॥

गये नगर को देखन मोहन, बलदाऊ ले साथ ।
पुर कुल वधू झँरोखन झाँकत, निरख निरख मुसकयात ॥
मारग में एक रजक संघारे व, सब हि बसन हरि लीन्हे ।
बायक मिल्यो सब हि पहराये, सब हिन को सुख दीन्हे ॥
आगे मिल्यो सुदामा माली, फूल माल पहिराई ।
निरभय दान दियो हरि तिनको, अविचल भक्ति दृढ़ाई ॥
कुब्जा घसि चन्दन ले आई, मारग देखन आई ।
हरि मांग्यो उन लेजु समर्प्यो, मन वांछित फल पाई ॥
दियो वरदान भवन आवन को, तहांते चले कन्हाई ।
मथुरा नगर देख मन मोहन, फूले हैं दोउ भाई ॥
रीझत नार कहत मथुरा की, आपस में दे सैन ।
कोमल गात कौन को ढोठा, सुन्दर राजिव नैन ॥
यह बालक सुकुमार सरसवपु, असुर प्रबल अति भारी ।
कंसे के बाकी मारेंगे, सोचत है पुर नारी ॥
उपवन आय कियो हरि ब्यारू, नन्दराय सुख दीनो ।
मधुमेवा पकवान मिठाई, जो भायो सो लीनो ॥
पोढे जाय दोउ सज्या पर, सोवत आई नीन्द ।
सुपने में मथुरा फिरी देखी, जागे बाल गोविन्द ॥
भयो प्रात नृप फेर बुलायो, धनुष यज्ञ को देखन ।
मल्ल युद्ध नाना विध क्रीड़ा, राजद्वार को पेखन ॥
गये ब्रजराज द्वार भूपति के, बहु उपहार दिवाये ।
तब नृप कह्यो सब गोपन सो, भली करी तुम आये ॥
बैठारे सब मंच आप सा, कौतुक देखन लागे ।
राम कृष्ण संग ग्वाल मण्डली, नगर देख अनुरागे ॥
खेलत तोरे व धनुष टूक करि डारे, दोउन आयुध कीने ।
तासुं मार करी चूर पहरुआ, परम मोद रस भीने ॥

—"सूर सारावली"